प्रकाशक

गोकुलदास धूत

नवयुग साहित्य सदन, इन्दौर

प्रथम संस्करण : दिसम्बर १९४८

मुद्रक

कुँवर शिवराजसिंह

सुभाष प्रिंटिंग प्रेस, गोराकुण्ड, इन्दौर.

प्रकाशक की ओर से

विदेशी सत्ता से मुक्ति पाकर हम अपनी स्वतंत्रता की एक मंजिल तो तै कर चुके, पर स्वतंत्रता की कल्पना के साथ हमारी आंखों में भावी समाज के जो उज्वल स्वप्न झूल रहे थे, उन्हें प्राप्त करना ज्यों का त्यों बाकी है। हम अपने ध्येय की ओर आगे बढ़ें, इसके पूर्व आज की राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का विश्लेषण करना जरूरी है। जिस सामाजिक और आर्थिक क्रांति की बात हम सोचते हैं उसकी कीमत हमें अपने राजनैतिक संघर्ष से कई गुना अधिक चुकानी होगी। इसकी गंभीरता को महसूस करते हुए लेखक ने इस पुस्तक में स्वतंत्र रूप से अपने राष्ट्र के जन-मानस का स्पष्ट चित्र अंकित किया है। आज कोई भी देश अपनी समस्याओं की दीवारों में बंधा हुआ नहीं रह सकता। बाहर की दुनियां की हलचलें उस पर अपना सदा प्रभाव डालती हैं। इस स्थिति में लेखक को निष्पक्ष रूप से अपने देश की समस्याओं को अन्तर्राष्ट्रीय पृष्ठ भूमि पर तौलना होता है। हमारा विश्वास है कि लेखक ने इस क्षमता को बड़ी खूबी के साथ निभाया है। पुस्तक में एक ओर यदि राष्ट्र की वर्तमान तथा भावी सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक समस्याओं का चिन्तन है तो दूसरी ओर इसी चक्र में घूमने वाली दुनियां की—खासकर एशिया की—समस्याओं का विशद चित्र भी हमारी आंखों के सन्मुख खिचा चला आता है। हमारा राष्ट्र अहिंसा, जनतंत्र और अन्तर्राष्ट्रीय शांति के जिस पुनीत मार्ग पर चलना चाहता है उसका नागरिक ऐसे स्पष्ट, निष्पक्ष और मौलिक विचार धारा से अपरिचित नहीं रह सकता। उसे यह समझना ही होगा कि होने वाली किसी भी क्रांति में कहां कहां और कैसी विचित्र स्थितियों से मुठभेड़ करनी है। यह पुस्तक इस आवश्यकता की पूर्ति में अपना एक खास स्थान प्राप्त करेगी ऐसी हमें आशा है ।

अधिक कहने की आवश्यक्ता नहीं। पाठक इतिहास एवं राजनीति के प्रखर प्रतिभाशील चिन्तक प्रोफेसर श्री शान्तिप्रसादजी वर्मा की यह "स्वाधीनता की चुनौती" पढ़कर स्वयं हमारे इस मत का मुक्त हृदय से प्रतिपादन करेंगे। हमें ऐसी मौलिक रचना पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए अत्यन्त हर्ष एवं गौरव का अनुभव हो रहा है।

इस पुस्तक की छपाई में सुभाष प्रिंटिंग प्रेस इन्दौर के मालिक श्रीयुत कुंवर शिवराजसिंहजी ने जिस लगन और परिश्रम के साथ सहयोग प्रदान किया

है उसके लिए हम उनके हृदय से आभारी हैं। हमें इसका बड़ा दुःख है कि पुस्तक में प्रूफ की असावधानी तथा टाइप के टूट जाने से कुछ अशुद्धियां रह गई हैं। इसके लिए हम पाठकों से क्षमा प्रार्थी हैं।

दो शब्द

समाज-शास्त्र के अध्यापक के लिए उन सामाजिक प्रवृत्तियों के अध्ययन से जो, विभिन्न आर्थिक और मनोवैज्ञानिक स्रोतों से उद्भूत होकर, उसके चारों ओर विकास पाती रहती हैं अपने को तटस्थ रखना कठिन होता है। किसी भी राष्ट्र अथवा देश के जीवन के संक्रमण-काल में, जब परिवर्त्तन की गति अचानक तीव्र हो उठती है और पुरानी व्यवस्थाएं टूटने और नई विचार-धाराएं प्रसव की पीड़ा से मुक्त होने के लिए छटपटाने लगती हैं, यह विद्वत्ता-पूर्ण तटस्थता और भी अधिक असह्य हो उठती है। ज्ञान का खोजी भी तो अन्ततः अपनी विद्वता की नौका को सामाजिक जीवन की प्रवाहशील धारा के माध्यम से ही अपने लक्ष्य की ओर ले जाने के प्रयत्नों में लगा हुआ है, वह यदि लहरों को तीव्र वेग के साथ उठते हुए देखता है, अथवा अपनी नौका के नीचे रेत और पत्थर के टीलों को सिर उठाते हुए पाता है, तो उसे भी सजग और सतर्क हो जाना पड़ता है। तब वह अपने बजरे की खिड़कियों के पर्दे चढ़ा कर अपनी ही दुनियां में, वह उसके लिए कितनी ही मनोरम और आकर्षक क्यों न हो, अपने को सीमित और विलीन कर लेने की मूर्खता नहीं कर सकता। समाज के विकास की गति जब कुण्ठित और अवरुद्ध हो रही हो, देश के लाखों-करोड़ों जन पथभ्रष्ट, विभ्रमशील और आवेशों-आक्रोशों से प्रभावित हो रहे हों तब उसका काम यह हो जाता है कि वह जनता के चौराहे पर आकर खड़ा हो और अपने संचित ज्ञान और अध्ययन का अनुभव उस रास्ते को खोज में लगा दे जिस पर चल कर, उसकी दृष्टि में सामाजिक जीवन की धारा का प्रवाह, अकुंठित और निर्बाध गति से आगे बढ़ सकता है।

मैं तो जब अपने जीवन के पिछले पन्द्रह वर्षों पर दृष्टि डालता हूँ तो पाता हूँ कि मेरा एक पैर अध्ययन-कक्ष में और दूसरा जन-जीवन के चौराहे पर रहा है। मेरी समस्त प्रवृत्तियां विद्या के उपार्जन और ज्ञान के अनुशीलन की ओर हैं। जीवन की किशोर अवस्था में मैंने अपनी अनुभूति को तीव्र और भावनाओं को रंगीन पंखों से आच्छादित पाया और मेरा व्यक्तित्व राशि-राशि गद्य-गीतों और कहानियों में फूट निकला। हिन्दी संसार ने उन्हें प्रेम और आदर की दृष्टि से देखा। मेरी प्रवृत्तियों को रचनात्मक साहित्य में उलझाए

रखने के लिए यह एक बहुत बड़ा आह्वान था—मेरे कई मित्र तो मानते हैं कि मुझे अपने को उस प्रवाह में छोड़ देना चाहिए था। पर, ज्ञान के अनुशीलन की वृत्ति उस पर हावी हुई। इतिहास और समाज-शास्त्र के एक गहरे अध्ययन में मैंने अपने को संलग्न रखने का निश्चय किया, और आज भी मेरे जीवन का अभीप्सित मार्ग वही है, पर बीच बीच में देश के सामाजिक-आर्थिक संघटन की प्रतिक्रियाएं मेरे इन बन्द दरवाज़ों पर आकर टकराती रहती हैं और कई बार दरवाज़ा खोल कर उनके सहानुभूति पूर्ण स्वागत की सभ्य आवश्यकता से मैं इनकार नहीं कर सका हूँ। ज्यों ज्यों देश का राजनैतिक जीवन अधिक जटिल होता गया है, मैंने अपने को अनायास ही उसकी गुत्थियों को, अपने ढंग से, सुलझाने की चेष्टा में व्यस्त पाया है।

१९४५-४६ का समय हमारे देश में एक बड़े परिवर्त्तन का समय था। राष्ट्रीयता की भावना ने साम्राज्यवाद के समस्त आघातों के सामने टूटने से इंकार कर दिया था। उधर, युद्ध में रूस के सहयोग से जीतते हुए भी साम्राज्यवाद स्वयं टूटने लगा था। इधर, जापानी सेनाओं के पीछे हटने के साथ साथ समस्त एशिया में स्वाधीनता के शक्तिशाली आन्दोलन उठ खड़े हुए थे। यह निश्चित हो गया था कि अंग्रेजी शासन अब हमें गुलाम बना कर रखने की स्थिति में नहीं रह गया था। भाग्य हमारे दरवाज़े पर खड़ा था। स्वाधीनता हमारी पहुँच के भीतर थी। एशिया में अपनी भौगोलिक और सांस्कृतिक स्थिति के कारण एशियायी राजनीति के हम मध्य-बिन्दु थे। एक बड़ा उत्तरदायित्व हम पर आ गया था। पर, मैं जानता था कि हम अवस्थ हैं, और दो सशक्त हाथों से उन पके हुए फलों को तोड़ने की स्थिति में नहीं हैं जो हमारे सामने झूल रहे थे। इस अस्वास्थ्य के लक्षण सांप्रदायिक-राजनैतिक थे, पर उसकी जड़ें हमारी सामाजिक और आर्थिक विषमताओं में थीं। देश का ध्यान अपने सामने के आकर्षणों, अपनी भीतरी कमज़ोरियों और उनके उपचारों की ओर दिलाने का मेरा प्रयत्न दिसम्बर १९४५ में प्रकाशित 'हमारी राजनैतिक समस्याएं' नामक पुस्तक में व्यक्त हुआ। यह पुस्तक स्वयं उन दर्जनों सभाओं के भाषण, बातचीत और विचार-विनिमय का परिणाम थी जिनमें देश के विभिन्न स्थानों पर पिछले एक वर्ष में मैंने भाग लिया था। उसमें केवल पुस्तकों का अध्ययन, और सैद्धांतिक सुझाव नहीं थे, ज्वलंत समस्याओं के जीवित सम्पर्क में आनेवाले व्यक्तियों का अनुभव भी था और इस समस्त अवांछित समाज-व्यवस्था को बदल डालने की एक तीव्र आकांक्षा की अभिव्यक्ति भी थी।

'हमारी राजनैतिक समस्याएं' का देश के विद्वानों और हिंदी के पाठकों ने

जैसा स्वागत किया, उसके लिए मैं उन सबका कृतज्ञ हूँ। पुस्तक का पहिला संस्करण दस महीने में समाप्त हो गया—जो, उसके विस्तार और मूल्य को देखते हुए, हिन्दी में नई चीज़ थी। पुस्तक लिखी और प्रकाशित एक ऐसे अवसर पर हुई थी जब राजनैतिक गत्यावरोध अपनी चरम सीमा पर था—पर उसके गर्भ में छिपे हुए मंगल-प्रभात की छाया की आशावादिता उसमें सर्वत्र थी। उसके बाद गत्यावरोध टूटता-सा दिखा। छः महीने बाद केबिनट मिशन योजना सामने आई। सांप्रदायिक प्रहारों से देश की एकता को बचा रखने का यह अन्तिम प्रयत्न था। पर, उसके बाद इन प्रहारों की चोट और भी भीषण होती गई, और जब हमें आज़ादी मिली तो वह एक कटी-बंटी, खून से सनी, आज़ादी थी। राष्ट्रीयता की एक विशुद्ध भावना के आधार पर, जिसमें हिन्दू और मुसल्मानों दोनों के मिल जुलकर काम करने की बात थी, देश के भविष्य का निर्माण करने का जो वैचारिक प्रयत्न इस पुस्तक में किया गया था वह, नई परिस्थियों की आँधी में, रेत के ढेर के समान बिखर गया।

'हमारी राजनैतिक समस्याएं' के नए संस्करण का प्रश्न कई बार उठा। सभी राजनैतिक दलों के द्वारा केबिनट मिशन योजना के मान लेने के बाद मैंने अपनी उस पुस्तक में कुछ परिवर्त्तन करना चाहा, पर तब तक देश की सांप्रदायिक स्थिति बहुत खराब हो चुकी थी। सितम्बर १९४६ में केन्द्र में सम्मिलित मन्त्रि-मडल बना। मार्च १९४७ में एशियायी सम्मेलन हुआ, पर आन्तरिक स्थिति बिगड़ती ही गई। जुलाई १९४७ में माउन्टबेटन-योजना सामने आई। इन परिवर्त्तनों में देश का नक्शा इतनी तेज़ी के साथ बदलता जा रहा था कि विशद रूप से उसका विश्लेषण करना और छापेखाने की लंबी प्रक्रिया में से उसे लेकर, समय पर पाठक के सामने उपस्थित होना कठिन था। यह देखते हुए, प्रकाशक के अनवरत आग्रह के होते हुए भी, दूसरे संस्करण का प्रयत्न छोड़ देने पर ही मुझे विवश होना पड़ा।

१५ अगस्त १९४७ को देश आज़ाद हुआ और इस महान् ऐतिहासिक तथ्य के प्रकाश में विचारों के श्रोत एक बार फिर फूट निकले। इस बार भी मुझे प्रयत्न नहीं करना पड़ा। पिछले डेढ़ वर्षों में, जिनमें यह पुस्तक लिखी और छापी गई, मैं मुख्यतः अठारहवीं शताब्दी के मराठा-इतिहास की खोजों में, बीसवीं शताब्दी के राजनैतिक चिन्तन की प्रमुख धाराओं के अध्ययन और एशिया की नवीन जागृति के सम्बन्ध में सामग्री जुटाने के काम में जुटा रहा हूँ। यह सब काम मेरे अध्ययन-कक्ष और पुस्तकालयों में चलता रहा है। पर, इन दिनों तो जन-संपर्क से दूर रहना और भी कठिन था। आज़ादी के पहिले दिन, गांधीजी की आज़ाद हिन्दुस्तान में पहिली वर्षगांठ के अवसर

पर, उनकी निर्मम हत्या के वाद, आज़ादी की पहिली वर्षगांठ पर व मृत्यु के वाद गांधीजी के प्रथम जन्म-दिवस पर विशेष रूप से नई राजनैतिक परिस्थितियों के अध्ययन-अन्वेषण के अवसर मिले। इन सभी अवसरों पर, और इसके अतिरिक्त भी, देश की सभी स्वस्थ राजनैतिक विचार-धाराओं को निकट से देखने की अधिक से अधिक सुविधाएं मुझे मिली हैं। किसी भी राजनैतिक दल से संबद्ध न होने के कारण उनके संबंध में निष्पक्षता के साथ सोचने का भी मुझे अवसर रहा है: इसका निर्णय पाठक पर है कि मैं कहां तक उस अवसर का उचित उपयोग कर सका हूँ।

इस पुस्तक का लिखना, एक प्रकार से १५ अगस्त १९४७ से ही प्रारंभ हो गया था। उस दिन कई सार्वजनिक सभाओं में भारतीय स्वाधीनता के महत्त्व और उसकी संभावित प्रतिक्रियाओं पर बोलना पड़ा, और कई पत्रों के लिए इन्हीं विषयों पर लेख भी लिखना पड़े। उनमें इस पुस्तक का बीजारोपण हुआ। कोई निश्चित मान्यताएँ लेकर मैं नहीं चला था। विभाजन की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओं की आशंका मेरे सामने थी और समझौते के द्वारा स्वाधीनता मिलने के कारण अंग्रेजों के प्रति सदियों से पोषित हमारा क्षोभ मुसलमानों पर टूट पड़ेगा, इसका मुझे भय था। स्वाधीनता के पहिले पखवाड़े में ही 'आज़ादी के ख़तरे' पर मैंने एक सार्वजनिक भाषण दिया। सितम्बर में कुछ सक्रिय राजनैतिक कार्यकर्ताओं ने मुझसे कहा कि मेरे इन लेखों और भाषणों से उन्हें विचार की एक नई, और उनकी सम्मति में स्वस्थ, दिशा मिल रही है, —उन्होंने मुझे बताया कि 'हमारी राजनैतिक समस्याएँ' ने देश में स्वस्थ चिन्तन का निर्माण करने में योग दिया था—और मुझे अपने इन विचारों को पुस्तक के रूप में जनता के सामने लाना चाहिए। अध्ययन के अन्य कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी मुझे उनके आदेश को मानना एक गंभीर उत्तरदायित्व सा दीखने लगा। प्रारंभ में विचार केवल लेखों का संग्रह प्रकाशित करने का था। वैसी सूचना मैंने अपने पुराने मित्र और प्रकाशक श्री गोकुलदास धूत को दी। उन्होंने उन्हें जल्दी ही प्रकाशित करने का विचार प्रगट किया। प्रकाशन की सन्निकटता ने मेरी उत्तरदायित्व की भावना को और भी गंभीर वनाया, और मैं समस्त पुस्तक को नए सिरे से, और एक व्यापक दृष्टिकोण से, लिखने के काम में जुट पड़ा। जो भी निश्चित विचार मैंने इस पुस्तक में प्रगट किए हैं वे लिखते समय वनते और दृढ़ होते गए हैं। राजनैतिक स्वाधीनता से हमें सामाजिक और आर्थिक समानता की ओर चलना है, यह भाव अवश्य प्रारंभ से ही मेरे सामने था, पर उसकी तात्कालिकता और अनिवार्यता धीरे धीरे ही स्पष्ट होती गई, और यह भी सच है कि ज्यों ज्यों

वह मुझ पर स्पष्ट होती गई वह तीव्र और तीखी भी बनती गई। अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धाओं और चीन, स्याम, मलाया, बर्मा, हिन्देशिया आदि एशियायी देशों की ताज़ी घटनाओं ने मुझे कुछ निश्चित निष्कर्षों पर पहुँचने के लिए विवश किया। एशियायी देशों की नई प्रवृत्तियों के निष्पक्ष अध्ययन से मेरी यह धारणा बनी कि उन पर कम्यूनिस्ट-प्रेरित होने का जो आरोप लगाया जाता है उसके पीछे अपनी शोषण की दुनिया को सुरक्षित रखने और दृढ़ बनाने का पूंजीवाद का पापपूर्ण दुराग्रह भी है, और यदि हम समय रहते अपनी समाज-व्यवस्था में आवश्यक परिवर्त्तन न कर सके तो हम स्वाधीनता के अपने इस नन्हें, प्रिय पौधे को, जिसे पल्लवित देखने के लिए हमने मांस और रक्त का खाद और जल दिया है, एक व्यापक गृह-युद्ध की लपटों में झुलसे जाने से बचा नहीं सकेंगे।

इस पुस्तक का अधिकांश भाग लिखाया गया है। लिखने का अधिकांश काम मेरे विद्यार्थी श्री० यशवन्तसिंह मेहता ने किया है। कुछ अंश लिखने व अनुक्रमणिका तैयार करने का काम मेरे दूसरे विद्यार्थी श्री शंकरलाल श्रीमाल ने किया है। उन दोनों का मैं आभारी हूँ। विचारों का विकास जिन असंख्य व्यक्तियों से अन्तरंग बातचीत के परिणाम-स्वरूप हुआ है—उनमें विद्यार्थी, शिक्षक, किसान, मज़दूर, क्लर्क, व्यापारी, सरकारी अफ़सर और लोकप्रिय मंत्री सभी शामिल हैं—उनमें से किस किस के प्रति अपना आभार प्रगट करूँ? उन लेखों ने, जो अन्य कामों के बोझ के कारण मैंने बेमन से लिखे, और उन सभाओं ने, जिनमें बोलने की मैंने बड़ी कठिनाई से स्वीकृति दी, और उन मित्रों ने जिन्होंने मेरे सामने जिज्ञासाएं रखीं पर जिनका उत्तर मैं भाग-दौड़ में ही दे सका, सभी ने मेरे विचारों को परिष्कृत और परिपक्व बनाने में सहायता दी है।

विषय-सूची

स्वाधीनता की चुनौती

: १ :

विषय प्रवेश

एक महान ऐतिहासिक परिवर्तन

१५ अगस्त १९४७ को भारतीय इतिहास में एक ऐसी बड़ी घटना हुई जिसके मूल्य को बढ़ा चढ़ा कर नहीं आंका जा सकता। यह डेढ़ सौ वर्ष के दीर्घकाल में हमारे देश की नस-नस में बैठ जाने वाले अंग्रेजी साम्राज्य का अचानक समेट लिया जाना था। यह वह घड़ी थी जिसके लिये हम सदियों से बेचैन थे और जिसे निकट लाने के लिये पिछली आधी शताब्दी में हमारे देश के सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों ने अपने जीवन का सर्वस्व भेंट कर दिया था। इतिहास को झकझोर डालने वाली एक बड़ी घटना थी यह! एक लंबे अर्से से अंग्रेज शासकों के आश्वासन हमें मिल रहे थे कि वे राज्य की सत्ता को हमारे हाथों में सौंपना चाहते हैं। पर ज्यों-ज्यों ये आश्वासन अधिक निश्चित होते जा रहे थे, सत्ता-परिवर्तन की उनकी शर्तें भी अधिक कड़ी होती जा रही थी। जब कभी भी बिना किसी शर्त के आजादी प्राप्त करने के लिये हमने आवाज उठाई; फौरन ही एक सशक्त साम्राज्य का समस्त पाशविक बल उसे कुचल डालने में जुट पड़ता था। युद्ध के दिनों में विश्व शान्ति के नाम पर हमने देश की आजादी की मांग की, पर उसका परिणाम यह निकला कि जनतंत्र के गांधी और नेहरू जैसे नियन्ता और निदर्शक, और सहस्रों अन्य व्यक्ति, जेल के सीखचों में बन्द कर दिए गए।

हमारे और अंग्रेजी साम्राज्यवाद के बीच की गुत्थी को सुलझाने के लिये पहिले भी कई योजनाएं हमारे सामने आईं, पर हम ज्यों-ज्यों उनके निकट बढ़ते गए, मृगतृष्णा के जलाशय के समान वे पीछे हटती गईं। १९४२ में, जब एशिया में यूरोप के साम्राज्य तहस-नहस हो रहे थे और

जापान की सेनाएं हिन्दुस्तान के दर्वाजे पर धक्का दे रही थीं, सर स्टेफ़र्ड क्रिप्स ने घोषणा की कि युद्ध के समाप्त होते ही हिन्दुस्तान अपनी मनचाही आज़ादी प्राप्त कर सकेगा। परन्तु जब हमारे नेताओं ने क्रिप्स योजना का निकट से अध्ययन किया तो पता लगा कि लड़ाई के दिनों में उनसे खेमे ढोने वाले कुलियों से अधिक आदर का काम लिये जाने की अपेक्षा नहीं की जा सकती थी। क्रिप्स का खड़ा किया गया हवाई किला वास्तविकता की हवा के एक हल्के से झोंके से जमीन में बिखर गया। १९४५ के ग्रीष्म में शिमला सम्मेलन का नाटक खेला गया। कांग्रेस की कार्यसमिति के सदस्य अहमदनगर के किले से बड़े आदर और सन्मान के साथ स्पेशल ट्रेनों से शिमला लाए गए। तेजी के साथ पर्दे बदले और अन्त में, वेवल की इस घोषणा के साथ कि असफलता की जिम्मेदारी उन पर है, नाटक का पटाक्षेप हुआ। हमारे मन की निराशा गहरी होती चली गई। उसके बाद पार्लमेंट का शिष्ट-मंडल आया। केबिनेट के बड़े बड़े मंत्री आए। एक बार फिर सभाओं और परिषदों की धूम मची। नई-नई योजनाए बनीं। पाकिस्तान की जिस कल्पना को जादू के वृक्ष के समान कायदे आजम जिन्ना ने अंग्रेजी शासन के सहारे पल्लवित किया था, वह मिटता सा दिखाई दिया। केबिनेट मिशन योजना की घोषणा हुई। इस बात का ढिंढोरा पीटा गया की अल्पसंख्यकों को देश की स्वाधीनता के मार्ग में रोड़ा बनाने का जो इलजाम अंग्रेजी सरकार पर है, अब वह उससे मुक्त होना चाहती है। पहिली बार और बड़े आश्चर्य के साथ हमने इस अभूतपूर्व घटना को घटते हुए देखा कि आजादी के लिए लड़ने वाली कांग्रेस और अंग्रेजी सरकार के द्वारा लाड़ से पाली-पोसी हुई मुस्लिम लीग दोनों ने ही केबिनट मिशन योजना को अपनी स्वीकृति दे दी है। स्वराज्य एक बार फिर नज़दीक आता हुआ दिखाई दिया। यह निराशा हमें जरूर थी कि जैसा केन्द्रीय शासन बनाया जा रहा है वह कमज़ोर सिद्ध होगा, पर अँग्रेजी साम्राज्य के चंगुल से हमें छुटकारा मिल रहा था, इसका हमें सन्तोष भी था। पर एक बार फिर घटनाओं का क्रम तेजी के साथ बदल चला। एक बार स्वीकार कर लेने के बाद मुस्लिम-लीग ने केबिनेट मिशन योजना को ठुकरा दिया पर केन्द्रीय शासन में कांग्रेस का साझीदार बनने के आग्रह पर वह जमी रही। मुस्लिम लीग की इन दोनों परस्पर विरोधी बातों को अंग्रेजी सरकार ने मान लिया। उसके बाद जहाँ एक ओर इन पारस्परिक-विरोधों से भरा हुआ केन्द्रीय शासन-तंत्र लड़खड़ाता हुआ आगे बढ़ा, दूसरी ओर कलकत्ता, नोआखाली और टिपेरा, बिहार और गढ़मुक्तेश्वर, और पश्चिमी पंजाब की हृदय को हिला देने वाली घटनाएँ हमारे सामने आती गईं।

घनीभूत निराशा पर एक प्रबल आघात

इस अजीबो ग़रीब वातावरण में अचानक हमारे सामने आई ३ जून १९४७ की वह माउन्टबेटन योजना, जिसका उद्देश्य १५ अगस्त तक देश को हिन्दू बहुसंख्यक और मुस्लिम बहुसंख्यक दो भागों में बांट देना और इन दोनों भागों को अलग-अलग अंग्रेज़ी साम्राज्य के आधिपत्य से मुक्त होने की घोषणा कर देना था। एक बड़े आश्चर्य में डाल देने वाली यह योजना थी। समझौते की बातचीत के द्वारा भी किसी देश को आजादी मिल सकती है, इस बात का यह पहिला उदाहरण था। संसार के इतिहास में इस प्रकार का कोई दूसरा उदाहरण नहीं है जब किसी साम्राज्यवादी देश ने एक आधीन देश पर से अपनी मर्ज़ी से अपनी सत्ता समेट ली हो। अंग्रेजी शासन का इस प्रकार से अंत हो जाना जहाँ एक ओर भारतीय राजनैतिक नेताओं की व्यवहार-कुशलता और बुद्धिमानी का परिचायक था, वहां हम अंग्रेज़ शासकों की दूरदर्शिता की प्रशंसा किए बिना भी नहीं रह सकते। ब्रिटेन की मौजूदा सरकार ने हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन की शक्ति को ठीक तरह से पहिचाना। उसने देखा कि आजकल की परिस्थितियों में साम्राज्यवाद एक खोखली और निस्सार वस्तु रह गई है और उसने यह भी समझ लिया कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के तेज़ी से बदलते हुए घटना-चक्र में यह एक खतरनाक वस्तु भी हो सकती है। वस्तु-स्थिति को ठीक से पहिचान कर उसने जून १९४८ तक हिन्दुस्तान को आज़ाद कर देने की एक साहसपूर्ण घोषणा कर दी और एक व्यवहार-कुशल वायसराय ने समय से दस महिने पहिले उस घोषणा को कार्य-रूप में परिणत कर दिया। १४ अगस्त की रात को जब नई दिल्ली के कांस्टीट्यूशन हॉल में आयोजित सत्ता परिवर्त्तन के महान् उत्सव की प्रतिध्वनि देश के कोने-कोने में पहुँची, राजेन्द्रबाबू, जवाहरलाल नेहरू और माउन्टबेटन के गम्भीर भाषण उन्हीं के शब्दों में लाखों व्यक्तियों ने सुने, तब अपने सारे अविश्वास को बल पूर्वक दूर ठेलते हुए, कुछ कठिनाई से और अचंभे और हैरत की भावना में, हम यह विश्वास कर पाए कि अब हम सचमुच आज़ाद हैं, और अचानक संसार के महान् राष्ट्रों की प्रथम श्रेणी में आ बैठे हैं।

परन्तु चाहे कितना अविश्वास और कितने ही आश्चर्य और हैरत की भावना हमारे मन में रही हो, इस बड़ी सच्चाई से इंकार नहीं किया जा सकता था कि तीस करोड़ व्यक्तियों का यह देश आज सचमुच अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद की दासता के जुए को अपने कंधों से उतार कर एक बड़ी और आज़ाद ताक़त के रूप में संसार के सामने आ गया है। हिन्दुस्थान को मिलने वाली यह

आज़ादी एक ऐसी घटना है जो विश्व-इतिहास के एक अध्याय को समाप्त करती है और आशा और उत्साह से भरे हुए एक नए अध्याय का पहिला पृष्ठ खोलती है। एक जमाना था, कोई तीन सौ वर्ष पहिले, जब यूरोप की सभ्यता अपनी अजेय शक्ति के गर्व में अपनी सीमाओं को तोड़ती हुई दुनिया के कोने-कोने में फैल गई थी, और इंग्लैण्ड, फ्रांस, हॉलेण्ड जैसे छोटे-छोटे देशों की महत्वाकांक्षाएं हावी होगई थी, एशिया के महान् भू-खण्ड पर। एक महान् संस्कृति का उत्ताधिकारी यह विशाल देश अंग्रेजों के शासन के अन्तर्गत रहने पर मजबूर किया गया था। इस असहाय स्थिति से निकलने की दिशा में किए जाने वाले हमारे लाख-लाख प्रयत्न अंग्रेजी साम्राजवाद की मजबूत लोहानी दीवार से टकरा कर चूर-चूर हो जाते थे। मानवता के इतिहास का वह लम्बा और अंधकारमय युग अब खत्म हो रहा है। अंग्रेज़ों को आज हिन्दुस्तान से अपने साम्राज्यवाद के डेरे उठाने पड़ रहे हैं। कुछ हमने उन्हें मजबूर किया, कुछ अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने, कुछ आन्तरिक कमज़ोरी ने और कुछ उनकी अन्तरात्मा के तक़ाजो ने, पर इन विविध प्रक्रियाओं के परिणाम स्वरूप जो घटना आज हो रही है, आने वाले इतिहास पर उसकी ज़बर्दस्त प्रतिक्रिया होगी। हिन्दुस्थान से अंग्रेजी साम्राज्यवाद का नामोनिशान मिट जाने के बाद यह सम्भव नहीं है कि फ्रांस और हॉलैण्ड जैसे देश एशिया की ज़मीन पर अधिक दिनों तक अपना अमानुपिक आधिपत्य बनाए रह सकें। उन्हें भी अपना साम्राज्य हटाना होगा।

एशिया आज आज़ाद हो रहा है। कल वह एक होगा और शक्तिशाली बनेगा। सम्भव है कि एक विभिन्न संस्कृति होने के कारण एशिया कुछ ऐसे तत्वों को सामने लाए जो संसार का कायापलट कर सकें। भविष्य में क्या होगा, कौन जाने? इतना निश्चित है कि हिन्दुस्तान के आज़ाद होने की प्रतिक्रिया समस्त एशिया की राजनीति पर होगी और एशिया के नवोत्थान का अर्थ होगा विश्व की राजनीति को एक नई दिशा में मोड़ देना।

विभाजन क्यों?

परन्तु जहाँ हमें एक ओर वह आज़ादी मिली जिससे अपने भाग्य के हम स्वयं विधाता बने, वहां दूसरी ओर भौगोलिक, आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से सदियों से एक रहने वाले इस देश के बंटवारे को भी हमें स्वीकार करना पड़ा। एकता की बड़ी क़ीमत पर हमें आज़ादी प्राप्त हुई। पिछले साठ वर्षों से कांग्रेस के भीतर व बाहर के हमारे राष्ट्रीय नेता जिस

आज़ादी के लिए संघर्ष कर रहे थे, वह इस प्रकार की कटी-छंटी आज़ादी नहीं थी। हमारे देश के असंख्य नौनिहालों ने जिस आज़ादी के लिए अपने मूल्यवान प्राणों की भेंट चढ़ाई थी, वह अटक से अराकान तक और हिमालय से कन्या-कुमारी तक समूचे देश की आज़ादी थी। एकता की क़ीमत पर हमने आज़ादी के इस मार्ग को क्यों चुना, राष्ट्र के प्रखर नेतृत्व ने देश के बंटवारे को क्यों स्वीकार किया और एक अखंड, अविभाज्य हिन्दुस्तान की आजादी के लिए अपने प्रयत्न क्यों जारी न रखे? इस प्रकार के प्रश्न आज हमारे मन में उठ रहे हैं। उनका संतोषजनक उत्तर तो भविष्य ही दे सकेगा, पर मैं समझता हूँ कि जून १६४७ में राष्ट्रीय नेतृत्व के सामने इसके अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं रह गया था। अंग्रेज़ों ने हिन्दुस्तान को छोड़कर चले जाने का निश्चय कर लिया था। कांग्रेस और मुस्लिम लीग के मतभेदों को देखते हुए, और यह देखते हुए कि कांग्रेस के राष्ट्रीय होने के दावे के सही होने के बावजूद भी देश के करोड़ों मुसलमानों का विश्वास क़ायदे-आज़म और मुस्लिम-लीग में है, अंग्रेज़ी सरकार इस स्थिति में नहीं थी कि वह कांग्रेस के हाथ में सारे हिन्दुस्तान के राज्य-शासन की सत्ता सौंप दे। कांग्रेस और मुस्लिम-लीग में समझौते के सभी प्रयत्न तो असफ़ल हो चुके थे! एक वर्ष पहिले केबिनेट-मिशन-योजना के अन्तर्गत जिस मिले-जुले केन्द्रीय शासन की व्यवस्था की गई थी, वह मुसलमानों को मंजूर नहीं थी और केन्द्रीय शासन के भीतर मुस्लिम-लीग के प्रतिनिधियों का जो रवैया रहा उससे कांग्रेस के नेताओं को यह विश्वास हो गया था कि वे वहां केवल उनके काम में अड़ंगा डालने के लिए हैं। खिज़र हयातखाँ के मन्त्रि मण्डल को पदच्युत किए जाने के बाद पंजाब के पश्चिमी ज़िलों में हिन्दू और सिखों पर जो अत्याचार हुए, उनसे घबरा कर उन्होंने पंजाब के शासन के बँटवारे की मांग की। सिखों की सामूहिक इच्छा के सामने कांग्रेस को अपनी इच्छा के विरुद्ध भी इस मांग का समर्थन करना पड़ा। उसके बाद बंगाल के विभाजन की मांग का उठना भी स्वाभाविक हो गया। और जब एक बार कांग्रेस ने प्रान्तों के विभाजन के सिद्धांत पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगादी, तब देश के विभाजन की मांग को स्वीकार न करना उसके लिए असंभव हो गया। परिस्थितियों ने इस प्रकार कांग्रेस के नेतृत्व द्वारा देश के बँटवारे की मांग को स्वीकार करना अनिवार्य बना दिया।

वस्तु स्थिति तो यह है कि राष्ट्रीय विकास की दृष्टि से अंग्रेज हमारे देश से समय से कुछ पहिले चले गए। कुछ वर्ष यदि वे और रहते तो हम संभवतः अपनी राष्ट्रीयता की भावना को इतना विकसित कर लेते और उसे ऐसा शुद्ध रूप दे देते कि अंग्रेज़ों के लिए उसके सामने आत्म-समर्पण कर देने के अतिरिक्त

कोई दूसरा मार्ग नहीं रह जाता और वैसी दशा में लड़ कर एक वड़े संघर्ष के बाद हमें जो आज़ादी मिली होती उसकी किरणों को हम समूचे देश के कोने-कोने में जगमगाते देखते । आज हमें जो आज़ादी मिली है उसे हमने लड़कर प्राप्त नहीं किया है । इस विचार को कुछ और स्पष्ट रूप में समझने का प्रयत्न करें। हमारी राष्ट्रीय चेतना धीरे-धीरे, ऊपर से नीचे की ओर, समाज के और, समाज के विविध वर्गों में, फैलती गई है । कांग्रेस की स्थापना और प्रारंभिक राष्ट्रीय प्रयत्नों के पीछे हमारे समाज का धनी व संपन्न उच्च वर्ग था । बीसवीं शताव्दी के प्रारम्भिक वर्षों तक वह चेतना मध्यवर्ग के ऊपर के स्तर तक पहुँची । १९२०–२१ के आंदोलन में उसने मध्यवर्ग के निचले स्तर को अपने प्रभाव में लिया और तब से वह अनवरत रूप से किसान और मज़दूर आदि निम्नतम वर्गों में फैलती जा रही है । ज्यों-ज्यों यह राष्ट्रीय चेतना व्यापक होती गई है, उसकी वढ़ती हुई शक्ति के सामने अंग्रेजी सरकार को समझौता करने पर विवश होना पड़ा है । हमारे देश की साम्प्रदायिक समस्या ने एक विषम रूप उस समय लिया जब हमारी राजनीति का आधार मध्य वर्ग के पढ़े-लिखे, वेकार और महत्वाकांक्षी नवयुवकों पर था । जब कभी राष्ट्रीय चेतना की उत्ताल तरंगों ने निम्न वर्ग का स्पर्श किया, साम्प्रदायिकता के भेद मिटते से दिखाई दिए । सुभाषबोस द्वारा संगठित आज़ाद हिन्द फौज व १९२०-२१, ३०-३२ व, ४५-४६ के आंदोलनों में, हमने सांप्रदायिक विद्वेष को सदा ही कमज़ोर पड़ जाते देखा । मुझे पूरा विश्वास है कि राष्ट्रीयता का विकास यदि उस स्थिति तक पहुंच गया होता जब वह देश के जनसाधारण को, करोड़ों स्त्री-पुरुषों को, अपनी परिधि में ले आता तो हम सांप्रदायिकता को सदा के लिए मिटा हुआ पाते । परन्तु उस मंज़िल के कुछ पहिले ही, और विशेष कर एक ऐसे अवसर पर जब कुछ विशेष परिस्थितियों के कारण सांप्रदायिक विद्वेष अपनी चरम सीमा पर था, अंग्रेज़ों ने इस अर्द्ध-विकसित राष्ट्रीयता से समझौता करके, उसे एक बड़े संघर्ष में अपने को पूर्ण रूप से विकसित करने का अवसर न देते हुए, हिन्दुस्तान को छोड़ देने का निश्चय कर लिया ।

विभाजन के तात्कालिक परिणाम: भारतीय राष्ट्रीयता की नई परिभाषा

यह कहना कठिन है, शायद न्याय युक्त भी न हो, कि अंग्रेज़ों ने जान बूझ कर हिन्दुस्तान को एक ऐसे अवसर पर छोड़ देना निश्चित किया जब उसकी सांप्रदायिक समस्या अपने भीषणतम रूप में उसके सामने खड़ी हुई थी ।

विषय-प्रवेश

ब्रिटेन ने जो कुछ किया, वह शायद अंतर्राष्ट्रीय कारणों व अपनी तेजी से बिगड़ती हुई आर्थिक स्थिति के फलस्वरूप किया। पर उसका परिणाम यह हुआ कि दो राष्ट्रों के सिद्धांत के गलत आधार पर देश का दो अप्राकृतिक भागों में बंटवारा हो गया। और बंटवारे का यह दुःखान्त नाटक जब एक बार शुरू हो गया तो एक ग्रीक ट्रैजिडी के समान अपने भयानक रूप में आगे बढ़ चला। शासन-तन्त्र के कर्मचारियों का आदान-प्रदान सांप्रदायिकता के आधार पर हुआ और फौज और पुलिस का पुनः संगठन भी साम्प्रदायिक आधार पर ही हुआ। एक बड़ी तेजी के साथ वे घटनाएँ भी घटीं और १५ अगस्त को अपनी-अपनी आज़ादी की खुशी में जब हिन्द और पाकिस्तान के लाखों-करोड़ों नागरिक अपने क़ौमी नेताओं के नेतृत्व में अपन क़ौमी झंडों के नीचे इकट्ठा हुए तो उन्होंने देखा कि उनके पीछे लाखों की संख्या में चमकीली वर्दियों से सुसज्जित जो सेनाएँ और पुलिस की टुकड़ियाँ हैं, वे सब या तो प्रधानतः हिन्दू और सिख हैं या मुस्लिम, और एक विचित्र मध्ययुगीन धार्मिक जोश उनके हृदयों में लहरा रहा है। इस प्रकार हमें आजादी तो मिली—एक बड़े साम्राज्य के समस्त पाशविक बल का आततायी बोझा हमारे सिर पर से हट गया—पर उसके साथ धार्मिक आधार पर देश का बँटवारा भी हमें मिला। और आज़ादी और विभाजन के इस अनोखे मिश्रण से कुछ विचित्र समस्याएँ हमारे सामने खड़ी हो गईं, जिनके परिणाम स्वरूप उस समय के लिए तो हमारी राष्ट्रीयता का अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया था। धार्मिक भावनाओं का एक ऐसा अन्धड़ सा उमड़ता चला कि हम अपनी राष्ट्रीयता की भावना को भी तोड़ने-मरोड़ने में लग गए। मुस्लिम लीग ने जब भारतीय मुसलमानों के एक अलहदा राष्ट्र होने की आवाज़ उठाई थी, तब हम उसका मज़ाक उड़ाते थे। पर पाकिस्तान के बन जाने पर और उस ग़लत राष्ट्रीयता से उत्पन्न होने वाली नृशंसता के बावजूद भी—बल्कि उनके परिणाम स्वरूप–हमारे देश में यह भावना बढ़ती गई कि हमारी राजनीति का आधार हिन्दू-धर्म व संस्कृति पर स्थापित किया जाना चाहिए। राष्ट्रीयता के नाते जो निष्ठा हम पिछले साठ वर्षों से प्रदर्शित करते आ रहे हैं, वह हममें से बहुत से व्यक्ति धर्म और जाति की भावना के प्रति प्रदर्शित करने में तत्पर दिखाई देने लगे। जिस तरह मुसलमानों ने अपने आपको एक अलग राष्ट्र करार दिया है, अनेकों हिन्दू नेता और विद्वान भी इस भावना का प्रतिपादन करने में जुट पड़े कि भारतीय राष्ट्र का सच्चा अर्थ है 'हिन्दू राष्ट्र'। गोखले इस्टीट्यूट ऑफ पालिटिक्स् एण्ड इकॉनॉमिक्स् के डा० गाडगिल ने भारतीय संघ के हिन्दू आधार को विशेष रूप से प्रतिपादित किए जाने पर ज़ोर दिया। राष्ट्रीयता को

एक विशेष संप्रदाय से सम्बन्ध करने की ग़लती हमारे देश में बड़ी मात्रा में की जाने लगी। दुर्भाग्य से इस वातावरण से लाभ उठा कर अपने आपको राष्ट्रीय कहने वाली ऐसी संस्थाएं भी अपने को दिन ब दिन मजबूत बनाती गई, जिन्होंने हिन्दुओं के संगठन को ही अपना लक्ष्य बनाया और बंटवारे के बाद भी देश में बच रहने वाले साढ़े-चार करोड़ मुसलमानों को राष्ट्र का अंग मानने से इंकार किया और जिनका लक्ष्य, चाहे वे मानें या न मानें, मुसलमानों के विरुद्ध ही हिन्दू समाज को संगठित करने का था। आजादी और उसके साथ उठ खड़े होने वाले साम्प्रदायिक बवण्डर ने इस प्रकार हमारी राष्ट्रीयता की कल्पना पर ही एक बड़ा घातक प्रहार किया। जो अविभाजित, अकुंठित सम्पूर्ण निष्ठा हमें उस राष्ट्रीयता के प्रति अर्पित करनी चाहिए थी जिसमें देश के सभी वफ़ादार नागरिक, चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान, पारसी हों या ईसाई, शामिल हैं उसके विरुद्ध धर्म, संप्रदाय, जाति अथवा वर्ग विशेष को बल देने की प्रवृत्ति ने जोर पकड़ा। अपने ही हाथों राष्ट्रीयता की उस भावना को जिसने देश को अंग्रेजी साम्राज्यवाद के चंगुल से मुक्त कराया, खण्ड-खण्ड करने के एक विचित्र पागल प्रयत्न में हम जुट पड़े।

महात्मा गांधी का बलिदान और संभावित प्रतिक्रियाएँ

ग़लत विचार-धाराओं के आधार पर ग़लत भावनाओं को भड़का कर देश में जो जहरीला वातावरण तैयार किया जा रहा था उसका एक महान् विस्फोट ३० जनवरी १९४८ की संध्या के पांच बजे महात्मा गांधी के आवरण हीन वक्षस्थल पर बिलकुल पास से चलाई गई तीन गोलियों और उनकी तात्कालिक मृत्यु के रूप में हुआ। यह एक ऐसी घटना थी जिसने अपनी भीषणता से सारे देश को ही नहीं सारे विश्व को हिला दिया। वह व्यक्ति हमसे छीन लिया गया, जिसने अपने पुनीत हाथों से हमारा निर्माण किया था, हममें राष्ट्रीयता की भावना और स्वाधीनता की ललक को जन्म दिया था, एक मुर्दा और पिछड़े हुए देश में नवीन प्राणों का संचार किया था, अपने महान् व्यक्तित्व का सहारा देकर हमें संसार के सम्मानास्पद राष्ट्रों में, उनकी बराबरी के दर्जे पर, ला खड़ा किया था। एक भारतीय और एक हिन्दू ने, हिन्दू राष्ट्र और हिन्दू राज्य की मूर्खतापूर्ण दुहाई देने वाले एक पागल, खतरनाक व्यक्ति ने मानव-जाति की समस्त पाप-भावनाओं को अपने एक दुष्कृत्य में केन्द्रित कर के आज के युग के नहीं, मानव-इतिहास के सभी देशों के सभी युगों के सबसे महान्

पुरुष की हत्या कर डाली। उसने एक ऐसे प्रकाश-स्तम्भ को ढहा देना चाहा जो चारों ओर से तेज़ी से बढ़ती और क्रोध और आवेश में गुजरती हुई पागल लहरों के भीषण तूफ़ान के बीचों-बीच खड़ा रह कर भी उनसे उलझते-टकराते-टूटते या बच कर निकलने की चेष्टा करते हुए जहाजों को ठीक लक्ष्य की ओर आगे बढ़ने का आदेश दे रहा था।

देश के करोड़ों दुःखी, शोकविह्वल, संतप्त व्यक्तियों के रुँधे हुए कंठ ने पूछा कि आखिर क्यों उनके सबसे प्रिय, सबसे पूज्य, सबसे निकट व्यक्ति को उनसे छीन लिया गया, और तब धीरे धीरे उन पर यह प्रगट होने लगा कि मानव-इतिहास के इस सबसे बड़े अपराध का कारण यही था कि जब तक वह व्यक्ति देश में मौजूद रहता राष्ट्रीयता के एक विकृत रूप की स्थापना के प्रयत्न में ही अपने क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति का स्वप्न देखने वाले अनेकों व्यक्ति अपने निम्न उद्देश्यों में सफलता नहीं पा सकते थे। धीरे-धीरे यह प्रगट होता गया कि गांधी की हत्या के पीछे साम्प्रदायिक आवेश नहीं था, परन्तु उस आवेश का दुरुपयोग करके राजनैतिक सत्ता हथियाने का एक फासिस्टी षड्-यन्त्र था। इसका विकास भी हमारे देश में उसी ढंग से हुआ था, जैसे फासिस्टी विचार-धाराओं का विकास सभी अन्य देशों में होता रहा है। साम्प्रदायिकता को आधार बना कर देश में घृणा की एक लहर फैली हुई थी। पाकिस्तान में हिन्दू और सिक्खों के साथ जो अत्याचार हो रहे थे वे काफ़ी बुरे थे, पर उनकी अतिरंजित कहानियां देश के कोने-कोने में फैल रही थीं और उनके परिणाम-स्वरूप पूर्वी पंजाब, दिल्ली और उसके आस-पास व उत्तरी राज-पूताना की कुछ रियासतों में हिन्दू और सिखों ने भी वैसे ही, संभव है उससे भी अधिक भीषण, अत्याचार मुसलमानों पर करने प्रारम्भ कर दिये थे। इससे स्वभावतः ही उन सब शक्तियों को बढ़ावा मिला जो मानव-स्वभाव की आदिम पाशविक प्रवृत्तियों के निकटतम सपर्क में थीं और जिन पर मनुष्य मात्र से प्रेम करने के सिद्धान्त से अधिक प्रभाव एक दल-विशेष से घृणा करने की भावना डाल सकती थी, और जिनका नेतृत्व जनता में घृणा की भावना को बढ़ावा देकर उसके आधार पर अन्ततः राजनैतिक सत्ता हथियाने का स्वप्न देख रहा था। चूंकि गांधी के निर्देश और नेहरू के नेतृत्व में केन्द्र की कांग्रेस-सरकार जनता के इन विक्षिप्त सांप्रदायिक दुष्कृत्यों का समर्थन नहीं कर रही थी, उसके खिलाफ़ बहुत आसानी से प्रचार किया जा सकता था। जन साधारण में बहुत दिनों से चली आरही इस भावना के आधार पर कि कांग्रेस सदा से मुसलमानों के तुष्टीकरण के प्रयत्न में लगी रही है, यहां तक कि उसने देश का बंटवारा भी मान लिया, और यह देखते हुए कि अब भी पाकिस्तान में मुसलमान

अल्पसंख्यकों पर अत्याचार कर रहे हैं और वहां की सरकार उन्हें अपना समर्थन दे रही है, सरकार पर आसानी से यह इलज़ाम लगाया जा सकता था कि वह भी खुद हिन्दुओं के हितों को नष्ट करने में ही लगी हुई थी। बड़े आकर्षक ढंग से इस प्रवृत्ति के नेताओं ने लोगों के सामने यह तर्क रखा कि यदि ऐसा नहीं है तो सरकार क्यों उनके द्वारा उठाए गए हिन्दू राज्य के नारे को स्वीकार करने से इन्कार करती है। साधारण व्यक्ति के लिए सचमुच यह समझना कठिन था कि हिन्दू राज्य की मांग के पीछे ऐसी कौन सी आपत्तिजनक बात थी जो गांधी व नेहरु उसे अपना समर्थन नहीं दे रहे थे। वह यह तो आसानी से समझ सकता था कि जब धर्म के आधार पर देश का बंटवारा किया जा चुका है और पाकिस्तान की सरकार खुले-आम अपने मुस्लिम-राज्य होने की घोषणा करती रहती है, तब यह बिलकुल तर्क सम्मत बात थी कि हिन्दुस्तान में हिन्दु राज्य की स्थापना हो। इस प्रकार की विचार धाराके प्रवर्त्तकों का किसी प्रकार से यह विश्वास होगया था कि उनके काम के रास्ते में यदि कोई सबसे बड़ी रुकावट है तो वह गांधी है। उसे रास्ते से हटा देने के बाद अन्य नेताओं से सुलझना उनके लिए कठिन नहीं रह जाएगा, ऐसा उनका विश्वास था। यह स्पष्ट था कि राष्ट्रीय सरकार ने सांप्रदायिकता के इस प्रभावपूर्ण बवंडर को रोकने के लिए कोई प्रभावपूर्ण कदम नहीं उठाया था। शहरी और फौजी दोनो क़िस्म की सरकारी नौकरियों में सांप्रदायिकता का खुले-आम प्रचार किया जा रहा था। कोई सरकारी दफ़्तर ऐसा नहीं था, जिसमें कर्म-चारियों की एक अच्छी-खासी संख्या राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की विचार-धारा से प्रभावित न हो, और उनमें से काफी लोग उसके सदस्य थे और खुले आम उसके सिद्धान्तों का प्रचार कर रहे थे। केन्द्रीय कार्यकारिणी के सभी सदस्य भी सांप्रदायिक भावनाओं से बिल्कुल ऊपर हों, यह नहीं कहा जा सकता था। ट्रेनों, ट्रामों, बसों, सडकों बाजारों में, दफ़्तरों और शिक्षण-संस्थाओं, कारखानों और नुमाइशों में, सभी जगह राष्ट्रीय सरकार और राष्टीय नेताओं की खुले-आम कड़वी से कड़वी आलोचना होती थी, गालियां दी जाती थीं, गांधी और नेहरू को मार डालने के लिए पोस्टर लगाये जाते थे और नारे बुलन्द किए जाते थे। जहां तक मैं समझता हूं सरकार इस वस्तुस्थिति से परिचित थी, परन्तु जहां उसके चुप रहने का एक कारण यह था कि कोई भी लोक-तंत्रीय शासन विचारों की स्वतंत्र अभिव्यक्ति पर नियन्त्रण लगाने के लिए आसानी से तैयार नहीं होता, दूसरा और बड़ा कारण यह भी था कि इस प्रकार की विचार धारा जन साधारण के हृदयों और भावनाओं में बहुत गहराई तक प्रवेश पा चुकी थी, और सरकार शरणार्थियों के आदान-प्रदान, काश्मीर के युद्ध और

पाकिस्तान से अपने संबंधों को सुलझाने के बड़े महत्वपूर्ण कामों में उलझी हुई थी, इस स्थिति में नहीं थी कि अपनी सारी शक्ति इस प्रकार के विचारों का मुकाबिला करने में लगा पाती—और मैं समझता हूं कि वह उन प्रतिक्रियाओं के संबंध में भी निश्चिन्त नहीं थी. जो उसके द्वारा किसी बड़े कदम से उठाए जाने पर उत्पन्न हो सकती थीं। यह माना जाता है कि केबिनेट में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ आदि साम्प्रदायिक, अर्द्ध-सैनिक फासिस्टी संस्थाओं पर कानूनी प्रतिबन्ध लगाने का प्रश्न कई बार उठाया गया, पर इस संबंध में कोई निश्चय नहीं किया जा सका। इसके साथ ही देशी राज्यों का प्रश्न भी गुथा हुआ था। अंग्रेज़ जब हिन्दुस्तान से गए, तब उसे दो बड़े टुकड़ों में बांट देने के अलावा, उसकी छः सौ से अधिक देशी रियासतों के स्वतंत्र और सार्वभौम होने की घोषणा भी करते गए। सरदार पटेल ने बड़ी दूरदर्शिता और व्यवहार-कुशलता के साथ इनमें से अधिकांश को भारतीय संघ में शामिल कर लिया था, पर इनमें से बहुत सी रियासतें साम्प्रदायिकता और प्रतिक्रियावादिता का गढ़ बनी हुई थीं। बिना उनके आन्तरिक शासन में हस्तक्षेप किए हुए इन प्रवृत्तियों का मूलोच्छेदन सम्भव नहीं था, और यदि राष्ट्रीय सरकार द्वारा इस दिशा में कोई प्रयत्न किया जाता तो उसकी भी बड़े पैमाने पर प्रतिक्रिया होने की सम्भावना थी।

गांधीजी की हत्या ने देश के लोकमत को हिला दिया। भारतीय लोकमत पर फ़ासिस्टी विचार-धाराओं का तेज़ी के साथ प्रभाव पड़ रहा था। इन विचार धाराओं की आन्तरिक परिधि के जो व्यक्ति थे, उनके मन से तो गांधी, नेहरू और अन्य नेताओं के प्रति श्रद्धा की मूलभूत भावना को अनवरत प्रचार और परिश्रम से उखाड़ा जा चुका था—अन्यथा गोड्से का दुःसाहस कल्पना के बाहर की वस्तु ही रहता और गांधीजी के निधन पर कुछ क्षेत्रों में खुशी नहीं मनाई जाती—पर जनसाधारण की भावना के अन्तस्तल में गांधी के प्रति ममत्व, प्रेम और श्रद्धा के भाव जितने गहरे चले गए थे उसकी कल्पना ये फासिस्टी नेता नहीं कर सके, और इसका परिणाम यह हुआ कि गांधीजी की हत्या के बाद गलत दिशा में तेज़ी के साथ बढ़ता जाने वाला यह लोकमत, एक चोट खाए हुए सांप के समान, फुफकार कर खड़ा हो गया और उसकी तेज़, क्रुद्ध सांसों में, वह विचार-धारा जो बड़े यत्न के साथ पिछले कई महीनों से प्रचारित की जा रही थी, भस्म होने लगी। सरकार ने इस स्थिति से पूरा लाभ उठाया। उसने फौरन राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और अन्य साम्प्रदायिक संस्थाओं को गैर कानूनी करार दे दिया और उनसे संबद्ध हजारों व्यक्तियों को

गिरफ्तार कर लिया। उसने उन देशी राजाओं के विरुद्ध भी, जिनके शासन के प्रति सांप्रदायिकता को बढ़ावा देने के इलज़ाम लगाए जा रहे थे, कड़ी कार्यवाही की, और लोकमत ने, जिसे गांधीजी की मृत्यु ने ठीक रास्ते पर ला दिया था। सरकार के इन सभी कामों को अपना पूरा और हार्दिक समर्थन दिया। इस प्रकार भारतीय राजनीति में फासिस्टीवाद के विकास पर पहिला बड़ा आक्रमण सफल रहा। पर यहां हमें निर्विवाद रूप से यह मान लेना है कि जहां एक ऐसी स्थिति आ जाती है, जब एक ग़लत विचार-धारा को बल के प्रयोग से कुचलना अनिवार्य हो जाता है, विचार-धारा को तलवार के प्रयोग से बिल्कुल ही नष्ट नहीं किया जा सकता। विचार को केवल विचार से ही काटा जा सकता है। ग़लत विचारों के प्रचार को रोक देने का सबसे अच्छा तरीक़ा है, सही विचारों का प्रचार। इस दृष्टि से सरकार द्वारा जो भी कदम हमारे देश में फैल जाने वाली इस ग़लत मनोवृत्ति को नष्ट कर देने के लिए उठाया जाएगा वह कितना ही आवश्यक हो, एक सीमा तक ही अपना काम कर सकता है। उस सीमा के आगे जाकर तो एक जागृत, प्रबुद्ध, विवेकशील और सतत प्रयत्नशील लोकमत को ही इस काम का नेतृत्व अपने हाथों में लेना पड़ता है। इस प्रकार का सही लोकमत अब तक विपरीत परिस्थितियों में काम कर रहा था। और सरकार का भी सक्रिय सहयोग उसे प्राप्त नहीं था। जनतंत्र की शक्तियों को एक गहरे दलदल में से गुज़रना पड़ रहा था। गांधीजी की मृत्यु ने जहां सरकार को ठीक दिशा में चलने की सुविधा दे दी वहां जन-साधारण को भी ठीक दिशा में सोचने का अवसर दिया। अपनी मृत्यु में भी जनतन्त्र के इस मसीहा ने जनतन्त्र के विकास के मार्ग को प्रशस्त और सुगम ही बनाया।

संकीर्ण राष्ट्रीयता के विषम परिणाम

आज हम इस स्थिति में हैं कि हम इस प्रश्न पर ठीक से सोच सकें कि यदि उस ग़लत विचार धारा को जो पिछले दिनों हमारे जनसाधारण के हृदयों में प्रवेश करती गई है हमने फिर से बढ़ने का अवसर दिया तो वह हमें कहां ले जा सकती है। उसका पहिला और सीधा परिणाम तो यह होगा कि हम संसार भर में पिछली कई सदियों से धीमे पर निश्चित रूप से निरंतर आगे बढ़ती जाने वाली विचार-धाराओं से अपना संबंध-विच्छेद कर लेंगे। यूरोप में, और योरोपीय सभ्यता से प्रभावित संसार के दूसरे देशों में, फ्रांस की जन-क्रान्ति के बाद के डेढ़ सौ वर्षों में समाज का सामन्तशाही आधार टूटता गया है और राष्ट्रीयता और जनतंत्र के आधार पर उसका पुनः गठन किया जा रहा

है। धार्मिक आधार पर लड़े जाने वाले युद्धों को समाप्त हुए भी अब लगभग तीन सौ वर्ष हो चुके हैं। सामंतशाही ने पूंजीवाद का जो जामा पहिना था और राष्ट्रीयता ने फासिस्टीवाद की शक्ल अख्तियार कर ली थी, उन पर भी आक्रमण किया जा रहा है। पिछले डेढ़ सौ वर्षों में, विदेशी आधिपत्य के बावजूद, बल्कि उसकी प्रतिक्रिया के रूप में, हमारे देश में जिन प्रमुख प्रवृत्तियों का विकास हुआ है, उनके सम्बन्ध में हम गर्व के साथ कह सकते हैं कि संसार की प्रगतिशील विचार-धाराओं से उनका निकट का संपर्क रहा है। परन्तु, यदि आज हम राष्ट्रीयता की परिभाषा को बदलने बैठ जाएं और हिन्द की नागरिकता का आधार हिन्दू धर्म और संस्कृति पर रखे जाने की घोषणा कर दें तो हम तुरंत ही अन्य सभी देशों की सहानुभूति खो देंगे। पाकिस्तान में गैर-मुसल्मानों के साथ जो कुछ भी हो रहा है, हम अपने देश में यदि उसका अनुकरण न करें, अपनी राष्ट्रीयता की कल्पना को वैसा ही अक्षुण्ण और व्यापक बनाए रखें जैसी वह अब तक थी; अपने यहां रहने वाले सभी लोगों के साथ, चाहे वह किसी धर्म या जाति के मानने वाले हों; विशेष उदारता का नहीं तो कम से कम साधारण मनुष्यता का वर्ताव रखें, तो हम आज भी संसार के सामने सिर ऊंचा करके खड़े हो सकते हैं, और इसके विपरीत यदि किसी मानसिक संकीर्णता के वश होकर हम अपने ही भाइयों के साथ, जिनका रक्त, मांस और हड्डी उसी मिट्टी से बने हैं जो हमें प्राणदान देती है और जिनके और हमारे बीच केवल धार्मिक विश्वासों का अन्तर है, पशु का सा व्यवहार करने लगें तो उससे, अपनी वर्तमान पागलपन की स्थिति में हमें आज चाहे कितना ही संतोष क्यों न मिले, अन्तर्राष्ट्रीय लोकमत के समर्थन को हम हमेशा के लिए खो देंगे। अन्तर्राष्ट्रीय लोकमत की हम पर्वाह न भी करें तो हमारी इस नीति का सीधा परिणाम यह होगा कि पाकिस्तान से हमारे संबंध दिन पर दिन बिगड़ते जाएंगे। आज हमारे और पाकिस्तान दोनों के अस्तित्व के लिए इससे भयंकर कोई बात नहीं हो सकती कि उनके पारस्परिक संबंधों में अविश्वास की भावना को स्थान मिले। हमारे नेताओं द्वारा देश के बंटवारे की मांग के स्वीकार किए जाने का मुख्य उद्देश्य यही था कि हमारा यह महान देश एक चलते रहने वाले गृह-युद्ध की लपटों से बच जाए, जिसमें आज हमारा पड़ौसी चीन झुलस रहा है। बंटवारे के बाद भी क्या हम इस आन्तरिक अशान्ति और हिन्द और पाकिस्तान के बीच चलते रहने वाले युद्धों को देखना चाहते हैं ?

हिन्द, पाकिस्तान और भारतीय राजनीति

यह निश्चित है कि हमारे और पाकिस्तान के वीच जितना अधिक मनमुटाव होगा उतना ही अधिक अवसर उन साम्रज्यवादी ताक़तों को, जिन्हें हम अपने में एक स्वस्थ व सशक्त राष्ट्रीयता की भावना का विकास कर लेने के कारण निकाल देने में समर्थ हुए हैं या दूसरी साम्राज्यवादी ताक़तों को, हिन्द और पाकिस्तान दोनों में फिर से अपने पैर जमाने का मौका मिलेगा। पाकिस्तान में, जो कि अपेक्षाकृत कमज़ोर है हम आज भी एक वड़ी संख्या में अंग्रेज़ अधिकारियों और उससे भी वड़ी संख्या में अंग्रेज़ी और अमरीकन उद्योग-धंधो को पैर फैलाते हुए देख रहे हैं। एक आपसी युद्ध का परिणाम यह होगा कि दोनों देशों को विदेशी शक्तियों के हाथ में खिलौना वन जाने पर मजबूर होना पड़ेगा। आज संसार स्पष्टतः दो अन्तर्राष्ट्रीय गुटों में वट गया है। संपूर्ण विजय की तलाश में यदि एक देश ने किसी एक अन्तर्राष्ट्रीय गुट का समर्थन पाने में सफलता प्राप्त की तो दूसरे देश को संभवतः दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय गुट का मुँह ताकना पड़ेगा। यदि हमोरा यह विश्वास हो कि हमें किसी भी दशा में सभी देशों का नैतिक या किसी प्रकार का समर्थन मिल सकेगा तो हम भ्रम में हैं। संसार के अन्य देशों में, और विशेप कर मुस्लिम देशों में पाकिस्तान सरकार द्वारा किए जाने वाले प्रचार की यह दिशा रहेगी कि अब तक हिन्दू एक अखंड हिन्दुस्तान में उनके धर्म और संस्कृति का नाश करने और उन्हें अपना गुलाम वनाने के प्रयत्न में लगे हुए थे और उनके एक अलग राज्य बना लेने की स्थिति में आज वे किसी न किसी वहाने से उस राज्य को हड़प लेना चाहते हैं, और यदि हमारी सीमाओं में मुसल्मानों के साथ किसी भी प्रकार का अन्याय हुआ, उसे इस प्रचार में अन्तर्राष्ट्रीय लोकमत और विशेप कर मुस्लिम देशों के जनमत का प्रवल समर्थन मिलेगा। हमारे देश के वड़े-वड़े पूंजीपति, जो आज संभवतः व्रिटेन और अमरीका के पूंजीपतियों से वड़े-वड़े सौदों की योजनाएं वनाने में व्यस्त हैं और जिनका निश्चित स्वार्थ आन्तरिक अशान्ति के वने रहने में है, जिससे राष्ट्रीय सरकार को राष्ट्रीयकरण और समाजीकरण की ओर तेजी से वढ़ने का अवसर न मिले, संभवतः यह नहीं जानते कि व्रिटेन और अमरीका किसी भी हालत में पाकिस्तान का साथ छोड़ने को तैयार नहीं हैं। पाकिस्तान तो एक कड़ी है दक्षिण-पूर्वी यूरोप, मध्य-पूर्व और पश्चिमी एशिया के उन मुसलमान देशों की, जिन्हें व्रिटेन और अमरीका एक मज़वूत ज़ंजीर की शक्ल में घड़ डालना चाहते हैं साम्यवादी रूस के वढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के लिए, और उसके

मौजूदा प्रभाव क्षेत्र को अधिक से अधिक सीमित रखने के प्रयत्न में । ब्रिटेन और अमरीका यदि आज मध्य-पूर्व के देशों को नाराज़ करने की स्थिति में नहीं हैं तो वे पाकिस्तान को भी नाराज़ नहीं करना चाहेंगे और मध्य-पूर्व की सहानुभूति प्राप्त करने के उद्देश्य से यदि आज वे अरब जातीयता के आधार पर संगठित होने वाले एक बड़े आन्दोलन को अपना समर्थन दे सकते हैं, तो कल इस्लाम धर्म के आधार पर उठ खड़े होने वाले किसी ऐसे आन्दोलन को समर्थन देने में क्यों झिझकेंगे जिसके सहारे वे रूस के बढ़ते हुए प्रभाव के विरुद्ध एक बड़ा प्रतिरोध संगठित कर सकेंगे । १

और यदि पाकिस्तान को ब्रिटेन और अमरीका आदि देशों का समर्थन मिल सका तो क्या हम रूस के समर्थन के लिए लालायित न हो उठेंगे ? और यदि हमने अपने को किसी ऐसे महायुद्ध के बीच पाया, जिसमें ब्रिटेन और अमरीका पाकिस्तान के साथ हैं और हिन्द का भाग्य रूस के साथ बंधा हुआ है तो क्या उसका प्रभाव हमारी आन्तरिक समाज-व्यवस्था पर नहीं पड़ेगा ? हमारे देश के पूंजीपति, जो आज एक ओर तो ब्रिटेन और अमरीका से अपने व्यापार को बढ़ाना चाहते हैं और दूसरी ओर मध्य पूर्व और दक्षिण-पूर्वी एशिया की मंडियों को अपने बनाए हुए माल से भर देना चाहते हैं, क्या उस स्थिति का स्वागत करेंगे ? और यदि परिस्थितियों का चक्र एक विपरीत दिशा में चला और पाकिस्तान के विरुद्ध होने वाले युद्ध में हम ब्रिटेन और अमरीका का समर्थन प्राप्त कर सके तो क्या उनका मिला जुला आर्थिक साम्राज्यवाद एक लंबे समय तक हमारे देश के शोषण का अवसर न पा जाएगा और ऐसी स्थिति में हमारी सामाजिक स्थिति क्या बिगड़ न जायगी ? मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि अभी आने वाले पच्चीस वर्षों में हिन्द की विदेशी नीति का आधार यह होना चाहिए कि वह सभी अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दियों से अपने को अलहदा रखे और पिछड़े हुए और गुलाम देशों को, विशेष कर एशिया और अफ्रीका के देशों को राजनैतिक और आर्थिक साम्राज्यवाद से मुक्त करने की दिशा में अपनी सारी शक्ति लगा दे । पिछले एक साल में पं. नेहरू के नेतृत्व में हमने एक शानदार विदेशी नीति का विकास किया है । हमने अपने निकट के एशियायी देशों से बड़े अच्छे संबंध स्थापित किए हैं और, संसार के सभी प्रमुख देशों से उनके आपसी संबंध कैसे ही हों, अपने संबंध अच्छे बनाने का प्रयत्न किया है । आज एशियायी

---

१ काश्मीर के मामले में संयुक्त राष्ट्र परिषद द्वारा दिये गए निर्णय से इन विचारों की पुष्टि होती है ।

देशों में हमारे नेतृत्व की अपेक्षा की जाती है, हमारे प्रति आदर और विश्वास है, और अमेरिका और रूस दोनों की सद्भावना एक सीमा तक हमारे साथ है। ब्रिटेन से हमारे सम्बन्ध बिगड़ सकते थे, लेकिन जिस व्यवहार कुशलता से उसने हमारी आज़ादी को स्वीकार किया है, उसने इस संबंध को भी मधुर बना दिया है। आज किसी भी देश के प्रति हमारे मन में द्वेष नहीं है और किसी देश के मन में हमारे प्रति अविश्वास का कोई विशेष कारण नहीं है। सभी देशों ने हमारी आज़ादी पर खुशी मनाई थी और उसका स्वागत किया था। परन्तु आज देश में जो हो रहा है उसे चलने देकर और अपने देश में रहने वाले मुसलमानों के प्रति अविश्वास को उस सीमा तक ले जाकर जहां उसका विस्फोट हिन्द और पाकिस्तान के बीच एक ऐसे युद्ध में हो जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय लोकमत और, एक ओर मोरक्को से चीनी तुर्किस्तान तक और दूसरी ओर हिन्देशिया में फैली हुई मुसलमान ताक़तों का समर्थन, पाकिस्तान को प्राप्त हो, क्या हम इस स्थिति को बनाए रख सकेंगे ?

हिन्द और पाकिस्तान के आपसी सम्बन्ध एक बड़े या छोटे युद्ध का रूप न भी लें तो भी आज की परिस्थियों में बन जाने वाले और अस्थाई मानसिक वातावरण से एक बड़ा खतरा यह हो सकता है कि हम स्थाई रूप से अंग्रेज़ी कॉमनवेल्थ में बने रहने के लिए तैयार हो जाएँ। औपनिवेशिक स्वराज्य के दर्जे को स्थाई रूप से मान लेने के पक्ष में बड़ी-बड़ी दलीलें उपस्थित की जा सकती हैं। व्यावहारिक दृष्टि से औपनिवेशिक स्वराज्य और पूर्ण स्वाधीनता में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। औपनिवेशिक स्व-राज्य को स्थाई रूप से मान लेने पर दो बड़े लाभ हमें मिल सकेंगे। एक तो पाकिस्तान से हमारे संबंध अनिवार्य रूप से निकटतर रहेंगे और दूसरी ओर एक बड़े अन्तर्राष्ट्रीय समूह में होने के नाते अपनी स्थिति को हम अधिक सुर-क्षित महसूस करेंगे। मैं समझता हूँ कि पाकिस्तान के साथ ऊपर से थोपी हुई कोई एकता हमारे लिए विशेष काम की साबित न होगी। अंग्रेज़ी कामन-वेल्थ में बने रहने का अर्थ होगा अपने आपको एक दल विशेष के साथ संबद्धकर लेना और अपने को अन्ततः एक तीसरे महायुद्ध की लपटों में झोंक देना। मैं समझता हूँ कि हिन्दुस्तान के लिए यह सही रास्ता नहीं होगा। हमें एक तो आज स्वतन्त्र विदेशी नीति का निर्माण करना है। हमें न तो इंग्लैण्ड और अमरीका से द्वेष है और न रूस से कोई विशेष प्रेम। हम तो इन देशों के आपसी द्वेष और मनमुटाव को भी मिटे हुए देखना चाहते हैं। आर्थिक पुन-र्निर्माण, समाज-सुधार और शिक्षा-प्रसार आदि की जो अनेकों आवश्यक

योजनाएँ आज हमारे सामने हैं उनकी दृष्टि से भी यह आवश्यक है कि आने वाले पच्चीस वर्षों में हम अपने को युद्ध की लपटों से अछूता रखें। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में हम उन सभी देशों को सहायता देंगे जो समझौते के मार्ग से संसार का पुनर्निर्माण देखना चाहते हैं और जो इसके लिए प्रतिज्ञाबद्ध हैं कि किसी भी स्थिति में एक तीसरे महा-युद्ध की आग को नहीं भड़कने देंगे। हमारा रास्ता जन तन्त्र, अहिंसा और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का रास्ता है। इस रास्ते पर चलने के लिए हमें सबसे पहिले पाकिस्तान के साथ अच्छे संबंध बनाए रखना होगा, और उसके लिए अपने देश के अल्प-संख्यकों के साथ न्याय-पूर्ण बर्ताव करना जरूरी होगा। जब तक हमारी राष्ट्रीयता की परिभाषा उतनी व्यापक नहीं है कि हम उसमें अपनी सीमाओं में रहने वाले सभी धर्मों और संप्रदायों का समावेश कर सकें, तब तक अल्प-संख्यकों के साथ न्याय-पूर्ण बर्ताव करने में हम अपने आपको असमर्थ पाते रहेंगे।

राष्ट्रीयता के शुद्धरूप का प्रतिपादन करने की आवश्यकता

आज हमारे सामने मुख्य कार्य स्वाधीनता को प्राप्त करना नहीं उसे सुरक्षित रखना है, और इसके लिए पहिली शर्त यह है कि हम अपने में राष्ट्रीयता की सच्ची भावना का विकास कर सकें। राष्ट्रीयता की भावना को परित्याग करने का समय अभी नहीं आया है। मैं मानता हूँ कि राष्ट्रीयता जब उग्र रूप ले लेती है तब वह विश्व-शान्ति के लिए खतरा बन जाती है, परन्तु विश्व-इतिहास के इस संक्रमण-युग में कम से कम हमारा देश अभी उस स्थिति तक नहीं पहुँच पाया है जहाँ राष्ट्रीयता एक अनावश्यक बोझा बन जाती है, ब्रिटेन अमरीका, रूस और कुछ अन्य राष्ट्र चाहे उस स्थिति में हों। हमारे देश को अभी एक लम्बा रास्ता तय करना है। अपने आर्थिक साधनों का विकास करने, देश की शक्ति को बढ़ाने और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करने के लिए उसे अपनी राष्ट्रीयता की भावना को जागृत रखना पड़ेगा, परंतु साथ ही हम इस तथ्य को भी भूला नहीं सकते कि आज अंग्रेजों से समझौते के द्वारा मिलने वाली आज़ादी और मुसलमानों के आग्रह से बनने वाले पाकिस्तान से हमारे सामने कुछ ऐसी मनोवैज्ञानिक समस्याएँ खड़ी हो गई हैं जिन्होंने राष्ट्रीयता के प्रशस्त मार्ग को साम्प्रदायिकता के कुहरे से आच्छादित और धूमिल बना दिया है। इस वातावरण से ऊपर उठ कर हमें सोचना है। राष्ट्रीयता का आधार स्पष्टतः धर्म या जातीयता पर नहीं रखा जा सकता। हमारे देश की सीमाओं में जो व्यक्ति रहते हैं, इसी ज़मीन पर जो पैदा और बढ़े हुए हैं और इसके प्रति जिनके मन में वफादारी का भाव

है उन सबको हमें अपनी राष्ट्रीयता का अंग मान कर चलना होगा । और इस बात को भी हमें भूल नहीं जाना है कि पाकिस्तान के बन जाने के बाद भी देश के शेष भाग में जो प्रमुख संस्कृति बच रहती है उस पर भी इस्लाम का बहुत गहरा प्रभाव है। बहुत से धार्मिक सिद्धान्त, भाषा, दृष्टिकोण, आचार-विचार आदि ऐसे हैं जो देश के सभी रहने वालों में, चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान, जैन हों या पारसी, समान रूप से पाए जाते हैं। हम यह भी भूल नहीं सकते कि जब कि अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान पर केवल स्वार्थ की दृष्टि से राज्य किया और हमारे दिन, प्रति दिन के जीवन-प्रवाहों और विचार-धाराओं से, संस्कृति और समाज से, अपने को अलहदा रखते रहे, मुसल्मानों ने इसे अपना देश मान लिया और अपनी समस्त प्रतिभा का उपयोग इसी देश की समृद्धि के लिए ही किया। आज हमें यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि जो हमारी आज की भारतीय संस्कृति है उसमें हिन्दू और मुस्लिम प्रभाव गंगा और यमुना के समान एक दूसरे में घुल-मिल गए हैं और उन्हें अलहदा करने का प्रत्यन वैसा ही पागलपन है जैसा किसी ऐसे व्यक्ति का प्रयत्न जो प्रयाग के संगम पर खड़ा होकर गंगा और यमुना की धाराओं को एक दूसरी से अलहदा करना चाहे। भारतीय राष्ट्रीयता का यही सच्चा आधार है जो हमें प्राप्त कर लेना है। इसके अलावा जितने भी प्रयत्न होंगे, वे आज चाहे लुभावने दिखाई दें वे समय की गति के आगे टिक न सकेंगे । निर्बाध गति से चलते रहने वाले समय के निर्मम चक्र को लौटाया नहीं जा सकता। हम अपने देश के पिछले एक हज़ार वर्ष के इतिहास को मिटा नहीं सकते। जवाहरलाल जी के शब्दों में, "कुछ हिन्दू वेदों की ओर लौटने की बात करते हैं, कुछ मुसलमान एक इस्लामी धार्मिक राज्य का स्वप्न देख रहे हैं । ये मूर्खतापूर्ण कल्पनाएँ हैं, क्योंकि भूतकाल की ओर तो लौटा ही नहीं जा सकता। वैसा करना वांछनीय भी माना जाए तो भी वापिस लौटने का तो कोई मार्ग है ही नहीं ।...समय के मार्ग पर तो केवल एक ही दिशा में चला जा सकता है।"*

सांप्रदायिक समस्या अपने नये रूप में:
दृष्टिकोण में परिवर्तन की आवश्यकता

राष्ट्रीयता के इस शुद्ध रूप को स्वीकार कर लेने के बाद हमारा कर्त्तव्य हो जाता है कि हम अपने देश के रहने वाले अल्प-संख्यकों, और विशेषकर मुसल्मानों के साथ उदारता का बर्ताव रखें । पाकिस्तान की स्थापना के

*जवाहरलाल नेहरू *The Dtscovery of India*, पृ० ६३३

सम्बन्ध में हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि वह यदि मुस्लिम लीग के नेताओं के द्वारा फ़ासिस्ट साधनों के अपनाए जाने का परिणाम है तो उसकी जड़ें हमारे उस दकियानूसी समाज के ढाँचे में भी हैं जो, केवल धर्म का अन्तर होने के कारण मुसलमानों को अपने में शामिल नहीं कर सका और जिसके कारण एक ही देश में रहते हुए भी उन्हें एक अलग समाज के रूप में संगठित होने पर विवश होना पड़ा। हरिजन सुधार के कार्य में गांधीजी हमसे प्रायश्चित और पश्चात्ताप की जिस भावना को काम में लाने के लिए कहते रहे, मुसलमानों के प्रति भी हमारा वही दृष्टिकोण होना चाहिए। देश के नौ करोड़ मुसलमानों का विश्वास हम प्राप्त नहीं कर सके और इस लिए पाकिस्तान की स्थापना हुई। अब इन बचे हुए साढ़े चार करोड़ मुसलमानों का विश्वास यदि हम खो देंगे तो उसका अर्थ होगा दो राष्ट्रों के उस सिद्धान्त को और भी मज़बूत बनाना जो हमारी आज की सारी विपदाओं के लिए उत्तरदायी है। यह कहा जा सकता है कि पहिले भी हमने मुसलमानों को खुश करने की कोशिश की और उसका फल हमें यह मिला कि हमारे इस प्राचीन देश के दो टुकड़े हो गए, तब आज हमें फिर उसी नीति पर चलने के लिए क्यों प्रेरित किया जाता है। पर जो लोग यह दलील देते हैं वे भूल जाते हैं कि आज की परिस्थितियां पहिले की परिस्थितियों से बिल्कुल भिन्न हैं, पहिले हमारी समस्या एक त्रिकोणात्मक समस्या थी, अंग्रेज़ हमारे बीच मौजूद थे जिनका लक्ष्य हमारे और मुसलमानों के बीच अधिक से अधिक वैमनस्य उत्पन्न करना था। जब कभी हम मुसलमानों से किसी प्रकार का समझौता करने का प्रयत्न करते थे, अंग्रेज, जिनके हाथ में राज्य की सत्ता थी, हमारे उन प्रयत्नों को धूल में मिला देते थे, दूसरी ओर अंग्रेज़ों के संरक्षण में मुसलमानों में ऐसा नेतृत्व बन गया था जो उनके इशारे पर चलता था और जिसका प्रमुख उद्देश्य हिन्दुओं के ख़िलाफ़ मुसलमानों के धार्मिक जोश को बढ़ाते रहना था। मुस्लिम-समाज के पिछड़े हुए होने के कारण और अन्य बहुत सी परिस्थितियों के परिणाम-स्वरूप, किसी ऐसे नेतृत्व के लिए जो मुसलमानों को सही रास्ता दिखा सके, आगे आने की गुंजाइश नहीं रह गई थी। आज वह अंग्रेज़ी शासन जो हिन्दू और मुसलमानों के आपसी संबंधों को बिगाड़ने के लिए खास तौर से ज़िम्मेदार था, उखाड़ फेंका गया है और मुस्लिम-समाज के जिस प्रतिक्रियावादी नेतृत्व को उसने अपने संरक्षण में मज़बूत बनाया था वह भी पाकिस्तान की शक्ल में हमारी राजनीति से बाहर चला गया है।

आज हमारे और हमारे मुसलमान देशवासियों के बीच में न तो अंग्रेज हैं और न क़ायदेआज़ाम और उनकी मुस्लिम-लीग। आज तो हम एक नए और

आज़ाद देश में एक दूसरे के कंधे से कंधा भिड़ाकर खड़े हैं। हममें से २२-२३ करोड़ हिन्दू हैं और ४-४॥ करोड़ मुसलमान। ये मुसलमान एक अल्प-संख्यक वर्ग के रूप में हैं। शासन-सत्ता आज हमारे हाथ में है। फौज, पुलिस व शासन के अन्य विभागों पर हिन्दुओं का अखण्ड आधिपत्य है। हमारे बीच, और हमारी दया पर निर्भर, इन साढ़े चार करोड़ मुसलमानों को क्या हम एक अलहदा राष्ट्र मानेंगे ? क्या हम इन सबको मार डालेंगे या पाकिस्तान जाने पर मजबूर करेंगे ? अंग्रेज़ जब जाने वाले थे तब मुसलमानों को यह डर था कि शासन-सत्ता के हिन्दुओं के हाथ में आजाने से उनके धर्म व संस्कृति पर आघात पहुँचेगा और उनके आर्थिक स्वार्थ मिट्टी में मिल जाएंगे। इसीलिए वे विशेष संरक्षणों के लिए प्रयत्न करते रहे और अन्त में उन्होंने पाकिस्तान को अपना लक्ष्य बनाया। पाकिस्तान की मांग चाहे कितनी ग़लत रही हो उसके बन जाने पर क्या हमें अधिकार मिल जाता है कि हम देश के शेष भाग में बच रहने वाले मुसलमानों के धर्म और संस्कृति को सुरक्षित रखने के उत्तरदायित्व से अपने को मुक्त मानें ? मैं इस बात पर ज़ोर देना चाहता हूँ कि इन मुसलमानों का विश्वास प्राप्त करने का समय आज है। आज वे भटकाने और गुमराह बनाने वाले व अधिक से अधिक राजनैतिक सत्ता अपने हाथों में समेट लेने की सतत चेष्टा में लगे हुए एक स्वार्थी नेतृत्व से वंचित कर दिए गए हैं, और क़ायदे-आज़म और लीग के नेताओं द्वारा जिस स्थिति में वे छोड़ दिए गए हैं उससे उनके मन में अपने उन राजनैतिक नेताओं के प्रति अपनी प्राचीन आस्था बनाए रखने का कोई सवाल नहीं रहा है। आज उनकी आंखें खुल गई हैं, और धीरे, पर निश्चित रूप से, एक नए और ठीक मार्ग दिखाने वाले नेतृत्व का विकास हो रहा है। अपनी साम्प्रदायिक समस्या को सुलझा लेने के इस सोनहले अवसर को क्या हम यों ही हाथ से जाने देंगे ?

हिन्द और पाकिस्तान की मैत्री पर जोर

तीसरा बड़ा काम जिस पर आज के वातावरण में विशेष जोर देने की आवश्यकता है हिन्द और पाकिस्तान की सरकारों में अच्छे से अच्छे सम्बन्धों की स्थापना करना है। साम्प्रदायिक भावनाओं के सुधारने में कुछ समय लग सकता है, पर हिन्द और पाकिस्तान दोनों ही के लिए यह आवश्यक है कि दोनों की सरकारों में अधिक से अधिक निकट के सम्बन्ध हों। इसमें भी एक बड़ा देश होने के नाते पहले हमीं को करना पड़ेगी। अपने देश की राष्ट्रीय सरकार का मज़बूत होना हमारे लिए जितना जरूरी है उतना ही पाकिस्तान की सरकार का भी। हमें आगे बढ़ कर पाकिस्तान को एक सशक्त और जन-

तंत्रीय देश बनाने का प्रयत्न करना होगा। यह हमारे हक़ में बिल्कुल भी उपयुक्त नहीं है कि पाकिस्तान कमज़ोर और असंगठित देश हो, और हमारी किसी नीति की हल्की सी भी प्रतिक्रिया उसकी फ़ासिस्ट शक्तियों को मज़बूत बनाने की दिशा में हो। किसी भी देश की सरकार अपने पड़ौस में ऐसा शासन देखना पसन्द नहीं करती जो अपनी कमज़ोरी के कारण अन्तर्राष्ट्रीय दाव-पेचों का शिकार बना हुआ हो। हम अपनी दोनों सीमाओं पर एक व्यवस्थित और सशक्त पाकिस्तान देखना चाहते हैं। हमारी इच्छा और प्रयत्नों के विरुद्ध और कुछ ऐतिहासिक और राजनैतिक परिस्थितियों के कारण जब पाकिस्तान बन ही गया है तो हमारा कर्त्तव्य हो जाता है कि हम उसे एक सुदृढ़ जनतंत्र के रूप में विकसित होने में पूरी सहायता दें। यह कहा जा सकता है कि पाकिस्तान यदि कमज़ोर रहेगा तो हमारे विरुद्ध वह किसी प्रकार का दुःसाहस नहीं कर सकेगा और हमारा पड़ौसी होने के नाते उसे हम पर अधिकाधिक निर्भर रहना आवश्यक हो जाएगा और इस प्रकार हम उस पर हावी हो सकेंगे, पर ऐसा सोचने वाले भूल जाते हैं कि पाकिस्तान यदि कमज़ोर रहा तो हमारे आधिपत्य में आने से अधिक सम्भावना उसके ब्रिटेन, अमरीका या रूस जैसे किसी बड़े साम्राज्यवादी देश के प्रभाव में जाने की है, और वैसी स्थिति में हमारे लिए खतरा कहीं अधिक बढ़ सकता है। यह भी कहा जाता है कि पाकिस्तान को यदि सशक्त बनने दिया गया तब भी वह हमारे लिए खतरनाक ही सिद्ध होगा। मैं मानता हूँ कि यह वैसी स्थिति में सच हो सकता है जबकि पाकिस्तान के प्रति हमारा दृष्टिकोण अच्छा न हो। यदि पाकिस्तान से हमारे संबंध अच्छे हैं तो एक सशक्त पाकिस्तान हमारे लिए प्रत्येक दृष्टि से सहायक ही सिद्ध होगा। पाकिस्तान चाहे कितना ही सशक्त हो वह अकेला हमारे देश के विरुद्ध लड़ाई की बात सोच ही नहीं सकता और दूसरे बहुत से कारण, भौगोलिक, आर्थिक और सांस्कृतिक उसे हमसे अच्छे से अच्छे सम्बन्ध बनाए रखने पर मजबूर कर देंगे। मैं जानता हूँ कि कुछ लोग ऐसे भी हैं जो पाकिस्तान के नेताओं की बार बार की जाने वाली प्रतिज्ञाओं और घोषणाओं के बाद भी उनसे हमारे देश के प्रति किसी प्रकार के मैत्रीपूर्ण बर्त्ताव की आशा नहीं रखते। वे यह भूल जाते हैं कि पाकिस्तान से अच्छे संबंध बनाए रखना हमारे लिए जितना ज़रूरी हो सकता है, हमसे वैसे ही संबंध स्थापित करना पाकिस्तान के लिए उससे कहीं अधिक ज़रूरी है, और मैं मानता हूँ कि पाकिस्तान के नेता वैसा महसूस करते हैं। बहुत से लोगों की धारणा है कि पाकिस्तान कभी इस बात से बाज नहीं आएगा कि वह संसार के अन्य देशों, और विशेषकर मुसलमान देशों, में हिन्द के मुसलमानों पर किए जाने वाले

अत्याचारों या हिन्द सरकार द्वारा उठाए गए क़दमों के सम्बन्ध में सच्ची और झूंठी कहानियों को बढ़ा चढ़ाकर प्रचार न करे और उसमें हमारे देश के प्रति दुर्भावना फैलाने का प्रयत्न न करता रहे, लेकिन यह तो तभी हो सकेगा न जब हम अपने कामों के द्वारा उसे ऐसा करने का मौक़ा दें। यदि अपने देश के मुसलमानों और पाकिस्तान के प्रति हमारी भावना शुद्ध है तो पाकिस्तान द्वारा किया जाने वाला इस प्रकार का कोई प्रचार अधिक दिनों तक चल नहीं सकेगा वल्कि उसकी प्रतिक्रिया यह होगी कि पाकिस्तान अन्तर्राष्ट्रीय सहानुभूति खो वैठेगा।

औपनिवेशिक स्वराज्य के खतरे

चौथी वात यह है कि हम स्पष्ट शब्दों में इस वात की घोषणा कर दें कि जून १९४८ के वाद हम अपने औपनिवेशिक स्वराज्य के दर्जे को खत्म कर देंगे, अंग्रेजी कॉमनवेल्थ से वाहर निकल आएँगे और पूर्ण स्वाधीनता के आधार पर ही अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की खोज करेंगे। ऐसी स्थिति में जवकि पाकिस्तान के अंग्रेजी कामनवेल्थ में वने रहने की पूरी संभावना है, हमारा ऐसा करना शायद पाकिस्तान से हमारे संवंधों को कुछ समय के लिए उलझन में डाल दे। यह स्पष्ट है कि आज के सांप्रदायिक वातावरण में भी हिन्द और पाकिस्तान की सरकारों में आज जो थोड़ा बहुत मेल है वह दोनों के अंग्रेज़ी कॉमनवेल्थ का सदस्य होने के कारण है। यदि हिन्दुस्तान इस सदस्यता को छोड़ देता है तो पाकिस्तान से उसके संवंध ऐसे निकट के न रहेंगे। इस संवंध में हमें यह सोचना चाहिए कि जहां हम इस वात के लिए वेचैन हैं कि पाकिस्तान से हमारे संवंध अधिक से अधिक निकट के हों, हम यह नहीं चाहते कि उन्हें जोड़ने वाली कड़ी एक विदेशी ताक़त हो। इस प्रकार का कोई भी वाहरी आधार मज़बूत नहीं माना जा सकता। हमतो किसी भी प्रकार के अंग्रेजी संरक्षण से पूर्णतः वाहर रहते हुए पाकिस्तान से अच्छे संवंध रखना चाहते हैं। अंग्रेज़ी कामनवेल्थ में रहना हमारे लिए किसी भी दृष्टि से उपयुक्त नहीं है। हमारी स्थिति कनाड़ा, दक्षिण अफ्रीका, आस्ट्रेलिया आदि कॉमनवेल्थ के दूसरे सभी सदस्यों से विल्कुल भिन्न है। उनकी स्थिति ब्रिटेन के संवंध में वैसी ही है जैसी एक कुटुम्व के वच्चों की अपने मां-वाप के प्रति होती है। वच्चे ज्यों-ज्यों बड़े होते जाते हैं, अपना स्वतन्त्र कारवार चलाने लगते हैं, पर स्नेह और ममता का एक सूक्ष्म धागा उन्हें अपने माँ-वाप से जोड़े रखता है। इन देशों में से प्रत्येक में अंग्रेज़ हजारों की तादाद में जाकर वस गए, उसे समुन्नत और समृद्ध वनाया और उसे अपना ही देश मान लिया।

इन देशों की जो स्थिति है वह अंग्रेजों की बनाई हुई है। इसके विपरीत हमारा देश एक बड़ा और प्राचीन और महान् देश है, जिसकी अपनी एक विभिन्न और गौरवशालिनी संस्कृति है। यहां अंग्रेज़ हमारी आन्तरिक कमज़ोरियों के कारण और अपने स्वार्थ-साधन के लिए आ टिके थे। किसी प्रकार के सांस्कृतिक बंधन हमें उनके साथ नहीं बांधते। हमारे लिए वे उतने ही विदेशी हैं जितने फ्रेंच, जर्मन, रूसी, अमरीकन या किसी भी अन्य देश के रहने वाले हो सकते हैं। कोई ऐसा प्रबल कारण नहीं है जो हमें इस विदेशी राष्ट्र-समूह में रहने के लिए प्रेरित करे।

हमारे सामने आन्तरिक पुनर्निर्माण के बड़े-बड़े कार्य-क्रम हैं। डेढ़ सौ वर्षों तक एक हृदयहीन विदेशी सत्ता के द्वारा हमारा जो आर्थिक शोषण और सांस्कृतिक निःसत्त्वीकरण हुआ है उसकी चोट से हमें उभरना है और दम तोड़ते-तोड़ते भी अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद ने दूसरे महा युद्ध की लपटों में हमें घसीट कर हमारे ऊपर जो बड़ा आर्थिक बोझा डाल दिया है उसके भीषण परिणामों से मुक्त होना है। अंग्रेजी शासन के कारण हमारा औद्योगीकरण जो पिछड़ गया है, तेज़ी के साथ हमें उसकी पूर्ति करना है। एक बड़े देश की अपार जन संख्या को शिक्षित बनाना है, स्वस्थ बनाना है और जन-तन्त्र के सिद्धान्तों में उसे दीक्षित करना है। आज हमें अपनी समस्त शक्तियां पुनर्निर्माण की इन योजनाओं में लगानी हैं। अंग्रेज़ी कॉमनवेल्थ से बाहर रहना हमारे लिए इस कारण भी ज़रूरी है कि हम आने वाले पच्चीस वर्षों तक किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष से अपने को बचाए रखना चाहते हैं। ब्रिटेन आज एक गिरता हुआ राष्ट्र है जिसे अपने अस्तित्व के लिए अमरीका के संरक्षण की आवश्यकता है और जिसके लिए अमरीका की विदेशी नीति में उलझना अनिवार्य है। हम इस स्थिति में नहीं हैं कि इन उलझनों में अपना समय व शक्ति बर्बाद करें।

एशिया के नेतृत्व का उत्तरदायित्व

मैं यह नहीं कहता कि अपनी प्रत्येक आवश्यक आन्तरिक समस्याओं के नाम पर हम अन्तर्राष्ट्रीय हलचलों से अपने को अछूता रख सकेंगे, परंतु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में हमारा लक्ष अपने लिए एक स्वतन्त्र स्थिति बनाना होना चाहिए न कि अमरीकन या रूसी, या शक्ति की राजनीति में विश्वास रखने वाले किसी अन्य गुट में शामिल हो जाना। इसके अलावा हम यह भी नहीं भूल सकते कि हमारी भौगोलिक और ऐतिहासिक परिस्थिति ने इति-

हास के वर्तमान युग में एशिया के नेतृत्व की जिम्मेदारी भी हमारे ऊपर डाल दी है। इस जिम्मेदारी से हम बच नहीं सकते। एशिया के अनेकों देश जो सदियों से यूरोपीय साम्राज्यवाद के चंगुल में फँसे हुए थे और जो आज भी उससे बिल्कुल मुक्त नहीं हुए हैं, मुक्त होने के लिए छटपटा रहे हैं और संघर्ष कर रहे हैं, वे हमारी सहायता के लिए लालायित हैं। हम उन्हें हताश नहीं कर सकते। हमें आज एशिया के कोने-कोने से सभी विदेशी साम्राज्यवादों को चाहे, वे अंग्रेज हों या डच या फ्रांसीसी या अमरीकन, चाहे वे राजनीतिक रूप लेकर हमारे सामने आएँ या आर्थिक, खत्म कर देना है। यह इसलिए नहीं कि किसी प्रकार की धार्मिकता या उदारता या मानवता या आदर्शवाद की भावना से हम प्रेरित हो रहे हैं। यह तो ठोस यथार्थवाद का तक़ाज़ा है कि हम सभी एशियायी देशों की मुक्ति के लिए प्रयत्न करें, क्योंकि एशियायी देशों की आज़ादी के साथ हमारी अपनी आज़ादी गुँथी-मिली है। एशिया यदि आज़ाद नहीं है तो हमारी आज़ादी भी अधिक दिनों तक टिकने वाली नहीं है। हमारे सामने आज दो बड़े काम हैं, एक तो अपने देश का आंतरिक पुनर्निर्माण करना और दूसरे एशिया भर में फैले हुए आज़ादी के आन्दोलनों को उनकी चरम सीमा तक ले जाना। इन बड़े कामों के लिए औपनिवेशिक स्वराज्य हमारे लिए उपयोगी सिद्ध नहीं होगा, संभव है बाधक सिद्ध हो। यह तो निश्चित है कि औपनिवेशिक स्वराज्य के होते हुए हम अपनी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा को उतना ऊंचा नहीं ले जा सकते जितना पूर्ण स्वाधीनता की स्थिति में।

अन्तिम बात जो मैं कहना चाहूँगा वह यह कि हमें राजनैतिक आज़ादी लेकर ही बैठ नहीं जाना है। आज़ादी के आधार को हमें अधिक से अधिक व्यापक बनाना है। अभी तो हमने एक ही प्रकार की गुलामी से मुक्ति पाई है। एक विदेशी शासन के जुए को हम अपने कंधे से उतार कर फेंक सके हैं और अपने देश में एक ऐसे शासन की स्थापना करने में सफल हुए हैं जिसका आधार राजनैतिक दृष्टि से इस देश में रहने वाले प्रत्येक नागरिक की समानता में है। एक विदेशी साम्राज्यवाद के स्थान पर एक स्वदेशी जन-तन्त्र की हमने स्थापना की है, परंतु दूसरे देशों का इतिहास हमें बताता है कि जब कभी भी जन-तन्त्र की आधार-भूत समानता की इस भावना को राजनीति तक ही सीमित रखने का प्रयत्न किया गया है, कई दूसरी बड़ी-बड़ी समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं। किसी भी ऐसे देश में जहां केवल राजनैतिक समानता हो पर सामाजिक और आर्थिक समानता न हो, राजनैतिक समानता भी धीरे-धीरे अपना मूल्य गवाँ बैठती है। पश्चिम के देशों में आर्थिक विषम -

ताओं के होते हुए भी सामाजिक समानता बहुत बड़े अंश में पाई जाती है, पर हमारे देश में तो हम अभी उस स्थिति से भी दूर हैं। हमारा समाज तो आज भी ब्राह्मण–अब्राह्मण, कुलीन–अकुलीन, सवर्ण और अस्पृश्य आदि भागों में बंटा हुआ है। ऊंच नीच की भावनाएँ समाज के सभी वर्गों में बहुत गहरी चली गई हैं। सामाजिक असमानताओं के इस वातावरण में सच्चा जन-तन्त्र पनप नहीं सकता। जब तक इन विषमताओं को हम मिटा नहीं देंगे सभ्य देशों के सामने हम सिर ऊँचा करके चल नहीं सकेंगे। निरंकुश राजा और पदग्रस्त प्रजा, समृद्ध ज़मीदार और भूखा किसान, महलों में रहने वाला पूंजीपति और सर्दी से ठिठुरता हुआ मज़दूर, ये विषमताएँ भी आज हमारे समाज में मौजूद हैं। सामाजिक समानता के साथ ही आर्थिक समानता के प्रश्न को भी हमें लेना है। पूंजीवाद को हमें समाप्त करना है। ज़मीदारों और जागीरदारों की सत्ता को उनसे छीन लेना है और देश में ऐसे राज्य की स्थापना करना है जो किसानों और मज़दूरों का राज्य हो। देश के प्राकृतिक साधनों का समाजीकरण करना है और उसकी उत्पत्ति का इस ढंग से बँटवारा करना है कि वह अधिक से अधिक लोगों के अधिक से अधिक सुख का साधन बन सके। दूसरे शब्दों में हमें भारतीय जन-तन्त्र के आधार को इतना व्यापक बनाना है कि उसमें राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक सभी प्रकार की समानता का समावेश किया जा सके।

जब तक हम अपने इस सर्वांगीण लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर लेते हम अपने को सच्चे अर्थों में स्वतन्त्र नहीं मान सकते। समानता के इस आधार को हम जितना व्यापक बनाने का प्रयत्न करेंगे उतनी ही नई नई और कठिन समस्याएँ हमारे सामने आएँगी। उन समस्याओं को सुलझाने के लिए हमें नए नए उपाय सोचने होंगे। सामाजिक और आर्थिक क्रांति के लिए हमें जो मूल्य चुकाना होगा, जो कुर्बानी देना होगी, प्रतिक्रियावादियों और स्थिर स्वार्थों के बढ़ते हुए संगठन से जो मोर्चा लेना होगा, उसके सामने हमारा राजनैतिक संघर्ष फीका पड़ जायगा। जीवन के सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में जो क्रांति की जाती है—फ्रांस और रूस की क्रांतियां क्रमश: उसके ज्वलंत उदाहरण हैं—उसकी गहनता और गम्भीरता सदा ही राजनैतिक स्वाधीनता के लिए लड़े जाने वाले युद्धों की तुलना में कहीं अधिक होती है। जब इतनी बड़ी-बड़ी समस्याएँ हमारे सामने हैं जिन्हें हमें निपटाना है, इतने बड़े-बड़े प्रश्न हैं जिन्हें ठीक से सुलझा लेना है, इन समस्याओं और प्रश्नों के समाधान में हमें जल्दी से जल्दी जुट जाना है, तब क्यों हम पाकिस्तान के सम्बन्ध में एक व्यापक दृष्टिकोण न रखें और क्यों उसकी छोटी-छोटी कार्यवाहियों से परेशान होते रहें?

इन प्रदेशों में रहने वाले बहुसंख्यक वर्ग ने यह इच्छा प्रगट की कि वह हमारे साथ रहना नहीं चाहता। सदियों के सामाजिक दुर्व्यवहार की प्रताड़ना उस इच्छा के मूल में थी। जन-तन्त्रीय साधनों को ठुकराए बिना हम उसकी इस इच्छा की अवज्ञा नहीं कर सकते थे, इस कारण हमने उसे पाकिस्तान बनाने की इजाज़त दे दी। अब यह इन प्रदेशों में रहने वाले लोगों का काम है कि वे अपनी *समस्याओं के सम्बन्ध में सोचें और अच्छे या बुरे किसी भी ढंग से उन्हें* निपटाने का प्रयत्न करें। यह ठीक है कि उनके द्वारा उठाए गए किसी भी क़दम की सीधी प्रतिक्रिया हम पर होगी, इस कारण उनकी गति विधि से हम बेखबर नहीं रह सकते, पर उसकी नाप-जोख में ही अपनी सारी शक्ति और प्रतिभा ख़र्च कर देने की मूर्खता भी हम न करें। राजनैतिक स्थायित्व, सामाजिक समानता और आर्थिक क्रान्ति की वे जटिल समस्याएँ हमारे सामने हैं जिनको सुलझाए बिना हम न तो अपने देश को सशक्त बना सकते हैं, न अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रथम श्रेणी में आने के अधिकारी और न एशिया के नेता। भावुकता में अपनी शक्ति को बिखेर देने का समय आज हमारे पास नहीं है। इसके विपरीत यदि हम अपने मार्ग पर ठीक से चलते रहे, राजनैतिक क्षेत्र में समानता के इस नए मिले हुए अधिकार को हमने सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में भी फैलाया, ऊँच-नीच का भेद हम मिटा सके और गरीब अमीर के अन्तर को हटा सके, तो विश्व के सामने हम एक ऐसा आदर्श उपस्थित कर सकेंगे और अपने आस-पास के देशों में सर्वतोमुखी क्रान्ति की एक ऐसी सजीव विचार धारा को जन्म दे सकेंगे कि पाकिस्तान हमारे देश का फिर से एक अविभाज्य अंग बन जाने के लिए लालायित हो उठेगा—हमें हमारी भौगोलिक और ऐतिहासिक एकता फिर से लौटा देने की न तो उससे प्रार्थना करनी पड़ेगी और न इसके लिए उस पर दबाव ही डालना होगा। और यदि ऐसा न भी हुआ तो इसमें क्या हर्ज है कि पाकिस्तान एक अलहदा और आज़ाद और खुशहाल देश बना रहे? सच तो यह है कि राष्ट्रीय सीमाओं का तब तक कोई मूल्य नहीं होता जब तक राष्ट्रीय नीति और राष्ट्रीय दृष्टिकोण ठीक होते हैं।

: २ :

भारतीय राष्ट्रीयता का विकास

राष्ट्रीयता की परिभाषा

राष्ट्रीयता की परिभाषा करना कठिन है। बहुत से ऐसे तत्त्व हैं जो मिल कर राष्ट्रीयता की भावना को जन्म देते हैं परन्तु इनमें से किसी एक या कई तत्त्वों के मौजूद होने से ही राष्ट्रीयता का निर्धारण नहीं किया जा सकता। **जाति** की एकता राष्ट्रीयता के लिए आवश्यक मानी जाती है परन्तु संसार की सभी जातियों का रक्त एक दूसरे में इतना घुलमिल गया है कि जातीय शुद्धता नाम की कोई चीज आज कहीं भी अस्तित्व में नहीं है। **भाषा** की एकता को प्रायः राष्ट्रीयता का आधार माना गया है, परन्तु हम देखते हैं कि जहां एक ओर अंग्रेज और अमरीकन दो भिन्न राष्ट्र होते हुए भी एक ही भाषा का प्रयोग करते हैं दूसरी ओर हम स्विस राष्ट्र के थोड़े से लोगों को तीन या चार विविध भाषाओं का प्रयोग करते हुए पाते हैं। यह भी कहा जाता है कि राष्ट्र के सभी व्यक्तियों में **सामान्य स्वार्थ** का होना उनके एक राष्ट्र माने जाने के लिए आवश्यक है परन्तु आज तो खुले आम यह माना जाता है कि प्रत्येक समाज में वर्ग-संघर्ष की भावना प्रमुख है और एक देश के पूंजीपति और दूसरे देश के पूंजीपति में अधिक सामान्य स्वार्थ है, एक ही देश के पूंजीपति और मजदूर के मुकाबिले में। ऐसी स्थिति में सामान्य स्वार्थ का सिद्धान्त भी ठीक नहीं उतरता। **धर्म** को भी प्रायः राष्ट्रीयता का आधार माना गया है परन्तु यदि धर्म सचमुच राष्ट्रीयता का एक विश्वस्त आधार होता तब तो हम एक ओर सारे यूरोप में एक ही राष्ट्र के व्यक्तियों को बसा हुआ पाते और दूसरी ओर दक्षिणी यूरोप, उत्तरी अफ्रिका और पश्चिमी एशिया में फैले हुए करोड़ों मुसल्मानों को एक दर्जन से अधिक राष्ट्रों में बंटा हुआ नहीं देखते। **भौगोलिक सामीप्य** भी राष्ट्रीयता की भावना को बढ़ाने का एक कारण अवश्य है परन्तु पड़ोस में रहने वाले सभी व्यक्तियों को भी हम सदा ही

एक राष्ट्रीयता में बंधा हुआ नहीं पाते। सच तो यह है कि जाति, भाषा, सामान्य स्वार्थ, धर्म और भौगोलिक समीपता राष्ट्रीय भावना को सुदृढ़ बनाने में सहायक होते हैं परन्तु राष्ट्रीयता का जन्म इन सब से परे कुछ दूसरी ही परिस्थितियों में होता है। जैसा कि रेनान ने लिखा है "राष्ट्र एक आत्मा, एक आध्यात्मिक सिद्धांत है, इस आत्मा या आध्यात्मिक सिद्धांत का निर्माण दो वस्तुओं से होता है जो वास्तव में एक ही वस्तु है। इनमें से एक भूतकाल से सम्बन्ध रखती है और दूसरी वर्तमान से। एक तो प्राचीन काल के वैभव की एक सुखद स्मृति है और दूसरी वर्तमान में समझौते की भावना, साथ रहने की इच्छा और मिलजुल कर अपने सामान्य वैभव को आगे बढ़ाने की आकांक्षा।" राष्ट्रीयता में और बातें हों या न हों पर प्राचीन में गौरव, वर्तमान में समझौते की भावना और भविष्य के लिये समान आकांक्षाओं का होना आवश्यक है।

भारतीय राष्ट्रीयता का सूत्रपात

हमारे देश में राष्ट्रीयता की इस भावना का प्रारंभ कब हुआ ? अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक हम अपने प्राचीन गौरव की कहानियों को बिल्कुल भूल गए थे। हममें न तो स्वाभिमान रह गया था और न किसी प्रकार की महत्वाकांक्षा। पतन के एक गहरे गर्त्त में हम डूबे हुए थे। एक राष्ट्र बनाने वाले सभी तत्व हममें मौजूद थे पर अपने इतिहास से संपर्क हम खो बैठे थे। हमारे नवयुवक धीरे-धीरे अंग्रेजी सभ्यता के प्रभाव में आते गए और अपनी संस्कृति से संबंध-विच्छेद करते गए। ऐसे अवसर पर कुछ विदेशी लेखकों ने हमारे प्राचीन साहित्य की खोज की, उसका अध्ययन किया, पश्चिमी भाषाओं में उसका अनुवाद किया और मुक्त कण्ठ से उसकी प्रसंशा की। हमारे साहित्य और जीवन-दर्शन के प्रति पश्चिम में जिज्ञासा और आदर की भावना बढ़ी। जब हमने इन पाश्चात्य विद्वानों को अपनी सभ्यता की प्रशंसा करते हुए देखा तब हममें भी उसके संबंध में अधिक जानकारी प्राप्त करने की उत्सुकता बढ़ी। जहां हम एक ओर उन पश्चिमी विद्वानों के प्रति ऋणी हैं हम राष्ट्र-निर्माण के इस कार्य में राममोहनराय, द्वारकानाथ ठाकुर, केशवचन्द्र सेन, दयानन्द सरस्वती आदि अपने उन धार्मिक और सामाजिक सुधारकों के योगदान को भी नहीं भूल सकते जिन्होंने हमें हमारी अपनी प्राचीन संस्कृति की महानता से परिचित कराया और हममें आत्म विश्वास की भावना जागृत की। राष्ट्रीय भावना को आगे बढ़ाने की दिशा में हमें पश्चिमी विचार-धाराओं

के उस संपर्क को भी नहीं भूल जाना है जो हमें अंग्रेज़ी-भाषा के शिक्षा का माध्यम बन जाने के कारण उपलब्ध हुआ। यूरोप के दूसरे साम्राज्यवादी देशों, हॉलेण्ड, फ्रांस, आदि ने अपने अधीनस्थ देशों को पाश्चात्य संस्कृति से सर्वथा मुक्त रखने का प्रयत्न किया। उन्होंने उनके स्वास्थ्य की देख-रेख की, उनकी खेती-बाड़ी में पश्चिमी वैज्ञानिक साधनों का प्रवेश कराया, उनकी आर्थिक स्थिति को सुधारा, पर उनमें पश्चिमी विचारों को नहीं फैलने दिया। अंग्रेज़ों ने हिन्दुस्तान को पश्चिमी संस्कृति के सांचे में ढालने का प्रयत्न किया और अंग्रेज़ी भाषा के द्वारा अंग्रेज़ी साहित्य, राजनीति, विज्ञान और तत्व-दर्शन सभी के दर्वाज़े उनके लिए खोल दिए। हमने ह्यूम और कांट के तत्त्व-दर्शन का अध्ययन किया और बर्क, मिल, पेन और स्पेन्सर की रचनाओं से स्वतन्त्रता समानता और उत्तरदायी शासन के सिद्धान्तों को सीखा, प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों को जान लेने के बाद हमारे मन में यह प्रश्न उठना बिल्कुल स्वाभाविक था कि प्रजातंत्र यदि अंग्रेज़ों के लिए शासन की सबसे अच्छी व्यवस्था हो सकती है तो हिन्दुस्तानियों के लिए क्यों नहीं।

एक ओर तो हम पश्चिम की इन प्रगतिशील विचार-धाराओं के संपर्क में आते गए और दूसरी ओर हमें अपनी बढ़ती हुई ग़रीबी, बेबसी और भुख-मरी का सामना करना पड़ रहा था। हमने देखा कि जो अंग्रेज़ अपने देश में एक आदर्श शासन-तन्त्र की स्थापना करने में सफल हुए हैं वही हमारे देश के शोषण में लगे हुए हैं। टैक्सों में वे हमसे इतना वसूल कर लेते हैं जितना इस देश की किसी अन्य सरकार ने कभी नहीं किया था परंतु उसका अधिकांश अंग्रेज़ों के हित में ही खर्च होता है और हिन्दुस्तानियों के लिए न तो शिक्षा की समुचित व्यवस्था है और न उनके स्वास्थ्य के लिए सरकार कोई चिन्ता करती है और न बार बार होने वाले अकालों से उन्हें बचाने का ही कोई इलाज उसके पास है। दादाभाई नौरोजी और रमेशचन्द्र दत्त आदि अर्थ-शास्त्रियों ने तथ्यों और आंकड़ों के द्वारा यह सिद्ध किया कि हिन्दुस्तान कभी इतना ग़रीब नहीं था जितना अंग्रेज़ी राज्य में, और अकाल में लोगों के मरने का कारण यह नहीं था कि उन्हें अनाज नहीं मिल सकता था पर यह था कि सरकार उनसे टैक्सों से ही इतना अधिक रुपया ले लेती थी कि उनके पास अनाज़ ख़रीदने के लिए कुछ नहीं बचता था। इस प्रकार, एक ओर तो हममें आत्म-विश्वास की भावना बढ़ती जा रही थी और दूसरी ओर अंग्रेज़ी शासकों की नीति के प्रति हममें कड़वाहट आती जा रही थी। इस कड़वाहट को आगे बढ़ाने का मुख्य कारण अंग्रेज़ों द्वारा हिन्दुस्तानियों के साथ किया जाने वाला दिन प्रति-दिन का बर्त्ताव था। इस बर्त्ताव के पीछे अंग्रेज़ों की यह दृढ़ भावना थी कि वे

एक सभ्य जाति के प्रतिनिधि हैं और इस देश के रहने वाले असभ्य, असंस्कृत और पिछड़े हुए हैं। अंग्रेजों का सामाजिक जीवन हिन्दुस्तानियों से बिल्कुल विभिन्न था। उनके क्लब घरों और होटलों में हिन्दुस्तानियों के लिए स्थान नहीं था। हिन्दुस्तानी केवल गुलाम की हैसियत से उनसे मिल सकते थे। अपने प्राचीन गौरव के प्रति हममें ज्यों-ज्यों ममत्व और अहंकार बढ़ता गया अंग्रेजों के इस अमानुषिक व्यवहार के प्रति हममें खीज, क्रोध और विद्रोह की भावना का बढ़ते जाना भी स्वाभाविक था। इन विभिन्न परिस्थितियों में हमारे देश में राष्ट्रीयता की भावना ने जन्म लिया।

विवेकानन्द और शक्ति का संदेश

राष्ट्रीयता की भावना का सूत्रपात तो उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में, जब पश्चिमी संपर्क की प्रतिक्रिया के रूप में एक नई सामाजिक चेतना हमारे देश में जाग्रत् हो रही थी, पड़ चुका था, पर उसका अधिक विकास इस शताब्दी के अन्तिम वर्षों और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ। राष्ट्रीयता की इस भावना को एक प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति स्वामी विवेकानन्द के व्यक्तित्व में मिली। विवेकानन्द १८९३ में एक सर्व धर्म सम्मेलन में शामिल होने के लिए शिकागो गए थे। हिन्दुस्तान से जाने के पहिले उनके मन में पश्चिमी सभ्यता का बड़ा मोह था। हिन्दुस्तान से वह चीन और जापान के रास्ते अमरीका गए थे। इन देशों में जब उन्होंने भारतीय संस्कृति का प्रभाव देखा तब सहज ही उनके मन में अपनी संस्कृति के प्रति एक ममत्व की भावना का आविर्भाव हुआ। अमरीका पहुँच कर जब उन्होंने सर्व धर्म सम्मेलन में हिस्सा लिया तब उनके धर्म-संबंधी ज्ञान, उनकी अद्भुत वक्तृत्व-शक्ति और उनके दीर्घकाय और प्रतिभाशाली व्यक्तित्व का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। वह सहज ही इस सम्मेलन में भाग लेने वालों के लिए आकर्षण का एक बड़ा केन्द्र बन गए। सम्मेलन की समाप्ति पर उन्हें अमरीका के विभिन्न स्थानों से भाषण देने के निमन्त्रण मिले। प्रारम्भ में स्वामी विवेकानन्द का विश्वास था कि पूर्वी संस्कृति का आधार आध्यात्मवाद में, और पश्चिमी संस्कृति की महानता कर्म के क्षेत्र में है। उनका विश्वास था कि इन दोनों संस्कृतियों का समन्वय संसार के लिए आवश्यक है। परन्तु ज्यों ज्यों वह अमरीका के जीवन के निकट संपर्क में आते गए पश्चिमी संस्कृति की हीनता और भारतीय संस्कृति की महानता में उनका विश्वास बढ़ता गया। अमरीका के भाषणों में ही हम उन्हें इस विचार की घोषणा करते हुए

पाते हैं। १८६७ में विवेकानन्द हिन्दुस्तान लौटे और उन्होंने सारे देश का भ्रमण किया। इस भ्रमण में उनका मुख्य उद्देश्य लोगों को यही बताना था कि किस प्रकार हिन्दुस्तान के पास अध्यात्म-विद्या का एक अटूट खज़ाना है और बाहर की दुनियां उसके अभाव में कैसी दुःखी, बेचैन और पथ-भ्रष्ट हो रही है। हिन्दुस्तानियों से उन्होंने कहा, "इस बात की चिन्ता न करो कि एक पार्थिव शक्ति के द्वारा तुम जीत लिए गए हो। और अपनी आध्यात्मिक शक्ति से दुनियां पर विजय प्राप्त करो।" यह एक नया संदेश और बड़ा आकर्षक आह्वान था। हमने यह अनुभव किया कि राजनैतिक दृष्टि से ग़ुलाम होते हुए भी जीवन के और क्षेत्रों में हम धनी हैं। हमने यह भी महसूस किया कि भटकी हुई दुनिया को रास्ता बताने की एक बड़ी ज़िम्मेदारी हमारे कंधों पर है। राष्ट्रीय स्वाभिमान के साथ हमें एक राष्ट्रीय कार्यक्रम भी मिला। राजनीति से बच कर रहते हुए भी विवेकानन्द ने राष्ट्र निर्माण की दृष्टि से जो महत्त्वपूर्ण काम किया है वह भारतीय राष्ट्रीयता के इतिहास में भुलाया नहीं जा सकेगा।

अन्य प्रेरक शक्तियां

जिन दिनों स्वामी विवेकानन्द हमारे छिपे हुए आत्म गौरव को अपने प्रभावशाली लेखों और भाषणों के द्वारा उभाड़ रहे थे उन्हीं दिनों कुछ अन्य शक्तियां भी इसी दिशा में काम कर रही थीं। यह समय हमारे देश में एक बड़े संकट का समय था। एक बहुत बड़ा अकाल देश के अधिकांश भाग में फैला हुआ था, और उसके साथ ही पश्चिमी और दक्षिणी भारत में प्लेग और दूसरी बीमारियाँ भी फ़ैल रही थी। सरकार ने इस सम्बन्ध में जो नीति धारण की उससे जनता में और भी क्षोभ बढ़ा। दक्षिण भारत में लोकमान्य तिलक ने इन भावनाओं का उपयोग जनता में एक नया राजनैतिक जीवन संगठित करने की दिशा में किया। बंगाल में बंकिम बाबू का 'आनन्द मठ'-जिसमें 'वन्दे मातरम्' का लोक प्रसिद्ध राष्ट्र-गीत शामिल था, प्रान्त के नवयवकों को राजनतिक संस्थाएं निर्माण करने और मातृभूमि की स्वाधीनता के लिए अपना सब कुछ बलिदान कर देने के लिए, प्रेरित कर रहा था। उन्हीं दिनों बंगाल और दूसरे प्रान्तों में भी 'गीता अनुशीलन समिति' और इस प्रकार की दूसरी संस्थाएं बन रही थीं जिनका ध्येय देश भर में एक क्रान्तिकारी संगठन को जन्म देना था। पंजाब में लाला लाजपतराय और उनका समाज-सुधारक दल राजनैतिक कामों मे जुटा हुआ था। इस विक्षुब्ध वातावरण में लॉर्ड कर्ज़न

की नीति ने आग में घी का काम दिया। बंगाल के विभाजन के द्वारा उन्होंने देश की समस्त राजनैतिक शक्तियों को एक बड़ी चुनौती दी और उसकी सीधी प्रतिक्रिया यह हुई कि देश में स्वदेशी और बहिष्कार के आन्दोलन उठ खड़े हुए। सभी प्रकार के अंग्रेजी माल पर विशेष कर कपड़े का बहिष्कार होने लगा और स्वदेशी को प्रोत्साहन दिया जाने लगा। श्री० सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने अपनी आत्म कथा में लिखा है कि उन दिनों किसी बंगाली युवक का विदेशी कपड़ों में पाया जाना एक बड़ा अपराध माना जाता था। सरकार ने दमन के सहारे इस आन्दोलन को कुचलना चाहा। 'वन्दे मातरम्' की आवाज उठाने पर नन्हें बालकों को बेंतों से पीटा गया, बहिष्कार में भाग लेने वाले व्यक्तियों को कड़ी सजाएं दी गई और क्रान्तिकारी आन्दोलन से सहानुभूति रखने वाले अनेकों व्यक्तियों को फांसी के तख्ते पर लटकाया गया। सरकार ने दूसरी ओर नरम-दल के राजनैतिक नेताओं को फोड़ने का प्रयत्न किया और १९०९ के सुधारों के द्वारा उसे इस काम में सफलता भी मिली। परिणाम यह हुआ कि राज-नैतिक आन्दोलन वैसे तो रुक-सा गया पर भीतरी रूप में अनेकों क्रांतिकारी दलों का संगठन होने लगा। इन दलों की शाखाएं न केवल बंगाल, पंजाब और हिन्दुस्तान के अन्य प्रान्तों में थीं पर इंग्लैंड और जर्मनी में भी खुल गई थी। राष्ट्रीय आन्दोलन की जो आग एक बार सुलगी वह विदेशी शासन की लाख कोशिशों के बाद भी बुझाई नहीं जा सकी।

राष्ट्रीयता पर पहिला बड़ा आक्रमण

अंग्रेज अधिकारी इस बात को तो समझ गए थे कि भारतीय राष्ट्रीयता से सीधा मोर्चा लेना उनके लिए संभव नहीं होगा। इस कारण उन्होंने प्रति-क्रियावादी दलों को अपने साथ लेने की नीति को अपनाया। यों तो १८५७ के गदर के बाद ही अंग्रेजी सरकार ने इस नीति पर चलना शुरू कर दिया था, पर अब राष्ट्रीयता से खतरा बहुत अधिक बढ़ गया था। इस कारण उस पर जोरों के साथ चलना ज़रूरी हो गया था। 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति पर चलना प्रत्येक विदेशी सत्ता के लिए आवश्यक होता है। अंग्रेजों को हिन्दुस्तान में हिन्दू और मुसलमानों में जो धार्मिक और सामाजिक भेदभाव मिला उसका किसी तरह से मिट जाना वे नहीं चाहते थे। ग़दर के ज़माने तक तो उन्हें मुसल्मानों से अधिक खतरा था। उनका अनुमान था कि देश के पिछले शासनाधिकारी होने के नाते मुसलमान हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ी राज्य की स्थापना को हर्गिज़ पसन्द नहीं करेंगे। बहुत से अंग्रेज राजनीतिज्ञों का यह

विश्वास था कि ग़दर के पीछे भी मुसलमानों का ही अधिक हाथ था। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के बाद के वर्षों में, जब हिन्दुओं में राजनैतिक जागृति बढ़ने लगी, अंग्रेज़ों ने हिन्दुओं के साथ पक्षपात करने की नीति को छोड़कर मुसलमानों का पल्ला पकड़ा। हिन्दुओं पर से उनका विश्वास अब हट गया था और वे यह समझने लगे थे कि राजनैतिक दृष्टि से पिछड़े हुए होने के नाते मुसलमान आसानी से उनके खिलाफ नहीं जा सकेंगे। सर सैयद अहमद आदि मुसलमान नेताओं ने अंग्रेज़ों के मन से मुसलमानों के प्रति अविश्वास को हटाने के काम में बड़ी सहायता पहुँचाई। बीसवीं शताब्दी का प्रारंभ होते होते मुसलमानों के साथ पक्षपात की यह नीति बिल्कुल स्पष्ट हो गई थी। बंगाल के विभाजन के पीछे भी यही नीति काम कर रही थी। कर्ज़न बंगाल के मुस्लिम बहुसंख्यक भाग को अलग करके मुसलमानों में मुस्लिम राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न करना चाहता था। पूर्वी बंगाल के शासन में तो मुसलमानों के साथ खुला पक्षपात किया जाता था। एक बड़े न्यायाधीश के बारे में तो यह मशहूर था कि वह हिन्दू और मुसलमान गवाहों को अलहदा कर दिया करता था और यह मान कर फैसला करता था कि जितने हिन्दू गवाह हैं वे सब झूठे हैं और मुसल्मान गवाह सब सच्चे! मुसलमानों को बढ़ावा देने की इस नीति के परिणाम स्वरूप ही १९०७ में आग़ाखां के नेतृत्व में मुसलमान नेताओं का एक दल लार्ड मिन्टो से मिला और मुसलमानों के लिए प्रथक् निर्वाचन की मांग की। *

लॉर्ड मिन्टो ने फ़ौरन ही उनकी इस मांग को स्वीकार कर लिया। उसी रात को भारत सरकार के एक बड़े अफसर ने लेडी मिन्टो को भेजे गए एक पत्र में लिखा— "आज एक बहुत बड़ी घटना हुई है जिसका परिणाम होगा देश के सात करोड़ व्यक्तियों (मुसल्मानो) को राजद्रोहियों की श्रेणी में जाने से रोक लेना।" यह स्पष्ट है कि अंग्रेज़ हिन्दुस्तान के मुसलमानों को राष्ट्रीय आंदोलन के विरुद्ध एक बड़े मोर्चे के रूप में संगठित कर लेना चाहते थे। भारतीय राष्ट्रीयता को छिन्न-भिन्न करने की दृष्टि से किया जाने वाला साम्राज़्यवाद का यह पहिला बड़ा षड़यन्त्र था।

भारतीय राष्ट्रीयता ने इस षड़यन्त्र का मुकाबिला किया और उस पर विजयी सिद्ध हुई। एक लंबे अर्से तक मुसलमान धर्मांधता की बाढ़ में

---

* १९२३ के कांग्रेस के कोकोनाडा अधिवेशन में अध्यक्ष की हैसियत से मौलाना मुहम्मदअली ने घोषणा की कि आगाखां और उनके साथी 'विशेष-आज्ञा' से ही लार्ड मिन्टो से मिले थे। *

वहने से वचे रहे। कुछ ऐसे मुसल्मान इन दिनों सामने आए जिन्होंने मुस्लिम समाज में राष्ट्रीयता की भावना को प्रोत्साहन दिया। मौलाना अवुल कलाम आज़ाद ने इन्हीं दिनों अपने जोरदार भाषणों और 'अलहिलाल' की प्रभावपूर्ण टिप्पणियों के द्वारा मुसल्मानों में एक नया जोश फूंका। मौलाना मुहम्मदअली ने वही क़ाम अपने 'कामरेड, और 'हमदर्द, नाम के पत्रों के द्वारा किया। मौलाना ज़फ़रअली का 'जमींदार' तो अपने राष्ट्रीय विचारों के लिए इतना प्रसिद्ध था कि वहुत से लोगों ने केवल उसे पढ़ने के लिए उर्दू सीखी। डॉक्टर अन्सारी, हकीम अज़मल खाँ और चौधरी ख़लीकुज़्ज़मां आदि नेता भी इन्हीं दिनों सामने आए। प्रथम महायुद्ध के छिड़ जाने से हिन्दुस्तान के मुसल्मानों में फैलने वाली इस राष्ट्रीय भावना को और भी प्रोत्साहन मिला! युद्ध में टर्की अंग्रेज़ों के ख़िलाफ था और टर्की के सुल्तान के ख़लीफ़ा माने जाने के नाते हिन्दुस्तान के मुसल्मान उसके प्रति अपनी वफादारी छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे। लड़ाई के समाप्त हो जाने पर इसी प्रश्न को लेकर ख़िलाफ़त का आंदोलन उठा। उधर, लड़ाई के दिनों में ही राष्ट्रीय आंदोलन एक वार फिर वढ़ चला था। लोकमान्य तिलक और श्रीमती ऐनी वीसेंट ने 'होमरूल लीग' की स्थापना की, इस आंदोलन के फ़ल-स्वरूप अंग्रेज़ों ने १९१७ की सम्राट की घोषणा के द्वारा हिन्दुस्तान में धीरे-धीरे उत्तरदायी शासन स्थापित करने की प्रतिज्ञा तो की परंतु उनके व्यवहार में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ और लड़ाई समाप्त होने के वाद भी कुछ ऐसे कानून वनाए गए जिनका स्पष्ट उद्देश्य राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचल डालना था। जागृत और सशक्त भारतीय राष्ट्रीयता उन्हें चुपचाप मान लेने के लिए तैयार नहीं थी। इन्हीं दिनों दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह में एक वड़ी विजय प्राप्त करके महात्मा गाँधी हिन्दुस्तान लौटे थे। इस वेचैनी, कसमसाहट और विक्षोभ के वातावरण में देश का नेतृत्व उन्होंने अपने शक्तिशाली हाथों में लिया। सरकार जो नए क़ानून वना रही थी देश भर में उनके विरुद्ध हड़ताल व सभाएँ हुईं। इसी सिलसिले में पंजाव में जलियानवाला वाग़ का रक्त-रंजित नाटक खेला गया और जगह जगह मार्शल लॉ की स्थापना हुई। इसकी देश भर में वड़ी भीषण प्रतिक्रिया हुई। ख़िलाफत और राजनैतिक स्वाधीनता दोनों के आन्दोलन एक दूसरे में घुल-मिल गए और गांधीजी के महान् नेतृत्व में, हिन्दू और मुसल्मान दोनों कन्धे से कन्धा मिला कर देश की आज़ादी के लिए अहिंसा के आधार पर लड़े जाने वाले एक महान् युद्ध में जूझ पड़े। हिन्दू मुस्लिम एकता के जो दृश्य १९२०–२१ के दिनों में देखने में आए वे आज भी एक मीठी स्मृति के रूप में हमारे हृदयों में सुरक्षित हैं। अंग्रेज़ों की भेद डालने की नीति के विरुद्ध राष्ट्रीयता

का यह एक बड़ा सफल और विजयी मोर्चा था।

सत्याग्रह आंदोलन और उसके बाद

१९२०-२१ के सत्याग्रह आन्दोलन ने भारत में अंग्रेज़ी राज्य की जड़ों को झकझोर डाला। इस आन्दोलन में लगभग चालीस हजार व्यक्ति जेल गए और लाखों व्यक्तियों ने आन्दोलन से सम्बन्ध रखने वाली कई प्रवृत्तियों में भाग लिया। विदेशी कपड़े का बड़ा सफल बहिष्कार किया गया। फर्वरी १९२२ में आन्दोलन को सविनय अवज्ञा आन्दोलन के रूप में परिणत करने का निश्चय किया गया था। ९ फ़र्वरी को वायसराय ने भारत-मंत्री को सूचना दी— "शहरों में निम्न मध्यम श्रेणी के लोगों पर असहयोग आन्दोलन का बहुत ज्यादा असर पड़ा है। कुछ भागों में, विशेष कर आसाम-घाटी, संयुक्त-प्रांत, विहार, उड़ीसा और बंगाल में किसानों पर भी असर पड़ा है। पंजाब में अकाली आन्दोलन गावों के सिखों में प्रवेश कर चुका है। देश भर में मुस्लिम आबादी का एक बड़ा भाग कड़वाहट और विक्षोभ की भावना से भरा हुआ है। स्थिति बहुत खतरनाक है। अब तक जो कुछ हुआ है उससे भी अधिक व्यापक अशान्ति की सम्भावना मानकर भारत सरकार तैयारी कर रही है।" कुछ स्थानों में, जैसे गुन्तूर के जिले में किसानों ने कर न देने का आन्दोलन भी शुरू कर दिया था। इन्हीं दिनों चौरी-चोरा में एक ऐसी घटना हुई जिसने गांधीजी को यह विश्वास दिला दिया कि देश अभी एक बड़ी अहिंसात्मक क्रांति के लिए तैयार नहीं था, और उन्होंने फौरन आन्दोलन को बन्द कर देने की आज्ञा दे दी। इससे जनता में निराशा का फैल जाना स्वाभाविक था। "एक ऐसे अवसर पर जबकि जनता का उत्साह अपने चरम शिखर पर था।" सुभाषचन्द्र बोस ने अपनी पुस्तक में लिखा "लौटने की आज्ञा देना एक बड़े राष्ट्रीय दुर्भाग्य से किसी प्रकार कम न था।" जवाहरलाल नेहरू ने भी स्वीकार किया है कि "इससे कुछ हद तक गड़बड़ फैली। यह संभव है कि एक महान आन्दोलन के अचानक बन्द किए जाने की एक दूसरी दिशा में बहुत बुरी प्रतिक्रिया हुई। राजनैतिक संघर्ष में छुटपुट और निरर्थक हिंसा की ओर लोगों का जो झुकाव होने लगा था वह तो रुक गया, परन्तु इस दबी हुई हिंसा के लिए कहीं तो अपना मार्ग बनाना आवश्यक था, और ऐसा जान पड़ता है कि आने वाले वर्षों में उसने सांप्रदायिक झगड़ों का रूप ले लिया।"

एक महान आन्दोलन के ऐसे अवसर पर जब वह सफलता के बिल्कुल नज़दीक पहुँचा हुआ दिखाई दे रहा हो अचानक रोक दिए जाने से नेताओं व जन

साधारण में निराशा का फैल जाना बिल्कुल स्वाभाविक था, परन्तु गांधीजी भारतीय समाज के किसी भी वर्ग को उस समय तक राजनैतिक आन्दोलन में लाना नहीं चाहते थे जब तक उसमें अहिंसा पर चलने की क्षमता न हो। १९२०-२१ के आन्दोलन में राजनैतिक चेतना का प्रवेश निम्न मध्यम श्रेणी की जनता में, जिसमें छोटे मोटे दूकानदार, क्लर्क, शिक्षक, विद्यार्थी आदि शामिल थे, हुआ और उसने गांधीजी के सिद्धान्तों पर चलने की उचित योग्यता का प्रदर्शन किया, परंतु इस राजनैतिक चेतना की परिधि ज्यों-ज्यों तेज़ी के साथ बढ़ने लगी, मज़दूर और किसान भी एक बड़ी संख्या में उसमें शामिल होने लगे और उन्होंने अनुशासन मानने के बदले क़ानून और व्यवस्था को अपने हाथ में ले लिया। कलकत्ता, बम्बई आदि शहरों के मज़दूर वर्ग ने और चौरीचोरा में गांवों के लोगों ने जैसा प्रदर्शन किया उससे गांधीजी को यह विश्वास हो गया कि जब तक समाज के इन वर्गों में उचित ढंग से राजनैतिक शिक्षा का प्रचार नहीं हो पाता तब तक उन्हें राजनैतिक संघर्ष में लाने से लाभ कम हो सकेगा और खतरा ज़्यादा रहेगा। इसी कारण गांधीजी ने देश की शक्ति को राजनैतिक क्षेत्र से हटा कर रचनात्मक कार्यक्रम में मोड़ना चाहा। गांधीजी की मंशा यह थी कि कांग्रेस के कार्यकर्त्ता हिन्दुस्तान के साढ़े सात लाख गावों में फैल जाएँ और रचनात्मक कार्य के द्वारा किसानों में एक नए जीवन का निर्माण करें। परंतु हमें यह मानना पड़ेगा कि अधिकांश कार्यकर्त्ताओं के मन में राजनैतिक संघर्ष और क्रांतिकारी आन्दोलनों के लिए जो दिलचस्पी थी वह रचनात्मक कार्यक्रम के प्रति नहीं और देश के कुछ प्रमुख राजनैतिक नेता भी जो अब तक अंग्रेज़ी साम्राज्य से मोर्चा ले रहे थे सांप्रदायिक उलझनों में पड़ते गए। मौलाना मुहम्मदअली ने जेल से छूटने पर कई जोशीली तक़रीरें कीं, पर कोकोनाडा-कांग्रेस के सभापति पद से उन्होंने जो भाषण दिया उसमें वैसा उत्साह नहीं था और उसके बाद यद्यपि उन्होंने कभी खुले आम सांप्रदायिक वैमनस्य की भावना का समर्थन नहीं किया पर राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति वह उदासीन होते गए और मौलाना शौकतअली ने तो पूरे जोश के साथ अपने को मज़हबी कट्टरपन के हाथों बेच ही दिया। उधर, पंजाब में राजनैतिक जागृति के सूत्रधार, पंजाब के शेर लाला लाजपतराय हिन्दू सांप्रदायिकता और धर्मांधता के नेता बने और उन स्वामी श्रद्धानन्द ने, जिन्होंने दिल्ली में मशीनगनों के सामने अपनी छाती खोल दी थी और जिन्हें दिल्ली के मुसलमानों ने जामा मस्जिद में भाषण देने पर मजबूर किया था, शुद्धि और संगठन के आंदोलन को अपने हाथ में ले लिया। 'कृष्णबीती' जैसी सुन्दर पुस्तक के रचयिता और उर्दू के ज़ोरदार लेखक ख्वाजा हसन निज़ामी तबलीग़ और तंज़ीम के रहनुमा

बने । अमीरअली ने राष्ट्रीयता का तराना छोड़ दिया और ख़ुदाबख़्श इस्लाम की महानता पर बड़ी-बड़ी पुस्तकें लिखने के स्थान पर हिन्दुओं को गाली देने के काम में जुट पड़े । देश भर में हिन्दू मुस्लिम दंगे फैल गए ।

राष्ट्रीय उत्थान की दूसरी लहर

गांधीजी का रचनात्मक कार्यक्रम सभी राजनैतिक कार्यकर्त्ता अपना नहीं सके थे, यह स्पष्ट था । सांप्रदायिक झगड़ों से उन नेताओं का ध्यान हटाने के लिए जो केवल राजनैतिक कार्य में ही रुचि ले सकते थे मोतीलाल नेहरू और चित्तरंजनदास ने स्वराज्य-दल का निर्माण किया। अपरिवर्त्तन-वादियों के विरोध के बावजूद भी उन्हें कांग्रेस के अधिकांश नेताओं का समर्थन मिल सका । १९२३ में स्वराज्य-पार्टी ने धारा-सभाओं में प्रवेश किया, परन्तु कांग्रेस के इस नीति-परिवर्त्तन पर भी भारतीय राष्ट्रीयता पर अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद का आक्रमण लगातार जारी रहा । इन्हीं दिनों स्वराज्य-पार्टी के विरोध करने पर भी, भारतीय सरकार ने कुछ ऐसे कानून बनाए जो भारतीय हितों के खिलाफ़ जाते थे, और १९२७ में विधान-निर्माण पर अपनी सम्मति देने के लिए एक ऐसे कमीशन की नियुक्ति की जिसमें एक भी हिन्दुस्तानी सदस्य नहीं था । उधर जनता में राजनैतिक जागृति का लगातार विकास हो रहा था । एक ओर तो श्रमिक वर्ग में गिरनी कामगार संघ, लाल झंडा संघ आदि संस्थाओं के द्वारा जागृति फैलाई जा रही थी और दूसरी ओर जवाहरलाल नेहरू और सुभाष-चन्द्र बोस के यूरोप प्रवास से लौट आने पर देश के नवयुवकों को एक सशक्त नेतृत्व मिल गया था । इन परिस्थितियों में देश ने साइमन कमीशन के बहिष्कार का निश्चय किया और जब साइमन कमीशन ने हिन्दुस्तान का दौरा किया तब जगह जगह काले झंडों, 'साइमन वापिस जाओ' के नारों और लंबे लंबे जुलूसों के द्वारा जो विरोधी प्रदर्शन हुए उनसे इन वर्षों में समाज के विविध वर्गों में फैल जाने वाली राष्ट्रीय भावना का अच्छा परिचय मिलता है । देश के नवयुवक अब अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद से एक बार फिर मोर्चा लेने के लिए उत्सुक हो उठे थे ।

अंग्रेजी सरकार जब अपनी कट्टर साम्राज्यवाद की नीति से टस से मस न हुई तो १९२९ के लाहौर-कांग्रेस के ऐतिहासिक अवसर पर युवक नेता पं० जवाहरलाल नेहरू के सभापतित्व में कांग्रेस ने पूर्ण स्वाधीनता को अपना लक्ष्य बनाने की घोषणा की । इस लक्ष्य का जनता में प्रचार करने के लिए २६ जनवरी १९३० को पहिला स्वाधीनता दिवस मनाया गया । देश के कोने-कोने

से एक अभूतपूर्व उत्साह, और एक बड़े संघर्ष में जूझने की उत्कट भावना का उद्रेक हुआ। इन परिस्थितियों में गांधीजी ने एक बार फिर देश के भाग्य की बागडोर अपने हाथ में ली और मार्च १९३०की ऐतिहासिक दांडी-यात्रा और ६ अप्रैल १९३० को समुद्र-तट पर नमक-कानून तोड़ने के कार्यक्रम से एक महान् जन-आन्दोलन का सूत्रपात किया। एक अद्भुत उत्साह देश के बालक, वृद्ध और युवकों में, स्त्री और पुरुषों में, अमीर, मध्यम श्रेणी के व्यक्ति और गरीबों में, मज़दूर और किसानों में, यहां तक कि सरकारी अफसरों और फ़ौज तक में फैल गया। नमक-कानून के बाद स्थान स्थान पर दूसरे अवांछनीय क़ानूनों को भी तोड़ा गया। विदेशी कपड़े का बहिष्कार हुआ। विदेशी कपड़े व शराब की दुकानों पर धरना दिया गया। लगभग नब्बे हज़ार व्यक्तियों ने कारागृह का आवाहन किया और हज़ारों ने अपना सर्वस्व राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की वेदी पर भेंट चढ़ा दिया। पेशावर में गढ़वाली सिपाहियों ने मुसल्मान आन्दोलन-कारियों पर गोली चलाने से इन्कार कर दिया और शोलापुर में एक सप्ताह तक वहां के मज़दूरों ने राज्य-शासन अपने हाथ में रखा। इस आंदोलन में सबसे बड़ी क्षति अंग्रेज़ी उद्योग-धंधों और व्यापार को हुई। यह अंग्रेज़ी साम्राज्य का सबसे कोमल स्थल भी था, और इसका परिणाम यह हुआ कि अंग्रेज़ी साम्राज्य एक बार फिर हिल उठा। कलकत्ते और बंबई के अंग्रेज़ व्यापारियों ने कांग्रेस के सामने समझौते की शर्त्तें पेश की। बम्बई के यूरोपियन एसोसिएशन ने साइमन रिपोर्ट के अपने समर्थन को वापिस ले लिया और गोलमेज़ कान्फ्रेंस में अपना सदस्य भेजने से भी इन्कार कर दिया। जनवरी १९३१ में सरकार को महात्मा गांधी और कांग्रेस की कार्य-समिति के दूसरे सदस्यों को बिना शर्त्त के छोड़ देने पर मजबूर होना पड़ा और ४ मार्च को गांधी-इर्विन समझौते पर दस्तखत किए गए। यह पहिला अवसर था जब अंग्रेज़ी सरकार को एक बाग़ी संस्था के नेता से समझौता करने पर विवश होना पड़ा था। भारतीय राष्ट्रीयता के लिए निःसन्देह यह एक महान् विजय थी!

निरंतर बढ़ती जाने वाली राष्ट्रीय चेतना

१९३० तक के भारतीय राष्ट्रीयता के इतिहास पर जब हम दृष्टि डालते हैं तो हम देखते हैं कि राजनैतिक चेतना क्रमशः समाज के ऊँचे वर्गों से प्रारंभ होकर नीचे के वर्गों तक फैलती चली गई है। १८८५ में कांग्रेस की स्थापना के पीछे समाज के ऊँची श्रेणी के लोगों का हाथ था। १९०५–६ में राष्ट्रीय

चेतना ने मध्यम श्रेणी के ऊपर के स्तर का स्पर्श किया। १९२०–२१ तक प्रायः समस्त मध्यम श्रेणी में यह चेतना व्याप्त हो चुकी थी और १९३०–३२ में मज़दूर और किसानों का एक बड़ा वर्ग उसके प्रभाव में आ चुका था। प्रत्येक आंदोलन में लोगों ने पहिले से अधिक त्याग, बलिदान और कष्ट-सहिष्णुता का परिचय दिया। प्रत्येक आन्दोलन को हम एक तूफ़ान के समान उठते हुए पाते हैं, जिसके पीछे कई बड़े राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कारण होते हैं। प्रत्येक आंदोलन अंग्रेजी साम्राज्यवाद की जड़ों को अधिक गहरे जाकर झकझोर डालता है, परन्तु जब यह दिखाई देने लगता है कि अभी या तो राष्ट्रीय चेतना इतनी व्यापक नहीं है या अंग्रेजी साम्राज्यवाद अभी इतना कमजोर नहीं हुआ है कि वह जड़ से उखाड़ा जा सके तब आन्दोलन की गति कुछ धीमी पड़ जाती है। इन सभी आन्दोलनों के प्रणेता गांधीजी, ऐसा जान पड़ता है; राजनैतिक जागृति को अधिक से अधिक व्यापक बनाने और अंग्रेज़ी साम्राज्य से संघर्ष करने में कोई अन्तर नहीं देखते। स्वराज्य अथवा पूर्ण स्वाधीनता से किसी प्रकार कम लक्ष्य न रखते हुए भी गांधीजी ने अपने आन्दोलन के सिलसिले में जब कभी भी यह देखा है कि अब आन्दोलन के द्वारा राष्ट्रीय भावना का अधिक विकास सम्भव नहीं रह गया है तभी, बिना इस बात की चिन्ता किए हुए कि राजनैतिक लक्ष्य की दिशा में वैधानिक दृष्टि से वह कितना आगे बढ़े हैं, उन्होंने आन्दोलन को बन्द कर दिया है। वह तो इस बात की चिन्ता करते हुए भी दिखाई नहीं देते कि जनता पर उनके इस निर्णय की क्या प्रतिक्रिया होगी। राजनैतिक आन्दोलन को बन्द करते ही, बल्कि बन्द करने के दौरान में ही, गांधीजी देश की समस्त शक्तियों को रचनात्मक कार्यक्रम की ओर मोड़ देने का प्रयत्न करते हैं। उनकी दृष्टि में राजनैतिक आन्दोलन और रचनात्मक कार्यक्रम के बीच का कोई मार्ग नहीं है, परन्तु वह रचनात्मक कार्यक्रम न तो सभी राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं को अपील करता है और न जनता काफी उत्साह से उसमें भाग लेती है। वे लोग इस बात की उत्सुकता पूर्वक प्रतीक्षा करते रहते हैं कि फिर किसी राजनैतिक कार्यक्रम पर चलने का उन्हें अवसर मिले। उनकी इस इच्छा की पूर्ति गांधीजी के अलावा किसी अन्य राजनैतिक नेता को करना पड़ती है। १९२३–२४ में मोतीलाल नेहरू और चित्तरंजनदास ने यह काम किया। १९३४ के बाद कांग्रेस के तत्त्वावधान में ही पार्लमेन्टरी कार्यक्रम का आयोजन किया गया। १९३६ में कांग्रेस ने प्रान्तीय चुनावों में भाग लिया जिसके परिणाम-स्वरूप ग्यारह में से आठ प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डल बने। इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रीय

गाते और क्रम से सदा ही आगे बढ़ता रहा है । कांग्रेस चाहे एक बड़ा आंदोलन चला रही हो चाहे रचनात्मक कार्यक्रम में जुटी हुई हो और चाहे धारासभाओं के चुनाव में लगी हो या प्रान्तीय शासनों का नियन्त्रण कर रही हो उसका लक्ष्य सदा यही रहा है कि वह जनता में राजनैतिक जीवन का प्रसार व संगठन करती रहे ।

युद्ध कालीन राजनीति :

गत्यावरोध

१६३७ में जब कांग्रेस ने विभिन्न प्रांतों में मन्त्रिमंडल बनाने का निश्चय किया तब उसे यह विश्वास होने लगा था कि अंग्रेज़ शायद बिना किसी बड़े संघर्ष के, धीरे धीरे पर निश्चित रूप से, सत्ता उसके हाथ में सौंप देंगे । २७ महीनों के कांग्रेस के शासन-काल में गवर्नरों और मन्त्रि-मण्डलों में बड़े अच्छे सम्बन्ध रहे । उधर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में फ़ासिज़्म और प्रजातन्त्र के बीच जो अन्तर बढ़ता जा रहा था उसमें हमारी समस्त सहानुभूति प्रजातन्त्र के पक्ष में होने के कारण भी हमें यह विश्वास था कि हमारे और ब्रिटेन के बीच सद्भावना अधिक बढ़ेगी । दूसरे महायुद्ध के प्रारंभ होने पर हमारी समस्त सहानुभूति फ़ासिस्ट देशों के विरुद्ध और प्रजातन्त्र देशों के पक्ष में थी । हमारे बड़े से बड़े नेताओं ने बिना किसी मानसिक झिझक और बिना किसी राजनैतिक शर्त्त के अपनी इस सहानुभूति का प्रदर्शन किया, परन्तु हमें यह देख कर बड़ा क्षोभ हुआ कि हिन्दुस्तान की अंग्रेजी सरकार ने हमारे नेताओं और हमारी धारा-सभा की राय लिए बिना ही हिन्दुस्तान के युद्ध में शामिल होने की घोषणा कर दी, और शासन-विधान में युद्धकालीन परिवर्त्तन करके और एक के बाद एक ऑर्डिनेंस निकाल कर यह ज़ाहिर करना चाहा कि उसे हमारे विचारों या दृष्टिकोण को जानने की तनिक भी चिन्ता नहीं है । कांग्रेस के शासन-काल में अंग्रेज गवर्नरों और अधिकारियों के साथ हमारे सम्बन्ध बड़े अच्छे बन गए थे और भारतीय जनमत के अनुसार काम करने की तत्परता हम अपने अंग्रेज शासकों में पा रहे थे । यह निश्चित था कि देर से या संभवतः जल्दी ही केन्द्रीय शासन में भी हमारे प्रतिनिधियों का हाथ होगा । युद्ध के प्रारंभ होने पर हमारे नेताओं ने अंग्रेजी सरकार से इस प्रकार के किसी निर्णय की अपेक्षा की थी । कांग्रेस यह हर्गिज नहीं चाहती थी कि युद्ध का संकट जब अंग्रेज़ी सरकार पर छाया हुआ था तब वह उसके रास्ते में किसी प्रकार की रुकावट डाले । परन्तु, ज्यों ज्यों समय बीतता गया यह स्पष्ट होता गया कि प्रजातन्त्र और विश्व शान्ति के बड़े बड़े सिद्धान्तों के प्रचार करते रहने के बाव-

जूद भी अंग्रेज वास्तविक सत्ता किसी भी रूप में हिन्दुस्तानियों के हाथ में सौंपने के लिए तैयार नहीं थे। अगस्त १६४० में वायसराय ने बताया कि अंग्रेजी सरकार जो अधिक से अधिक कर सकती है वह यह कि वायसराय की कार्यकारिणी में कुछ हिन्दुस्तानी सदस्यों को ले लिया जाए और एक भारतीय रक्षा-समिति की स्थापना कर दी जाए! अंग्रेजों के इस निश्चय का अहसास ज्यों-ज्यों हमें होता गया, हमारा राष्ट्रीय विक्षोभ भी बढ़ता चला।

इस भावना को संयत और प्रभावपूर्ण रूप देने के लिए गांधीजी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह का आंदोलन चलाया। गांधीजी इस सम्बन्ध में अधिक से अधिक सावधानी ले रहे थे कि युद्धके संचालन में किसी प्रकार की रुकावट न पड़े। अंग्रेजी सरकार ने गांधीजी की इस नेकनीयती को अविश्वास की दृष्टि से देखा और आन्दोलन को संयमित रखने के उनके प्रयत्न को कमजोरी का चिन्ह माना। इन्हीं दिनों दुर्भाग्यवश भारत-मन्त्री के रूप में एक ऐसा व्यक्ति ब्रिटेन की, भारत-सम्बन्धी नीति का संचालन कर रहा था जो सदा से भारतीय राष्ट्रीयता के प्रति विरोध और वैमनस्य का भाव रखता आया था। मि. एमरी ने ब्रिटेन और हिन्दुस्तान के आपसी सम्बन्धों को जितना कड़वा बनाया उतना शायद किसी दूसरे व्यक्ति ने नहीं। एमरी की राजनीति का सीधा लक्ष्य कांग्रेस और मुस्लिम-लीग के आपसी मतभेदों को बढ़ाते रहना और संसार भर में उसका प्रचार करना था। १४ अगस्त १६४० को कॉमन्स सभा के अपने एक भाषण में उन्होंने कहा, "आल्प्स पर्वत की ऊँची चोटियों की छुरी की धार जैसे संकीर्ण बर्फ पर संभल कर चल लेना अधिक आसान है, वर्तमान भारतीय राजनीति के पेचीदा और गढ़ों से भरे हुए दलदल में से बिना ठोकर खाए या किसी को नाराज किए निकल आने की तुलना में।" उन्होंने एक ओर तो मुसलमानों को जिनके बारे में उनके प्रचार का लक्ष्य था कि 'धार्मिक और सामाजिक दृष्टिकोण में, ऐतिहासिक स्मृतियों व संस्कृति में उनमें और उनके हिन्दू देशवासियों में अन्तर, अधिक नहीं तो कम से कम उतना गहरा तो है जितना यूरोप के दो राष्ट्रों में' अपनी मांगों को बढ़ाते रहने का प्रोत्साहन दिया और दूसरी ओर देशी नरेशों को कांग्रेस के प्रति संगठित करने का प्रयत्न किया। मि० एमरी के ये प्रयत्न उस समय भी चलते रहे जब इंग्लैण्ड युद्ध के सबसे बड़े संकट में से गुजर रहा था। गांधीजी ने बहुत दुःखी होकर लिखा, "संकट में प्रायः लोगों के दिल नरम पड़ जाते हैं और उनमें वस्तु-स्थिति को समझने की तत्परता आ जाती है, परन्तु ब्रिटेन के संकट का, जान पड़ता है, मि. एमेरी पर तनिक भी असर नहीं पड़ा है।"

क्रिप्स प्रस्ताव और उसकी प्रतिक्रिया

दिसम्बर १९४१ में युद्ध का एक दूसरा दौर शुरू हुआ और जापानी सेनाएँ हाँगकाँग, सिंगापुर, फिलिपीन, मलाया, बरमा आदि अंग्रेजी व अमरीकन साम्राज्यों के गढ़ एक के वाद एक और तेजी से जीतती हुई, मार्च १९४२ तक हिन्दुस्तान की अरक्षित उत्तर-पूर्वी सीमा तक आ पहुँची। तीन सदियों में धीरे धीरे फैलने वाला यूरोप का एशिया पर आधिपत्य तीन महीनों में मिटता दिखाई दिया। इन तेजी के साथ वदलती हुई परिस्थितियों में अंग्रेजी सरकार ने सर स्टैफर्ड क्रिप्स को हिन्दुस्तानी नेताओं से एक वार फिर वात करने के लिए नियुक्त किया। क्रिप्स एक वार पहिले व्यक्तिगत रूप में हिन्दुस्तान आ चुके थे और गांधीजी व दूसरे नेताओं से संपर्क स्थापित कर चुके थे, वह अपने प्रगतिशील विचारों के लिए प्रसिद्ध भी थे। इस कारण क्रिप्स की नियुक्ति पर हमारे देश में स्वभावतः ही यह धारणा फैली कि अब अंग्रेजी सरकार अपने संकट की गंभीरता को समझ गई है और हिन्दुस्तान के साथ न्याय करने का उसने निश्चय कर लिया है। क्रिप्स ने वड़े नाटकीय ढंग से अपने प्रस्तावों को देश के सामने रखा। उन्होंने घोपणा की कि हिन्दुस्तान, यदि चाहेगा तो युद्ध के वाद उसे औपनिवेशिक स्वराज्य का दर्जा फौरन मिल जाएगा और साम्राज्य से सम्वन्ध-विच्छेद का अधिकार भी उसे प्राप्त होगा। क्रिप्स ने इस वात का भी आश्वासन दिया कि युद्ध के समाप्त होते ही एक विधान-निर्मातृ-सभा का निर्माण होगा जिसमें मुख्यतः जनता के चुने हुए प्रतिनिधि होंगे और जिसके काम में अंग्रेजी सरकार किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेगी। क्रिप्स-प्रस्तावों में प्रान्तों के इस अधिकार को मान लिया गया था कि यदि वे भारतीय संघ में शामिल न होना चाहें तो वे अपनी स्वतंत्र स्थिति रख सकेंगे या, यदि वे चाहें तो, अंग्रेजी सरकार से अपना सीधा सम्वन्ध स्थापित कर सकेंगे। उनमें विधान निर्मातृ सभा के द्वारा अंग्रेजी सरकार से एक सन्धि कर लेने की वात भी थी जिसमें जातीय और धार्मिक अल्पसंख्यकों के उन विशेषाधिकारों का समावेश किया जाना था जिन्हें अंग्रेजी सरकार ने समय समय पर स्वीकार किया था।

इस प्रकार की कुछ वड़ी खरावियों के वावजूद भी भविष्य के लिए ये प्रस्ताव वुरे नहीं थे। उनकी असफलता का मुख्य कारण यह था कि उनके पीछे निकट वर्त्तमान में हिन्दुस्तानियों के हाथ में रंच मात्र भी सत्ता न सौंपने का दृढ़ निश्चय था। वर्त्तमान की दृष्टि से सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स अगस्त १९४० की

लिनलिथगो-घोषणा से तनिक भी आगे बढ़ने के लिए तैयार नहीं थे। दूसरी ओर कांग्रेस किसी ऐसे प्रस्ताव को मानने के लिए तैयार नहीं थी जिसमें वर्त्तमान के सम्बन्ध में किसी ठोस क़दम के उठाए जाने का आश्वासन न हो। कांग्रेस की कार्य-समिति ने स्पष्ट शब्दों में कहा, "आज के इस गंभीर संकट में केवल वर्त्तमान का ही महत्त्व है और भविष्य सम्बन्धी प्रस्तावों को भी हम इसी दृष्टि से महत्त्व दे सकेंगे कि वर्त्तमान पर उनका क्या प्रभाव पड़ता है।" मौ० आजाद ने अपने एक पत्र में, कांग्रेस की ओर से उनके प्रस्तावों को स्वीकार करने की असमर्थता प्रगट करते हुए लिखा "हम अब भी उत्तरदायित्व ग्रहण करने के लिए तैयार हैं बशर्ते कि एक सच्ची राष्ट्रीय सरकार का निर्माण किया जाए। हम भविष्य से सम्बन्ध रखने वाले सभी प्रश्नों को फ़िलहाल अलग रख देने के लिए तैयार हैं—परन्तु वर्त्तमान में कैबिनेट के ढंग की राष्ट्रीय सरकार की स्थापना होना चाहिए जिसके हाथ में पूरी शक्ति हो—।" इस सम्बन्ध में क्रिप्स बिलकुल भी आगे बढ़ने के लिए तैयार नहीं थे। इसके अतिरिक्त प्रस्तावों को रखने का उनका ढंग भी अनोखा था। उसमें 'स्वीकार करो या अलग हटो' की कठोर भावना काम कर रही थी। प्रस्तावों पर न तो बहस की जा सकती थी, न उनमें सुधार या संशोधन के लिए गुंजाइश रखी गई थी। "इस सबका परिणाम", जवाहरलालजी क्रिप्स-प्रस्तावों का विश्लेषण करते हुए 'डिस्कव्हरी ऑव इण्डिया' में लिखते हैं, "यह निकला कि शासन का ढांचा बिलकुल ऐसा ही रहेगा जैसा अब तक चला आ रहा था। वायसराय की स्वेच्छाचारी शक्तियाँ भी वैसी ही बनी रहेंगी और (परिवर्तन केवल यह होगा कि) हम में से कुछ को यह अवसर दिया जा सकेगा कि हम उनके बावर्दी अनुचर बन सकें और कान्टीन वगैरा की देख-भाल कर लें!" वास्तव में शाब्दिक रंगामेजी को छोड़कर १९४० के अगस्त-प्रस्ताव और १९४२ के क्रिप्स-प्रस्ताव में कोई अन्तर नहीं था। इन परिस्थितियों में हमारे द्वारा उनके स्वीकृत किए जाने का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता था। जब दिल्ली में कांग्रेस नेताओं के साथ क्रिप्स की बातचीत चल रही थी, लॉर्ड हैलीफ़ेक्स ने अमरीका में एक बयान दिया, जिसमें कांग्रेस की बड़ी भर्त्सना की गई थी, क्रिप्स-प्रस्तावों के असफ़ल होने का अनुमान था और यह कहा गया था कि वैसी दशा में अंग्रेजी सरकार अपनी पूरी ताकत के साथ हिन्दुस्तान में अपना राज्य कायम रखेगी। एक नाजुक मौके पर इस प्रकार के अवांछनीय वक्तव्य से हमारे क्षोभ का बढ़ना स्वाभाविक था। उधर सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स ने जाते-जाते और इंग्लैंड पहुंच कर भी, कुछ ऐसी बातें कहीं जिनसे हमारी भावनाओं को और भी ठेस पहुंची।

क्रिप्स-प्रस्ताव अंग्रेजी सरकार की ओर से समझौते का अन्तिम प्रस्ताव था जिसके संबंध में बडी बडी आशाएँ बाँध ली गई थीं। उसकी असफलता पर देश भर में निराशा, असंतोष और विक्षोभ की एक आंधी सी उठ खड़ी हुई। कुछ प्रखर-बुद्धि राजनीतिज्ञों ने उलझन से निकलने की वैधानिक चेष्टाएं कीं। श्री राजगोपालाचार्य ने अपनी पाकिस्तान संबधी योजना के द्वारा कुछ कांग्रेस और मुस्लिम-लीग को निकट लाने का प्रयत्न किया, परंतु क्रिप्स-प्रस्तावों के खोखलेपन ने गांधीजी के धैर्य को डिगा दिया था और उन्हें इस निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए मजबूर कर दिया था कि अब इसके अलावा कोई रास्ता नहीं रह गया था कि अंग्रेजों से साफ शब्दों में हिन्दुस्तान छोड़ने के लिए कह दिया जाए। गांधीजी को यह विश्वास होगया था कि इसमें न केवल हिन्दुस्तान का ही फायदा है परंतु इंग्लैण्ड की रक्षा का भी इसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है। किसी भी दशा में गांधीजी चुप बैठे रहने के लिये तैयार नहीं थे। इन दिनों 'हरिजन' में उन्होंने जो लेख लिखे उनसे गांधीजी के मनकी व्यथा का कुछ अन्दाजा लगाया जा सकता है। गांधीजी युद्ध के प्रयत्नों में किसी प्रकार की रुकावट डालना नहीं चाहते थे परन्तु वह यह भी जानते थे कि जब तक हमारे देश के शासन में हमारे चुने हुए प्रतिनिधियों का हाथ नहीं होगा तब तक जापानी आक्रमण के मुकाबिले में देश की जनता में किसी प्रकार के प्रतिरोध का उत्साह पैदा होना भी असंभव होगा, और क्योंकि अंग्रेजी सरकार इस प्रकार के किसी समझौते को मानने के लिए तैयार नहीं थी, उनके सामने इसके सिवाय कोई चारा नहीं रह गया था कि वह देश के विक्षोभ को अचानक भभक उठने वाली दीपशिखा के समान इतना बढ़ा दें कि या तो अंग्रेजी सरकार भारतीय राष्ट्रीयता से समझौता करने के लिए मजबूर हो जाए या विद्रोह की वे लपटें अंग्रेजी साम्राज्यवाद को ही समाप्त कर दें। इन परिस्थितियों में, गांधीजी के आदेश पर कांग्रेस ने ८ अगस्त १९४२ की रात को 'हिन्दुस्तान छोड़ो' का अपना ऐतिहासिक प्रस्ताव पास किया और ९ अगस्त की महत्वपूर्ण प्रभात-वेला में, गिरफ्तारी के समय स्वयं गांधीजी ने 'करो या मरो' के मंत्र से देश की इस नवोत्थित आत्मा को दीक्षित किया।

राष्ट्रीय उत्थान की तीसरी लहर

९ अगस्त १९४२ को नेताओं की गिरफ्तारी के बाद ही बिना किसी मार्ग-निर्देश और बिना किसी तैयारी के एक महान् जन-विद्रोह अपनी समस्त शक्ति के साथ देश भर में फैल गया। नेताओं के अभाव में जनता ने जो ठीक समझा

किया। ऐसा जान पड़ता है कि अंग्रेज़ी सरकार की योजना यह थी कि वह आन्दोलन को अहिंसा के मार्ग से हटा दे और दमन की अपनी सारी शक्ति के साथ उसका मुकाबिला करे। सरकार को अपनी हिंसा की शक्ति में पूरा विश्वास भी था। ९ अगस्त की रात को ही अपने एक ब्रॉडकास्ट भाषण में भारत-मंत्री मि० एमरी ने सूचना दी कि कांग्रेस रेल की पटरियां उखाड़ने, बिजली और तार के खंभे नष्ट करने और सरकारी इमारतों को जला देने का एक वृहत् कार्यक्रम तैयार कर रही थी। यह निश्चित था कि कांग्रेस के किसी भी ज़िम्मेदार वर्ग ने इस प्रकार के किसी कार्यक्रम की कल्पना तक न की थी। मैं समझता हूं कि भारत-मन्त्री के इस भाषण ने नेताओं की गिरफ़्तारी से क्षुब्ध भारतीय देशभक्तों को अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए एक रास्ता दिखाया। यूरोप में जर्मनी के अधिकार में जो देश आ गए थे उनमें भी प्रतिरोध की भावना इसी प्रकार के कामों में अभिव्यक्ति पा रही थी। रेल की पटरियां उखाड़ने और सरकारी इमारतों को नष्ट कर देने की घटनाएँ हम आए दिन अपने अखबारों में पढ़ा करते थे। अपने देश के लिए भी हमने उसी मार्ग पर चलना ठीक समझा। जापान के अधीनस्थ देशों में सुभाषचन्द्र बोस और जो दूसरे भारतीय नेता काम कर रहे थे उन्होंने भी हमें इसी मार्ग पर चलने का बढ़ावा दिया। इधर, कांग्रेस के वे नेता जो गांधीजी की अहिंसा में विश्वास नहीं रखते थे और जिनमें से अधिकांश कांग्रेस समाजवादी दल के सदस्य थे जेल से बच कर या जेल से भाग कर गुप्त रूप से एक देश-व्यापी विद्रोह की तैयारी में लग गए। १९४२ का महान् जन-आंदोलन जनता की विक्षुब्ध और सहज ही उमड़ आने वाली भावनाओं का परिचायक था। ९ अगस्त और ३१ दिसम्बर के बीच, सरकारी आँकड़ों के अनुसार, ६००००से अधिक व्यक्ति गिरफ़्तार किए गए। १८००० भारत-रक्षा-कानून के अन्तर्गत नियंत्रण में रखे गए और क्रमशः ९४० और १६३० पुलिस और फौज की गोलियों से मारे गए और घायल हुए। सरकारी आँकड़ों के अनुसार '४२ के आन्दोलन में कुल १०२८ व्यक्ति मारे गए और ३२०० घायल हुए पर यह देखते हुए कि जब स्वयं सरकारी विज्ञप्तियों के अनुसार ५३८ अवसरों पर गोली चलाई गई, १०००० से कम व्यक्तियों के मारे जाने का कोई भी अनुमान सही नहीं हो सकता—यों जनसाधारण में तो इस आन्दोलन में अपने प्राणों की भेंट चढ़ाने वाले व्यक्तियों की संख्या २५००० आंकी जाती है।

पर, १९४२ के आन्दोलन की व्यापकता का अन्दाज़ा हम गिरफ़्तार होने, मारे जाने या घायल किये जाने वाले लोगों की संख्या से नहीं लगा सकते। सरकारी दमन के शिकार वही लोग हुए जो सिद्धान्त अथवा परिस्थितियों के

कारण उससे बच नहीं सके। दूसरे लोगों ने, सत्य और अहिंसा को एक ओर रख कर गुप्त ढंग से विदेशी शासन के खिलाफ़ अधिक से अधिक घृणा और विद्रोह की भावना का प्रचार किया। कई स्थानों पर, विशेष कर बिहार बंगाल के मिदनापुर जिले, युक्तप्रान्त के बलिया आदि दक्षिण-पूर्वी जिलों में विदेशी शासन चकनाचूर कर दिया और राष्ट्रीय शासन की स्थापना की गई। महाराष्ट्र के कई भागों में भी यही हुआ। १९४२ के आन्दोलन की विशेषता यह थी कि मुस्लिम-लीग को छोड़ कर देश की सभी राजनैतिक संस्थाओं के कार्यकर्त्ता प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उसमें सहयोग दे रहे थे — यह कांग्रेस का आन्दोलन नहीं रह गया था जन साधारण का आन्दोलन बन गया था—और देशी राज्यों में भी वह उतनी ही तेजी से फैला जितना ब्रिटिश भारत में। प्रजामण्डलों और दूसरी रियासती संस्थाओं ने अंग्रेजी शासन से संबंध-विच्छेद और उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिए सत्याग्रह आदि का सहारा लिया। आन्दोलन जिस वेग से उठा था उसने तो सचमुच ही अंग्रेजी राज्य की स्थिति को खतरे में डाल दिया था। बहुत से लोगों का विश्वास था कि उसका विरोध एक या दो सप्ताह से अधिक नहीं चल सकेगा। प्रारंभिक दिनों में देश भर में जो उत्साह, आवेश और विक्षोभ दिखाई दे रहा था उससे यह अनुमान होता था कि धीरे-धीरे सभी समुदाय, सम्प्रदाय वर्ग और श्रेणियों में यह भावना फैल जायगी और एक बड़े सामूहिक विस्फोट के रूप में उसकी अन्तिम अभिव्यक्ति होगी। उधर, हमें यह भी विश्वास था कि अन्तर्राष्ट्रीय लोकमत भी अधिक दिनों तक अंग्रेजी सरकार को दमन का सहारा लेकर हमारी राष्ट्रीय भावनाओं को कुचलते रहने नहीं देगा। परन्तु बड़े साहस और बड़ी दुष्टता के साथ अंग्रेजी सरकार ने एक ओर तो अपना समस्त पाशविक बल आंदोलन को कुचलने में लगा दिया और दूसरी ओर संसार में इस बात का प्रचार किया कि महात्मा गांधी और कांग्रेस देश को जापान और अन्य धुरी राष्ट्रों के हाथ में बेच देना चाहते हैं। इस बार जेल में हमारे बड़े से बड़े नेताओं के साथ भी बहुत ही घृणित व्यवहार किया गया। महादेव देसाई की मृत्यु, कस्तूरबा के अस्वास्थ्य और देहावसान और स्वयं महात्मा गांधी के फ़रवरी १९४३ के उपवास के दिनों में सरकार का जो रवैया रहा बर्बरता की दृष्टि से संसार के इतिहास में बहुत कम उदाहरण इस प्रकार के मिलेंगे। उधर, संसार में गांधीजी और कांग्रेस के खिलाफ जो प्रचार किया जा रहा था उसका प्रभाव भी पड़ रहा था, और सभी प्रमुख नेताओं के जेल में होने के कारण उसका कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया जा रहा था। इन परि-स्थितियों में राष्ट्रीय आन्दोलन के वेग का धीमा पड़ जाना स्वाभाविक था,

पर ज्यों-ज्यों आन्दोलन को कुचलने के लिए अंग्रेजी शासन ने अधिक नृशंस साधनों का उपयोग किया, उसके प्रति विद्रोह की भावना प्रभाव-पूर्ण न होते हुए भी अधिक से अधिक व्यापक होती गई—यों तो १६४२ में ही राष्ट्रीयता की भावना इतनी फैल चुकी थी और समाज के सभी वर्गों में अंग्रेजी राज्य को उलट देने की बेचैनी और तत्परता इतनी तीव्र हो गई थी कि यदि हिंसा और अहिंसा के भेद को भुला कर कोई कुशल नेता इन सब भावनाओं को एक महान् जन-आन्दोलन में संगठित करना चाहता तो १८५७ के गदर से कई गुना बड़े परिमाण पर उसका संगठन हो सकता था, और अंग्रेजी राज्य को उसके समस्त साहस और दुःसाहस, चतुरता और कठोरता के बावजूद भी उसके सामने झुकने पर मजबूर होना पड़ता। ऐसे नेतृत्व के अभाव में आन्दोलन जितने दिनों और जैसे वेग से चल सकता था चला। साथी राष्ट्रों ने हमारे पक्ष में कुछ हाथ पैर पटके—उस समय तो इसके सम्बन्ध में हमें कुछ भी पता नहीं चला—पर इंग्लेण्ड के रवैये की सख़्ती को देखते हुए वे लोग भी चुप होकर बैठ गए थे। उधर, लड़ाई का दौर भी पलट चुका था। मित्र-राष्ट्रों की सेनाएँ आगे बढ़ती जा रही थीं और इटली, जर्मनी और जापान के साम्राज्य क्रमशः टूटते और बिखरते जा रहे थे। अंग्रेजी सामाज्यवाद के पीछे संसार की दो महानतम शक्तियों का बल था। ऐसे वातावरण में अनुकूल परिस्थितियों की प्रतीक्षा में बैठे रहने के अतिरिक्त हमारे पास दूसरा उपाय भी क्या रह गया था? परंतु निराशा की भावना का यह अर्थ नहीं था कि राष्ट्रीयता का तीखापन कुछ कम हो गया था। राष्ट्रीयता का मुख्य आधार, अंग्रेजी साम्राज्यवाद के प्रति घृणा और स्वाधीनता की लगन दिनों दिन अधिक व्यापक होते जा रहे थे।

१६४५-४६ की क्रान्तिः राजनीति की बदली हुई दिशा

मई १६४५ में, इन सब परिस्थियों को ध्यान में रखते हुए, मैंने लिखा था "राजनीति में निराशा का कोई स्थान नहीं है। यह मान लेना कि अंग्रेज़ सत्ता छोड़ने के लिए कभी तैयार नहीं होंगे एक असम्भव कल्पना को प्रश्रय देना है। अंग्रेजों के हाथ से सत्ता पहिले भी हटी है, आज भी हट सकती है, भविष्य में हटेगी भी। सच तो यह है कि कुछ विशेष परिस्थियों ने सत्ता को उनके हाथ में सौंपा और उन्हीं परिस्थितियों का उल्टा चक्र उन्हें सत्ता छोड़ने को बाध्य भी कर सकता है।" * राजनैतिक गत्यावरोध को सुलझाने के लिए

* हमारी राजनैतिक समस्याएँ, पृष्ठ ११०

मई १९४५ में भूलाभाई देसाई और लियाकतअली खां में एक समझौता हुआ जिसे लेकर लार्ड वेवल मन्त्रि-मण्डल से सलाह लेने के लिए इंग्लैण्ड गए और वहां से लौट कर उन्होंने शिमला-कान्फ्रेन्स का आयोजन किया। समझौते का यह प्रयत्न सफल नहीं हो सका, पर इससे यह स्पष्ट हो गया कि भारतीय राष्ट्रीयता के बढ़ते हुए वेग से समझौता करने के लिए अंग्रेजी सरकार को मजबूर होना पड़ेगा। उन्हीं दिनों इंग्लैण्ड में नए चुनाव हुए जिनके परिणाम-स्वरूप चर्चिल की अनुदार सरकार के स्थान पर मजदूर दल के हाथ में शासन की बागडोर आई। मजदूर दल के शक्ति में आने के कुछ ही दिनों के बाद एक ऐसी घटना हुई जिससे भारतीय राष्ट्रीयता की बढ़ती हुई शक्ति का परिचय एक बार फिर संसार को मिला। यह घटना दिल्ली के लाल किले में आज़ाद हिन्द फ़ौज के तीन नेताओं का, जिनमें एक मुसलमान, एक हिन्दू और एक सिख थे, मुक़दमा था। इस मुक़दमे का नाटक एक ऐसे समय में रचा गया जब देश में चुनाव हो रहे थे। संयोग से मिल जाने वाली इन दोनों बातों ने देश के वातावरण में एक विचित्र कंपन, स्फूर्त्ति और उत्साह भर दिया। आज़ाद हिंद फौज के वीरता-पूर्ण कार्यों की घर घर में चर्चा होने लगी। सुभाषबोस के व्यक्तित्व के प्रति हमारे मन में अचानक श्रद्धा और ममत्व की एक अनोखी भावना का उदय हुआ और हिन्दू और मुसल्मानों में भाई चारे का जोश एक बार फिर उमड़ पड़ा।

यह राष्ट्रीय उत्साह जब अपने पूरे ज़ोर पर था तब ही अंग्रेज़ी पार्लमेण्ट के एक शिष्ट-मंडल ने हिन्दुस्तान का दौरा किया। इस उत्साह की उन पर भी गहरी प्रतिक्रिया हुई। १९४५ के अन्तिम और १९४६ के प्रारंभिक महीनों में कलकत्ता, बम्बई और दूसरे शहरों में हिन्दू और मुसल्मान मिल कर कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों के झंडे एक साथ लेकर निकलते थे और 'हिन्दू-मुस्लिम एक हो', 'अंग्रेजी साम्राज्यवाद का नाश हो', 'जय हिन्द' और 'इन्किलाब जिन्दाबाद' के नारों से आकाश को गुंज़ा देते थे। राष्ट्रीयता की यह भावना नागरिकों तक ही सीमित नहीं थी, सेना में भी फ़ैलती जा रही थी। फ़र्वरी १९४६ में सरकारी जहाज़ी बेड़े के नाविकों ने विद्रोह की घोषणा की और यह खुली बग़ावत धीरे धीरे बम्बई, करांची और मद्रास आदि सभी स्थानों में फैल गई, विद्रोह आरम्भ होने के चौबीस घन्टों के भीतर बम्बई और उसके आसपास के नगरों के २०००० नाविकों और बन्दरगाह के बीस जहाजों में उसकी लपटें फैल चुकी थीं। इन लोगों ने जहाजों के मस्तूलों पर से यूनियन जैक को हटा कर कांग्रेस और लीग के झंडे को साथ साथ लहराया। अंग्रेजी सरकार ने अपनी पूरी शक्ति से इस विद्रोह को

कुचलने का प्रयत्न किया। कई स्थानों पर पुलिस और फ़ौज के दस्तों ने बागियों की फौज पर गोली चलाई, परन्तु विद्रोह की आग दबाई न जा सकी। यह भी स्पष्ट था कि जनता पूरी तौर से विद्रोहियों का साथ दे रही थी। २३ फ़र्वरी को सरदार वल्लभभाई पटेल की मध्यस्थता के फलस्वरूप इस विद्रोह की समाप्ति हुई, पर यह बात अब बिल्कुल स्पष्ट हो गई थी — यदि अब भी किसी को इसमें सन्देह था—कि भारतीय समाज का कोई वर्ग ऐसा नहीं रह गया था जो अंग्रेजी राज्य का साथ देने के लिए तैयार हो।

जिन दिनों नाविकों का यह विद्रोह चल रहा था उन्हीं दिनों ब्रिटेन के प्रधान-मन्त्री ने, भारतीय राजनैतिक गुत्थी को अन्तिम रूप से सुलझाने के इरादे से, केबिनेट के प्रमुख मंत्रियों का एक मिशन हिन्दुस्तान भेजने की घोषणा की। १५ मार्च १९४६ को प्रधान मंत्री ने अपने एक ऐतिहासिक वक्तव्य में बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा—"हिन्दुस्तान को अपना भावी विधान और संसार में अपनी स्थिति स्वयं निश्चित करने का अधिकार होना चाहिये। मैं आशा करता हूँ कि हिन्दुस्तान अंग्रेजी कॉमनवेल्थ में रहने का निश्चय करेगा...... परन्तु इसके विपरीत यदि वह पूर्ण स्वाधीनता चाहेगा, और हमारी सम्मति में उसे ऐसा करने का भी पूरा अधिकार है, तो हमारा कर्त्तव्य यह होगा कि हम परिवर्त्तन के इस कार्य को अधिक से अधिक सरल और सुगम बनाने का प्रयत्न करें।" मार्च १९४६ में केब्रिनेट मिशन हिन्दुस्तान पहुँचा और, विभिन्न राजनैतिक दलों के साथ लम्बी बातचीत के बाद, १६ मई १९४७ को उसने एक निश्चित योजना देश के सामने रखी, जिसे उस समय तो कांग्रेस और लीग दोनों ने, कुछ बातों से अपना मतभेद बताते हुए स्वीकार कर लिया। जैसा कि केन्द्रीय धारा-सभा के यूरोपियन दल के नेता, मि० ग्रिफिथ्स ने अपने एक भाषण में कहा, "अंग्रेजी केबिनेट मिशन के आने के पहिले हिन्दुस्तान, बहुत से लोगों की राय में, एक क्रांति के किनारे पर था।" केबिनेट मिशन योजना ने इस क्रांति को स्थगित करने की दिशा में बहुत बड़ा काम किया।

इसके बाद की घटनाओं का सम्बन्ध राष्ट्रीयता से अधिक सांप्रदायिकता से है, और उनका जिक्र दूसरे स्थान पर आएगा, पर जून १९४७ तक अंग्रेज शासक इस बात को बिल्कुल स्पष्ट रूप से समझ गए थे कि भारतीय राष्ट्रीयता अब इतनी बड़ी शक्ति बन गई है कि उसे कुचला नहीं जा सकता और देश की पूर्ण स्वाधीनता से कम किसी भी शर्त्त पर उसे समझौता करने के लिए विवश भी नहीं किया जा सकता। एक जाति को दूसरी जाति, एक वर्ग को दूसरे वर्ग और एक सम्प्रदाय को दूसरे सम्प्रदाय के खिलाफ़ खड़े किए जाने के प्रयत्नों में उन्हें अब तक जो सफलता मिली उसके आधार पर अब वे भविष्य में भी

अपना साम्राज्य चला नहीं सकते थे। उनकी इस नीति का पूरी तौर से पर्दा फ़ाश हो चुका था। अब उन्होंने यह देख लिया था कि सरकारी नौकरो और फ़ौज और पुलिस की मदद से भी वे चालीस करोड़ की आबादी वाले और जीवन के हर क्षेत्र में तेज़ी से आगे बढ़ते जाने वाले इस महान् देश की राष्ट्रीय भावनाओं को कुचल नहीं सकेंगे। मजदूर दल के व्यवहार-कुशल नेताओं ने यह भी देख लिया कि भारतीय राष्ट्रीयता को यदि उन्होंने एक बार फिर चुनौती दी और प्रतिरोध के लिए विवश किया तो वे अपने क्षीण होते जाने वाले आर्थिक साधनों और ढहते हुए साम्राज्य की समस्त शक्ति लगाकर भी उसे दबा नहीं सकेंगे। उनके सामने यह स्पष्ट हो गया था कि भारतीय राष्ट्रीयता के साथ समझौता कर लेने के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग उनके पास रह नहीं गया था। अपनी तीक्ष्ण राजनैतिक बुद्धि से वे यह भी देख सकते थे कि यदि और कुछ दिनों तक कांग्रेस और मुस्लिम-लीग आपस में समझौता नहीं कर लेती हैं तो जन-साधारण की आज़ादी की तड़प अपने लिए एक अलग स्वतन्त्र मार्ग बना लेगी और एक प्रबल तूफान या वेग से उमड़ उठने वाली बाढ़ के समान साम्प्रदायिक नेतृत्व को जड़ मूल से उखाड़ती हुई देश भर में एक ऐसा बड़ा आन्दोलन खड़ा कर देगी जिसमें अंग्रेज़ों के किसी प्रकार के स्वार्थों के लिए कहीं स्थान नहीं रह जाएगा, और स्वतन्त्र, सार्वभौम, स्वयं-सम्पूर्ण और अपने व्यक्तित्व के अणु-अणु में अपनी अदम्य शक्ति का असीम आत्म-विश्वास लिए एक ऐसे सशक्त राष्ट्र का जन्म इस देश में होगा जो हर वस्तु को राष्ट्रीय हितों की कसौटी पर परखेगा और हर क़दम अपनी शक्ति को बढ़ाने की दिशा में ही उठाएगा। पुराने ढंग का साम्राज्यवाद, जिसकी राज-नैतिक प्रतिष्ठा भी अब तो संदिग्ध हो गई थी और जिसका आर्थिक बोझा उठाने की स्थिति में अब ब्रिटेन नहीं रह गया था, उनकी दृष्टि में अब अपनी उपयोगिता खो चुका था। उन्होंने देखा कि यदि वे अभी समझौता कर लेते हैं तो एक ओर तो वे राष्ट्र की इन क्रान्तिकारी शक्तियों को आगे बढ़ने से रोक देंगे और दूसरी ओर साम्प्रदायिक विद्वेष की उस अग्नि को भी प्रज्वलित रख सकेंगे जिसके जलते रहने में अब भी अंग्रेज़ों का स्वार्थ है। समझौते के द्वारा हिन्दुस्तान को आज़ादी देने के ऐसे बहु-मूल्य अवसर को वे छोड़ नहीं सकते थे।

: ३ :

पाकिस्तान का मनोविज्ञान

मुसलमानों की राष्ट्रीयता

राष्ट्रीयता की दृष्टि से हिन्दुस्तान के मुसलमानों को हर्गिज़ एक अलग राष्ट्र नहीं माना जा सकता। उनमें से अधिकांशतः, सम्भवतः ६० या ६५ फी सदी ऐसे हैं जो सदियों से हिन्दुस्तान में रहते आए हैं और जिनके पुरखे हिन्दू धर्म को मानने वाले थे। इनमें भी बहुत बड़ा अंश उन लोगों का है जिन्होंने पिछली चार या पांच पीढ़ियों में ही अपना धर्म परिवर्तित किया है। विशेषज्ञों का तो यह भी कहना है कि मुगल साम्राज्य के पतन तक मुसलमानों की संख्या १ करोड़ से ज्यादा नहीं थी और आज जो यह संख्या नौ करोड़ से अधिक पहुँच गई है वह बीच के अराजकता के समय और अंग्रेज़ी शासन के प्रारंभिक वर्षों में बढ़ी है। जाति की दृष्टि से भारतीय मुसलमानों के स्नायुओं में भी वही रक्त प्रवाहित होता है जो देश के दूसरे रहने वालों के और उनमें और अरब और ईरान आदि देशों के रहने वाले मुसलमानों में कोई समानता नहीं है। भाषा की दृष्टि से देखा जाए तो हमें ज्ञात होगा कि भारतीय मुसलमानों की अपनी कोई अलग भाषा नहीं है। इसका एक बड़ा भाग फ़ारसी और अरबी शब्दों का प्रयोग करता है और उर्दू भाषा का व्यवहार अपने दैनिक जीवन में करता है, पर उत्तरी भारत के हिन्दू भी प्रायः फ़ारसी और अरबी का अध्ययन करते रहे हैं और उर्दू उनके दैनिक व्यवहार की भाषा रही है। सच तो यह है कि उर्दू कोई अलग भाषा नहीं है, हिन्दी का ही वह रूप है जिसमें फ़ारसी और अरबी शब्दों का अधिक प्रयोग होता है और जिसकी लिखावट फ़ारसी लिपि में होती है। सामान्य आर्थिक स्वार्थों की दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार करें तो हम देखेंगे कि एक हिन्दू ज़मींदार और एक हिन्दू किसान के स्वार्थों में अधिक अन्तर है एक हिन्दू किसान और एक मुसलमान किसान की तुलना में। समाज में जो आज वर्ग-संघर्ष चल रहा है वह हिन्दू और मुसलमान के भेद के परे की वस्तु है। भौगोलिक दृष्टि से भी हम हिन्दू

और मुसल्मानों को देश के विभिन्न भागों में वँटा हुआ नहीं पाते यह सच है कि सीमाप्रांत और सिन्ध में व पंजाव और वंगाल के कुछ भागों में मुसलमान वहु संख्या में हैं, परन्तु वहां भी गैर-मुसलमानों की आवादी वहुत काफ़ी रह रही है और देश के शेप भाग में, प्रत्येक नगर और गांव में, हिन्दू और मुसलमान साथ साथ रहते हैं। भापा, वेशभूपा, आचार और विचार, दृष्टिकोण और मनोवृत्ति में हमें विभिन्न प्रान्तों के रहने वालों में वड़ा अन्तर दिखाई देता है। लम्वे कद्दावर, तन्दुरुस्त और गौरवर्ण पठान और पंजावियों की तुलना हम मद्रास, उड़ीसा या आसाम के दुवले पतले, ठिगने, कमजोर और सांवले व्यक्तियों से नहीं कर सकते; गुजराती और वंगाली में हम वड़ा अन्तर पाते हैं; विहार के रहने वालों और मराठों में हमें वड़ा अन्तर दिखाई देता है; पर वंगाल में रहने वाले मुसलमान भी वही धोती कुरता पहिनते हैं और उसी संस्कृतमयी भापा का प्रयोग करते हैं जो वंगाल में रहने वाले हिन्दुओं का पहिरावा और भापा है। उसी प्रकार शक्ल-सूरत, पहिरावे और वातचीत में पंजावी हिन्दू और मुसलमान में हमें विशेप भेद दिखाई नहीं देता। सच तो यह है कि केवल धर्म ही एक ऐसी वस्तु है जो हिंदुस्तान के मुसल्मानों को अन्य लोगों से अलहदा करता है और केवल धर्म का आधार लेकर किसी राष्ट्र के वनने की कल्पना इतिहास में अभी तक नहीं की गई थी। यदि केवल धर्म को राष्ट्रीयता का आधार माना जाता तव तो युरोप में ६८ राष्ट्रों के वदले केवल एक ईसाई राष्ट्र होता और मोरक्को से चीनी तुर्किस्तान तक फैले हुए मुसलमान लग भग एक दर्जन से अधिक राष्ट्रों में वँटे हुए दिखाई नहीं देते।

दो महान संस्कृतियों का संपर्क

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि मुसल्मानों के हिन्दुस्तान में आने के कुछ दिनों के वाद ही हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों में समन्वय की स्थापना होने लगी थी। दो जीवित जागृत और उन्नतिशील संस्कृतियां कई शताब्दियों तक एक दूसरे के निकट संपर्क में रह कर एक दूसरे को प्रभावित किए विना नहीं रह सकती थीं। आज हम जिस संस्कृति को भारतीय के नाम से जानते हैं उस पर इस्लाम का वहुत गहरा प्रभाव है। हमारे भाषा और साहित्य, वेश-भूपा और रहन-सहन, आचार-विचार और रीति रिवाज सभी पर इस्लाम का वहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। हमारे धर्म सिद्धान्तों पर भी इस्लाम की प्रतिक्रिया हम निश्चित रूप से देख सकते हैं। १५ वीं और १६ वीं शताव्दी में भक्ति-आंदोलन की जो उत्ताल तरंगें हमारे देश के एक कोने से दूसरे कोने तक फैलती

चली गई उन पर तो सूफ़ीमत का स्पष्ट प्रभाव है ही। वास्तुकला के क्षेत्र में इस्लामी कल्पना की भव्यता और इस्लामी कारीगरी की सादगी की स्पष्ट छाप हमारी मध्यकालीन इमारतों पर है। मुग़ल और राजपूत चित्रकला में जहां एक ओर अजन्ता की पद्धति का निकास है वहां दूसरी ओर समरकन्द, बुखारा, और इस्पहान का रंगों का चुनाव, रेखा की सम्वेदनशीलता और व्यक्तियों के चित्रण में विशेष निपुणता भी हम पाते हैं। भाषा की दृष्टि से देखें तो हमारी समस्त आधुनिक भाषाएं मुस्लिम-काल की देन हैं। हिन्दी तो फ़ारसी और ब्रजभाषा के मिश्रण का ही फल है। बंगला के विकास सम्बन्ध में स्व० दिनेशचन्द सेन का मत है कि यदि बंगाल के सुल्तानों का आश्रय उसे न मिला होता तो उसकी उन्नति सम्भव नहीं थी। मराठी भाषा का विकास दक्षिण के बहमनी शासकों के प्रश्रय में हुआ। यही हाल अन्य प्रांतीय भाषाओं का भी है। हमारे साहित्य के निर्माण में भी मुसलमानों का बहुत बड़ा हाथ रहा है। हिंदी साहित्य के तो तीन सबसे बड़े लेखकों में हम मलिक मोहम्मद जायसी का नाम पाते हैं, अमीर खुसरो, अब्दुल रहीम खानखाना, रसखान आदि मुसलमान लेखकों ने भी हिन्दी-साहित्य को धनी बनाया है। जहां एक ओर भारतीय धर्म और संस्कृति के विकास पर इस्लाम का स्पष्ट प्रभाव पड़ रहा था, इस देश में विकास पाने वाली मुस्लिम संस्कृति पर भी हिन्दू सभ्यता का प्रभाव कम गहरा नहीं था। हिन्दुस्तान के मुस्लिम समाज पर हिन्दुओं के आचार-विचार और रीति-रिवाजों का प्रभाव पड़ना बिल्कुल स्वाभाविक ही था। मुस्लिम शासकों के द्वारा हिन्दू उत्सवों में भाग लेने और मुसलमान जनता के द्वारा हिन्दू देवी देवताओं में आस्था के अनेकों उदाहरण भी पाए जाते हैं। सच तो यह है कि अपने सात आठ सौ वर्षों के शासन-काल में मुसलमानों ने अपने आपको इस देश के जीवन से बिलकुल घुला-मिला लिया था। मौ० आज़ाद के शब्दों में, "मैं एक मुसलमान हूँ तथा इसका मुझे गर्व भी है। इस्लाम को तेरह सौ वर्ष की परम्परा का मैं अधिकारी हूँ। —— इस्लाम की शिक्षा तथा इतिहास, इसकी कला, साहित्य तथा सभ्यता मेरी सम्पत्ति तथा धन है। —— (साथ ही) मुझे भारतीय होने का अभिमान है। मैं अभेद्य अखंडता का, जिसे भारतीय राष्ट्र कहते हैं, एक अंश मात्र हूँ। —— मैं एक विशेष तत्त्व हूँ जिसने भारत को बनाया है। ——प्रत्येक वस्तु पर हमारे सबके प्रयत्न की मुहर है—।" * मुस्लिम संस्कृति के प्रभाव में आने से हिन्दुस्तान ने कुछ खोया नहीं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वह आगे ही बढ़ सका, और इसी प्रकार मुसलमानों ने भी

---

* रामगढ़ कांग्रेस का व्याख्यान, १-३-१९४०

हिन्दू संस्कृति के प्रभाव ने कला और साहित्य के ऊँचे से ऊँचे शिखरों का स्पर्श किया। एक दूसरे के सम्पर्क से इन दोनों प्राचीन संस्कृतियों में नये प्राणों का संचार हुआ और एक नए जीवन की चेतना लहरा उठी।

एक दूसरे में घुल मिल जाने की असमर्थता

पर, इसके साथ ही एक बात स्पष्ट है जिस पर हमने अभी तक काफी ध्यान नहीं दिया है। हिन्दू और मुसलमान संस्कृतियाँ एक दूसरे पर बहुत अधिक प्रभाव डालते हुए भी एक दूसरे में घुल मिल न सकीं—इन दोनों के सम्मिश्रण से किसी एक नई संस्कृति का जन्म नहीं हो सका। हिन्दू और मुसलिम समाजों में विभेद की एक रेखा बनी रही जो कभी संकीर्ण होने लगती थी और कभी फैल जाती थी। यह बात हिन्दू और मुसलिम दोनों ही संस्कृतियों के लिए नई और अप्रत्याशित थी। मुसल्मानों के पहिले जितनी भी विदेशी संस्कृतियां हमारे देश में आई थीं उन सबको हम अपने जीवन में आसानी से समाविष्ट कर सके थे और वे सब हमारी संस्कृति का अविच्छिन्न और अविभाज्य अंग बन गई थीं। दूसरी ओर मुसलिम संस्कृति के लिए भी यह एक नया अनुभव था कि वह किसी देश के राजनैतिक जीवन पर संपूर्ण आधिपत्य जमा लेने के बाद भी वहां के धार्मिक और सामाजिक जीवन को अपने सांचे में ढालने के काम में बिल्कुल ही असफल रही हो। इसके कारणों का विश्लेषण किया जा सकता है। एक ओर तो जब मुसलमान इस देश में आए तब तक हमारी पाचन-शक्ति बहुत कम हो गई थी। हमारा समाज वर्ण और जातियों के भेदों में बँटा हुआ था। हमारे धर्म ने अंधविश्वास और रूढ़िप्रियता का रूप ले लिया था और हमारे आचार भ्रष्ट हो चुके थे। मुसल्मानों के संपर्क से हिन्दू समाज को एक नई प्रेरणा तो मिली, पर वह अपनी धार्मिक और सामाजिक मर्यादाओं को तोड़ नहीं सका। मुसल्मानों ने अपने प्रारंभिक आक्रमणों में जिस बर्बरता और धर्मांधता का परिचय दिया उसकी प्रतिक्रिया भी हिन्दुओं के मन पर अच्छी नहीं हुई। राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुओं के सामने आत्म-समर्पण के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं था, पर धार्मिक और सामाजिक जीवन में उन्होंने अपने चारों ओर ऐसी मजबूत चहार दीवारी बना ली जिसमें मुसल्मानों के लिए प्रवेश पाना असंभव हो गया। दूसरी ओर, मुसलमान अपनी बर्बरता, कट्टरता, धर्मांधता का जैसा वातावरण लाए थे और राजनैतिक दृष्टि से विजयी बन जाने से शासक का जो गर्व उनमें आ गया था उसे देखते हुए मुसलमानों का भारतीय संस्कृति में अपने आपको खो देना सम्भव नहीं था। इसके अलावा

एक लम्बे अर्से तक हिन्दुस्तान में मुसलमानों की संख्या इतनी कम थी और महासागर में दूर दूर तक छितरे हुए छोटे छोटे द्वीपों के समान उनके राजनैतिक केन्द्र इतने असंगठित, अव्यवस्थित और खतरे की स्थिति में थे कि इन अल्प-संख्यक मुसल्मानों के उलमा, अमीर और जन-साधारण आदि सभी वर्गों के लिए एक दूसरे से मिल जुलकर रहना अनिवार्य हो गया।

पर, कारण कुछ भी रहे हों यह निश्चित है कि हिन्दू और मुसलिम संस्कृतियां एक दूसरे के बहुत नजदीक आ जाने और एक दूसरे पर बहुत अधिक प्रभाव डाल सकने के बाद भी मिल कर एक सामान्य संस्कृति का रूप नहीं ले सकीं। राजनैतिक दृष्टि से हिन्दू और मुसलमान का भेद थोड़े दिनों के बाद ही मिट गया। एक मुसल्मान शासक एक हिन्दू शासक का साथ लेकर आसानी से एक मुसल्मान शासक के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर सकता था और इसी प्रकार एक हिन्दू राजा के नेतृत्व में मुसल्मान सेना को किसी दूसरे मुसल्मान शासक की सेना से युद्ध करने में भी संकोच नहीं होता था। पर धर्म का अन्तर तो बहुत गहरा था ही। हिन्दू और मुसल्मानों के सामाजिक रीति रिवाज़ भी एक दूसरे से बहुत कुछ भिन्न रहे। दोनों समाजों को मिलाने का कबीर, दादू, नानक आदि संतों और कवियों का प्रयत्न अधिक सफल नहीं हो सका। भक्ति-आंदोलन की प्रमुख, रामाश्रयी धारा हिन्दू-समाज के संगठन की ओर मुड़ गई और अप्रत्यक्ष परिणाम यह हुआ कि देश में स्थान-स्थान पर हिन्दू राज्य स्थापित करने का प्रयत्न होने लगा। पंजाब में सिख, दक्षिण में मराठे और मध्यभारत में राजपूत और बुँदेले हिंदू धर्म को आधार बना कर राजनीति के जीर्णोद्धार के काम में जुट पड़े। इसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया यह हुई कि मुगल शासकों में भी एक दल ऐसा बन गया और सशक्त होता गया जो मुग़ल-राज्य को एक कट्टर इस्लामी राज्य की शक्ल देना चाहता था। औरंगज़ेब ने लगभग आधी शताब्दी तक इस दल का सफल नेतृत्व किया पर उसकी मृत्यु के बाद उदार प्रवृत्तियाँ फ़िर प्रबल हो गई। मुग़ल साम्राज्य ने एक बार फिर हिन्दुओं का समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न किया और हिन्दू भी इस अस्थाई कट्टरता को भूल कर मुग़ल-राज वंश के प्रति वफ़ादार बने। यह कहना गलत है कि मराठों ने हिन्दुस्तान से मुसलमानों का राज्य हटा कर हिन्दुओं का राज्य क़ायम करना चाहा। अपनी शक्ति के चरम-शिखर पर भी मराठे शासक अपने को मुग़ल सम्राट् का प्रतिनिधि मानते रहे और १८५७ के गदर में जिसका नेतृत्व अधिकांश हिन्दू राजाओं और ज़मींदारों के हाथ में था, हिन्दुओं ने मुग़लों के वंशज बहादुरशाह को हिन्दुस्तान का बादशाह बनाने की घोषणा की।

अंग्रेजी शासन की भेद भाव बढ़ाने की नीति

अंग्रेजों को हिन्दुस्तान में अपना राज्य स्थापित करने के काम में सबसे करारा मुक़ाबिला मुसलमान शासकों की ओर से मिला। दक्षिण में अर्काट के नवाब और मैसूर के सुल्तान, हैदरअली और टीपू, ने उसकी शक्ति को बढ़ने से रोकने का अथक प्रयत्न किया और बंगाल में भी वहां के मुस्लिम शासकों से ही उन्हें लोहा लेना पड़ा। देश में अंग्रेजी राज्य स्थापित हो जाने के बाद उस की स्वाभाविक नीति यह बनी कि वह मुसलमानों के खिलाफ़ हिन्दुओं का समर्थन करे। हिन्दू संस्कृति को उसने बढ़ावा दिया और हिन्दू समाज सुधार के काम में उसने दिलचस्पी ली "मुसलमानों के प्रति अंग्रेज़ों के मन में एक लम्बे अर्से तक काफ़ी गहरा अविश्वास रहा। १८५७ के ग़दर के सम्बन्ध में भी उनकी यही धारणा थी कि उसमें मुसलमानों का हाथ ही ज्यादा था। ग़दर के बाद मुसलमानों के प्रति अंग्रेजी शासन की नीति और भी सख्त हो गई। मुस- ल्मानों के प्रति अंग्रेजी शासन की नीति और भी सख्त हो गई। मुसलमान अब तक अपने राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक पतन से ऊब उठे थे और हिंदुओं की देखा देखी उन्होंने भी धार्मिक और सामाजिक सुधारों के लिए प्रयत्न प्रारंभ कर दिए थे। मुस्लिम समाज में कई आन्दोलन ऐसे प्रारंभ हो गए थे जिनका उद्देश्य धार्मिक रूढ़ियों और सामाजिक कुरीतियों को मिटाकर मुसलमानों को कुरान शरीफ़ की शिक्षाओं और पैगम्बर साहिब व प्रारम्भिक ख़लीफ़ाओं के आदर्शों की ओर ले जाने का था। ये प्रवृत्तियां अंग्रेज़ी शासन के भी खिलाफ़ थीं, पर धीरे धीरे मुसलमान नेताओं को यह विश्वास होता गया, और गदर के बाद अंग्रेज़ों ने मुसलमानों के प्रति जिस सख्त नीति पर अमल किया उससे इस विश्वास को और भी पुष्टि मिली कि मुस्लिम समाज अब इस स्थिति में नहीं रह गया था कि वह अंग्रेजी शासन का विरोध बर्दाश्त कर सके और धर्म और समाज सुधार के आन्दोलनों को सफलता से चलाने के लिए भी उन्हें अंग्रेजी शासकों की सद्भावना प्राप्त करना आवश्यक होगा। सर सैयद अहमद इस विचार-धारा के अग्रगामी थे। उधर, हिन्दू समाज अंग्रेजी शासकों पर निर्भर रहने की स्थिति से आगे बढ़ चुका था और उसके मध्यवर्ग में राष्ट्रीयता की भावना व अपने आर्थिक और जातीय स्वार्थों की रक्षा के लिए अंग्रेज़ी शासन से टक्कर लेने की मनोवृत्ति बढ़ती जा रही थी। परिस्थियों के इस परिवर्त्तन का परिणाम यह हुआ कि अंग्रेज़ों ने हिन्दुओं का समर्थन करने की नीति का परित्याग करके पिछड़े हुए मुस्लिम समाज को, जो इस समय उनकी

कृपा का भिक्षु बना हुआ था, अपने प्रश्रय में लिया। ज्यों ज्यों हिन्दुओं में राष्ट्रीयता की भावना का विकास होता रहा, और इस विकास को एक से एक बड़े आंदोलन में अभिव्यक्ति मिलती गई, अंग्रेज़ी शासन मुस्लिम-समाज के प्रतिक्रियावादी तत्वों को पालता पोसता और बढ़ावा देता रहा।

बीसवीं शताब्दी का प्रारम्भ होते होते मुसल्मानों को राष्ट्रीयता के ख़िलाफ़ संगठित करने की अंग्रेजी शासन की नीति अपनी चरम सीमा पर जा पहुँची। बंगाल के दो टुकड़े करने के पीछे अंग्रेज़ों की यह नीति स्पष्ट थी, पर उसे सबसे बड़ी सफलता लार्ड मिन्टो के समय में मिली जब अंग्रेज़ी सरकार के इशारे पर संगठित होने वाले एक प्रतिक्रियावादी शिष्ट-मंडल की साम्प्रदायिक आधार पर प्रथक निर्वाचन की मांग को तत्कालीन वायसराय ने बिना किसी विरोध या असहमति के स्वीकार कर लिया। १९०९ के शासन-विधान में प्रथक् निर्वाचन का जो ज़हर सींचा गया था वही १९४० में दो राष्ट्रों के सिद्धान्त और पाकिस्तान की मांग के रूप में प्रगट हुआ। यह निश्चित था कि जब मुसल्मानों को चुनने का अधिकार केवल मुसल्मानों को होगा, जो शिक्षा, समाज सुधार, धार्मिक उदारता आदि की दृष्टि से बहुत पिछड़े हुए थे तो चुनाव में खड़े होने वाले व्यक्ति उनकी निम्न धर्मांधता की भावनाओं को ही उभाड़ेंगे और ज्यों ज्यों अधिक चुनाव लड़े जायँगे, साम्प्रदायिकता का वैमनस्य दोनों जातियों में बढ़ता जायगा। केवल मुसल्मानों के द्वारा चुने जाने के कारण धारासभा के मुसल्मान सदस्य केवल मुसल्मानों के प्रति ही अपने को वफ़ादार मानेंगे और उन्हीं के विशेष अधिकार, संरक्षण और सुविधाएँ प्राप्त करने की दिशा में अपने सारे प्रयत्न लगा देंगे। हुआ भी ऐसा ही। १९०९ के बाद से मुस्लिम-समाज में साम्प्रदायिता की भावना तेज़ी के साथ बढ़ने लगी। मौलाना अबुलकलाम आज़ाद, हकीम अजमल ख़ाँ, डॉ० अन्सारी, मौ० मोहम्मदअली आदि कट्टर राष्ट्रवादी मुसल्मान नेताओं ने इस ज़हरीली भावना के विरुद्ध लगातार संघर्ष किया, पर जिन दूसरे दर्जे के नेताओं से मुस्लिम जनता का अधिक निकट का संपर्क था वे अपनी स्थिति को रक्षित रखने की दृष्टि से उनकी धर्मांधता को और भी बढ़ावा देते गए और इसका परिणाम यह हुआ कि प्रथम श्रेणी के जो नेता राष्ट्रीयता के समर्थन में लगे रहे वे मुस्लिम जनसाधारण के विश्वास को खोते गए और वे नेता, जो सिद्धान्तों के लिए अपनी स्थिति को ख़तरे में डालना नहीं चाहते थे, धीरे-धीरे साम्प्रदायिता की ओर झुकते गए। मौलाना आज़ाद जैसे स्पष्ट चिन्तक और निर्भीक वक्ता विरले नेता ही साम्प्रदायिकता के इस संक्रामक रोग से अपने को अछूता रख सके।

प्रजातन्त्रीय संस्थाओं के विकास से मुसलमानों को भय

हिन्दुस्तान में ज्यों ज्यों प्रजातन्त्रीय संस्थाओं का विकास होता गया, मुसलमानों का यह भय बढ़ता गया कि देश के शासन में उन्हें समुचित स्थान नहीं मिल सकेगा। प्रजातन्त्र में शासन बहुसंख्यक दल के हाथ में रहता है, और जब तक हिन्दुस्तान में धार्मिक विभिन्नता को राजनीति का आधार मानकर चला जा रहा था तब तक यह निश्चित था कि बहुसंख्यक दल में हिन्दुओं का प्राधान्य होगा और मुसलमानों को, धर्म, समाज और संस्कृति के जीर्णोद्धार के जिस काम में वे लगभग सौ वर्षों से लगे हुए थे, कठिनाइयों और दिक्कतों का सामना करना पड़ेगा। मुसलमानों से यह बात छिपी नहीं थी कि देश में राष्ट्रीयता की जो भावना दिन प्रति दिन प्रबल होती जा रही थी उसके पीछे हिन्दू धर्म और संस्कृति के जीर्णोद्धार के प्रयत्न का समस्त बल था। सच तो यह है कि हिन्दू संस्कृति के पुनरोत्थान की इस प्रवृत्ति ने ही आगे जाकर, कुछ ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण, राष्ट्रीयता का रूप ले लिया था। देश-भक्ति की भावना से प्रेरित होकर उसमें समय समय पर थोड़े या बहुत मुसलमान अथवा अन्य जातियों के लोग शामिल होते रहे थे परन्तु हिन्दुस्तान में हिन्दू संस्कृति को प्राधान्य देने और संसार भर में आर्य संस्कृति के प्रचार की भावना हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के पीछे सबसे प्रबल थी : इसीका परिणाम यह था कि हमारे राष्ट्र-गीत और राष्ट्र-ध्वज, राष्ट्रीय प्रतीक और राष्ट्रीय-उद्घोष सभी हिन्दुत्व के रंग से रंगे हुए थे। एक ऐसे देश के लिए जिसकी आबादी का चतुर्थांश मुसलमान हों और जिसमें कई धर्मों और संस्कृतियों को मानने वाले लोग रहते हों 'वन्देमातरम्' जैसे राष्ट्रगीत की कल्पना करना, जिसमें अधिकांश शब्द संस्कृत के हों और जिसका सारा परिधान शुद्ध हिन्दू संस्कृति का प्रतीक हो, कठिन प्रतीत होता है। ज्यों ज्यों मुसलमान और अन्य दूसरी जातियों के व्यक्ति राष्ट्रीय आन्दोलन में शामिल होते गए, इन धार्मिक प्रदर्शनों और अभिव्यक्तियों पर नियंत्रण करने की ज़रूरत थी, पर 'वन्दे-मातरम्' हमारे सभी राष्ट्रीय उत्सवों पर गाया जाता रहा और मुसल्मानों से भी हम दुर्गा, कल्याणी आदि के रूप में 'सुजलां, सुफलां, शस्य श्यामलां' भारत-मां के सामने नमन और वन्दन करने की अपेक्षा करते रहे और कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों पर सभापति के स्वागत के लिए, बिना इस बात पर ध्यान दिए कि वह हिन्दू है या मुसलमान, ईसाई है या पारसी, वही तोरण और वन्दन-वार, कलश और मंगल-गीतों की व्यवस्था करते रहे। पृथक निर्वाचनों से सांप्र-दायिकता का जो विषैला वातावरण तैयार किया जा रहा था उसमें हिन्दुओं के

इस ईमानदार पर अविवेकपूर्ण कार्य से यह धारणा बन जाना अस्वाभाविक नहीं था कि राष्ट्रीयता के इस बढ़ते हुए वेग से मुस्लिम धर्म और संस्कृति को ख़तरा है।

ज्यों ज्यों देश में प्रजातन्त्रीय संस्थाओं का विकास होता गया मुसल्मानों का यह भय बढ़ता गया और ज्यों ज्यों मुसल्मानों का यह भय बढ़ता गया उन्होंने अपने लिए विशेष प्रतिनिधित्व, विशेष अधिकारों और विशेष संरक्षणों की मांग करना प्रारम्भ किया। देश के विभाजन की बात तो अभी कुछ वर्षों पहिले तक किसी की कल्पना तक में न आई थी। इसलिए मुसलमानों ने प्रांतों के लिए अधिक से अधिक अधिकारों का समर्थन किया। प्रांतीय स्व-शासन के आंदोलन के विकास में मुसल्मान नेताओं का बहुत बड़ा हाथ रहा है। उनका विश्वास था कि यदि प्रांतीय शासन को अधिक से अधिक अधिकार मिल गए तो उन प्रांतों में जिनमें मुसल्मान अधिक संख्या में हैं वे अपने धर्म और संस्कृति, सामाजिक आचार और शिक्षा के आदर्शों की रक्षा कर सकेंगे। सांप्रदायिकता के साथ ही देश में प्रांतीयता की जो भावना विकसित हो रही थी और संघ शासन की अच्छाइयों की ओर हमारे देश के कुछ प्रमुख नेताओं का जो ध्यान जा रहा था उससे प्रांतीय स्वराज्य के इस आंदोलन को समर्थन मिला। गोलमेज़ परिषद् के विभिन्न अधिवेशनों में साम्प्रदायिक समस्या के सुलझाने के संबध में जो विचार विनिमय हुआ उससे नेताओं के मन में यह धारणा बनी कि यदि देश में एक ऐसे संघ-शासन की स्थापना करदी जाए जिसमें प्रान्तों को स्वायत्त-शासन के अधिक से अधिक अधिकार प्राप्त हों तो यह समस्या सुलझ सकेगी। इस विचार से कि संघ शासन के नाम पर केन्द्रीय शासन में देशी राजाओं और दूसरे प्रतिक्रियावादी तत्वों को संश्लिष्ठ करके वे उसे कमजोर रख सकेंगे कट्टरपंथी अंग्रेज़ कूटनीतिज्ञों को भी संघशासन का समर्थक बना दिया। १९३५ के 'इंडिया एक्ट' के आधार पर जो संघ-शासन बना वह देश के राष्ट्रीय तत्त्वों के द्वारा इसलिए अमान्य ठहराया गया कि उसमें भारतीयों के हाथ में शासन की संपूर्ण सत्ता सौंप दिये जाने का आयोजन नहीं था, परन्तु मुसल्मानों में उसका वैसा विरोध नहीं हुआ। मुस्लिम लीग की ओर से भी १९३५ के विधान की जो आलोचना थी उसका आधार यही था कि "उसमें ऐसी बहुत सी बातें हैं——— जो शासन और व्यवस्था के सारे क्षेत्र पर वास्तविक नियंत्रण और मंत्रियों और धारा सभा के द्वारा सच्चे उत्तर-दायित्व के निर्वाह को असंभव बना सकती हैं," यह नहीं कि उसमें कोई ऐसी बात थी जो मुसल्मानों के स्वार्थों अथवा हितों के विरुद्ध जाती हो। संघ शासन के सिद्धान्त को मुसल्मानों ने बिना किसी शर्त्त या उज्र के मान लिया था।

नए विधान के अन्तर्गत १९३६ में जब चुनाव हुआ उसमें, जैसा कि मुस्लिम लीग के घोषणा-पत्र से स्पष्ट है, मुसलमानों के सामने दो आदर्श थे—(१) मौजूदा प्रान्तीय शासन और प्रस्तावित केन्द्रीय शासन दोनों को हटा कर उनके स्थान पर प्रजातन्त्रात्मक स्वराज्य की स्थापना के लिए प्रयत्न किया जाए, और, (२) जहां तक वर्त्तमान धारा-सभाओं का संबंध था, "राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में, जनता के लाभ के लिए, उनका अधिक से अधिक विकास किया जा सके"। प्रथक् निर्वाचन के लिए भी मुसलमानों का विशेष आग्रह नहीं था। चुनाव–घोषणा पत्र में कहा गया था कि "जब तक साम्प्रदायिक चुनाव है मुस्लिम-लीग को अपनी अलग स्थिति तो रखना ही है, पर वह किसी भी ऐसे दल के साथ, जिसके उद्देश्य और आदर्श वही हैं जो लीग-पार्टी के, पूरे सहयोग की भावना के साथ काम करेगी।"

१९३७ की स्थितिः

आशा के चिन्ह

जुलाई १९३७ में जब प्रान्तों में उत्तरदायी मंत्रि-मण्डलों की स्थापना हो रही थी यह मानने का कोई कारण नहीं था कि हिन्दू-मुस्लिम समस्या एक कभी भी न सुलझने वाली समस्या है। मुस्लिम-लीग ने प्रगतिशील सिद्धान्तों के आधार पर चुनाव लड़ा था। कांग्रेस ने सभी प्रगतिशील कार्यक्रमों और नीतियों में उसे अपना पूरा समर्थन देने का आश्वासन दिया था। सांप्रदायिक समस्या में कोई ऐसी बात दिखाई नहीं दे रही थी जो ईमानदारी के साथ किए गए प्रयत्नों से सुलझ न सके। राष्ट्रीय नेताओं का यह विश्वास था कि चूंकि उनकी नीयत साफ़ है वे मुसलमानों को आसानी से इस बात का यक़ीन दिला सकेंगे कि देश का भावी और स्थाई विधान धर्म के आधार पर नहीं शुद्ध राजनीति के आधार पर बनेगा और उसमें अल्प-संख्यक वर्गों की संस्कृति को सुरक्षा के लिए पूरी व्यवस्था होगी। १९३७ में जिन प्रान्तों में कांग्रेस ने मंत्रि-मण्डल बनाए उनमें स्वभावतः कांग्रेसी सदस्य ही लिए गए। कांग्रेस ने इस बात की सावधानी रखी कि प्रत्येक प्रान्त में संख्या के अनुपात से कुछ अधिक ही मुसलमान भी रखे जाएँ। उनके लिए शर्त यह थी कि वे कांग्रेसी हों। यह बिल्कुल स्वाभाविक और पार्लमेन्टरी शासन के नियमों के सर्वथा अनुकूल था। यह देख कर आश्चर्य होता है कि कुछ अंग्रेज नेताओं ने, जिनसे अंग्रेज़ी शासन विधान के नियमों और परम्पराओं को ठीक से समझने की अपेक्षा की जानी चाहिए, और उनकी देखा देखी कुछ भारतीय राजनीतिज्ञों ने भी, समय समय पर यह विचार व्यक्त किया है कि कांग्रेस को ऐसे मिश्रित

मंत्रि-मंडल बनाने चाहिए थे जिनमें मुस्लिम-लीग के सदस्यों को भी लिया जाता। इस प्रकार के मिश्रित मंत्रि-मंडलों का निर्माण किसी भी पार्लमेण्टरी शासन में नहीं किया जाता। बहुसंख्यक दल ही हमेशा मंत्रिमंडल बनाता है। कांग्रेसी मन्त्रिमंडलों में मुस्लिम-लीग के सदस्यों को लेने का तो स्पष्ट अर्थ यह होता कि कांग्रेस केवल हिन्दुओं की संस्था है और मुस्लिम-लीग देश के समस्त मुसल्मानों का प्रतिनिधित्व करती है, और इन दोनों सम्प्रदायों में इतना अधिक मतभेद है कि किसी एक के हाथ में शासन की बागडोर दिए का निश्चित परिणाम दूसरे के प्रति अन्याय होगा। कांग्रेस यदि इस स्थिति को मान लेती तो वह स्वयं अपने हाथों अपने राष्ट्रीय स्वरूप पर कुठाराघात करती। इसके साथ ही हमें यह भी नहीं भूल जाना चाहिए कि १९३७ में मुस्लिम-लीग एक बहुत ही साधारण और नगण्य संस्था थी। उसके द्वारा खड़े किए गए उम्मीदवारों में जो सफल हुए उनकी संख्या प्रांतीय धारा-सभाओं की कुल सदस्यों की ४,५ व मुसलमान सदस्यों की ११ प्रतिशत थी। मुस्लिम बहु-संख्यक प्रांतों में भी किसी प्रांत में मुस्लिम-लीग के सदस्यों का बहु-मत नहीं था। यदि पंजाब और बंगाल में गैर-कांग्रेसी मंत्रि-मण्डल बनाए जा सके तो इसका कारण वहां यूनियनिष्ट व कृशक प्रजा-पार्टी का बहुमत था। सिंध में मिश्रित मंत्रि-मंडल बना। उत्तर पश्चिमी सीमाप्रांत में जहां की प्रायः सारी आबादी मुसल्मान है, शुद्ध कांग्रेसी मंत्रि-मंडल। इसके साथ ही कांग्रेस उन राष्ट्रीय मुसलमान नेताओं को भी छोड़ नहीं सकती जो पिछली आधी शताब्दी से आज़ादी की लड़ाई में कंधे से कंधा भिड़ा कर उसके साथ लड़ते रहे थे। इन सब बातों के बावजूद भी जो लोग बाद के अचानक ही बढ़ जाने वाले सांप्रदायिक वैमनस्य की ज़िम्मेदारी कांग्रेस की इस नीति पर रखते हैं कि उसने १९३७ में मुस्लिम-लीग के सदस्यों को अपने मंत्रि-मंडल में नहीं लिया, सख्त गलती करते हैं।

साम्प्रदायिक समस्या अपने सबसे निचले स्तर पर

कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों के बनने के बाद ही देश के वातावरण में बड़ी तेजी के साथ परिवर्तन होने लगा। कांग्रेस को एक ओर तो ऐसे वामपक्षीय नेताओं के विरोध का साधन करना पड़ रहा था जो किसान और मजदूरों में ज़मींदारी व पूंजीवाद के विरुद्ध घृणा फैलाकर, और उनके समर्थन के आधार पर, अपने लिए राजनैतिक सत्ता प्राप्त कर लेना चाहते थे और दूसरी ओर मुसल्मानों की ओर से यह आवाज़ उठाई जाने लगी, और दिन ब दिन प्रबल होने लगी, कि कांग्रेस की हिन्दू सरकारों के द्वारा उन पर अत्याचार किए जा रहे हैं और उनका धर्म व

संस्कृति खतरे में हैं । ये अत्याचार क्या थे और मुस्लिम धर्म और संस्कृति किस प्रकार खतरे में थे, इसकी व्याख्या करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। व्यक्तिगत लड़ाई झगड़े की साधारण सी घटनाओं को मुस्लिम समाचार पत्रों और प्रकाशकों ने बढ़ा चढ़ा कर छापा और सरकार की ओर से मुस्लिम धार्मिक भावनाओं के पूरे पूरे संरक्षण में जहाँ जाने-अनजाने तनिक भी असावधानी हुई वहीं उन्होंने उसे हिन्दुओं के खिलाफ घृणा के प्रचार का साधन बनाया। लीग के प्रचारकों ने बिल्कुल झूंठी और बेसर पैर की कहानियां गढ़ कर भी मुसल्मानों को हिन्दुओं के खिलाफ भड़काने में कसर नहीं छोड़ी। कांग्रेस ने बारबार इस बात का प्रयत्न किया कि ये शिकायतें व्यवस्थित रूप से उसके सामने रखी जाएं और वह उसकी निष्पक्ष जाँच करे, पर किसी भी ज़िम्मेदार मुसलमान ने ऐसा करने का कोई प्रयत्न नहीं किया और घृणा और वैमनस्य के प्रचार का यह क्रम एक अथक और अनवरत रूप से चलता रहा। इन्हीं दिनों झूंठी, मनगढ़न्त और अतिरंजित बातों को लेकर मुस्लिम-लीग ने एक रिपोर्ट भी छापी। कांसेस के सभापति ने मुस्लिम-लीग के सभापति को इस संबंध में लिखा और मुस्लिम-लीग को उन आरोपों को सिद्ध करने का खुला निमंत्रण दिया, पर इसका भी कोई परिणाम नहीं निकला।

घटनाओं का गहराई से अध्ययन करने वाले विद्वानों को यह स्पष्ट होता जा रहा था कि क़ायदे-आज़म जिन्ना के नेतृत्व में मुस्लिम-लीग उन्हीं सिद्धान्तों और साधनों का अनुकरण कर रही थी जिनका विकास मध्य-यूरोप के फ़ासिस्ट और नात्सी नेताओं के द्वारा किया गया था। जैसे वहां जनता की राष्ट्रीय या जातीय भावनाओं को उल्टे-सीधे, सच्चे-झूठे, नैतिक—अनैतिक सभी प्रकार के उपायों से उभाड़ने का प्रयत्न किया जा रहा था वैसे ही यहां भी मुसल्मानों की धार्मिक भावनाओं को उभाड़ कर अन्ततः कुछ व्यक्तियों द्वारा राजनैतिक सत्ता अपने हाथ में ले लेने का प्रयत्न चल रहा था। जेकोस्लोवाकिया और पोलैण्ड में रहने वाले जर्मन जिस प्रकार वहां की सरकारों द्वारा जर्मनों पर किए जाने वाले कथित अत्याचारों का ढिंढोरा पीटने में लगे हुए थे ताकि वे जर्मनी को इन देशों पर आक्रमण करने का अवसर दें वैसे ही हिन्दुस्तान में मुस्लिम-लीग कांग्रेसी सरकारों द्वारा मुसल्मानों पर किए जाने वाले अत्याचारों का प्रचार कर रही थी। इन दिनों इस सम्बन्ध में कांग्रेस ने शायद कुछ छोटी मोटी गल्तियाँ की हों, पर यह निश्चित है कि उसने मुसल्मानों के साथ अधिक से अधिक अच्छा व्यवहार रखा और कभी कभी तो ऐसा भी हुआ कि हिन्दुओं के हितों के विरुद्ध भी कांग्रेसी सरकारों के मुसल्मानों का पक्षपात किया। अधिकांश अँग्रेज गवर्नरों ने, जिन पर अल्प-संख्यकों

की सुरक्षा का विशेष उत्तरदायित्व था, कांग्रेस की इस पक्षपात हीन नीति की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की, पर मुस्लिम-लीग के नेताओं के सामने तर्क-वितर्क का प्रश्न नहीं था, समझबूझ और भलमंसाहत को भी वे ताक़ पर रख चुके थे और उनका एकमात्र उद्देश्य मुसलमानों में घृणा, वैमनस्य, हिंसा और प्रतिशोध की भावनाओं का फैलाना था। स्थिति इस सीमा तक पहुंच चुकी थी कि सिंध के प्रसिद्ध कांग्रेस-मन्त्री अल्लाबख्श की किसी धर्मांध मुसलमान द्वारा हत्या किए जाने की शाब्दिक भर्त्सना तक करने का सौजन्य भी मस्लिम लीग के नेताओं ने नहीं बताया

दो राष्ट्रों के सिद्धान्त का जन्म और विकास

घृणा और वैमनस्य, हिंसा और प्रतिशोध के इस दूषित वातावरण में दो राष्ट्रों के खतरनाक सिद्धान्त का जन्म हुआ। एक दिन अचानक क़ायदे-आज़म जिन्ना साहेब ने हिन्दुस्तान के दो राष्ट्र होने की घोषणा की, और उसी क्षण से उनकी और मुस्लिम-लीग की ओर से वार वार यह घोषित किया जाने लगा कि हिन्दू और मुसलमान दो विभिन्न राष्ट्र हैं। एक बड़ा अचम्भे में डाल देने वाला सिद्धान्त था यह जिसके समर्थन में कोई युक्तियुक्त दलील या बुद्धिसम्मत तर्क पेश नहीं किया जा सकता था। जाति, भाषा, सामान्य-स्वार्थ, भौगोलिक सामीप्य, सभी दृष्टियों से हिन्दू और मुसलमान अपने लम्बे इतिहास में एक दूसरे में घुलमिल गए थे। उनके आचार विचार में कुछ विभिन्नता थी और वेषभूषा में थोड़ा सा अन्तर। शहर के पढ़े लिखे मुसलमानों में फ़ारसी और अरबी के अधिक शब्द प्रयोग करने का आग्रह भी बढ़ता जा रहा था, पर इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि धर्म के अन्तर को छोड़कर और कोई गहरा अन्तर इस देश के (और अब हिन्द और पाकिस्तान दोनों के) हिन्दू और मुसलमानों के बीच में नहीं है। उनके बाप-दादे एक ही थे। एक ही वातावरण में वे पले और बढ़े। सदियों से एक ही ज़मीन के आंचल में वे खेले और एक ही आस्मान का साया उन पर रहा, पर इन सब ऐतिहासिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक तथ्यों को एक ओर रखकर क़ायदे-आज़म जिन्ना ने १९३३ में केंब्रिज के कुछ धर्मांध मुसलमान विद्यार्थियों द्वारा व्यवहार में लाए गए शब्दों का प्रायः अनुकरण करते हुए कहना शुरू किया—

"हमारा दस करोड़ की संख्या का एक अलहदा राष्ट्र है, और हमारी अलग संस्कृति और सभ्यता, भाषा और साहित्य, कला और वस्तु-कौशल, नाम व उपनाम, जीवन के मूल्यों के सम्बन्ध में धारणाएं व विश्वास, कानून व

नैतिक बन्धन, रीति-रिवाज व रहन सहन, इतिहास और परम्पराएँ, दृष्टिकोण और आकांक्षाएँ, हैं।" संक्षेप में जीवन का और जीवन के संबंध में हमारा अपना दृष्टिकोण है। इससे बड़े धृष्टता-पूर्ण असत्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी, परन्तु जिन्ना साहिब स्पष्ट ही हिटलर के इस सिद्धान्त से परिचित थे कि बड़े से बड़ा झूठ भी, यदि बार बार दुहराया जाता रहे तो, सत्य से अधिक प्रभावशाली बन सकता है। जिन्ना साहिब ने अपने प्रत्येक भाषण व लेख, बातचीत और विचार-विनिमय में दो राष्ट्रों के इस सिद्धान्त को दोहराना शुरू कर दिया। गांधीजी ने बड़ी नम्रता के साथ क़ायदे-आज़म से पूछा "मैं तो इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नहीं देखता जब किसी देश के रहने वाले व्यक्तियों और उनकी सन्तान ने केवल धर्म-परिवर्त्तन के आधार पर अपने को अपने परम्परा गत राष्ट्र से भिन्न राष्ट्र माना हो। आपका दावा यह नहीं है कि आपने हिन्दुस्तान को जीता, इसलिए आप एक अलहदा राष्ट्र हैं। आप तो अपने को एक स्वतन्त्र राष्ट्र इसलिए मानते हैं कि आपने अपना धर्म बदल लिया है। क्या आज हिन्दुस्तान एक राष्ट्र बन जावेगा यदि हम सब लोग भी इस्लाम-धर्म को स्वीकार कर लें? क्या बंगाली, उड़िया, आन्ध्रवासी, तामिल, मराठे, गुजराती आदि अपनी विशेपताओं को खो देंगे यदि वे मुसल्मान बन जाएँ?" गांधीजी के इस प्रश्न की प्रतिध्वनि वातावरण में गूंज कर रह गई। क़ायदे-आज़म ने उसका या इस प्रकार के अन्य तर्कों का कोई जवाब नहीं दिया।

पाकिस्तान की मांग और उसके संबंध में आंदोलन

हिन्दू और मुसल्मानों के दो अलहदा राष्ट्र घोषित किए जाने का स्वाभाविक और अपेक्षित परिणाम यही हो सकता था कि उसका सहारा लेकर क़ायदे-आज़म हिन्दुस्तान को दो स्वतन्त्र भागों में बांट देने की मांग करें। परिस्थितियां धीरे धीरे, पर निश्चित रूप से और एक व्यवस्थित योजना के अनुसार, इसी लक्ष्य की ओर बढ़ रहीं थीं। प्रान्तों में स्वायत्त शासन की स्थापना के बाद ही जिन्ना साहिब ने घोषणा की कि "कांग्रेसी शासन से मुसल्मान न तो न्याय की आशा कर सकते हैं और न भलमंसाहत की।" जून १९३८ में लीग ने कांग्रेस के सामने ११ मांगें रखीं जिनमें एक यह थी कि लीग को भारतीय मुसल्मानों की एक-मात्र प्रतिनिधि-संस्था, मान लिया जाए। अक्तूबर १९३८ में सिंध की प्रान्तीय मुस्लिम-लीग कान्फ्रेंस ने, जिसके सभापति मि० जिन्ना थे, यह मांग की कि "भारतीय महाद्वीप में स्थायी शान्ति रह सके, उसके अन्तर्गत हिन्दू और मुसल्मान जो दो राष्ट्र हैं वे अपना सांस्कृतिक विकास कर सकें व आर्थिक और

राजनैतिक स्वतन्त्रता की ओर अग्रसर हो सकें, इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए हिन्दुस्तान को दो संघ-शासनों में बांट दिया जावे, जिनमें से एक मुस्लिम राज्यों का संघ हो और दूसरा ग़ैर-मुस्लिम राज्यों का।" १९३९ के प्रारंभ में मुलिस्म-लीग वर्किंग-कमेटी ने एक प्रस्ताव पास किया जिसमें शासन-विधान के प्रांतीय पक्ष की भर्त्सना की गई थी और यह कहा गया था कि वह विभिन्न प्रान्तों के मुसलमानों के समान अधिकारों की रक्षा करने में सर्वदा असमर्थ रहा है। ५ अगस्त १९३९ को मि. जिन्ना ने घोषणा की कि "एक ऐसे देश में जिसके अन्तर्गत विभिन्न राष्ट्रीयताएँ हों पार्लमेण्ट के ढंग के प्रजातन्त्र का सफल होना असम्भव है।" २८ अगस्त १९३९ को मुस्लिम-लीग की वर्किंग कमेटी ने यह निश्चय किया कि "मुस्लिम भारत किसी भी ऐसे संघ-शासन की स्थापना का ज़ोरदार विरोध करेगा जिसमें पार्लमेण्टरी ढंग के प्रजातन्त्र की आड़ में एक बहुमत वाले सम्प्रदाय का शासन स्थापित किया जाए।" दूसरे महायुद्ध के प्रारंभ हो जाने के बाद जहां कांग्रेस ने पूर्ण स्वाधीनता की अपनी मांग पर ज़ोर देना आरम्भ किया, मुस्लिम-लीग ने अपनी मांगों की पूर्त्ति पर उतना ही अधिक ज़ोर दिया। नवम्बर १९३९ में कांग्रेस और अंग्रेज़ी सरकार के बीच समझौते की बातचीत टूट जाने के बाद जब कांग्रेसी मन्त्रिमंडलों ने त्याग-पत्र दे दिया, जिन्ना साहेब के आदेश पर मुस्लिम-लीग ने देश भर में मुक्ति-दिवस मना कर अपना हर्ष प्रगट किया, फर्वरी १९४० में जिन्ना साहिब ने कहा, "हिन्दुस्तान के मुसलमान अपनी क़िस्मत का फ़ैसला अपने आप करेंगे, उसे किसी दूसरे के हाथों में, चाहे वह अंग्रेज़ हो या हिन्दुस्तानी, कभी नहीं छोड़ेंगे।" मार्च १९४० में मुस्लिम लीग ने अपने लाहौर-अधिवेशन में पाकिस्तान-सम्बन्धी वह ऐतिहासिक प्रस्ताव पास किया जिसमें कहा गया था "ऐसी कोई वैधानिक योजना इस देश में कार्यान्वित नहीं हो सकती और न मुसल्मानों को स्वीकृत हो सकती है जिसे निम्न मूलभूत सिद्धान्तों पर न बनाया जाए। भौगोलिक दृष्टि से एक दूसरी के समीप स्थित इकाइयों की ऐसी हदबन्दी हो कि आवश्यक प्रादेशिक हेर फेर के बाद, जहां मुसलमान बहुसंख्या में हों, जैसा कि भारत के उत्तर-पश्चिमी और पूर्वी भागों में हैं, वहां उन्हें मिलाकर स्वाधीन राज्यों की स्थापना की जावे जिनमें शामिल होनेवाली इकाइयां स्व-शासन-भोगी और सार्वभौम रहें," अपने इस ऐतिहासिक प्रस्ताव के द्वारा मुस्लिम लीग ने अपने आपको देश के विभाजन और पाकिस्तान की स्थापना के उद्देश्य के साथ बांध दिया।

एक बड़ी निर्ममता के साथ जो नात्सीवाद को भी शर्मिन्दा करने की क्षमता रखती थी, मुस्लिम-लीग के नेताओं ने अपने इस लक्ष्य का प्रतिपादन किया।

केवल धर्मांधता के आधार पर भारतवर्ष की भौगोलिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक एकता को छिन्न भिन्न कर देने के साहस का प्रदर्शन करने में उन्होंने किसी प्रकार का संकोच नहीं दिखाया। धर्म का आधार लेकर देश के दो टुकड़े किए जाने का कैसा भीषण राजनैतिक और मनोवैज्ञानिक परिणाम होगा, इसके सम्बन्ध में न तो उन्होंने स्वयं चिन्ता अनुभव की और न दूसरे लोगों के चिन्ता के प्रदर्शन से वे तनिक भी विचलित हुए। दक्षिण में जब उनकी मांग का अनुकरण करके द्रविड़ लोगों ने द्रविड़-स्थान की मांग सामने रखी तो मुस्लिम-लीग ने बिना झिझक के उसका भी समर्थन किया—देश की एकता और शक्ति के बिखर जाने पर उनका तनिक भी ध्यान नहीं था। सिखों के खालिस्तान की मांग का उन्होंने विरोध इसलिए किया कि उसका असर स्वयं पाकिस्तान पर पड़ता। कायदे-आज़म ने सिखों के एक अर्द्ध-राष्ट्र (*Sub nation*) होने का फ़तवा देकर उन्हें आत्म-निर्णय के अधिकार से वंचित रखा। उन्होंने कहा—मुसलमान तो यह अधिकार इसलिए चाहते हैं कि वे एक राष्ट्रीय समष्टि के रूप में रह रहे हैं......परन्तु क्या कभी इतिहास में यह भी सुना गया है कि एक ऐसा अर्द्ध राष्ट्रीय (*Sub-national*) वर्ग, जो देश के भिन्न-भिन्न भागों में बँटा हुआ है एक स्वतन्त्र राज्य की मांग करे? मुस्लिम-समाज इस प्रकार का अर्द्ध-राष्ट्रीय वर्ग नहीं है।" भाषा, संस्कृति, वेशभूषा और रहन-सहन आदि की दृष्टि से सिख एक-दूसरे से ज्यादा मिलते-जुलते हैं बजाए मुसलमानों के, और पास-पास के प्रदेशों में ही बसे हुए भी हैं, पर वे एक राष्ट्र क्यों नहीं हैं और सीमा-प्रान्त, बंगाल और मद्रास के मुसलमान केवल एक धर्म को मानने के कारण एक राष्ट्र ही के सदस्य क्यों हैं, यह कहना कठिन है। सच तो यह है कि मुस्लिम-लीग के प्रचार को तर्क, बुद्धि और सचाई की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता; फ़ासिस्ट सिद्धान्तों ने सदा ही इस कसौटी की अवहेलना की है। फ़ासिस्ट विचार-धारा के अनुसार जीवन में विवेक का कोई स्थान नहीं है। उसका आधार तो 'महान् पुरुषों की दुर्लभ अन्तर्-दृष्टि (*The rare intuitiveness of great minds*) में है। फ़ासिस्ट राजनीति का आधार व्यक्ति की विवेक-बुद्धि नहीं है। फ़ासिज़्म के अनुसार तो जन-साधारण में भावना ही प्रधान रहती है और एक अच्छे नेता का यह काम होता है कि वह धर्मान्धता या किसी ऐसे ही सिद्धान्त का आधार लेकर उसे उभाड़े और उसका उपयोग राज्य की शक्ति बढ़ाने में करे। इटली में मुसोलिनी ने जनता की राष्ट्रीय भावना को और जर्मनी में हिटलर ने उसकी जातीय भावना को उभाड़ा और उसका उपयोग अपनी शक्ति को बढ़ाने में किया। हिन्दुस्तान के मुस्लिम समाज में मज़हबी कट्टरपन की भावना ऐसी थी जिसका उपयोग एक

कुशल और राजनीति में सत्य-असत्य और न्याय-अन्याय का भेद न मानने वाला व्यक्ति कर सकता था। यह निश्चित है कि कायदे आज़म ने यूरोप में फ़ासिज़्म के विकास का अध्ययन बड़ी बारीकी के साथ किया था और हिन्दुस्तान की राजनीति में उसका उपयोग करने के लिए वे पूरी तौर से तैयार थे। १९३८ में जब सूडेटानलैण्ड के जर्मनों ने जैकोस्लोवाकिया की सरकार के खिलाफ़ अत्याचार के इलज़ाम लगाए तब भी मुस्लिम-लीग के नेताओं ने उसमें बड़ी दिलचस्पी ली, जैकोस्लोवाकिया के जर्मन अल्प-संख्यकों का खुले आम समर्थन किया और यह भी कहा कि उनकी और भारतीय मुसलमानों की स्थिति एक सी है!

फ़ासिस्ट मनोवृत्ति के विकास के लिए पर्याप्त वातावरण

भारतीय मुस्लिम समाज में फ़ासिज़्म के विकास के लिए सभी उपयुक्त परिस्थितियां मौजूद थीं। मुस्लिम जनता न पढ़ी लिखी, सामाजिक दृष्टि से पिछड़ी हुई और आर्थिक दृष्टि से स्थायित्व की भावना से शून्य थी। उसमें यह प्रचार आसानी से किया जा सकता था कि एक मिले जुले हिन्दुस्तान में, जिसमें हिन्दुओं का बहुमत होगा, उनके लिए कोई स्थान नहीं होगा। आर्थिक विकास की दृष्टि से मुस्लिम-समाज हिन्दुओं से बहुत पीछे था। हिन्दुओं के सम्बन्ध में ईर्षा की भावना उसमें थी ही। ऐसी परिस्थिति में उन्हें यह विश्वास दिलाना कि एक स्वतन्त्र और प्रजातंत्रीय भारतवर्ष के बन जाने पर उनकी स्थिति हिन्दुओं के निकट 'लकड़ी चीरने और पानी भरने वाले' की स्थिति से अधिक नहीं होगी, कठिन नहीं था। उनकी भावनाओं में एक तीव्र बेचैनी और संवदेन-शीलता पैदा कर देने के लिए इससे अच्छा तरीका और कोई नहीं हो सकता था कि उनसे कहा जाता कि जिन मुसलमानों ने सदियों से हिन्दुस्तान पर राज्य किया है उन्हें आने वाले ज़माने में हिन्दुओं का गुलाम बन कर रहना होगा। कांग्रेसी मन्त्रि-मंडलों के शासन-काल में मुस्लिम लीग के नेताओं ने यह सब कुछ, और इससे अधिक भी, किया। कांग्रेस के नेता मुसलमानों के प्रति अपनी निष्पक्षता, बल्कि उदारता, बताने के उद्देश्य से छोटी मोटी बातों और इल्ज़ामों को उपेक्षा की दृष्टि से देखते रहे और जब कभी उनकी इस सम्बन्ध में कोई असावधानी हो गई या किसी बड़े मामले पर उन्होंने कोई छोटा मोटा क़दम उठा लिया तो मुस्लिम-लीग के नेताओं ने ज़ोरों के साथ यह प्रचार करना शुरू कर दिया कि मुसलमानों पर ज़ुल्म तोड़े जा रहे हैं, उनका मज़हब व तमद्दुन खतरे में हैं और

हिन्दू कांग्रेस उनका अस्तित्व ही खत्म करने में लगी हुई है। इस प्रकार के तर्कों के द्वारा मुस्लिम-लीग के नेताओं ने भारतीय मुसलमानों में हिन्दुओं के प्रति अविश्वास, घृणा और द्वेष के भावों का एक अनवरत प्रचार जारी रखा। फासिस्ट टेकनीक की दृष्टि से अल्पसंख्यकों पर अत्याचारों की कथा का निर्माण आवश्यक था। इस प्रकार उत्तेजनाशील वातावरण में, फ़ासिज़्म की विचार-धारा को उसकी चरमसीमा तक ले जाने के लिए केवल दो बातें शेष रह गई थीं—(१) एक तो जैसे इटली में रोमन-साम्राज्य के पुनर्निर्माण का आकर्षण स्वतः वहां की जनता के सामने रखा गया था और जर्मनी में सभी जर्मन-भाषा बोलने वाले लोगों के एक ऐसे महान् साम्राज्य की स्थापना करना जो समस्त संसार पर प्रभुत्व कर सके प्रत्येक जर्मन युवक के लिए जीवन का सबसे बड़ा उद्देश्य बना दिया गया था वैसे ही हिन्दुस्तान के मुसलमानों के लिए एक इसी प्रकार के आदर्श (*Myth*) की सृष्टि करना और (२) एक ऐसे नेता का आविर्भाव जिसमें मुस्लिम जनता का अन्ध-विश्वास पैदा किया जा सके। इस दृष्टि से मुस्लिम-लीग के नेताओं ने पाकिस्तान की उस कल्पना को, जो केंब्रिज के कुछ विद्यार्थियों के दिमाग से पैदा हुई थी और जिसे उस समय के ज़िम्मेदार मुसलमान नेताओं ने "एक अविवेक पूर्ण कल्पना" समझा था, फिर से प्राणदान दिया। पाकिस्तान अब हिन्दुस्तान के मुसलमानों का अन्तिम लक्ष्य बना, और उन्हें इस अस्पष्ट पर चमकीले लक्ष्य तक पहुँचाने की ज़िम्मेदारी ली क़ायदे-आज़म मुहम्मदअली जिन्ना ने।

मुहम्मदअली जिन्ना, एक आदर्श फासिस्ट डिक्टेटर

पाकिस्तान की कल्पना ऐसी थी जिसे प्रत्येक व्यक्ति अपनी दृष्टि से विकसित कर सकता था। मैं समझता हूँ कि पाकिस्तान की अस्पष्टता ही एक फ़ासिस्ट राजनैतिक दल के द्वारा आदर्श के रूप में अपनाए जाने का प्रमुख कारण थी। विभिन्न विचार धाराओं के मानने वाले मुसलमानों में से हर एक को उसमें अपने आदर्शों की पूर्ति दिखाई दी। राजनैतिक नेताओं को उसमें राजनैतिक सौदों का एक बड़ा आधार मिला। धार्मिक वृत्ति वाले व्यक्तियों ने कल्पना की कि पाकिस्तान के रूप में पृथ्वी पर एक ऐसे स्वर्गीय राज्य की स्थापना होने जा रही है जहां इस्लाम-धर्म के उच्चतम आदर्श जीवन के दैनिक व्यवहार की चीज़ बन सकेंगे। साम्यवादियों को उसमें एक राजनैतिक और आर्थिक समानता के सिद्धान्त पर संगठित होने वाले राज्य की झलक दिखाई दी। युवकों को संघर्ष के लिए एक राजनैतिक नारा मिला। जनताकी आत्मा

एक नये उत्साह से उद्वेलित हो उठी। उसने शक्ति का एक नया विस्तार और भविष्य के स्वप्नों का व्यापक आधार पर लिया था। ऐसे सनसनीखेज वातावरण में जब विवेक सोया हुआ था और भावुकता अपने रंगीन पंखों को फैला कर कल्पना के व्यापक आकाश में उड़ चली थी, पाकिस्तान के विचार ने मूर्त्त-रूप लिया। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, फ़ासिस्ट विचार-धारा में एक ऐसे नेता की आवश्यकता भी होती है जिसके इशारे पर जनता आंख मींच कर चल सके। कुछ परिस्थितियों और कुछ उनकी अपनी योग्यता ने जिन्ना साहब को हिटलर और मुसोलिनी का यह स्थान दिलाया। हिन्दुओं के मन में गांधीजी के प्रति जो श्रद्धा थी, मुसलमान कुछ वैसी ही श्रद्धा अपने किसी राजनैतिक नेता के लिए रखने के लिए बेचैन थे। मुस्लिम लीग़ के नेता कायदे-आज़म मुहम्मदअली जिन्ना ने आगे बढ़ कर उनकी श्रद्धा की भावना को स्वीकार किया। जिन्ना की योग्यता में तो किसी प्रकार का सन्देह हो ही नहीं सकता था और मुस्लिम-समाज में तो यों भी योग्य नेताओं की बहुत कमी थी जिन्ना उसमें निःसन्देह सबसे अधिक योग्य थे। अंग्रेज़ी साम्राज्य से क्रियात्मक युद्ध में कांग्रेस के जूझने के पहिले वे उसके बहुत बड़े नेता थे। कांग्रेस से बाहर चले जाने के बाद एक लंबे अर्से तक उन्होंने मुसलमानों के प्रगतिशील वर्ग का नेतृत्व किया था। अपने बड़े से बड़े साथियों की ग़ल्ती का खुले आम विरोध करने का उनमें साहस था। जब मुस्लिम-लीग प्रतिक्रियावादियों के हाथ में जाने लगी मि० जिन्ना ने राष्ट्रवादी मुसलमानों की एक अलग संस्था का निर्माण किया। मुस्लिम-समाज की प्रतिक्रियावादी शक्तियों का उन्होंनें डट कर विरोध किया। साइमन कमीशन के विरोध में वे कांग्रेस के साथ थे। परंतु १९३७ के बाद से मि० जिन्ना का रुख बिल्कुल बदल गया था; उसका उत्तरदायित्व निःसन्देह कांग्रेस की नीति पर नहीं मि० जिन्ना द्वारा फासिस्ट कार्य प्रणाली के गहरे अध्ययन पर था। भारतीय मुसलमानों की धार्मिक भावनाओं को उभाड़ कर वह किस प्रकार उसका एकछत्र नेतृत्व अपने हाथ में ले सकते हैं इस विचार ने, या यों कहना चाहिये कि नेतृत्व की एक तीव्र भूख ने उन्हें अपनी प्रगतिशील विचार-धाराओं और मानवोचित भलमनसाहत को भी एक ओर रख देने के लिए तैयार किया। अब वह एक ऐसे शुद्ध राजनैतिक नेता के रूप में हमारे सामने आए जो शक्ति के दाव-पेंचों को खूब अच्छी तरह से समझता है। जैसे एक कलाकार अपनी कृति के सौंदर्य को देख कर गर्व से फूल उठता है वैसे ही मि० जिन्ना ने भारतीय राजनीति के बड़े-बड़े स्वप्नों और बड़ी-बड़ी योजनाओं को अपनी शक्ति के प्रहार से टूटफूट जाते और चकनाचूर होते हुए देख कर एक बड़े आत्म संतोष का अनुभव किया।

भारतीय राष्ट्रीयता और उसका हिन्दू आधार

इसमें भी सन्देह नहीं कि एक समय था जव पूर्व और पश्चिम के वीच इस सांस्कृतिक भेद और भारतीय सभ्यता की श्रेष्ठता के इस विश्वास ने हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन में नवीन प्राणों का संचार किया था। हमारे देश में राष्ट्रीय चेतना का विकास ही उस आलोचना की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था जो अंग्रेज लेखकों द्वारा हमारी धार्मिक रूढ़ियों और सामाजिक कुरीतियों के संवंध में की जाती थी। राम मोहन राय ने सवसे पहिले इस वात को प्रमाणित करने का प्रयत्न किया कि जहां हिन्दू धर्म के वाह्य रूप में कुछ खराबियाँ आ गईं थीं—और सभी धर्मों के वाह्य-रूप में इस प्रकार की खराबियाँ पैदा हो जाती हैं, राम मोहन राय ने ईसाई विश्वासों में से अनेकों उदाहरण देकर अपनी इस वात को प्रमाणित किया—उसका आन्तरिक रूप शुद्ध और उसके मूल सिद्धांत सच्चे और विज्ञान-सम्मत थे। अपने इन विचारों के प्रचार के लिए उन्होंने एक ओर 'जीसस के उपदेश' नाम की पुस्तक लिखी और दूसरी ओर उपनिषदों का अनुवाद और प्रचार किया। राम मोहन राय की सवसे वड़ी सेवा यह थी कि उन्होंने हिन्दू धर्म में हिन्दू जनता के आत्मविश्वास को जागृत किया, पर राम मोहन राय ने यह कभी नहीं चाहा कि हिन्दू जनता हिन्दू धर्म के संसार में सर्वश्रेष्ठ होने के दावे को पेश करे और अन्य धर्मों से जो अच्छी वातें ली जा सकतीं हैं उन्हें लेने से इन्कार कर दे। इन्हीं दिनों अनेकों पश्चिमी विद्वानों ने भारतीय साहित्य-ग्रंथों का विदेशी भाषाओं में अनुवाद किया और उनकी श्रेष्ठता के सम्वन्ध में लिखा। अन्य देश के लोगों को हमारे साहित्य और जीवन-दर्शन की प्रशंसा करते देख कर सहज ही हमारे आत्म-विश्वास को पुष्टि मिली, परन्तु ज्यों ज्यों आत्मविश्वास की यह चेतना राष्ट्रीयता का रूप लेती गई हमने दंभ की भावना का विकास भी किया, हम यह मानने लगे कि हमारा धर्म और हमारी संस्कृति ही संसार में सर्व श्रेष्ठ ही नहीं, एकान्त सत्य भी है और जितने भी दूसरे धर्म और संस्कृतियां हैं वे सव पथ-भ्रष्ट हैं और इसलिए उपेक्षणीय और अग्राह्य और त्याज्य हैं। इस भावना के विकास के साथ ही अपनी संस्कृति के शुद्ध तत्वों को ढूंढने, जिन विदेशी तत्वों का उसमें पिछली शताव्दी में समावेश हो चुका है उन्हें चुन चुन कर निकाल देने और संस्कृति के इस वचे हुए शुद्ध स्वरूप को लेकर अपने समाज का पुनर्निर्माण करने का एक महान् आन्दोलन देश में चल पड़ा। आर्य समाज के साहित्य और संगठन में हम इस भावना को अपने सवसे उग्र रूप में पाते हैं। आर्यसमाज ने

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि ईश्वर ने जीवन के मूल-सत्यों को वेदों द्वारा प्रगट किया और यज्ञ और कर्मकाण्ड के आधार पर जिस सभ्यता का विकास वेदों में हुआ वही सभ्यता मानवता का अन्तिम लक्ष्य है, उस आदर्श से हम जितने स्खलित होते गए और दूसरी निकृष्ट सभ्यताओं के संपर्क से अपने को दूषित बनाते गए उतना ही हमारा पतन होता गया। अब हमारा प्राथमिक कर्त्तव्य यह है कि अपनी उस प्राचीन, गौरवशाली, महान् सभ्यता के शुद्ध स्वरूप को फिर से प्राप्त करने का प्रयत्न करें। प्रत्येक जाति के अपने संस्कार होते हैं और अपना एक वातावरण होता है, उसी में उसका सच्चा विकास संभव होता है। जब वह दूसरे के संस्कारों को अपनाने का प्रयत्न करती है तभी उसका पतन शुरू हो जाता है। 'स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावह:'। यह भावना हम केवल आर्यसमाज में ही नहीं उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के अन्य आंदोलनों, थियोसोफ़िकल सोसाइटी, सनातन धर्म महामंडल आदि में भी पाते हैं।

हिन्दू धर्म और संस्कृति के पुनरोत्थान के इस प्रयत्न में ही हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन का जन्म हुआ। विवेकानंद ने धर्म को राजनीति से अलहदा रखने का जो संदेश दिया था उस पर अधिक दिनों तक नहीं चला जा सकता था क्योंकि धर्म की जो गतिशील कल्पना विवेकानन्द ने जनता के सामने रखी थी और उसके आधार पर जातीय पुनरोत्थान को व्यवस्थित करने की जो प्रेरणा उन्होंने दी थी, और जिस प्रकार हिन्दू धर्म और संस्कृति को उन्होंने भारतीय धर्म और संस्कृति का पर्यायवाची बना दिया था, उन सबको देखते हुए यह बिल्कुल स्वाभाविक था कि राष्ट्रीय जागरण और संगठन का उनका संदेश एक राजनैतिक आन्दोलन का सूत्रपात करे। मुस्लिम समाज में भी उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से सांस्कृतिक शुद्धता और धार्मिक पुनरोत्थान के कुछ आन्दोलन चल रहे थे पर शिक्षा की कमी, आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए होने और कुछ अन्य कारणों से इन आन्दोलनों की प्रतिक्रिया एक व्यापक रूप नहीं ले सकी, और राजनैतिक क्षेत्र में उसकी जो अभिव्यक्ति हुई, वह सरकार से सहयोग और अधिक पदों की मांग से आगे नहीं जा सकी। इसका परिणाम यह हुआ कि 'राष्ट्रीय' आन्दोलन के विकास में जहां थोड़े बहुत मुसलमान, पारसी आदि शामिल हुए उसमें प्राधान्य हिन्दुओं के हाथ में रहा, ऐसे हिन्दुओं के जो राष्ट्रीय आन्दोलन के द्वारा हिन्दू धर्म और संस्कृति के पुनर्निर्माण के स्वप्नों को प्राप्त करने के लिए बेचैन थे, और जिनकी दृष्टि में भारतीय स्वाधीनता का अर्थ था हिन्दू पुनरोत्थान। तिलक ने जिस 'स्वराज्य' का शंखनाद किया उसमें शिवाजी के उस 'स्वराज्य' के बीज स्पष्ट रूप से छितरे हुए थे जिसकी नींव 'गोधर्म हिताय' और 'हिन्दू धर्म संस्थापनाय' डाली

गई थी। मैं मानता हूँ कि कि इन नेताओं का चिन्तन बहुत स्पष्ट नहीं था, और अल्पसंख्यक वर्गों के प्रति उनके मन में दुर्भावना नहीं थी, पर 'स्वराज्य' की जो कल्पना उनके सामने थी उसका स्पष्ट लक्ष्य एक ऐसे राज्य की स्थापना था जिसका मुख्य आधार हिन्दू-धर्म और संस्कृति पर रखा गया था, जिसका नेतृत्व हिन्दुओं के हाथ में होता और जिसमें निःसदेह अल्पसंख्यकों के साथ उदारता का बर्त्ताव किया जाता—क्योंकि ऐसा बर्त्ताव ही हिन्दू संस्कृति की भावना के अनुकूल होता—और उन्हें अपने धर्म और संस्कृति पर चलने की भी पूरी सुविधा होती पर जिसका स्पष्ट लक्ष्य हिन्दू संस्कृति का पुनरोत्थान ही होता। हमारा राष्ट्र-ध्वज, हमारा राष्ट्र गीत और हमारे राष्ट्रीय उद्घोष सभी-हिन्दू भावना में रंगे हुए होते।

गांधी, लोकतंत्रवाद और राष्ट्रीयता का वास्तविक रूप

हमारी राष्ट्रीय चेतना के मूल में हिन्दू धर्म और संस्कृति के पुनरोत्थान का प्रयत्न था और उसकी वाह्य अभिव्यक्ति पश्चिमी सभ्यता के प्रति उपेक्षा और निरादर की भावना और अँग्रेज़ी शासन के प्रति घृणा और प्रतिरोध के प्रचार में हो रही थी, परंतु कई समस्याओं की ओर से हम उदासीन थे। हिन्दू धर्म और संस्कृति के पुनरोत्थान की कल्पना एक आकर्षक वस्तु थी परंतु देश में जहां २४ करोड़ के लगभग हिन्दू थे उनके बीच में ७ करोड़ मुसलमान भी थे। भावी 'स्वराज्य' में उनका क्या स्थान होगा, इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर किसी के पास नहीं था। मुसलमानों ने अन्य देशों में अपने को राष्ट्रीय संस्कृति में घुल-मिल जाने दिया है। चीन के मुसलमानों का पहिरावा, बोल-चाल, रहन-सहन अन्य चीनियों से भिन्न नहीं है और हिन्देशिया के मुसलमान वहाँ के अल्प-संख्यक हिन्दुओं की संस्कृति में बिल्कुल ही रंग गए हैं। परंतु, हिन्दुस्तान में जहां हिन्दुओं और मुसलमानों की एक मिली-जुली संस्कृति बनने लगी थी हिन्दुओं का सामाजिक ढाँचा इतना सकीर्ण होता गया था कि उसमें मुसलमानों के प्रवेश के लिए कोई स्थान नहीं था और उन्हें अपने लिए एक अलग समाज-तंत्र बनाने के लिए विवश होना पड़ा था। हिन्दुओं की समाज-व्यवस्था की इस कट्टरता के कारण मुसलमान शासक होते हुए भी, आर्थिक दृष्टि से कभी संपन्न नहीं बन पाए थे। सामाजिक समानता के सिद्धान्त पर स्थापित होने के कारण इस्लाम निम्न वर्ग के उन असंख्य हिन्दुओं के लिए एक आश्रय-स्थल बन गया था जो अपने समाज के 'ऊँचे' लोगों के द्वारा उपेक्षा और निरादर की दृष्टि से देखे जाते थे और इस कारण संख्या की दृष्टि से वह फैल गया था, पर थोड़ी-बहुत

ज़मीन या छोटे-मोटे व्यापार या कुछ सरकारी नौकरियों से अधिक आर्थिक साधन उसके अनुयायियों को तब भी उपलब्ध नहीं थे जब वे देश के शासक थे। राजनैतिक सत्ता उनके हाथ से चले जाने के बाद तो उनका सांस्कृतिक पतन बड़ी तेज़ी के साथ होने लगा था और देश में सामाजिक पुनरोत्थान का प्रारंभ होने के बाद भी वे लोग हिन्दुओं से कई पीढ़ी पिछड़ गए थे, पर हिन्दू समाज में घुल-मिल जाने की कोई सुविधा उनके पास नहीं थी और इस कारण राष्ट्रीयता के विकास में उनका एक समस्या बन जाना स्वाभाविक था। यह आवश्यक था कि हिन्दू पुनरोत्थान के कर्णधारों के पास इस समस्या का कोई समाधान होता।

सामाजिक विभिन्नताओं के होते हुए भी हिन्दू और मुसलमानों में किसी प्रकार का व्यक्तिगत द्वेष नहीं था। मुसलमान सीमाप्रांत, पंजाब के पश्चिमी जिलों, सिन्ध और पूर्वी बंगाल में अधिक संख्या में थे, पूर्वी पंजाब, दिल्ली और पश्चिमी संयुक्त प्रांत में उनकी संख्या हिन्दुओं के लगभग बराबर थी पर सुदूर दक्षिण तक देश का कोई भाग ऐसा नहीं था जहाँ वह प्रत्येक नगर अथवा गाँव में न बसे हुए हों और इसी प्रकार सीमा-प्रांत और अफ़ग़ानिस्तान तक में हिन्दू काफ़ी संख्या में फैले हुए थे। उनकी बोल-चाल और पहरावे पर प्रादेशिकता की छाप अधिक थी, धर्म की बहुत कम। एक दूसरे के साथ लेन-देन, व्यापार और मधुर सामाजिक संबंध चलते रहते थे, परंतु हिन्दू पुनरोत्थान की लहर के साथ मध्य-वर्ग के हिन्दुओं में, अपने धर्म और संस्कृति की सर्वश्रेष्ठता की भावना के साथ, मुसलमानों के प्रति उपेक्षा की भावना बढ़ने लगी थी और उसके बाद ही जब मुस्लिम-समाज में इसी प्रकार के पुनरोत्थान के आंदोलन जोर पकड़ने लगे तब उन्होंने भी हिन्दुओं के प्रति इसी प्रकार की अहमन्यता की भावना विकसित कर ली। अंग्रेजी शासन ने जो हिन्दुओं की बढ़ती हुई राष्ट्रीयता से सशंकित हो चला था, मुसलमानों को बढ़ावा दिया और दोनों संप्रदायों के बीच के अन्तर को राजनैतिक दाव-पेंचों के द्वारा बढ़ाते रहने का प्रयत्न किया। इधर, दोनों समाजों के बीच का आर्थिक विरोध भी दिनों दिन स्पष्ट होता जा रहा था। ज़मीन और व्यापार तो हिन्दुओं के हाथ में थे ही, शिक्षा में अग्रणी होने के कारण सरकारी नौकरियाँ भी अधिकतर उन्हीं को मिल रही थीं। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि मुसलमानों में भी संगठन की भावना बढ़ी। सर सैयद अहमद ने सामाजिक दृष्टि से उनका संगठन किया था। मिण्टो के शासन-काल में, उनसे प्रेरणा पाकर, मुसलमानों ने सांप्रदायिक चुनाव की माँग की, जो फ़ौरन स्वीकृत भी हो गई। सांप्रदायिक चुनावों के अमल में आते ही सांप्रदायिक विद्वेष आग की लपटों के समान तेज़ी से बढ़

चला। मस्जिद के सामने बाजा बजाने अथवा मोहर्रम के अवसर पर गोवध के प्रश्नों पर उसे छोटे मोटे दंगों के रूप में अभिव्यक्ति भी मिल जाती थी। उधर, तुर्की के सुल्तान के नेतृत्व में एक अखिल-इस्लामी आन्दोलन का विकास हो रहा था और अपने देश में उपेक्षित और अनादृत भारतीय मुसलमानों की दृष्टि उस ओर भी खिची थी। भारतीय मुसलमान एक विश्व-व्यापी इस्लामी संगठन के अंग बनते जा रहे थे। यदि विकास की यह दिशा अधिक दिनों तक बनी रहती तो उससे भारतीय राष्ट्रीयता की समस्या के और भी अधिक जटिल हो जाने की संभावना थी।

भारतीय राष्ट्रीयता के विकास की इस नाजुक स्थिति में देश का राजनैतिक नेतृत्व गाँधीजी ने अपने हाथ में लिया। हिन्दू-धर्म और संस्कृति के प्रति एक अभूतपूर्व ममत्व गाँधीजी के व्यक्तित्व में कूट कूट कर भरा था पर वे राष्ट्रीयता-संबंधी उन विचार-धाराओं से भी परिचित थे जो अन्य देशों में विकसित हो रही थीं और जिसका आधार सभी देशों में भौतिक लोकतंत्रवाद पर प्रस्थापित था। गाँधीजी ने अपनी पैनी दृष्टि से बहुत जल्दी इस बात को समझ लिया कि हिन्दुस्तान को यदि स्वाधीन होना है तो वह न तो देश भर में बिखरे हुए, और उसके जीवन से गुंथे-मिले, सात-आठ करोड़ मुसलमानों की उपेक्षा कर सकेगा और न पांच छः करोड़ अस्पृश्यों को उनकी वर्त्तमान स्थिति में रखे रहना उसके लिए संभव होगा। इसी कारण गांधीजी ने शुरू से ही हिन्दू-मुस्लिम एकता और अस्पृश्यता-निवारण को अपने राजनैतिक कार्य-क्रम का प्रमुख आधार बनाया। यह एक निर्विवाद सत्य है कि अपने इन कामों में, विशेष कर मुसलमानों का सहयोग प्राप्त करने में, गांधीजी को परिस्थितियों से भी सहायता मिली। मुस्लिम-समाज में भी उग्र विचार रखने वाला एक ऐसा वर्ग तेजी से बढ़ रहा था जिसका दृष्टिकोण शुद्ध राष्ट्रीय था — एशिया के सभी देशों में, जिनमें तुर्की मिश्र, ईरान आदि मुस्लिम देश भी शामिल थे, फैलने वाली राष्ट्रीयता की प्रतिक्रिया भी उस पर थी ही — और जिसकी निष्ठा का प्रमुख लक्ष्य हिन्दुस्तान था। इस्लाम के राजनैतिक केन्द्र, तुर्की, के प्रति योरोपीय राष्ट्रों का जो विरोधी दृष्टिकोण था उसके प्रति ब्रिटेन की समर्थन-नीति अथवा उदासीनता के कारण कट्टर-पंथी भारतीय मुसलमानों में भी अंग्रेजों के प्रति विरोध की भावना बढ़ती जा रही थी। प्रथम महायुद्ध में ब्रिटेन और तुर्की के एक दूसरे के विरुद्ध होने के कारण भारतीय मुसलमानों की राज-भक्ति और धर्म-निष्ठा के बीच एक बड़ा द्वन्द्व खड़ा हो गया था और युद्ध में तुर्की के हार जाने के बाद भारतीय मुसलमानों का सारा प्रयत्न खिलाफत को बचाने में लग रहा था। अंग्रेजों के सामान्य विरोध ने सभी वर्गों के मुसलमानों को

हिन्दुओं द्वारा संचालित राष्ट्रीय आंदोलन के समीप ला दिया था, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण कांग्रेस और मुस्लिम लीग के १९१६ के लखनऊ के समझौते में और उसके बाद कई वर्षों तक कांग्रेस और लीग के वार्षिक अधिवेशन एक ही समय पर एक ही नगर में होने में मिलते हैं। गांधीजी दक्षिण अफ्रीका के संघर्ष में विजयी होकर लौटे थे, इसी कारण देश के हिन्दू व मुसलमान सभी ने अपने राष्ट्रीय, जातीय और धार्मिक स्वत्त्वों के लिए लड़ने का दायित्व उन पर डाल दिया था और गांधीजी के सत्याग्रह के प्रयोग के महान् यज्ञ में ये सभी समिधाएँ आ जुटी थीं, उनके द्वारा अग्नि-दान लेकर सुलग उठीं थीं और उस यज्ञ की लपटें आकाश का स्पर्श करने लगी थीं।

गांधीजी के सत्याग्रह के आंदोलन के साथ ही हमारे देश में लोकतंत्र के सिद्धान्तों का प्रचार भी तेजी के साथ होने लगा था। लोकतन्त्रीय संस्थाएँ दिखावे के रूप में हमारे देश में १८८१ के बाद से ही विकसित होने लगी थीं पर लोकतंत्र के संबंध में सैद्धान्तिक चर्चा प्रथम महायद्ध के पहिले, बीचमें और बाद में जितनी अधिक हुई पहिले कभी नहीं हुई थी। इस चर्चा से हमारे सामने यह स्पष्ट होता गया कि लोकतन्त्र में धर्म और राज्य को एक दूसरे से अलहदा रखना आवश्यक है और लोकतन्त्र में जहाँ शासन के सूत्र बहुमत के प्रतिनिधियों द्वारा संचालित किये जाते हैं एक ओर तो यह आवश्यक है कि इस बहुमत का संगठन धर्म के आधार पर न होकर शुद्ध राजनैतिक विचार-धाराओं के अनुसार हो और दूसरी ओर यह भी उतना ही जरूरी है कि शासन में बहुमत के ये प्रतिनिधि सभी अल्पसंख्यक वर्गों के हितों को अपनी दृष्टि में रखें। लोकतंत्र एक ऐसा राज्य-तन्त्र है जिसका संचालन लोक-प्रतिनिधियों द्वारा तो होता है पर जिसका अन्तिम लक्ष्य किसी वर्ग-विशेष को, चाहे वह कितने ही बड़े बहुमत में हो, लाभ पहुँचाना न हो, समस्त जनता के अधिक से अधिक हित की वृद्धि करना है। गांधी-युग में जो प्रथम श्रेणी के राजनैतिक नेता सामने आए, उनमें से अधिकांश का सांस्कृतिक मूल्यों में बहुत अधिक विश्वास रहते हुए भी, वे सभी राजनीति को किसी भी धर्म अथवा संस्कृति से संबद्ध न करने के सिद्धान्त में विश्वास रखते थे। जिन लोगों का यह विश्वास बहुत अधिक दृढ़ नहीं था वे बाद में सांप्रदायिक आन्दोलनों में भटक गए, पर १९२० के बाद से हमारी राजनीति का नेतृत्व जिन लोगों के हाथ में रहा है वे हिन्दू हों या मुसलमान, राजनीति को धर्म और संस्कृति से अलहदा रख कर ही देखते आए हैं। महात्मा गांधी, चित्तरंजनदास, मोतीलाल नेहरू, वल्लभभाई पटेल, अबुल कलाम आजाद, जवाहरलाल नेहरू, राजेन्द्र प्रसाद आदि ने अपने प्रयत्नों से देश में जिस राजनैतिक वातावरण की सृष्टि की है वह शुद्ध, भौतिक,

लोकतंत्रीय राजनीति का वातावरण है, किसी प्रकार की धर्मांधता अथवा सांस्कृतिक दुराग्रह का उसमें कभी कोई स्थान नहीं रहा है।

भारतीय परिस्थितियों को देखते हुए यही हमारे लिए सर्वश्रेष्ठ मार्ग हो भी सकता है। एक ऐसे देश में जहां शताब्दियों से विभिन्न धर्म और समाज एक दूसरे के साथ उदारतापूर्वक रहते चले आए हों और जहां, शासन-सूत्र चाहे हिन्दू शासक के हाथों में रहे हों अथवा बौद्ध या मुसलमान के, एकाध अपवाद को छोड़कर सभी धर्मों और जातियों के साथ सहिष्णुता का बर्त्ताव किया गया हो, अन्य संस्कृतियों के साथ समन्वय की भावना ही जिस देश की संस्कृति की विशेषता रही हो, बीसवीं शताब्दी के इस भौतिक, लोकतन्त्रीय युग में, संसार की सभी विचार-धाराओं से अपने को विच्छिन्न करके एक धार्मिक-राज्य-व्यवस्था, वह हिन्दू हो अथवा मुसलमान, की स्थापना की बात सोची ही नहीं जा सकती। इसके अतिरिक्त, हमारी राजनीति को तो विदेशी साम्राज्यवाद से संघर्ष लेना था, एक ऐसे साम्राज्यवाद से जिसकी प्रमुख नीति हममें फूट डालने की रही है, इस कारण यह और भी आवश्यक था कि हम अपने सभी आन्तरिक भेदभावों को भुला कर उस शक्ति के विरुद्ध जिसने हमें गुलामी में जकड़ रखा था एक संयुक्त मोर्चा खड़ा करें। गांधीजी के पहिले हमारी राजनीति की 'अपील' का आधार सांस्कृतिक था, गांधीजी ने उसके सांस्कृतिक मूल्यों की अवहेलना न करते हुए उसके राष्ट्रीय पक्ष पर ज़ोर दिया। गांधीजी का विश्वास था देश के विभिन्न धर्म, समाज और संस्कृतियां अपनी विभिन्नता क़ायम रखते हुए भी राजनैतिक दृष्टि से एक हो सकते हैं, उन्होंने कभी इस दिशा में प्रयत्न नहीं किया कि हिन्दू अथवा मुसलमान अपनी धार्मिक विशेषताओं को खो दें अथवा अपने प्राचीन सामाजिक संगठनों की मर्यादाओं को तोड़कर एक दूसरे में मिल जाएँ अथवा अपने धार्मिक विश्वासों को भुला कर एक 'राष्ट्रीय' धर्म की सृष्टि करें। वह चाहते थे कि प्रत्येक व्यक्ति अपने धार्मिक विश्वासों में दृढ़ होते हुए भी दूसरे धर्मों के अनुयायियों के साथ स्नेह और सद्भावना से पेश आए और जहां तक राजनैतिक प्रश्नों का सम्बन्ध है एक दूसरे के साथ मिल-जुल कर काम करे। गांधीजी की राष्ट्रीयता की परिधि किसी एक धर्म, संस्कृति अथवा समाज-विशेष तक सीमित नहीं थी, उसमें तो हिन्दुस्तान में रहने वाले सभी धर्मों, संस्कृतियों और समाजों का मुक्त समावेश था। भारतीय राष्ट्र की उनकी जो कल्पना थी उसमें हिन्दू, मुसलमान, ख्रीस्ती, जैन, पारसी, यहूदी सभी के लिए स्थान था। राजनैतिक दृष्टि से एक दूसरे में भेदभाव नहीं किया जा सकता था। धर्म के आधार पर नागरिकता के अधिकारों में किसी प्रकार का अन्तर करने की गुंजाइश नहीं थी। राष्ट्रीयता की इस व्यापक परिधि में

जहां एक ओर

पंजाब, सिन्ध, गुजरात, मराठा, द्राविड़, उत्कल, वंगा,
विंध्य, हिमालय, यमुना, गंगा उत्छल जलधि तरंगा

सभी का समावेश था, वहां दूसरी ओर

हिन्दू, बौद्ध, सिख, जैन, पारसिक, मुसलमान, ख्रिस्तानी
पूरब पश्चिम आसे, तव सिंहासन पासे, प्रेमहार हम गाथा

की कल्पना भी थी। बढ़ते हुए सांप्रदायिक विद्वेष के बावजूद भी राष्ट्रीयता की इस व्याख्या को तब तक किसी गंभीर चुनौती का सामना नहीं करना पड़ा जब तक कि मुस्लिम-लीग ने १९३९ के सिन्ध मुस्लिम-लीग के अधिवेशन में हिन्दू और मुसलमानों के दो अलहदा राष्ट्र होने की घोषणा नहीं कर दी और १९४० में मुस्लिम-लीग के लाहौर-अधिवेशन में इस सिद्धान्त के आधार पर देश के विभाजन की मांग सामने न रख दी गई।

हिंदू सांप्रदायिकता का उत्थान व पतन

हिन्दू समाज में सांप्रदायिकता के आधार पर राजनैतिक संस्थाओं का निर्माण लगभग उसी समय आरंभ हुआ जब मुस्लिम-समाज में इस प्रकार की प्रवृत्ति विकसित हो रही थी, हिन्दू महासभा की स्थापना और १९०६ में मुस्लिम लीग की स्थापना के वीच समय का अधिक अन्तर नहीं है, पर मुस्लिम-लीग के समान ही हिन्दू महासभा का प्रभाव भी लगभग पच्चीस वर्षों तक बहुत ही सीमित रहा। इसका प्रमुख कारण हिन्दू जनता में सांप्रदायिकता की कमी और उस पर कांग्रेस का बहुत अधिक प्रभाव था। हिन्दू-मुस्लिम दंगों के साथ हिन्दू-महासभा का प्रचार कुछ बढ़ा था पर तब भी अधिक प्रभाव उन नेताओं और संस्थाओं का था जिनका सीधा लक्ष्य शुद्धि और संगठन थे। चुनाव में हिन्दू महासभा कभी अधिक सफलता प्राप्त नहीं कर सकी। १९३७ के बाद जब मुस्लिम-लीग का सांप्रदायिक प्रचार बढ़ा तब हिन्दू महासभा ने फिर हिन्दू जनता का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। कांग्रेस द्वारा मैकडोनल्ड सांप्रदायिक-निर्णय को अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार किए जाने पर विशेष कर बंगाल में, हिन्दू जनता में कांग्रेस के विरुद्ध भावना बढ़ चली थी। इन्हीं दिनों हिन्दू महासभा को एक ऐसे व्यक्ति का नेतृत्व भी प्राप्त हुआ जो १८५७ के विद्रोह पर एक पुस्तक लिखने व क्रान्तिकारी आन्दोलन में प्रमुख भाग लेने के कारण प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था। जेल से मुक्त होने के बाद श्री विनायक दामोदर सावरकर ने हिन्दू-संगठन को मजबूत बना देने का काम अपने हाथ

में लिया और, संभवतः मुस्लिम-लीग के प्रचार के साधनों से प्रेरणा-प्राप्त करके उन्होंने हिन्दू जनता की भावना को अप्रत्यक्ष रूप से मुसलमानों और प्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रवादी हिन्दुओं के विरुद्ध उभाड़ना आरम्भ कर दिया। श्री सावरकर के शब्दों में "हिन्दू संगठन कारियों को एक ओर तो करोड़ों सोते हुए हिन्दुओं की उपेक्षा का मुक़ाविला करना पड़ा और दूसरी ओर उन अर्द्ध-राष्ट्रीय हिन्दुओं के विश्वासघाती दृष्टिकोण का जो अपनी जाति को छोड़ कर दुनियाँ की सभी दूसरी जातियों के मित्र हैं और जो सदा ही हिन्दुओं के न्यायपूर्ण हितों के साथ विश्वासघात करने और मुसल्मानों की राष्ट्र-विरोधी माँगों को भी पूरा करने के लिए तत्पर रहते हैं—केवल यह सिद्ध करने के लिए कि इन अर्द्ध-राष्ट्रीय व्यक्तियों की देशभक्ति, सीज़रकी पत्नी के समान, सन्देह से ऊपर की वस्तु है।" यह स्पष्ट था कि सावरकर ने जो वर्ष जेल में विताए थे उन वर्षों में भारतीय राष्ट्रीयता का रूप बदल चुका था और उसका नेतृत्व भी दूसरे लोगों के हाथ में चला गया था और सावरकर की झुंझलाहट और रोप का उद्‌गम व्यक्तिगत निराशा की भावना में था। भाई परमानन्द और डॉ० मुंजे आदि ने, जो अभी भी पुरानी विचार-धारा में ही डूबे हुए थे, सावरकर के नेतृत्व को स्थापित करने का प्रयत्न किया, परंतु युद्ध के वाद कांग्रेस की विरोधी नीति ने जव अंग्रेज़ी सरकार को सांप्रदायिक संस्थाओं के साथ खुले समर्थन की नीति पर चलने पर विवश कर दिया और राजनैतिक विचार-विमर्षों में हिन्दु महासभा को निमंत्रित किया जाने लगा तव उसका नेतृत्व अधिक सुलझी हुई विचार-धारा रखने वाले डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी के हाथों में चला गया। परन्तु जून १९४५ के शिमला-सम्मेलन में राजनैतिक गत्यावरोध को ईमानदारी के साथ सुलझाने के अंग्रेज़ी राज्य के पहिले प्रयत्न में ही हिन्दू महासभा फिर उपेक्षा की दृष्टि से देखी जाने लगी। उसे शिमला-सम्मेलन में निमंत्रित नहीं किया गया। कांग्रेस को हिन्दू-हितों की शत्रु घोपित करके, सरकारी उपाधियों को लौटा देने की धमकी देकर व अन्य उपायों से हिन्दू महासभा ने अपने को राजनैतिक मंच पर रखने के अथक प्रयत्न किए, पर १९४६ के चुनावों ने यह प्रमाणित कर दिया कि हिन्दू जनता का समर्थन भी उसे प्राप्त नहीं है।

साम्प्रदायिकता का अंतिम और सबसे भयंकर उत्कर्ष

१६ मई १९४६ के दिन कैविनट-मिशन द्वारा प्रकाशित घोपणा-पत्र में पाकिस्तान की मांग अव्यावहारिकता के आधार पर अस्वीकृत किए जाने के

बाद से मुस्लिम-लीग ने मुसलमानों की धार्मिक भावना को तेजी से उकसाना शुरू किया। इन्हीं दिनों दिल्ली में मुस्लिम-लीग के नेताओं का जो कन्वेन्शन हुआ उसमें इस धर्मांधता को बहुत अधिक उभाड़ा गया और प्रत्येक सदस्य से कहा गया कि वह गंभीरता के साथ प्रतिज्ञा करे कि वह पाकिस्तान की प्राप्ति के लिए चलाए जाने वाले आंदोलन के संबंध में मुस्लिम लीग द्वारा दिए गए आदेशों का बड़ी खुशी और हिम्मत के साथ पालन करेगा और उसमें किसी भी 'खतरे, इम्तिहान या कुर्बानी' का मुक़ाबिला करने में पीछे नहीं रहेगा, इस ज़िहाद का प्रारंभ १६ अगस्त १६४६ की उस 'सीधी कार्यवाही' से हुआ जिसने कलकत्ते की सड़कों को हिन्दू और मुसलमानों के खून से रंग दिया। कलकत्ते के बाद सांप्रदायिक हत्याकांड की लपटें नोआखाली और टिपेरा, बिहार और गढ़मुक्तेश्वर और पश्चिमी पंजाब में पहुँची और सारा देश सांप्रदायिक विद्वेष की ज्वालाओं में जल उठा, जिसे १५ अगस्त की महान् सत्ता परिवर्त्तन की घड़ी जिसने हमें डेढ़ सौ वर्षों की अंग्रेजों की गुलामी से मुक्त किया था, और जो हमारे इतिहास की एक स्वर्णिम घड़ी थी, अपने समस्त महत्त्व के साथ भी बुझा नहीं सकी। नई मिलने वाली आजादी की चकाचौंध में हम एक क्षण के लिए तो इस जहर को भूल गए थे जो हमारे इस समस्त राष्ट्रीय जीवन की जड़ों में फैला हुआ था। हमारे नेताओं ने एक अभूतपूर्व भोलेपन के साथ यह कल्पना कर ली थी कि देश के विभाजन से सांप्रदायिक विद्वेष का अचानक अन्त हो जाएगा और तब स्वाधीनता के मुक्त वातावरण में हम दोनों संप्रदायों के बीच सद्भावना को स्थापित होते हुए देख सकेंगे। बात तर्क की दृष्टि से ठीक भी थी, पिछले कई वर्षों में मुसलमानों की सारी मांगें पाकिस्तान की एक मांग में केन्द्रित हो गई थीं। यह मान लेना हमारे लिए स्वाभाविक था कि पाकिस्तान प्राप्त कर लेने पर मुसलमान संतुष्ट हो जाएंगे। अन्तिम योजना पर मुसलमानों की स्वीकृति की मुहर भी थी। परंतु इस कल्पना के पीछे मनोवैज्ञानिक तथ्यों की अवहेलना थी। तर्क की दृष्टि से यदि मुसलमान इस प्रश्न पर सोचते तो अनिवार्यतः वे इसी परिणाम पर पहुँचते। परिस्थितियों के कारण; जिनमें उनका अपना त्याग अथवा बलिदान बिल्कुल भी नहीं था, भारतीय मुसलमानों के हाथ में एक ऐसे राज्य की सार्वभौम सत्ता सौंप दी थी जिसका विकास मुसल्मानों के सबसे बड़े और संसार के पांचवें बड़े देश के रूप में किया जा सकता था और यह असंदिग्ध तथ्य था कि इस विकास की पहिली शर्त्त देश में आन्तरिक शान्ति और पड़ोसी देश, हिन्दुस्तान के साथ मैत्री की भावना थी। परंतु क्या करोड़ों धर्मांध, वे बड़े लिखे मुसल्मानों से जिनकी भावनाओं का एकमात्र उपयोग अब तक राजनैतिक क्रय-विक्रय में

किया जाता रहा था, इस प्रकार के रचनात्मक चिन्तन की आशा की जा सकती थी ? और फिर, मुसलमानों के पास तो इस प्रकार का तर्क करने के लिए गुंजाइश भी थी, क्योंकि उन्हें अपना अभीप्सित लक्ष्य प्राप्त हो गया था, हिन्दू किस प्रकार अपने 'अखण्ड हिन्दुस्थान' के स्वप्न को, बिना भावना के किसी उद्वेलन के, अपने सामने टूटते हुए देख सकते ? स्वतन्त्रता मिली थी, वह तो बाद में अनुभव करने की चीज थी । सामने तो देश के टुकड़े हो रहे थे और दोनों सीमाओं के उस पार बिना किसी त्याग और तपस्या के बिना किसी संघर्ष और बलिदान के, मुसलमान अपनी विजय का उद्घोष कर रहे थे, पाकिस्तान को एक मुस्लिम राज्य बनाने के स्वप्न अभी से उनकी आंखों के सामने तैरने लगे थे और उनमें से कुछ मूर्ख, मनचले और कट्टर नौजवान अपने पागल जोश में यह नारा भी लगा उठते थे—"हंस के लिया है पाकिस्तान, लड़ के लेंगे हिन्दुस्तान" । मुस्लिम धर्मांधता के आधार पर बनने वाले पाकिस्तान की प्रतिक्रिया के रूप में हिन्दू धर्मांधता का विकास स्वाभाविक था ।

सांम्प्रदायिक भावना की इस बाढ़ को दो कारणों से विशेष बल मिला । एक तो जगह जगह पर शरणार्थियों का फैल जाना था । शरणार्थी अपने साथ पाकिस्तान की लोम हर्षक घटनाओं की तीखी स्मृतियां लाए थे और मुसीबत से गुज़रे हुए किसी भी व्यक्ति की घटनाओं को बढ़ा चढ़ा कर सुनाने की जो स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है वह उनमें काफी मात्रा में थी । बहुत से शरणार्थी अपना सर्वस्व खोकर आए थे । अधिकांश के कुटुम्ब के बहुत से लोग मारे जा चुके थे और कुछ तो बड़ी कठिनाई से केवल अपने प्राण लेकर ही पाकिस्तान से निकल सके थे । रास्ते में उन्हें बड़ी बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था । कड़वाहट की भावना उनके मन में थी । जिन लोगों के वे संपर्क में आए उनमें भी इस प्रकार की भावना फैली । हिन्दुओं में पाकिस्तान के बन जाने पर मुसल्मानों के प्रति पहिले से कटुता बढ़ गई थी । शरणार्थियों की सुनाई हुई कथाओं ने उसे और भी प्रज्वलित कर दिया । इसके अतिरिक्त, बँटवारे के बाद, देश के दोनों भागों में पुलिस और फ़ौज का संगठन भी साम्प्रदायिता के आधार पर हो गया था । इसका परिणाम यह हुआ कि जब कभी भी दंगे हुए तब दोनों ही जगह, आक्रमण कारियों का, जो प्रायः उसी जाति और धर्म के मानने वाले थे जो पुलिस और फ़ौज के लोगों का जाति और धर्म था, सख्ती से मुकाबिला करने के बदले उनके साथ पक्षपात का बर्ताव किया गया और जिन्हें मदद की जरूरत थी उन्हें समय पर और आवश्यक मदद नहीं पहुँचाई गई । दोनों ही प्रदेशों में, पाकिस्तान में शायद कुछ कम और हिन्दुस्तान में शायद

कुछ ज्यादा, कोशिश बड़े अफसरों द्वारा इस सांप्रदायिक पक्षपात को रोकने के लिए की गई, पर उसमें विशेष सफलता नहीं मिली। सत्ता-परिवर्तन के दिनों में पूर्वी-पंजाब में कुछ दिनों ऐसी स्थिति रही जब पुराना शासन तो समेट लिया गया था पर नए शासन की स्थापना नहीं हो सकी थी। अनिश्चय की इस स्थिति से लाभ उठा कर प्रतिहिंसा की भावना में जलते हुए पूर्वी पंजाब के उन हिन्दुओं और सिखों ने जो मार्च अप्रैल के दंगों में पश्चिमी पंजाब में अपना सब कुछ खोकर आए थे, मुसलमानों पर भी वैसे ही अत्याचार करने शुरू किए, और जब उनकी खबरें पश्चिमी पंजाब और पाकिस्तान के दूसरे भागों में पहुँची, जहां हिन्दुओं के प्रति घृणा का प्रचार इन दिनों चरम सीमा पर था और अपनी स्थिति को मजबूत बनाने के लिए मुस्लिम लीग के कुछ प्रमुख नेता भी उसमें हिस्सा ले रहे थे, वहां स्वभावतः ही उसकी भीषण प्रतिक्रिया हुई और पाकिस्तान में होने वाली घटनाओं का परिणाम यह हुआ कि हिन्दुस्तान में, विशेष कर दिल्ली और उसके आस पास के प्रदेशों में, मुसलमानों का अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया ।

हिन्दू राज्य की कल्पना का विकास

इस विषैले वातावरण में हिन्दू राज्य की कल्पना का विकास हुआ । बहुमत होने के नाते इस देश में हिन्दुओं को ही शासन करने का अधिकार था, यह विचार हिन्दू महासभा के प्रमुख नेताओं द्वारा वर्षों से दोहराया जा रहा था । भाई परमानन्द के शब्दों में मुसलमान "हमारे ही देश में हमारे ही आदर्शों के शत्रु" के रूप में थे । डॉ० मुंजे के शब्दों में "प्रत्येक देश में सदा ही बहुसंख्यक वर्ग का यह अधिकार होता है कि वह स्वराज्य की स्थापना करे और अपनी ही राष्ट्रीयता का निर्माण करे, आन्तरिक शांति और व्यवस्था बनाए रखे और बाहरी आक्रमणो से 'स्वराज्य' कीरक्षा करे।" महासभा के अमृतसर— में मनाए जाने वाले रजत-जयन्ती के अवसर पर डॉ० मुंजे ने स्पष्ट शब्दों में इस बात को घोषणा की कि हिन्दुस्तान हिन्दुओं का देश है और उसके विधान का आधार वेदों में होना चाहिए जैसा कि अरब देश क़ुरान को अपने विधान का आधार बनाना चाह रहे थे। सांप्रदायिकता के आधार पर देश का बँटवारा हो जाने के बाद और पाकिस्तान में बार बार इस बात की घोषणा होते रहने के बाद कि वह मुस्लिम राज्य है और उसका विधान क़ुरान और इस्लामी धर्म-ग्रंथों के आधार पर बनेगा, हिन्दुस्तान में इस प्रकार के विचार का फैलना अनिवार्य हो गया था। विद्वानों पर भी इस विचार-धारा का प्रभाव पड़ने

लगा था, इसका प्रमाण पूना की गोखले-इंस्टीट्यूट के श्री गाडगिल द्वारा इन्हीं दिनों दिया गया वह वक्तव्य है जिसमें उन्होंने हिन्दुस्तान के हिन्दू-धर्म और संस्कृति के आधार पर हिन्दू राज्य के रूप में संगठित किए जाने का समर्थन किया था। यह सब होते हुए भी इस कल्पना के व्यावहारिक जगत में आने की कोई संभावना नहीं थी यदि फ़ासिज़्म विचार-धाराओं पर संगठित और विकसित एक विशेष संस्था इसे अपने राजनैतिक लक्ष्य का मुख्य आधार न बना लेती और इस कल्पना के नाम पर कांग्रेस के नेताओं और कांग्रेस सरकार के विरुद्ध घृणा के भाव फैलाने के काम में न जुट पड़ती।

हिन्दू राज्य की कल्पना का अपनी राजनैतिक शक्ति बढ़ाने की दिशा में सबसे अच्छा उपयोग राष्ट्रीय स्वयँ सेवक संघ के द्वारा किया गया। राष्ट्रीय स्वयँ सेवक संघ का जन्म नवयुवकों में अनुशासन की भावना उत्पन्न करने और उनके शारीरिक गठन पर जोर देने के उद्देश्य से कई वर्ष पूर्व हुआ था। एक लंबे अर्से तक उसका कार्य क्षेत्र महाराष्ट्र तक ही सीमित रहा। महाराष्ट्र में वह हिन्दू 'स्वराज्य' की कल्पना और स्मृति को जीवित रखे रहा और शिवाजी और अन्य राष्ट्रीय वीरों के प्रति नवयुवकों में श्रद्धा की भावना विकसित करने की दिशा में काम करता रहा। शारीरिक व्यायाम आदि के प्रचार में भी उसने बड़ा उपयोगी काम किया। परंतु, उसमें धीरे धीरे फ़ासिस्ट मनोवृत्ति का भी विकास हो रहा था। 'एक नेता और एक पंथ' के सिद्धान्त और अनुशासन की आवश्यकता पर प्रारम्भ से ही ज़ोर दिया जा रहा था। संघ का काम बहुत कुछ गुप्त रूप से किया जा रहा था और उसकी आन्तरिक मंत्रणाओं में विश्वसनीय और परीक्षित व्यक्ति ही भाग ले सकते थे। दूसरे महायुद्ध के आरम्भ होने के बाद संघ के कार्य का विस्तार फैला और उसमें नए प्रश्नों का संचार हुआ। इन्हीं दिनों मुसलमानों में ख़ाकसार आन्दोलन बहुत प्रबल हो रहा था। उसके निर्माण, विकास और संगठन पर इटली और जर्मनी की फ़ासिस्ट कार्य-पद्धति की स्पष्ट छाप थी। राष्ट्रीय स्वयँ सेवक संघ ने भी अपने लिए वही मार्ग चुना। परंतु संघ ने प्रदर्शन पर कभी उतना ज़ोर नहीं दिया जितना ख़ाकसार दल के द्वारा दिया जा रहा था। अल्लामा मशरिक़ी के अनिश्चित, भावनाशील और विवेक शून्य नेतृत्व ने कई मौक़ों पर ख़ाक़सारों को सक्रिय राजनीति में ठेल दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि युद्ध आरंभ हो जाने पर सरकार को उसे कुचल देने का अवसर मिल गया, पर राष्ट्रीय स्वयँ सेवक संघ ने अपने को सदा ही सरकार से किसी सीधे संघर्ष से बचा रखा और सांस्कृतिक कार्यों के नाम पर वह अपने आपको मज़बूत बनाता रहा। उसमें काम करने वाले अधिकांश व्यक्ति भी ऐसे ही थे जिनमें राजनैतिक चेतना, विशेष

कर विदेशी शासन से संघर्ष की भावना बहुत कम थी।

१९४२ के आंदोलन से भी अपने को 'राष्ट्रीय' कहने वाली इस संस्था ने अपने को बिल्कुल अलहदा रखा। इसके उद्देश्य स्पष्टतः सांस्कृतिक थे और उनसे अन्ततः सांप्रदायिकता की भावना को पुष्टि मिलती थी, इस कारण सरकार ने उसे दबाने का कोई प्रयत्न नहीं किया। युद्ध के दिनों में भी संघ के सदस्य अपनी अन्तरंग बैठकों और प्रत्येक नगर, और बहुत से गांवों में भी, झंडा-वन्दन और शारीरिक व्यायामों और खेलों के कार्य क्रमों को चलाते रहे। १९४२ का आंदोलन दब जाने के बाद संघ ने अपनी प्रवृत्तियों को और भी बढ़ाया। '४२ के आन्दोलन को मुस्लिम-लीग द्वारा मुस्लिम-विरोधी घोषित किया गया था, और मुसलमान उससे प्रायः तटस्थ ही रहे थे इसके कारण हिन्दुओं में जो क्षोभ बढ़ता जा रहा था संघ के नेताओं ने उसका भी पूरा उपयोग किया। बहुत से नवयुवक जिन्हें अब किसी राजनैतिक आन्दोलन में शामिल होने का अवसर नहीं मिल रहा था संघ की बैठकों, प्रवचनों और व्यायामों में शरीक होने लगे और इस प्रकार कांग्रेस के राजनैतिक मंच पर लौटने तक राष्ट्रीय स्वयँ सेवक संघ ने अपने को एक शक्तिशाली संस्था बना लिया था और देश के राजनैतिक दृष्टि से पिछड़े हुए भागों, देशी रियासतों आदि, में और समाज के भावनाशील वर्ग, विशेष कर नव युवकों में, अपने लिए एक प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी। १९४५--४६ के राष्ट्रीय पुनरोत्थान से संघ की प्रवृत्तियाँ कुछ समय के लिए शिथिल पड़ीं पर देश के विभाजन के बाद साम्प्रदायिकता की जो नई और अभूतपूर्व आँधी उठी उसका लाभ उठा कर संघ की विचार-धारा और उसकी शाखाएँ देश में दूर दूर तक फैल गई। संघ का प्रभाव प्रारंभ में अध कचरे नवयुवकों तक ही सीमित था, पर १९४७ का अन्त होते होते पढ़े लिखे, समझदार और अनुभवशील व्यक्तियों के मन में भी उसके प्रति आदर का भाव बनने लगा था। अगस्त और उसके बाद के महीनों में पूर्वी पंजाब आदि में संघ के कार्य कर्त्ताओं ने हिन्दुओं को बचाने और उससे भी अधिक मुसलमानों को मारने काटने, उनके घर बार लूटने-जलाने और उनकी स्त्रियों को बेइज्जत करने में जो भाग लिया देश के उस समय के वातावरण में उसने संघ की लोकप्रियता को और भी बढ़ा दिया। राष्ट्रीय स्वयँ सेवक संघ ने एक निश्चित योजना के अनुसार सरकारी विभागों और नौकरियों में महत्त्व के स्थलों पर अपने विश्वस्त व्यक्ति रखने शुरू कर दिये। डाक, तार, रेल, पुलिस, फौज आदि सभी विभागों में ऐसे लोगों का एक सक्रिय दल था जो या तो राष्ट्रीय स्वयँ सेवक संघ के सदस्य थे या उसकी विचार धारा से खुली सहानुभूति रखते थे।

हिन्दू राज्य की कल्पना ने हिन्दू फ़ासिज्म के उपकरणों में एक आवश्यक उपकरण की कमी को पूरा कर दिया। फ़ासिज्म में जहां भावनाओं का एक प्रबल अंधड़ चलता रहता है वहाँ एक घृणित, अस्पष्ट पर आकर्षक लक्ष्य भी सामने रहता है। हिन्दू राज्य की कल्पना ने हिन्दू सांप्रदायिकता वादियों को वैसा ही एक लक्ष्य दे दिया जैसा जर्मनी के नॉर्डिक-आर्यों द्वारा संसार पर प्रभुत्व का अथवा इटली वासियों द्वारा रोमन साम्राज्य की पुनः स्थापना का लक्ष्य नात्सियों और फ़ासिस्टों के सामने था अथवा जैसा मुसल्मानों द्वारा पाकिस्तान के निर्माण का लक्ष्य मुस्लिम-लीग द्वारा उपस्थित किया गया था। हिन्दू राज्य की कल्पना में हमारी समस्त घृणा और हमारे समस्त आवेश को एक व्यापक और सबल आधार मिल गया था। एक उपयुक्त वातावरण में प्रायः सभी वर्गों के व्यक्तियों द्वारा उसे समर्थन मिला। हिन्दू राज्य का आदर्श जन साधारण को रुचने वाला आदर्श था और अर्द्ध-विकसित मस्तिष्क और शीघ्र उद्वेलित हो जाने वाली भावनाओं वाले नवयुवकों के लिए तो वह विशेष रूप से आकर्षक था। सांप्रदायिकता की जो भावनाएं देश में तेज़ी के साथ फैलती जा रही थीं, इस कल्पना ने उन्हें एक निश्चित लक्ष्य की ओर प्रेरित कर दिया था। परंतु मैं समझता हूं कि इस कल्पना का जन्म जहाँ जन साधारण की भावना में हुआ उसे विकास पहुँचाने वाली दूसरी प्रबल शक्तियाँ भी थीं। जिन स्थिर स्वार्थों को नए बनने वाले जन तंत्र से ख़तरा था—और इससे राजा महाराजा, सेठ-साहूकार, पूंजीपति और पूंजीपति व्यवस्था पर निर्भर रहने वाला बौद्धिक वर्ग, सभी शामिल थे, उनकी ओर से भी इस विचार-धारा को निश्चित रूप से समर्थन मिल रहा था। जनतंत्रीय सरकार तो अभी अपने को मज़बूत नहीं बना पाई थी, इस कारण स्थिर स्वार्थों को अब भी यह आशा थी कि यदि उसकी स्थिति को ख़तरे में डाल दिया जाए तो अपने अस्तित्व को वे शायद बचा न सकें। इन फ़ासिस्टी शक्तियों के सामने मुख्य लक्ष्य यह था कि सरकार और उसके संचालकों की प्रतिष्ठा को गिराया जाए। भारतीय सरकार जनता में तेज़ी से बढ़ती हुई सांप्रदायिक भावनाओं के बावजूद भी बड़ी दृढ़ता से अपने विशुद्ध लोकतंत्रीय शासन के आदर्श पर जमी रही और जनमत की पर्वाह न करते हुए बार बार इस बात की घोषणा की कि वह कभी भी अपने नागरिकों के बीच धर्म अथवा जाति के आधार पर किसी प्रकार का भेद भाव करने के लिए तैयार नहीं है। दिल्ली में वातावरण जब सबसे अधिक विक्षुब्ध था, प्रधान-मंत्री जवाहरलाल नेहरू स्वयं अपने को ख़तरे में डाल कर भी अल्पसंख्यकों को बचाने के प्रयत्न में लगे रहे। सितम्बर में दिल्ली और उसके आस पास जो कुछ हुआ उसके पीछे निः-

संदेह एक बड़ा षड्यन्त्र काम कर रहा था जिसमें कई राजा-महाराजा और अनेकों पूंजीपति और बहुत से सन्यासी और धार्मिक नेता शामिल थे । जनता की आँखों में धूल झोंकने के लिए अफ़वाह फैला दी गई कि दिल्ली के मुसलमान राजधानी पर क़ब्ज़ा करने और उसे पाकिस्तान में मिला देने के प्रयत्न में लगे हुए हैं, जबकि सचाई शायद यह थी कि हिन्दू सांप्रदायिकता-वादी राष्ट्रीय सरकार को हटा कर उसके स्थान पर प्रतिक्रिया वादियों की एक तानाशाही सरकार स्थापित करना, और हिन्दुस्तान को एक हिन्दू राज्य घोषित कर देना चाहते थे । सितंबर १९४७ में सरकार की स्थिति सचमुच ही डाँवाडोल होगई थी परंतु आदर्श पर निर्भीकता से जमे रहने के उसके दृढ़ निश्चय ने उसे परिस्थितियों पर नियंत्रण पालने में सफ़ल बनाया ।

इस षड्यन्त्र के असफल हो जाने से इन सांप्रदायिकतावादी फ़ासिस्टों को बड़ी निराशा हुई, परन्तु उन्होंने दुगुने जोश के साथ अपने निम्न और स्वार्थी राजनैतिक प्रयत्नों को जारी रखा । शरणार्थियों की दुःख-कथाओं को आधार बना कर उन्होंने सांप्रदायिक भावनाओं की ज्वाला को प्रज्वलित रखा और सरकार द्वारा किया जाने वाला अथवा न किया जाने वाला जो भी काम उन्हें मिला उसके आधार पर उन्होंने सरकार की आलोचना करना शुरू कर दी। कोई भी जनतंत्रीय सरकार इस प्रकार की आलोचना को कुचलने के लिए आसानी से तैयार नहीं होती, इसलिए कांग्रेस ने भी इस दिशा में कोई बड़ा सक्रिय क़दम नहीं उठाया परन्तु सरकार की ओर से जितनी नरमी दिखाई गई इन लोगों ने उसे कमज़ोरी का द्योतक माना और यह प्रचार किया कि सरकार निर्बल और निःशक्त है । कोई भी हथियार सरकार के खिलाफ़ प्रयोग किए जाने से उठा नहीं रखा गया । यदि सरकार चुप रहती थी तो यह घोषणा की जाती थी कि वह कमज़ोर है और जब कभी सरकार ने इस प्रकार की प्रवृत्तियों को दबाने के लिए कोई हल्का-सा क़दम भी उठाया तो यह शोर मचाया जाता था कि हमारी सरकार यद्यपि दावा तो जनतंत्रीय होने का करती है परन्तु अपने राजनैतिक विरोधियों को दबाने में उन साधनों का अवलंबन करने में भी नहीं हिचकिचाती जिन्हें पहिले की विदेशी हुकूमत काम में लाती थी । और यह तब था जब कि कांग्रेस की सरकार ने थोड़े से महीनों में और अधिक से अधिक विषम परिस्थितियों के होते हुए भी इतने बड़े काम कर लिए थे जो इतने कम समय में कोई भी सरकार शायद ही कर पाती । लगभग पचास लाख शरणार्थियों को पाकिस्तान से हिन्द लाना और लगभग उतने ही मुस्लिम शरणार्थियों को हिन्द से पाकिस्तान पहुँचाना कोई साधारण काम नहीं था । इसके साथ ही शासन-तंत्र के अभ्यांतर में और सैनिक विभागों में बहुत

बड़े बड़े परिवर्त्तन करना पड़े थे। देशी रियासतों की जटिल समस्या भी बड़े शान्त और व्यावहारिक रूप में और बड़ी अभूतपूर्व सफलता के साथ सुलझाई जा रही थी। इस सबके होते हुए भी काश्मीर की हरी भरी घाटी पर खूँख्वार कबाइलियों द्वारा आक्रमण और पाकिस्तान द्वारा उसका अप्रत्यक्ष समर्थन किए जाने से एक नई समस्या खड़ी हो गई थी और क्योंकि इस समस्या के कई अन्तर्राष्ट्रीय पहलू भी थे उसके सुलझाने में बड़ी दूरदर्शिता और राजनैतिक सूझबूझ और संयम की आवश्यकता थी। एक ऐसे समय में जब देश की समस्त शक्तियों को हमारी नवजात राष्ट्रीय सरकार के निष्ठापूर्ण समर्थन में लग जाना आवश्यक था सरकार कड़वी से कड़वी आलोचना और घृणित से घृणित प्रचार का लक्ष्य बनी हुई थी। १९४७ के अन्तिम महीनों और १९४८ के प्रारम्भिक सप्ताहों में ट्रामों, बसों, रेलों और बाजारों में सब कहीं नेहरू सरकार की आलोचना ही सुनने को मिलती थी। और आलोचना की यह भावना केवल जन-साधारण में ही फैली हुई नहीं थी, ऊँचे नीचे सभी प्रकार के राजकर्मचारियों में और पुलिस और फौज तक में फैली हुई थी। इस प्रकार हमारे देश में वे सब तत्त्व और उपकरण एकत्रित हो गए थे जो एक फासिस्टी राज्यक्रांति के लिए अनिवार्य होते हैं। जनता को आकर्षित करने वाला, एक अस्पष्ट पर चमकीला आदर्श था—हिन्दू राज्य की स्थापना का। वातावरण एक व्यापक और तीव्र प्रतिहिंसा की भावना से लबरेज था—मुसलमानों के विरुद्ध। और एक सुसंठित नेतृत्व के अनुशासन में, जो सत्य और असत्य, हिंसा और अहिंसा, पाप और पुण्य, ईमानदारी और फरेब के बीच किसी प्रकार का भेदभाव नहीं मानता था और जिसका एकमात्र लक्ष्य राज्य-सत्ता को अपने हाथ में लेना था, एक अर्द्ध-सैनिक ढंग पर व्यवस्थित एक ऐसा विशाल युवक-संघटन था जो इशारा मिलते ही उस क्रांति को प्रज्वलित कर देने के लिए तैयार था, बल्कि बेचैनी से उस इशारे की प्रतीक्षा कर रहा था।

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की विचारधारा और फासिज्म

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के नेताओं ने बारबार इस बात की घोषणा की है कि वह एक फ़ासिस्ट संस्था नहीं है, "जिन लोगों के मस्तिष्क विदेशी तत्त्व-ज्ञानों से प्रभावित हो चुके हैं, उनका कहना है, उन्हें अपने देश की सब बातों में किसी न किसी विदेशी विचार-प्रणाली की गंध अवश्य आती है। इसी कारण राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ को फ़ासिस्ट संस्था कहने की अज्ञता की जाती है,

संघ के ऊपर फ़ासिस्टवाद का आरोप करने वालों को यह बिल्कुल मालूम नहीं कि संघ क्या है,......एक कार्यपद्धति, एक अनुशासन, एक ध्वज और एक नेता तो किसी भी संगठन के लिए आवश्यक हैं। यदि यही फासिस्टवाद का द्योतक है तो देश की सभी संस्थाऐं फासिस्ट है ।......हिन्दू जाति को वर्तमान पतन से ऊपर उठाने के लिए उसके प्राचीन जीवन की श्रेष्ठता का आदर्श रखना क्या फ़ासिस्टवाद का द्योतक है? ......यदि यह कार्य फ़ासिस्ट है तो संसार की सभी जातियां तथा राष्ट्र फ़ासिस्ट हैं।"[१] यह भी कहा जाता है कि "संघ इटली अथवा जर्मनी का ही नहीं वरन् अमरीका और रूस का भी अनुकरण करना नहीं चाहता। संघ के आदर्श जिस प्रकार हिटलर और मुसोलिनी नहीं, उसी प्रकार स्टालिन और लेनिन भी नहीं। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ अपने राष्ट्र का निर्माण अपनी ही प्रकृति के आधार पर करना चाहता है। प्रत्येक राष्ट्र की एक प्रकृति होती है और भारत की भी एक प्रकृति है जो उसकी संस्कृति और परंपरा के कारण उसे प्राप्त हुई है। हम उसी के आधार पर अपने राष्ट्र-जीवन की रचना करना चाहते हैं।"[२] इन शब्दों में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ पर फ़ासिस्ट होने के इल्जाम का मौखिक विरोध होते हुए भी संघ की उन प्रवृत्तियों को स्वीकार किया गया है जो प्रायः प्रत्येक देश में फ़ासिज़्म के विकास में सहायक होती हैं।

एक उग्र राष्ट्रीयता, जिसमें अपनी राष्ट्रीय संस्कृति को सबसे विशिष्ट और श्रेष्ठ मान लिया जाता है स्वयं अपने आप में चाहे फ़ासिस्ट न मानी जा सके परन्तु वह सदा ही इस प्रकार की विचार-धारा के विकास के लिए एक मज़बूत आधारशिला का काम किया करती है, इटली जर्मनी और जापान जहाँ कहीं भी फ़ासिज़्म का विकास हुआ उसके मूल में अपने देश और संस्कृति अपनी जातीयता को सर्वश्रेष्ठ मान लेने का आग्रह प्रमुख था, और उसे स्थापित करने के लिए प्रायः इतिहास को भी तोड़ने-मरोड़ने का प्रयत्न किया गया था। इटली में देश के आधुनिक इतिहास को प्राचीन रोमन-साम्राज्य से सबंद्ध किया गया। वहाँ के इतिहासकारों ने इस बात पर ज़ोर दिया कि रोम के पतन के बाद से ही यूरोप में अराजकता शुरू हुई। मध्ययुग के विग्रह-शील काल से गुज़रती हुई फ्रांस की राज्यक्रान्ति और जनतन्त्र के विचार के उदय तक यूरोप की सभ्यता अपने निम्नतम स्तर तक जा पहुँची। व्यक्तिगत अधिकारों का जनतन्त्रीय सिद्धान्त राज्य के सर्वाधिकार को, जो एक रोमन

---

१ राष्ट्रधर्म (मासिक), कार्तिक, २००४, पृ० १४४

२ राष्ट्र-धर्म, कार्तिक २००४, पृ० १४४

विचार था, हटा देने में सफल हुआ, अब इटली पर सभ्यता के जीर्णोद्धार का उत्तरदायित्व एक बार फिर आ गया था। फ़ासिज़म उसे पूरी तौर से निभाने के लिए कटिवद्ध था। उसका लक्ष्य था "इटली की विचार-धारा को राजनैतिक सिद्धान्तों के क्षेत्र में उसकी प्राचीन परंपराओं से, जो रोम की परंपराएँ हैं, संवद्ध कर देना।" जर्मनी में राष्ट्रीयता को देश की भौगोलिक सीमाओं से नहीं जातीयता की भावनाओं से संवद्ध किया गया। उसमें जाति की दृष्टि से धर्म, नैतिकता, कला आदि को देखने का प्रयत्न किया गया। जर्मनी ने इतिहास में जो कुछ किया वह महान् था। संसार ने अब तक जीवन के किसी भी क्षेत्र में जो भी प्रगति की है वह सब आर्य-जाति के नेतृत्व में, और इस आर्य-जाति का सर्व श्रेष्ठ रक्त जर्मनी के लोगों में पाया जाता है। नात्सी जर्मनी के राष्ट्र-गीत में *Dentschland neber alles* शब्दों से यह स्पष्ट है कि वह जर्मनी को न केवल सर्व प्रथम स्थान ही देते थे पर जर्मनी को अन्य सभी वस्तुओं पर भी तरजीह देते हैं। जर्मन जातीयता की सर्व श्रेष्ठता घोषित करने वाले पहिले व्यक्ति जिसने उसे वैज्ञानिक रूप देना चाहा था, चैम्बरलेन के शब्दों में, समस्त योरोपीयन संस्कृति अन्ततः जर्मन थी और जर्मन आर्य और सभी जातियों से श्रेष्ठ हैं, इस कारण उन्हें ही—"संसार का स्वामी बनने का अधिकार है।" इस सिद्धांत को चरम-सीमा तक ले जाने वाले रौज़न वर्ग की धारणा थी कि जाति एक आत्मा (*"Soul of Race"*) होती है और प्रत्येक जाति की अपनी भिन्न आत्मा होती है। "आत्मा का अर्थ ही जाति का आन्तरिक रूप, और इसी प्रकार जाति आत्मा का बाहरी रूप होती है। जाति की आत्मा को प्राणदान देने का अर्थ है उसके महत्त्व को पहिचान लेना और जीवन के सभी मूल्यों को उसके अन्तर्गत राज्य-कला अथवा धर्म में एक जीवित स्थान देना। हमारी शताब्दी का यही मुल्य कार्य है : एक नए जीवन-स्वप्न में से एक नए मानव का निर्माण करना।······प्रत्येक जाति की अपनी आत्मा होती है और प्रत्येक आत्मा एक जाति की संपत्ति है······प्रत्येक जाति समय पाकर अपने एक ऊँचे आदर्श का निर्माण करती है······इस ऊँचे मूल्य की यह मांग होती है कि जीवन के सभी दूसरे मूल्यों को उसके अन्तर्गत माना जाए। वह एक जाति एक समाज, के जीवन की दिशा का निर्णय करती है।" नात्सी नेताओं का विश्वास था कि इन सभी जातियों में नौडिक-ट्यूटन जर्मन जाति सर्व श्रेष्ठ है।" नौडिक जाति के स्वभाव में वीरता और आजादी का प्रेम है, ट्यूटन लोगों ने ही संसार को विज्ञान और शोध की कल्पना दी ;है, और यह एक निर्विवाद तथ्य है कि नौडिक निष्ठा और सचाई में सबसे श्रेष्ठ हैं।······ इसमें भी संदेह नहीं कि नौडिकों ने अन्य सभी जातियों से पहिले, योरोप म

सच्ची संस्कृति को जन्म दिया। बड़े बड़े वीर पुरुष, 'कलाकार, राज्यों की नींव डालने वाले व्यक्ति नौडिक जाति की ही संतान रहे हैं......" नात्सी जर्मनी के सबसे लोक-प्रिय गीत की मुख्य पंक्ति यह थी—"आज जर्मनी हमारा है, कल हम संसार के मालिक बनेंगे।" जापान में तो इस प्रकार के विश्वास को खुले आम अभिव्यक्ति दी जाती थी। सम्राट हिरोहितो के शब्दों में, "हमारे राज्य की नींव डालने वाली सम्राज्ञी और हमारे दूसरे पूर्वज सम्राटों से हमें यह महान् आदेश विरासत में मिला है कि हमारे महान् नैतिक कर्त्तव्य का विस्तार सभी दिशाओं में हो और समस्त संसार एक ही शासन के अन्तर्गत लाया जाए। इसी दृष्टिकोण पर चलने का प्रयत्न हम दिन-रात करते रहते हैं।" विदेश-मंत्री ने 'हक्को इच्यु' के इस जापानी आदर्श को और भी स्पष्ट शब्दों में रखा, "मेरा दृढ़ विश्वास है कि देवताओं की ओर से जापान को जो महान् कर्त्तव्य सौंपा गया है वह मानवता की रक्षा का कर्त्तव्य है। उस महान् लक्ष्य को सामने रखते हुए, जो साम्राज्य की स्थापना करते समय सम्राट् जिम्मू के सामने था, जापान को समस्त महाद्वीप का शासन एक व्यापक रूप में अपने हाथ में ले लेना चाहिए, 'हक्को इच्यु' (जिसका अर्थ है कि सारा संसार एक कुटुम्ब है) और सम्राट के जीवन-दर्शन का प्रचार करना चाहिए और तब उसे सारे संसार में फैला देना चाहिए।"

सांस्कृतिक अहमन्यता

राष्ट्रीय संस्कृति की सर्व श्रेष्ठता मान कर सभी देशों के फ़ासिस्ट आंदोलनों ने इतिहास को एक रंग में रंगना चाहा है, जिसमें यह बताया गया है कि देश का पतन तभी से प्रारंभ हुआ जब से उसने 'अपनी', स्वकीया, संस्कृति को छोड़ दिया और 'अन्य', परकीया, संस्कृतियों के प्रभाव में अपने को आने दिया, और उन सभी आंदोलनों का लक्ष्य यह रहा है कि उस 'अपनी' लुप्त संस्कृति को फिर से जीवित और अनुप्राणित किया जाए और उसके आधार पर समस्त राष्ट्रीय जीवन का पुर्ननिर्माण किया जाए, जिससे यह राष्ट्रीय जीवन एक नई प्रेरणा, एक नई शक्ति, लेकर एक बार फिर संसार में अपनी सर्व श्रेष्ठता की स्थापना कर सके। एक बात जो इन सभी विचार-धाराओं में सामान्य है वह यह है कि संस्कृति के इस जीर्णोद्धार के प्रयत्नों में सामर्थ्य की भावना और शक्ति के प्रयोग पर अनवरत रूप से जोर दिया गया है। राष्ट्रीय-स्वयं सेवक के 'गुरूजी' के शब्दों में "अपने जीवन, अपनी संस्कृति और अपनी परंपरा के सर्व-साधारण प्रज्ञ जनता के सामने दीपस्तंभ के समान खड़े होकर अपने जीवन में उस दिव्य-संस्कृति का चरितार्थ करते हुए प्रत्यक्ष चलता-फिरता रूप खड़ा करने

वाले श्रेष्ठ पुरुषों की अनादिकाल से चली आने वाली परंपरा का प्रारंभ से आज तक जिसमें हमारे समाज ने अपना जीवन व्यतीत किया उस भारतीयत्व की परंपरा का—तथा उस परम्परा की—राष्ट्रात्मा की—रक्षा करते हुए समाज में अपने पन की श्रद्धा को जागृत रखने वाली परंपरा का—प्रेम ही हमारे कार्य का अधिष्ठान है। इस महान् परंपरा के प्रतीक, अति पवित्र, भगवान से प्राप्त स्वर्ण-गैरिक भगवद्ध्वज को सुरक्षित तथा सम्माननीय रखने के लिए एक-एक संघर्ष में लाख-लाख बलिदान करने में भी जो समाज हिचकिचाया नहीं, दुनियां में हिन्दू नाम से विख्यात उस समाज के प्रति स्वाभाविक और आवश्यक निःस्वार्थ, शुद्ध जीवन एवं प्रेम का भाव ही संघ के कार्य का अधिष्ठान है।······भारत में प्राचीन हिन्दू संस्कृति का ही प्रकर्ष होगा। इस न्याययुक्त, नीतिसंगत, विद्वज्जनमान्य आधार पर अपनी दिव्य संस्कृति की उपासना करते हुए उसके पूजन-कर्त्ता के नाते प्रत्येक व्यक्ति आत्म विश्वास से परिपूर्ण हिन्दू समाज को पुनरुज्जीवित करने वाला यह संगठन है।······इस जीवन की परंपरा में प्राचीनकाल से भिन्न-भिन्न क्षेत्रों से अनेक व्यक्ति उत्पन्न हुए और इसी जीवन ने संसार में श्रेष्ठत्व प्राप्त किया था। भारत विश्वगुरु था और फिर रहेगा, यही आत्म विश्वास लेकर हिन्दू समाज में नवजीवन का निर्माण करना संघ का कार्य है। संघ का कार्य शुद्ध संघटनात्मक, आत्म-विस्मृति को नष्ट करके अपने जीवन के साक्षात्कार का है।" भारतीय संस्कृति की उच्चता की इस घोषणा में अन्य संस्कृतियों के प्रति तिरस्कार का भाव केवल निहित ही नहीं है उसे भी हिन्दू सांप्रदायिकतावादी बारबार दोहराते रहे हैं। "रहन सहन, आचार-विचार, प्रत्येक बात के लिए हमने पश्चिम की ओर देखा और वहां देखा······एक भोगपूर्ण, आसक्तिमय, वासनामय जीवन, वह जीवन जिसमें वासनाओं का बढ़ना ही प्रगति का लक्षण माना जाता है।······ दुर्भाग्य से हमने आसुरी जीवन को अपनाया, उसके द्वारा अपनी उन्नति की आकांक्षा से उसके पीछे दौड़े। अपनी बुद्धि, भारत की त्यागमय श्रेष्ठ बुद्धि की परंपरा, अन्तःकरण की विशालता की परंपरा, को हटा कर परकीय भोग-प्रवीणता को ही सर्वस्व मान कर लोगों ने कार्य प्रारंभ किया,—किसी को अपने पूर्वजों का गौरव नहीं, उनकी आत्मा का साक्षात्कार नहीं। यह कोई नहीं कहता कि मैं अपने पूर्वजों का अनुकरण करके भारत को भारत बनाऊँगा। जिस दिव्य शक्ति के सामने अच्छे अच्छे पराक्रमी राष्ट्र भी नतमस्तक हुए, हिन्दू समाज के उस सामर्थ्य का अनुभव करके कोई नहीं कहता कि उस चैतन्ययुक्त पवित्र धारा को मैं अधिक बलशाली बनाऊँगा।"[१]

१ राष्ट्र-धर्म (मासिक) मार्गशीर्ष २००४, पृ० ४-१५

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ द्वारा प्रजनित विचार-धारा की सबसे बड़ी विशेषता, उसका सबसे बड़ा दोष और सबसे बड़ा खतरा भी, यह है कि उससे भारतीय जीवन-धारा को हिन्दुत्व के साथ संबद्ध करके देखा गया है और परकीया संस्कृति के प्रति उनका जो रोष है वह अप्रत्यक्ष रूप से पाश्चात्य संस्कृति के प्रति होते हुए भी प्रत्यक्ष रूप से मुस्लिम-संस्कृति के प्रति है, हिन्दुस्तान के पिछले एक हजार वर्ष के इतिहास को संघ हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों के संपर्क संघर्ष और समन्वय के रूप में नहीं देखता, मुस्लिम संस्कृति को एक आक्रान्ता के रूप में देखता है, और भारतीय संस्कृति को उसने जो देन दी उसे अस्वीकार्य और त्याज्य मानता है। संघ की विचार-धारा में हिन्दू और अहिन्दू (जिसका मुख्य अर्थ है मुसलमान) में उतना ही गहरा अन्तर है जितना नात्सी विचार-धारा में जर्मन और यहूदी में। नात्सी जिस प्रकार से मानता है कि जर्मनी के पतन की मुख्य जिम्मेदारी यहूदियों पर थी हिन्दू सांप्रदायिकतावादी हिन्दुस्तान के पतन का उत्तरदायित्व मुसलमानों पर रखते हैं। अन्य संस्कृतियें गंगा में मिल कर नष्ट हो जाने वाली नदियों के समान हैं पर मुस्लिम-संस्कृति ने क्योंकि अपने को उसमें खोने नहीं दिया है इसलिए वह गंदे नाले के समान है और उसे त्याग देने में ही हमारा कल्याण है। "शक और हूण प्राय: हममें मिल गए हैं और ऐसे मिल गए हैं कि आज उनको कोई पैनी से पैनी दृष्टि लेकर अलग नहीं कर सकता। गंगा यमुना मिलती हैं और यमुना गंगा में मिल कर गंगा रूप हो जाती है। काशी में क्या कोई गंगा के पानी में यमुनाजल का(*percentage*)ढूंढने का प्रयत्न करेगा ? जो राष्ट्र जीवन की गंगा में मिलेगा उसे गंगा का पावित्र्य प्राप्त होगा अन्यथा अलग गाली की नाली ही बना रहेगा। किन्तु गन्दे नाले का पानी गंगा बनेगा यह सोच कर उसको मस्तक पर लगाने वालों को हम क्या कहें ?...... हमको पुष्ट होना है तो आत्मसात् करके पुष्ट हों, गंगा बन कर चलें, गंगा जमुनी नहीं।"[१] आग्रह स्पष्टत: आत्मसात् हो जाने में है। किसी अल्पसंख्यक संस्कृति को यह अधिकार नहीं दिया जा सकता कि वह अपनी विभिन्नता को बनाए रख सके। एक दूसरे लेखक के शब्दों में "यदि बहुसंख्यक वर्ग अपनी विशुद्ध संस्कृति के स्थान पर इस संस्कृति-सम्मिश्रण की ओर झुकता है तो इसमें सन्देह नहीं कि उसकी अपनी संस्कृति अक्षुण्ण नहीं रह सकती और मानव की जैसी पतनोन्मुखी प्रवृत्ति साधारणतया होती है उसके अनुसार वह स्व से प्रेम करना छोड़ कर परत्व का प्रेमी बनता जाएगा। जैसे नदी में नहाने वाला एक बार अपने स्थान से च्युत होते ही, पैर फिसलते ही डूबने लगता है, वैसे ही

१२ राष्ट्र-धर्म (मासिक), मार्गशीर्ष २००४, पृ० १३

संस्कृति-समन्वय की ओर बढ़ना मानो पैर का फिसलना है जो परिणाम में हमें हमारी संस्कृति से छुड़ा कर दूर ले जायगा।"१ और फिर इस संस्कृति समन्वय की ओर बढ़ना हमारे जैसी महान् संस्कृति के उत्तराधिकारी के लिए तो शोभा भी नहीं देता। इन्हीं लेखक के शब्दों में, "अरे जिसके पास कुछ न हो वह दूसरों से उधार मांगे, पर जिसके घर में सब कुछ रखा है, वह जब दूसरों के उच्छिष्ट पर जीवन व्यतीत करना चाहे तो उसे क्या कहा जाए? जिसके पास अपनी भाषा है, अपनी सुदृढ़ विचार-सम्पत्ति है, अपनी आचार-प्रणाली है, जिससे उधार लेकर अन्यों ने अपने अपने संप्रदाय और वाद खड़े किए हैं, जिसके ज्ञानालोक से अपने अपने दीपक प्रज्वलित किए हैं, वह क्यों दूसरों की ओर ताकता है?"२ "विश्वास कीजिए" एक और सज्जन लिखते हैं, "हमारी यह आत्मश्लाघा नहीं अटल सत्य है कि जब कभी संसार की कोई भी जाति भौतिक योग्यता की सीमित योग्यता को अवगत करके अमरत्व की प्राप्ति के लिए व्याकुल होगी तब उसे हमीं से दीक्षा ग्रहण करनी होगी।"३

अपनी राष्ट्रीय संस्कृति को संसार में सर्वश्रेष्ठ मानने की ग़ल्ती प्रायः सभी देशों में की जाती रही है, पर उसे क्षम्य माना जा सकता है, पर जब उस राष्ट्रीय संस्कृति को एक जाति-विशेष अथवा धर्म-विशेष के साथ संबद्ध कर दिया जाता है, तब ख़तरा पैदा हो जाता है, क्योंकि उसमें अल्पसंख्यक वर्ग की संस्कृति के प्रति तिरस्कार का भाव पैदा हो जाता है और क्योंकि इस प्रकार की प्रत्येक विचार-धारा में अपनी संस्कृति के शुद्ध रूप के संरक्षण पर जोर दिया जाता है तिरस्कार की भावना जल्दी ही घृणा में परिणत हो जाती है। भारतीय राष्ट्रीयता को हिन्दू धर्म का पर्यायवाची मानने वाले सभी लोगों में अल्पसंख्यक वर्गों, विशेषकर मुसलमानों के प्रति यही तिरस्कार और घृणा का भाव पाया जाता है। यदि यह झगड़ा सांस्कृतिक स्तर तक ही सीमित रहे तब भी ठीक है, पर इस विचार धारा के समर्थकों का आग्रह रहता है कि हिन्दू-धर्म को ही राष्ट्र-धर्म माना जाए और उसके आधार पर, उसी के मूल्यों से प्रेरणा लेकर समस्त समाज का संगठन हो, व्यक्ति की अपनी कोई महत्ता नहीं रह जाए, वह इस राष्ट्र-धर्म की मशीन को अपने का एक पुर्जा माने, अपने जीवन और सर्वस्व को उसकी वेदी पर भेंट करने के लिए तत्पर रहे, इस प्रकार के बलिदान के किसी भी आह्वान को अपना गौरव माने, इस राष्ट्र-धर्म की रक्षा में जिन वीरों ने अपने प्राण दिए हैं उन्हें अपना आदर्श समझे और उसकी

१ राष्ट्र-धर्म (मासिक) मार्गशीर्ष २००४ पृष्ठ १८

२ वही, पृ० २०

३ राष्ट्र-धर्म (मासिक), कार्तिक २००४, पृ० १४

स्थापना में अपना अथवा दूसरों का रक्त बहाना यदि आवश्यक हो तो उससे भी झिझकें नहीं, वल्कि व्यक्ति को बचपन से ही इस प्रकार शिक्षित किया जाए कि वह हिन्दू संस्कृति को ही राष्ट्रीय संस्कृति का पर्यायवाची समझे और उसकी स्थापना में जो भी शक्तियाँ बाधक हों उनके विनाश को पुण्य कार्य।

"जब तक वह स्वातंत्र्य जिसको लेकर हमारा परम पवित्र सुवर्ण गैरिक राष्ट्र-ध्वज सारे संसार में ऊँचा मस्तक किए फहराता था........वह स्वातंत्र्य, वह दिव्य स्वातंत्र्य जब तक मिल नहीं जाता तब तक एक दो नहीं, सहस्रों की संख्या में वीर तांत्या के सामने हमें अपना रक्त बहाने के लिए तैयार रहना होगा, अपने हाथों से फाँसी का फंदा अपने गले में डाल लेना होगा, अपने हाथों स्वदेहार्पण करना होगा, इस राष्ट्र-यज्ञ में अपनी आहुति देनी होगी। तभी तो हमारी माता के कमल-नयनों का अविरल अश्रु प्रवाह रोका जा सकेगा। जब हमारा एक एक रक्त-बिन्दु शक्तिशाली होकर विशाल रूप धारण करेगा, हमारी भस्मीभूत अस्थियों से जब भयानक भस्मासुर उठ खड़ा होगा, तब तक बलिदान की यह परम्परा चलती ही रहेगी। त्याग ही हमारा सर्व प्रथम एवं परम कर्त्तव्य है। आज हमें और कुछ विशेष करने की आवश्यकता नहीं—हमें केवल अपने को राष्ट्र कार्य के लिए समर्पित कर देना होगा **फिर उसका उपयोग किसी भी प्रकार से क्यों न किया जाए।**"[१]

फासिज्म का मनोविज्ञान

अपनी, 'स्वकीय', संस्कृति में गहरे आत्म विश्वास के साथ अन्य, 'पर-कीय,' संस्कृतियों व जाति के प्रति गहरी घृणा और तीव्र तिरस्कार की भावना सभी फ़ासिस्ट विचार-धाराओं का आधार होती है। फ़ासिज्म के समर्थकों का विश्वास है कि प्रेम की तुलना में घृणा मनुष्य के लिए अधिक स्वाभाविक है। रैक्स वार्नर के उपन्यास के एक पात्र के शब्दों में "लगभग सभी मनुष्य सभी युगों में—सबल मनुष्य शक्ति के साथ और निर्बल निर्बलता के साथ—उस प्राकृतिक नैतिकता का पालन करते रहे हैं जिसके मूल उद्गम में हम पाते हैं जीवन का उन्माद, भय और घृणा। बाद में जिस कृत्रिमता का विकास हुआ वह केवल घरेलू उपयोग की वस्तु थी, जनता को समाज की निश्चित सीमाओं के अन्तर्गत अपने उचित स्थान पर रखने के लिए। प्रकृति-दत्त नैति-कता अपरिवर्त्तनशील और अपरिवर्त्तनीय है। उसकी जड़ें मनुष्य के अन्तर में बहुत गहरी चली गई हैं। उसके स्रोत मनुष्य के शरीर की दुर्दम्य इच्छाओं रक्तमांस और इंद्रियों, में होने के कारण उसमें सहज प्रेरणा की शक्ति है। वह प्रेरणा जो जीवन के संरक्षण और उसकी वृद्धि के लिए आवश्यक है। उस

१ राष्ट्र-धर्म, कार्तिक २००४, पृष्ठ २१

नैतिकता का घृणा से अधिक निकट का संबंध है, वजाए उससे जिसे तुम प्रेम कहते हो"।[१] एक दूसरे स्थान पर यही पात्र कहता है, "हमारा प्रेम एक कर्त्तव्य परायण वुद्धिवादी की भावना नहीं हैं। उसका आधार शत्रु के प्रति तीव्र घृणा पर है। हमारा न्याय कोई व्याख्या द्वारा स्पष्ट की जाने वाली वस्तु नहीं है, वह हमारे विरोधियों को दुनिया के पर्दे से नेस्त-नाबूद कर देने की एक आल्हादपूर्ण अभिव्यक्ति है। हमारा प्रचार तुम्हारे प्रचार के मुक़ाविले में क्यों इतना अधिक सफल होता है ? इसका एक कारण तो यह है कि हमारे उद्देश्य निश्चित, और आसानी से समझ में आने वाले, हैं और हर व्यक्ति उन तक पहुँच सकता है। वे तुम्हारे (जनतंत्रीय) उद्देश्यों के समान अस्पष्ट, वुद्धिवादी, अनिश्चयात्मक नहीं हैं ; परंतु, इसका एक दूसरा वड़ा कारण यह है कि हम मानव-स्वभाव की उन अँधेरी और वलिष्ठ और प्रकृति-दत्त प्रवृत्तियों को जागृत करते हैं जो तुम जैसे लोगों की ढोंगपूर्ण शिक्षा के कारण अव तक दवा कर रखी गई हैं। हम अपने अनुगामियों को यह वताते हैं कि किस प्रकार शत्रुओं से घृणा करके वे अपने जीवन में आत्म-विश्वास उत्पन्न कर सकते हैं। तुम उन्हें सारी दुनियां से प्रेम करने की शिक्षा देते हो, हम उन्हें एक सुनिश्चित, अल्पसंख्यक वर्ग से घृणा करना सिखाते हैं।······हम न तो वुद्धि को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं और न व्यक्ति के तात्कालिक स्वार्थों को। हम तो प्राकृतिक मनुष्य की छिपी हुई, अतृप्त और शक्तिशाली प्रेरणाओं को जागृत करते हैं।"[२]

एक सोनहले भूतकाल में अटूट विश्वास, उसे पुनर्जीवित करने के प्रयत्न में अपनी समस्त मानवीय घृणा और भावुकता को नियोजित करने का अदम्य उत्साह, त्याग और वलिदान के लिए अथक आवाहन और आर्थिक भेदभावों को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हुए, अपनी, संस्कृति को अन्य संस्कृतियों से ऊँचा मानने की भावना में सव फ़ासिस्ट विचार-धारा के प्रमुख आधार माने जा सकते हैं और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के साहित्य में हमें पग पग पर मिलते हैं। "भारत ने धर्म, संस्कृति और कर्म के क्षेत्र में दिव्य परंपरा का निर्माण किया है। हमारी परंपरा विश्व-विजय के गर्व से उन्मत्त सिकंदर की सेनाओं को धूल चटाने वाले चाणक्य और चन्द्रगुप्त, नाना अत्याचार करने वाले शकों को परास्त कर आत्मसात् करने वाले विक्रमादित्य, चारों ओर ज्ञान और धर्म के सूर्य को आवृत्त करने वाले काले काले मेघों से प्रच्छन्न श्रुति को प्रगट करने वाले माधवाचार्य, राष्ट्र में प्रखर चैतन्य निर्माण करने वाले छत्रपति

---

१ *Rex warner: The Professor* पृष्ठ ६५–६६

२ *Rex warner; The Professor* पृष्ठ ६६

और रामदास, शत्रु के सामने तनिक न झुकने वाले राणा प्रताप, चार चार पुत्रों का बलिदान होने पर भी हृदय में खिन्नता न लाते हुए धर्म और राष्ट्र का काम करने वाले तपस्वी गुरु गोविन्द, एक से एक दिव्य विभूतियाँ, जिनकी तुलना संसार में संभव नहीं ऐसे महा पुरुषों की है।"[1] इस गौरवशाली संस्कृति के उत्तराधिकारी हिन्दू-समाज को किसी अन्य समाज से कुछ भी लेना अपना गौरव नष्ट करना है। "जिसने अपने ज्ञान के एक अंश से संसार को पाला वही भारत जिसके ज्ञानामृत का एक बूंद लेकर योरुप फल और फूल रहा है, उन्हीं भिखारियों से भीख मांगने खड़ा है। जिस समाज में चाणक्य और शिवाजी जैसे राजनीतिज्ञ हुए.........वे अमरीका और स्विट्ज़रलैण्ड की ओर देखें तथा अपने जीवन की ओर दृष्टिपात न करें यह महान् चमत्कार है। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ हिन्दू-समाज की दृष्टि अन्तर्मुखी करना चाहता है। एक एक हिन्दू का हृदय राष्ट्र के प्रखर अभिमान से भर देना चाहता है। हर एक पुकार उठे कि भारत का कण कण मेरा है और इसीलिए भारत के हर कण से बना हुआ और उसको पवित्र मानने वाला भारत का एक एक हिन्दू मेरा है। भेद जीवन की क्षुद्रता का द्योतक है।"[2]

सभी फ़ासिस्ट विचार-धाराओं के समान राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ भी समाज के आर्थिक भेदों को उपेक्षा की दृष्टि से देखता है और उसके सांस्कृतिक ऐक्य पर बहुत अधिक जोर देता है। "संघ के लिए एक प्रामाणिक दरिद्र एक धनी से अधिक मूल्यवान है। संघ के जीवन के निकट जाने पर मालूम होगा कि संघ में धनी और निर्धन का कोई भेद नहीं। आप यदि गांवों में जाएँ तो मालूम हो जायगा कि जिस गांव में संघ की प्रभावी शाखा है वहाँ तथा कथित वर्ग-संघर्ष का कोई अस्तित्व नहीं। शोषित तथा शोषक का कोई भेद नहीं। गांव के जीवन में एक सहयोग तथा प्रेम का वातावरण निर्माण हो जाता है, जिसमें सब प्रकार के वर्ग स्वार्थ भस्म हो जाते हैं। .... संघ में समाज के सब वर्गों के लोग आते हैं। संघ-जीवन की एकात्मता में उनके वर्ग-स्वार्थों को कोई स्थान नहीं। निकृष्ट आर्थिक स्वार्थों के आधार पर समाज में वर्गों का निर्माण कर उनके संघर्ष को प्रोत्साहन देना संघ का कार्य नहीं। संघ तो 'हिन्दू' नाम से जो अपने को पहिचानते हैं उनको एकत्र कर समान सांस्कृतिक भूमिका पर सबको एक प्रचण्ड शक्ति के रूप में परिवर्तित करना चाहता है। भारत में कौनसी आर्थिक रचना होगी, कौन से 'वाद' की स्थापना

---

१ राष्ट्र-धर्म, मार्गशीर्ष २००४, पृष्ठ १२

२ राष्ट्र-धर्म, मार्गशीर्ष २००४, पृष्ठ १२–१३

होगी, इससे संघ को कोई मतलब नहीं।" १ समाजवादी और साम्यवादियों से राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के नेता "स्पष्टता पूर्वक कह देना चाहते हैं, कि वे रूस की ओर दृष्टि डालने के स्थान पर अपनी संस्कृति की विशेषताओं को ऐतिहासिक दृष्टि से देख लें। रूसी साम्यवाद भौतिकता की विनश्वर नींव पर आधारित है। वह केवल आर्थिक समस्याओं को सुलझाने का एक समाधान प्रस्तुत करता है, पर मानव की यही तो एक समस्या नहीं है,..........आर्य-संस्कृति ने भी साम्यवाद की मुक्त-कंठ से घोषणा की है, पर उसकी नींव अविनश्वर आध्यात्मिकता है, विनश्वर भौतिकता नहीं। ...... आर्यों का यह साम्यवाद विश्व भर की समस्याओं को सुलझाने का सामर्थ्य रखता है।" २ हमारा लक्ष्य भौतिक साधनों की उपलब्धि नहीं, राष्ट्र की आत्मा का साक्षात्कार होना चाहिए। "राष्ट्र की आत्मा का यदि यह साक्षात्कार न हुआ, अपितु आत्मा उसी प्रकार आक्रांत और निम्नगा रही अथवा अपनी चिति के ऊपर अन्य राष्ट्र की चिति का प्रभाव रहा तो जातीय जीवन के उत्कर्ष के स्थान पर अपकर्ष ही होता है। इस प्रकार चितियों के संघर्ष में यदि देशीय चिति बलवती न हुई तो अन्त में राष्ट्र-जीवन नष्ट हो जाता है।" ३

सामर्थ्य का आवाहन:

शक्ति की उपासना

इस राष्ट्र-जीवन को बलवान बनाने के लिए हमें भौतिक लक्ष्यों और निम्न स्वार्थों से उठना होगा और त्याग और कष्ट-सहन का जीवन बिताने के लिए

---

१ राष्ट्र-धर्म, कार्तिक २००४, पृ० १४५

तुलना कीजिए मुसोलिनी के निम्नलिखित उद्गारों से—

"फ़ासिज्म, अब और सदैव, पवित्रता और वीरता में विश्वास रखता आया है। इसका अर्थ यह है कि वह ऐसे कर्मों में विश्वास रखता आया है जिन पर आर्थिक उद्देश्यों का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष, कोई प्रभाव नहीं है। और यदि इतिहास की आर्थिक कल्पना, जिसके अनुसार मनुष्य भाग्य की लहरों में इधर से उधर थपेड़े खाता हुआ फिरता है जबकि उसे निर्देश देने वाली शक्तियां उसके नियंत्रण के परे हैं, झूठी सिद्ध हो जाती हैं तो उससे हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अपरिवर्तनीय और अपरिवर्तनशील माने जाते वर्ग-संघर्ष का अस्तित्व भी नहीं है— जो इतिहास की आर्थिक कल्पना की स्वाभाविक उपज माना जाता रहा है।"

२ राष्ट्र-धर्म, मार्गशीर्ष २००४, पृ० २१-२२

३ राष्ट्र-धर्म, कार्तिक २००४, पृ०१२६

तत्पर रहना होगा । "जीवन का मोक्ष आर्थिक समुन्नति में ही मानना, यह जीवन का अधूरा दृष्टिकोण है । जीवन की पूर्णता को प्राप्त करने के लिए आर्थिक प्रपंच से ऊपर उठना पड़ेगा । ...इसीलिए भारतीय जीवन में त्याग को अधिक महत्त्व दिया गया है" । १ अधिकारों से अधिक कर्त्तव्यों पर जोर दिया जाना भारतीय संस्कृति की विशेषता रही है । "दुर्भाग्य से हमने आसुरी जीवन को अपनाया, उसके द्वारा अपनी उन्नति की आकांक्षा से उसके पीछे दौड़े । अपनी बुद्धि, भारत की त्यागमय श्रेष्ठ बुद्धि, की परंपरा, अन्तःकरण की विशालता की परंपरा, को हटा कर परकीय भोग-प्रवणता को ही सर्वस्व मान कर लोगों ने कार्य आरम्भ किया । इसी के अनुसार आर्थिक तथा राजनैतिक अधिकार, कुछ इधर उधर के अधिकार, का—कर्त्तव्य का नहीं — चिन्तन करने में सारा जीवन लगा दिया" । २ एक सच्चे राष्ट्रवादी का लक्ष्य कर्त्तव्य और अधिकारों के झगड़े में पड़ना नहीं, अपने देश के लिए शक्ति संग्रहीत होना चाहिए । "यहाँ किसी भी विरोधी भावना को स्थान नहीं है । हमारा संगठन तो शाश्वत नियमों के आधार पर है । वाह्य परिस्थिति की प्रतिक्रिया अथवा विरोध तो चिरस्थाई गुण नहीं हैं, उसमें अपनेपन की विशुद्धता भी नहीं है । अपनेपन का अभिमान भारतीयत्व की उपासना, पूर्वजों के प्रति श्रद्धा, प्रत्येक हिन्दू को अन्तःकरण का अंश समझ कर प्रत्येक का सबके साथ तादात्म्य उत्पन्न करना, इस आधार पर संघटन द्वारा शक्ति निर्माण करना ही राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का कार्य है" । ३ संघ की विचार-धारा में सामर्थ्य की उपासना और शक्ति के महत्त्व पर ही सबसे अधिक जोर दिया गया है । "राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ ने प्रारम्भ से ही सामर्थ्य की उपासना का प्रतिपादन किया है । ...... शक्ति की उपासना करके भारतीयत्व के पीछे जिस सात्त्विक सामर्थ्य को संघ खड़ा करना चाहता है उसकी आवश्यकता आज भी बनी हुई है । हमें संसार के सामने दिखाना है कि हम अपने पैरों पर खड़े हुए हैं, अपने बाहुबल से जीवित हैं । संसार में सभी सज्जन नहीं हैं । उनके मन में हमारे बारे में सद्भाव नहीं है । साधारण रीति से हमारे चारों ओर जो समाज रहता है वह स्वार्थी है उसकी नजर साफ नहीं है । ....भारत का जीवन सुरक्षित, वैभव सम्पन्न तथा निर्भय तब ही होगा जबकि भारत का समाज हिन्दू समाज, अपनी संस्कृति के प्रखर अभिमान को लेकर शक्तिवान् हो" । ४ शक्ति का प्रयोग किस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए

१ राष्ट्र-धर्म, कार्तिक २००४, पृ० ८१
२ वही मार्गशीर्ष २००४, पृ०७
३ वही कार्तिक २००४, प०७

किया जायगा, इसके संबन्ध में भी संघ के विचार बिल्कुल स्पष्ट हैं। "आज विजय के इस महोत्सव पर," संघ के गुरूजी ने वार्षिक अधिवेशन के अपने एक अभिभाषण में कहा,........."अपनी विजयशालिनी परंपरा के प्रतीक परम पवित्र भगवाध्वज को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए यह निश्चय लेकर जावें कि जिस प्रकार इस ध्वज के नीचे अनेक बार पराक्रम करके भारतीय संस्कृति का पुनरुत्थान कर अपनी सामर्थ्य से उत्तर से दक्षिण तक स्वराज्य स्थापित किया उसी प्रकार अपनी सामर्थ्य से आज की समाज की प्रतिकूल स्थिति को बदल कर विजय के गौरव से मंडित करेंगे"। १

भगवे झंडे के तले एक विशुद्ध हिन्दू-राज्य की स्थापना होगी, यह राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का दृढ़ विश्वास, और उसके राशि राशि प्रयत्नों का एक मात्र लक्ष्य है। "सहस्रों वर्षों से संसार में भीषण संघर्ष करते हुए आज भी हिन्दू-राष्ट्र जीवित है। यदि हमारा प्राचीन जीवन क्षुद्र एवं संकीर्ण था और हमारी संस्कृति निकृष्ट थी तो क्यों नहीं हिन्दू-समाज सर्वदा के लिए नष्ट हो गया? ......जब विश्व के महान् शक्तिशाली राष्ट्र प्रबल विजेता शक्तियों के प्रचंड झंझावात में एक शुष्क पल्लव के समान उन्मूलित होकर सर्वदा के लिए नष्ट हो गए, जब विश्व की महान् कहलाने वाली संस्कृतियाँ शत्रु की विजय-वाहिनी के सन्मुख उध्वस्त हो गईं, जब विश्व के महान साम्राज्यों ने विजेता के चरणों पर अपना संपूर्ण वैभव न्यौछावर कर आत्म-समर्पण कर दिया, वह कौनसी शक्ति थी जिसके बल पर हिन्दू-राष्ट्र ने सदियों तक उन विजेताओं से संघर्ष किया? केवल इतना ही नहीं अन्त में उनको परास्त कर आत्मसात् कर डाला। ......प्रत्येक राष्ट्र का एक सत्त्व रहता है जो उसकी अनेकानेक आपदाओं से रक्षा करता है। हमारा भी राष्ट्रीय सत्त्व है जिसने अनेक परकीय सत्ताओं को उध्वस्त कर सदियों तक अविश्रांत संघर्ष किया और आज भी पूर्ण प्रखरता के साथ हमारे जीवन की प्रेरक शक्ति बना हुआ है। यही सत्व भावी जीवन रचना का भी एकमेव आधार होगा"। २ इस जीवन-रचना में निःसन्देह केवल वही व्यक्ति भाग ले सकेंगे जो हिन्दू-राष्ट्र के अविच्छिन्न अंग हों। 'हिमालय से लेकर इन्दु सरोवर पर्यन्त देवनिर्मित देश 'हिन्दुस्तान' कहलाता है। उक्त भौगोलिक स्थिति को ध्यान में रख कर यद्यपि यह बात कही जा सकती है कि प्रत्येक भारतवासी 'भारतीय' अथवा हिन्दुस्तान का निवासी 'हिन्दू' कहला सकता है किन्तु जिस प्रकार 'आर्य' शब्द से ऐसे पुरुष का ही बोध होता है जो हमारे

४ वही राष्ट्र-धर्म, कार्तिक २००४, पृ० ६—७,

१ राष्ट्र-धर्म, कार्तिक २००४, पृ०७८

२ राष्ट्र-धर्म, कार्तिक २००४, पृ० ७८

राष्ट्र की संस्कृति में निष्ठा रखता हो उसी प्रकार 'भारतीय' वही कहला सकता है जिसे राष्ट्रीय राजतन्त्र का अंग बन सकने का अधिकार हो तथा 'हिन्दू' वही कहला सकता है जो इस राष्ट्र-भूमि के राष्ट्र का घटक हो ।........समस्त भारतभूमि आर्य हिन्दुओं की राष्ट्र-भूमि है। अतः इस भूमि पर हिन्दू-तंत्र की स्थापना में स्वतन्त्रता तथा हिन्दू राज्य की स्थापना में स्वराज्य निहित है"।१ इस विचार-धारा के आधार पर जिस 'स्वराज्य' की नींव डाली जायगी वह निःसन्देह मुसोलिनी और हिटलर के इटली व जर्मनी के 'स्वराज्य' की एक पीली सी छाया-मात्र होगी, आज के विश्वकी धमनियों में प्रवाहित होने वाले नए उष्ण रक्त की अरुणिमा से सर्वथा शून्य और चारों ओर से उच्छ्वसित होने वाले नवीन जीवन के राशि राशि स्रोतों से सर्वथा विच्छिन्न ।

---

१ राष्ट्र-धर्म, कार्तिक २००४, पृ०४६

: ७ :

भारतीय-फासिज्म के आधार तत्व

धार्मिक भावना का विकास और राजनैतिक संघटन

हिन्दू-राज्य की कल्पना को अपनाने के पहिले हमें कुछ मूल-सिद्धान्तों पर विचार कर लेना चाहिए, और उसमें भी सबसे पहिले हमें यह देख लेना चाहिए कि धर्म और राज्य का वास्तविक संबंध अब तक क्या रहा है और, इतिहास की शिक्षाओं को देखते हुए, अब क्या होना चाहिए। यह एक निर्विवाद सत्य है कि धर्म की स्थापना राज्य की स्थापना से बहुत पहले हुई। जिस समय राजनैतिक चेतना और राजनैतिक संघटन की कल्पना का जन्म भी नहीं हुआ था, धर्म-संबंधी भावनाएँ मानव-आत्मा में विकास के एक ऊँचे शिखर तक पहुँच चुकी थीं। राज्य की वर्त्तमान कल्पना तो तीन चार सौ वर्षों से अधिक पुरानी नहीं है, और किसी भी प्रकार का राजनैतिक संघटन शायद ढाई हजार वर्ष से पुराना नहीं है। परंतु धार्मिक भावना का प्रादुर्भाव तो संभवतः मानव-समाज के जन्म से ही हो गया था। आदि मानव ने जब पहिली बार आँख खोली तो उसने एक आश्चर्य की भावना के साथ अपने आस पास की सृष्टि पर नजर डाली और उसके मन में एक कुतूहल पैदा हुआ कि वह स्वयं कौन है, इस असीम सृष्टि से उसका क्या संबंध है और इस सबका निर्माण किसने किया है। एक अज्ञात शक्ति के प्रति उसके मन में कुछ कुतूहल, कुछ भय और कुछ आकर्षण उत्पन्न हुआ, और उसी क्षण मनुष्य की धार्मिक भावना का जन्म हुआ। इस भावना को आधार बना कर बाद में बड़े बड़े संप्रदाय, समाज, संघ व संस्थाओं की नींव रखी गई।

इस प्रकार के धार्मिक संघटन राजनैतिक संघटनों के मुक़ाबिले में कहीं पहिले विकसित हो चुके थे। जब राजनैतिक संस्थाएं बनने लगीं तब भी दुनियाँ के बड़े हिस्से में एक लंबे अर्से तक उनमें और धार्मिक संस्थाओं में किसी प्रकार का मतभेद नहीं हुआ। यह कहा जा सकता है कि साधारण व्यक्ति की आस्था

धर्म के प्रति अधिक थी, राज्य के प्रति कम, यद्यपि साधारणत: वह दोनों का ही मान करता था। कभी कभी ऐसा होता था कि शासक वर्ग किसी एक धर्म-विशेष से संबद्ध होता था और उसकी प्रजा में बहुत से ऐसे लोग भी होते थे जो किसी दूसरे धर्म को मानते थे पर, कम से कम एशिया के देशों में, उनके प्रति असहिष्णुता का कोई बर्ताव नहीं किया जाता था। यूरोप में धर्म के नाम पर कुछ अत्याचार हुए, परन्तु ईसाई धर्म के समुचित रूप से विकसित हो जाने के बाद धार्मिक असहिष्णुता के लिए कोई स्थान नहीं रह गया था। मध्य युग में पहिली बार यह प्रश्न उठा कि धर्म और राज्य इन दोनों में कौन बड़ा है और किस के प्रति व्यक्ति को अधिक वफ़ादार होना चाहिए। इस संबंध में लंबे अर्से तक एक सैद्धांतिक चर्चा चलती रही। किसीने कहा कि धर्म बड़ा है, किसी ने राज्य को बड़ा बताया और किसी ने कहा कि धर्म और राज्य दोनों ही ईश्वर की दो तलवारें हैं और इनमें से किसी एक को बड़ा या छोटा मानना ठीक नहीं है।

आधुनिक युग के प्रारंभ में जब एक-छत्र शासन की कल्पना प्रबल होने लगी तब राजा की ओर से यह दावा उठाया गया कि धार्मिक संघटन शासन-तंत्र की तुलना में छोटे स्तर पर है, और जनता के लिए उसी धर्म पर चलना अनिवार्य होना चाहिए जिसमें राजा का विश्वास है। इस बीच ईसाई मत दो भागों में बँट गया था—कुछ रोमन कैथोलिक मत को मानने वाले थे और कुछ प्रोटेस्टैण्ट चर्च के अनुयायी बन चुके थे। स्वयं प्रोटेस्टैण्ट चर्च भी कई हिस्सों में बँटा हुआ था, इस कारण प्रत्येक देश में थोड़े बहुत व्यक्ति ऐसे ज़रूर थे जिनके धार्मिक विश्वास राजा की इच्छा के अनुसार नहीं थे, और इन लोगों को प्राय: राजा के द्वारा किए जाने वाले अत्याचारों का शिकार होना पड़ता था। इंग्लैण्ड में तो एक ही राज-वंश के शासन-काल में यह दशा रही कि कभी तो किसी प्रोटेस्टैण्ट राजा के द्वारा रोमन कैथोलिकों पर अत्याचार होता था, और कभी किसी रोमन कैथोलिक रानी के द्वारा प्रोटेस्टैण्ट लोगों को जिन्दा जला दिया जाता था। स्पेन और फ्रांस आदि देशों में हजारों व्यक्ति अपने धार्मिक विश्वासों के कारण फाँसी की टिकटिकी पर लटका दिए गए। सत्र-हवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में तीस वर्ष तक चलने वाला एक बड़ा धार्मिक युद्ध हुआ, जिसमें यूरोप के सभी प्रमुख देश शामिल थे, परंतु इस युद्ध के बाद ही यूरोप में यह विश्वास तेज़ी से मिटने लगा कि किसी व्यक्ति के धार्मिक विश्वासों को ज़ोर या ज़बरदस्ती से बदला जा सकता है, और यह विचार फैलने लगा कि धर्म तो एक व्यक्तिगत चीज़ है जिसमें दख़ल देने का किसी राजनैतिक सत्ता को अधिकार नहीं होना चाहिए। पिछले तीन सौ वर्षों में धार्मिक सहि-

ष्णुता का यह भाव और धर्म के क्षेत्र में राज्य के द्वारा हस्तक्षेप न करने की नीति सभी सभ्य देशों में सर्वग्राह्य सिद्धान्तों के रूप में मान लिए गए हैं, और आज किसी भी देश के राजनैतिक दृष्टि से सचेत और साधारण ज्ञान की दृष्टि से समझदार किसी भी व्यक्ति के सामने यदि यह कल्पना रखी जाए कि राज-तंत्र को किसी धर्म-विशेष से संबद्ध करना आवश्यक है तो वह उसका मखौल ही उड़ाएगा। इस प्रकार की कल्पना आज यदि हमारे देश में पाई जाती है और हमारे आस पास के देशों में भी काफ़ी लोगों का उसमें विश्वास दिखाई देता है, तो उसका कारण यही है कि परिस्थितियों का चक्र हमारे देश में कुछ इस प्रकार चलता रहा है, और हाल में कुछ ऐसी घटनाएँ हुई हैं, जिनके परिणाम-स्वरूप हम अपना मानसिक संतुलन, और स्पष्ट चिन्तन की क्षमता खो बैठे हैं। बुद्धि के प्रकाश के अभाव में ही मानसिक विकार से जन्म लेने वाली असंख्य अस्पष्ट मूर्तियाँ भूतों का आकार लेकर हमें चारों ओर से जकड़ना प्रारंभ कर देती हैं।

हिन्दू-राज्य की कल्पना: भारतीय इतिहास की पृष्ठ भूमि पर

हमारे देश में कभी भी हिन्दू-राज्य स्थापित करने की दिशा में कोई संगठित प्रयत्न नहीं किया गया। आज हिन्दू सांप्रदायिकतावादी नेताओं के द्वारा राणा प्रताप, गुरु गोविन्दसिंह और शिवाजी का नाम लिया जाता है, भगवे झंडे की चर्चा होती है और यह कहा जाता है कि इन लोगों ने देश में मुस्लिम-राज्य को खत्म करके सिख अथवा हिन्दू राज्य क़ायम करना चाहा था। इस सम्बन्ध में पहले तो यह कहना ही गलत है कि मुगलों ने अथवा अन्य मुसलमान शासकों ने हिन्दुस्तान में कोई इस्लामी राज्य कायम किया या करना चाहा था। अलाउद्दीन खिलजी की उक्ति थी, "मैं नहीं जानता कि मैं जो कर रहा हूँ वह कहाँ तक धर्म या शरीयत के अनुकूल है। मैं तो वही करना चाहता हूँ जो राज्य के हित में हो।" उसके बाद भी यही भावना मुसलमानों द्वारा देश में स्थापित किए जाने वाले शासन का मूल-मंत्र बनी रही, और मुग़लों ने तो उसे और भी व्यापक रूप देकर हिन्दू और मुसलमानों के सहयोग को अपने शासन का आधार बनाया। सत्रहवीं शताब्दी में मुग़ल-साम्राज्य के विरुद्ध जितने आन्दोलन उठे, उनमें धार्मिक पुट होते हुए भी वे शुद्ध राजनैतिक आन्दोलन थे, जिनका स्पष्ट उद्देश्य मुग़ल-साम्राज्य की दासता से मुक्त होना था। राणा प्रताप के विरोध में तो मुग़लों से सहयोग करने की उस समय की प्रचलित, और राजनीति-सम्मत, राजपूत प्रवृत्ति के विरुद्ध एक शौर्यपूर्ण विद्रोह का भाव था, और एक काल्पनिक

स्वाधीनता के अव्यावहारिक आदर्शवाद के प्रभाव में उन्होंने जीवन भर मुग़लों के विरुद्ध अपना संघर्ष जारी रखा। राणा प्रताप की शूरवीरता का मैं क़ायल हूँ, उनकी राजनैतिक दूरदर्शिता के सम्बन्ध मे मेरे अपने सन्देह हैं, पर यह निश्चित है कि हिन्दू-धर्म को आधार बना कर चलने वाले, अन्य भौतिक राज्यों से भिन्न, *किसी धार्मिक राज्य की स्थापना की कोई कल्पना कभी उनके मन में* नहीं उठी। सिखों ने भी पंजाब में अपना एक स्वतंत्र शासन क़ायम करना चाहा था, और वैसा करने में, मुग़ल-साम्राज्य के पतन के बहुत दिनों बाद, जब वे सफल भी हो गए तब भी उनकी राज्य-व्यवस्था में हम कोई ऐसी बात नहीं पाते जिसे उसके सिख-धर्म के सिद्धान्तों पर निर्धारित होने के लिए प्रमाण के रूप में हम ले सकें।

अब हमें यह देखने का प्रयत्न करना है कि शिवाजी कहां तक एक विशुद्ध धार्मिक राज्य क़ायम करना चाहते थे। शिवाजी धार्मिक प्रकृति के पुरुष थे, इसमें सन्देह नहीं, और उनका भगवा झंडा इस बात का द्योतक है कि वह गुरू रामदास के नाम पर अपना शासन चलाना चाहते थे। स्वामी रामदास एक तीक्ष्ण राजनैतिक बुद्धिवाले व्यक्ति थे, जैसा कि उनके अभंगों से प्रगट होता है, परन्तु दिन प्रतिदिन की सक्रिय राजनीति में उनका हस्तक्षेप रहा हो, इसका कोई प्रमाण हमें नहीं मिलता। शिवाजी अन्य हिन्दू शासकों के समान यह घोषणा करते रहते थे कि उनका राज्य गौ व ब्राह्मणों के प्रतिपालन के लिए है, परन्तु अन्य धर्म वालों के प्रति किसी प्रकार की अनुदारता, जो शिवाजी के बीसवीं सदी के अनुयायियों में बहुत बड़ी मात्रा में पाई जाती है, शिवाजी में बिल्कुल भी नहीं थी। शिवाजी के बड़े से बड़े विरोधियों ने भी इस बात की प्रशंसा की है कि वह दूसरे धर्म के मानने वालों के प्रति सदा ही आदर का वर्त्ताव करते थे। हिन्दू सन्यासियों का तो वह आदर करते ही थे, मुसल्मान सूफ़ियों और फक़ीरों को सहायता देने और उनके लिए आश्रम आदि बनवा देने के अनेकों उदाहरण हमें इतिहास में मिलते हैं। कट्टर मुसलमान इतिहासकार खफीखाँ के शब्दों में, "शिवाजी ने यह नियम बना रखा था कि जब कभी उनके सिपाही लूटमार के लिए निकलें वे मस्जिदों, कुरान शरीफ़ अथवा किसी महिला को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाएँ। पवित्र क़ुरान की कोई प्रति जब कभी उनके हाथों में पड़ती थी वह उसके प्रति अपना आदर प्रदर्शित करते थे और उसे अपने किसी मुसल्मान अनुयायी को दे देते थे। हिन्दू अथवा मुसल्मान कोई भी स्त्री जब कभी उनके सिपाहियों द्वारा पकड़ी जाती थी, वह उस समय तक उसकी रक्षा करते थे जब तक कि उसके संबंधी काफ़ी रुपया देकर उसे छुड़ा न ले जाएँ।" एक और

स्थान पर खफीखाँ ने लिखा है, "वह किसी भी प्रकार के लज्जाजनक कामों से अपने को सदा बचाकर रखते थे और मुसलमानों की स्त्रियों और बच्चों की इज्जत की रक्षा करने में तो विशेषरूप से सतर्क रहते थे। इस संबंध में उनके आदेश बहुत सख्त थे और जो उनकी अवहेलना करता था उसे सख्त सज़ा ही दी जाती थी।"

शिवाजी के शासन-तंत्र को यदि निकट से देखा जाए तो यह कहा जा सकता है कि उनकी सबसे बड़ी कमज़ोरी यह थी कि उसने राज्य को एक धार्मिक अथवा जातीय संघटन से बिल्कुल अलहदा रखने का प्रयत्न नहीं किया, और यही उसके पतन का सबसे बड़ा कारण भी सिद्ध हुआ। मराठा शासन में, धर्मांधता को तो नहीं पर, रूढ़िप्रियता को प्रोत्साहन दिया गया। सरकारी नौकरियों के वितरण में भी जात-पांत का ध्यान रखा जाता था। इसका परिणाम यह हुआ कि जातिगत झगड़े बढ़ गए। जैसा कि श्री यदुनाथ सरकार ने लिखा, "सह्याद्रि पर्वतश्रेणी के पूर्व के ब्राह्मण उन ब्राह्मणों को घृणा की दृष्टि से देखते थे जो उसके पश्चिम में रहते थे, और पहाड़ियों में रहने वाले व्यक्ति मैदान में रहने वालों को अपने से छोटा समझते थे। राज्य का अध्यक्ष ब्राह्मण होते हुए भी अपने उन ब्राह्मण कर्मचारियों द्वारा, जो किसी ऊँचे गोत्र के थे, इस कारण अवज्ञा की दृष्टि से देखा जाता था कि पहिले पेशवा के प्रपितामह के प्रपितामह किसी समय समाज में देशस्थ ब्राह्मणों के प्रपितामह के प्रपितामह से छोटे माने जाते थे। चितपावन ब्राह्मण देशस्थ ब्राह्मणों के साथ सामाजिक संघर्ष में उलझे हुए थे। ब्राह्मण मंत्रियों और सूबेदारों में और कायस्थ कारकूनों में आपसी ईर्ष्या बढ़ती जा रही थी।"

हिंदू समाज के संघटन में आंतरिक दोष

सच तो यह है कि हिन्दू समाज में ही संघटन की दृष्टि से इतने अधिक दोष हैं कि उसके आधार पर यदि किसी राज्यतंत्र के निर्माण का प्रयत्न किया गया तो उसका सफल होना बहुत कठिन है। हिन्दू धर्म तो एक व्यापक और उदार-धर्म है, परन्तु सामाजिक दृष्टि से उसका आधार असमानता पर है, और उसमें व्यक्ति के सामाजिक जीवन पर उतना जोर नहीं दिया गया है जितना जाति अथवा कुटुम्ब के सामूहिक जीवन पर और उसका परिणाम यह हुआ है कि, हिन्दू होने के नाते, हिन्दुओं को अपना दृष्टिकोण सामाजिक बनाना आवश्यक है इस बात को हिन्दू-समाज ने अब तक अनुभव नहींकिया ह। जाति और वर्ग के व्यवधानों को लेकर हिन्दू-समाज में सद

हीं एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति के बीच में दीवारें खड़ी की जाती रहीं हैं—दीवारें, जो श्री. रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दों में, "विचारों के प्रकाश और जीवन के श्वास को रोकने में ही समर्थ हुई हैं।" हरिजनों के साथ किया जाने वाला दुर्व्यवहार और हिन्दुओं की गिरी हुई स्थिति हिन्दू-समाज के लज्जा जनक तथ्य हैं। यह निश्चित है कि जब तक इन सामाजिक बुराइयों को नष्ट नहीं किया जाता, हिन्दू-राज्य की बात तो दूर किसी राष्ट्रीय भावना का विकास भी हिन्दू-समाज में असंभव है। श्री. रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दों में ही, "एक अस्थायी उत्साह देश भर में फैल जाता है और हम समझने लगते हैं कि उसमें एकता स्थापित हो गई है, परंतु हमारे सामाजिक ढाँचे के सहस्र सहस्र छिद्र अपना काम गुप्त रूप से करते रहते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि हम किसी भी सुन्दर विचार को देर तक नहीं रख पाते।" शिवाजी के संबंध में श्री. रवीन्द्रनाथ ने लिखा है—"शिवाजी ने इन छिद्रों को ज्यों का त्यों रखना चाहा। उन्होंने मुग़लों के आक्रमण से एक ऐसे हिन्दू-समाज को सुरक्षित रखना चाहा जिसके लिए कर्मकाण्ड के भेद और जाति-पांति की व्यवस्था जीवन की सांस थी। उन्होंने चाहा कि टुकड़ों में बँटा हुआ यह समाज **समस्त** भारत वर्ष पर विजय प्राप्त कर ले। उन्होंने बालू के कणों से रस्सी बँटना चाही। उन्होंने असंभव को संभव करना चाहा। ऐसे जाति-पांति के भेदों से लदे हुए, विभाजित और भीतर से टूटे फूटे हुए धैर्य का 'स्वराज्य' हिन्दुस्तान जैसे बड़े महाद्वीप पर स्थापित करना किसी भी मनुष्य की शक्ति के बाहर है। यह विश्व के दैवी नियमों के भी विरुद्ध है।" आज से चालीस वर्ष पूर्व लिखे हुए रवीन्द्रनाथ ठाकुर के इन शब्दों पर उन लोगों को, जो हिन्दू-राज्य की स्थापना के लिए शिवाजी के नाम की दुहाई देते हुए थकते नहीं हैं, गम्भीरता से विचार करना चाहिए।

हमें यह भी देख लेना है कि हिन्दू-राज्य की कल्पना व्यावहारिक दृष्टि से कहाँ तक संभव है। शिवाजी के उदाहरण से यह तो स्पष्ट है कि जिस सीमित रूप में उसे स्थापित करने का प्रयत्न किया गया उसमें असफलता ही मिली। आज भी यदि हम इस प्रकार का राज्य बनाना चाहें तो उसका परिणाम यह होगा कि देश में जात-पाँत के भेद बहुत बढ़ जायेंगे और वे सब सामाजिक कुरीतियाँ स्थाई रूप ले लेंगी जिन्हें आज हम उखाड़ने के प्रयत्न में लगे हुए हैं। एक ग़ल्ती जो हम वर्षों से करते आए हैं यह है कि हमने हिन्दू-समाज को हिन्दू-धर्म का पर्यायवाची मान लिया है। जिन बुराइयों के कारण हिन्दू बदनाम रहे हैं वे हिन्दू-धर्म में नहीं हिन्दुओं के सामाजिक ढांचे में रही हैं, और ये बुराइयां ऐसी हैं जिनका हिन्दू-धर्म की मूल-भावना से बिल्कुल

भी संबंध नहीं रहा है। जाति-व्यवस्था का कोई समर्थन हम वेदों अथवा अन्य धर्म-ग्रंथों में नहीं पाते। गीता का जो श्लोक — "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः"— जाति-व्यवस्था के समर्थन में प्रायः उद्धृत किया जाता है उससे भी यह स्पष्ट है कि चारों वर्णों की सृष्टि गुण और कर्म के आधार पर की गई, न कि ऊँच और नीच के आधार पर। इस प्रकार अस्पृश्यता अथवा समाज में शूद्रों के हीन स्थान आदि का समर्थन भी हम हिन्दू-धर्म के नाम पर नहीं कर सकते। ये तो ऐसी खराबियां हैं जो हिन्दू-समाज में कुछ एतिहासिक परिस्थितियों के कारण जड़ पकड़ गई हैं। इन खराबियों को हिन्दू-धर्म का अंग मान कर हमने बड़ी ग़ल्ती की है, पर हिन्दू-समाज-व्यवस्था के आधार पर किसी राज्य का संगठन करने की ग़ल्ती उससे भी भयंकर होगी। धर्म, समाज और राज्य इन तीनों के भेद को समझ लेना और उन्हे एक दूसरे से अलग रखने का प्रयत्न करना सभी दृष्टियों से वांछनीय है। हिन्दू-धर्म एक व्यक्तिगत चीज़ है। उसके आधार पर कभी भी किसी समाज का संगठन नहीं हुआ है। हिन्दुस्तान में रहने वाले समाज में सदा ही कई धर्मों के मानने वाले मिलजुल कर रहते आए हैं। एक कुटुम्ब में ही कई धर्मों और मतों के मानने वाले व्यक्तियों के एक साथ रहने के अनेकों उदाहरण आज भी मिलते हैं। इस हिन्दू-समाज में, पिछली शताब्दियों में अनेकों खराबियां आ गई हैं, और उनके कारण आज वह मृतप्रायः अवस्था में है। उसमें यदि फिर से नये प्राणों का संचार करना है तो उन ख़राबियों को दूर करना होगा। हिन्दू-समाज के वर्त्तमान टूटे-फूटे और गले-सड़े ढांचे को लेकर हमने यदि एक हिन्दू-राज्य की सृष्टि करना चाही तो एक ओर तो हम इन खराबियों को स्थायी रूप दे देंगे और दूसरी ओर एक ऐसा निकम्मा राजतंत्र खड़ा कर लेंगे जिसका बीसवीं सदी की दुनिया में कुछ महीनों के लिए खड़ा रहना भी असंभव होगा।

हिंदू-राज्य : व्यावहारिक दृष्टि-कोण से

इस हिन्दू-राज्य की रूप रेखा क्या होगी और एक मुख्य प्रश्न तो यह है कि, अल्प-संख्यकों के साथ उसका वर्त्ताव कैसा होगा? यह तो निश्चित है कि एक धर्म विशेष से संबद्ध होकर चलने वाले राज्य-तंत्र का समस्त आधार अल्पसंख्यकों के प्रति घृणा की भावना में होगा—हम मुसल्मानों को दिन पर दिन अधिक उपेक्षा और तिरस्कार की दृष्टि से देखने के अभ्यस्त होते जायेंगे। ऐसा राज्य निःसन्देह देश में रहने वाले अल्प संख्यकों के साथ अत्याचार का वर्त्ताव करेगा। उनके मारे काटे जाने, उनकी जायदाद लूटी जाने या जलाए

जाने और उनकी स्त्रियों और बच्चों पर अत्याचार किए जाने की उसकी ओर से खुली छूट होगी। इसका परिणाम यह होगा कि अल्प-संख्यक वर्ग या तो नष्ट हो जायगा या उसके ख़िलाफ़ विद्रोह कर देगा, या परिस्थितियों से समझौता करके बहु-संख्यक वर्ग के गुलामों सा जीवन व्यतीत करने पर विवश हो जायगा। इनमें से कोई भी स्थिति वांछनीय नहीं मानी जा सकती। हमारे देश की सीमाओं में सितम्बर १९४७ से जनवरी १९१८ तक, सरकार के प्रबल विरोध के बावजूद भी, अल्प-संख्यकों पर जो अत्याचार हुए हैं उनसे हमारी प्रतिष्ठा को बड़ा धक्का लगा है। यदि इस प्रकार के अत्याचार फिर से शुरू किए गए तो बहुत जल्दी अन्तर्राष्ट्रीय जगत में हमारी बची हुई साख भी खत्म हो जायगी। अल्प-संख्यकों के विरोध ने यदि खुले विद्रोह का रूप लिया तो उससे हमारे सामने एक बड़ी जटिल समस्या खड़ी हो जायगी, जिसे हम आसानी से नहीं सुलझा सकेंगे, और यदि यह विद्रोह गुप्त रूप से संगठित किया जाता रहा तो हम कह नहीं सकते कि वह कब और किस रूप में भड़क उठेगा।'

दो बातें हमारे देश के नासमझ वर्ग की ओर से अक्सर कही जाती हैं, और वे दोनों ही खतरनाक हैं। एक तो यह कहा जाता है कि दुनिया की राजनीति से हमें क्या लेना देना है, हमें तो अपने देश से मतलब है। उसे हम जैसे चाहेंगे वैसे संघटित करेंगे, बाहर की दुनियां का हस्तक्षेप हम उसमें बर्दाश्त नहीं करेंगे। अन्तर्राष्ट्रीय लोकमत यदि हमारे पक्ष में हुआ तो उससे हमें कौन सा बड़ा लाभ मिलने वाला है, और यदि वह हमारे विरुद्ध चला गया तो वह हमारा क्या बिगाड़ लेगा। इस प्रकार की बात केवल वही व्यक्ति कर सकता है जो बीसवीं सदी की वस्तुस्थिति और बीसवीं सदी की राजनीति के क ख ग से भी परिचित नहीं है, और यह नहीं जानता कि दुनियां आज इतनी तेज़ी से सिकुड़ती जा रही है कि देशों की सीमाओं का अस्तित्व ही मिट सा गया है। आज कोई भी देश इस स्थिति में नहीं रह गया है कि अपने को विश्व की राजनीति से अलहदा रख सके। दूसरी बात यह कही जाती है कि बहु-संख्यक होने के नाते देश के मालिक हम हैं और यदि अल्प-संख्यक हमारे बीच रहना चाहते हैं तो उन्हें हमारे गुलाम बन कर रहना होगा। जहां जनतंत्र का अर्थ हर्गिज़ यह नहीं है कि जाति अथवा धर्म के आधार पर संगठित किसी बहुमत को अल्प-मत वालों के धर्म अथवा संस्कृति अथवा आत्म-सम्मान को पैरों तले रौंदने का अधिकार मिला हुआ है, केवल मानवता की दृष्टि से ही इस प्रश्न को देखें तो मैं नहीं समझता कि इस प्रकार के विचार रखते हुए कोई मनुष्य अपने को सभ्य कहने का साहस कैसे कर सकता है। इन्सान या

किसी अन्य धर्म के मानने वालों को हम गुलाम बना कर रखें, इस कल्पना से जिस मनोवृत्ति को संतोष मिल सकता हैं वह निःसन्देह ओछे ढंग की मनोवृत्ति है, और ऐसी मनोवृत्ति जिन लोगों की हो उनके हाथ में राज्य का नेतृत्व दे देना उसे सर्वनाश की लपटों में झोंक देने के समान है ।

इस प्रकार की किसी भी नीति पर चलने का स्वाभाविक परिणाम यह भी होगा कि पाकिस्तान से हमारे सबन्ध बिगड़ते जायेंगे। पाकिस्तान से हमारे सबन्ध आज भी अच्छे नहीं हैं, और पाकिस्तान जब तक अपने को एक इस्लामी — (धार्मिक) राज्य घोषित करता रहेगा और अपने को वैसा बनाने के प्रयत्नों में लगा रहेगा, उससे हमारे संबंध सुधरने की आशा भी नहीं है । पर उन संबधों को और भी बिगाड़ने में योग देना हमारे लिए भी घातक ही होगा। मैं जानता हूँ कि जो लोग हिन्दू-राज्य की बात करते हैं उन्हें पाकिस्तान से हमारे संबंधों के बिगड़ने या सुधरने की कोई चिन्ता नहीं है और उनका अन्तिम लक्ष्य पाकिस्तान को हड़प लेना है। मैं मानता हूँ कि हमारे इस प्राचीन देश का हिन्दुस्तान और पाकिस्तान नाम के दो भागों में बांट दिया जाना प्रकृति के खिलाफ है, और मैं बड़ी उत्सुकता से उस दिन की प्रतीक्षा कर रहा हूँ, जब यह अप्राकृतिक विभाजन मिट जाएगा और हिन्दुस्तान की एकता हमें वापिस मिल सकेगी, परंतु मैं पाकिस्तान को प्रेम के द्वारा जीतना चाहूँगा जब कि ये लोग शक्ति के बल से उसे जीत लेने की आकांक्षा रखते हैं, और मेरा लक्ष्य होगा कि उस मिले-जुले देश में हिन्दुस्तान की बड़ी कौमें, हिन्दू और मुसलमान, भाई भाई के समान एक दूसरे से मिल जुल कर रहें जबकि ये लोग एक ऐसा अखण्ड हिन्दुस्तान बनाना चाहते हैं जिसमें मुसलमान हिन्दुओं के गुलाम बन कर रहें। शक्ति के प्रयोग के द्वारा पाकिस्तान को खत्म कर देना आसान बात नहीं है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि पाकिस्तान अकेला नहीं है। ज्यों ज्यों पाकिस्तान के प्रति हमारी नीति असहिष्णुता के आधार पर बनती जाएगी, पाकिस्तान को इस्लाम की रक्षा के नाम पर मुसलमान देशों का समर्थन मिलता जाएगा और ये मुसलमान देश अपने आप में चाहें निर्बल हों परंतु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के दाव-पेंचों में उनका बड़ा महत्त्व है और इस कारण अमरीका जैसे बड़े राष्ट्र का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष समर्थन उसे आसानी से मिल सकेगा। हिन्द में हिन्दू-राज्य की स्थापना का अर्थ होगा बड़े पैमाने पर लड़े जाने वाले एक धार्मिक युद्ध को निमंत्रण देना। इस्लाम की रक्षा के नाम पर जहाँ बहुत से देश संगठित किए जा सकते हैं, हिन्दुत्व की रक्षा के नाम पर हम किसी एक देश को भी अपने साथ नहीं ले सकेंगे। हमारे पड़ोसी देश लंका, बर्मा, चीन, आदि जिनसे हमारा धार्मिक दृष्टिकोण कुछ मिलता-जुलता

है, निःसन्देह हिन्दुत्व की रक्षा के लिए अपने स्वार्थों की वलि देने के लिए कभी तैयार नहीं होंगे। ऐसी स्थिति में क्या हम लगभग सभी देशों का अपने विरुद्ध संगठित न कर लेंगे? यह कहना आसान है कि आज जब दुनियां स्पष्टतः दो गुटों में बँट गई है, अमरीका और ब्रिटेन के हमारे विरोध में जाने से हमें अनिवार्यतः रूस का समर्थन मिल सकेगा। मैं नहीं समझता कि किसी ऐसे संघर्ष में जिसका लक्ष्य हमारे इस जीर्ण शीर्ण रूढ़िग्रस्त और प्रतिगामी समाज-तंत्र की रक्षा करना हो, अपने को युद्ध में झोंकने के लिए रूस उद्यत हो जाएगा।

धर्म, समाज, राष्ट्र और राज्यः सैद्धांतिक विश्लेषण

सच तो यह है कि इस संबंध में हमारा चिन्तन वड़ा अस्पष्ट और उलझा हुआ है। कई वातें ऐसी हैं जिन्हें एक दूसरे से अलहदा करके देखना चाहिए। पहिली वात तो धर्म और समाज के आपसी संवन्धों की ही है। वहुत दिनों से हम हिन्दू-समाज की जाति-व्यवस्था, अस्पृश्यता आदि कुरीतियों को हिन्दू धर्म के साथ संवद्ध करने की ग़ल्ती करते आए हैं। हमारी इन सामाजिक कुरीतियों का हमारे धर्म से कोई सम्वन्ध नहीं है। हिन्दू धर्म कभी इन कुरीतिओं का समर्थन नहीं करता है। इन कुरीतियों को हम नष्ट करदें, अपने सामाजिक ढाँचे को हम वदल डालें तो भी हम अच्छे हिन्दू वने रह सकते हैं। हिन्दू-धर्म तो इतना व्यापक है कि वह प्रत्येक को अपने ढंग का जीवन विताने और अपने विचारों पर दृढ़ रहने की स्वतन्त्रता देता है। जैसा कि श्रीकृष्ण ने गीता में कहा हैं, सभी मार्ग ईश्वर की ही ओर जाते हैं जैसे सभी नदियां समुद्र की ओर वढ़ती हैं। हिन्दू-धर्म में प्रत्येक व्यक्ति को अपने मार्ग पर चलने की आजादी है। दूसरी वड़ी ग़ल्ती जो हम करते हैं वह यह मान लेने की कि वर्त्तमान हिन्दू-समाज के आधार पर एक राष्ट्र का संघटन किया जा सकता है। हिन्दू-समाज का जो वर्त्तमान ढांचा है उसके आधार पर राष्ट्रीयता की भावना का विकास असंभव है। हिन्दू-समाज व्यक्ति से अपेक्षा करता है कि वह अपनी जाति और कुटुंव के प्रति अपनी प्राथमिक निष्ठा प्रदर्शित करे जवकि राष्ट्रीयता का तकाजा होता है कि व्यक्ति अन्य सभी सामाजिक मर्यादाओं से मुक्त होकर अपने को राष्ट्र का एक अविच्छिन्न अंग माने। जब तक जातपांत के भेद हैं, अस्पृश्यता है, स्त्री का दर्जा पुरुष से नीचा माना जाता है तब तक किसी समाज में राष्ट्रीयता की दृढ़ भावना का विकास असम्भव है।

यह निश्चित है कि हिन्दू-समाज के वर्त्तमान ढांचे के आधार पर राष्ट्रीयता

की भावना विकसित करने का जो भी प्रयत्न किया जाएगा व्यर्थ होगा। हिन्दू-समाज में जिन लोगों की दिलचस्पी है उनका पहिला काम तो यह होना चाहिए उन रूढ़िगत परंपराओं को नष्ट करने में अपनी सारी शक्ति लगा दें जिन्होंने हिन्दू-समाज को खोखला और निस्सार बना दिया है। पच्चीस करोड़ व्यक्तियों के समाज को जीवन के आधुनिक मूल्यों के आधार पर पुनर्निर्मित कर देना एक इतनी बड़ी सामाजिक क्रान्ति होगी जिसकी तुलना इतिहास में कठिनाई से मिलेगी और यह हमारे देश व मानव-समाज के प्रति सचमुच एक बहुत बड़ी सेवा होगी। परन्तु इस बड़ी सामाजिक क्रांति के बाद क्या हिन्दू-समाज का संगठन एक राष्ट्र के रूप में किया जा सकेगा? मैं मानता हूँ कि ऐसा करना आसान ज़रूर हो जाएगा, पर क्या वह वांछनीय भी होगा? राष्ट्रीयता के निर्माण में धर्म अब तक सदा ही एक गौण वस्तु रहा है भारतीय राष्ट्रीयता के अन्तर्गत तो उन सभी लोगों को लेना बुद्धिमत्ता होगी जो इस देश में रहते हों और इसे अपना देश मानते हों। राष्ट्रीयता को धर्म के साथ सम्बद्ध कर देना सदा ही खतरनाक होता है। स्वयं राष्ट्रीयता के पीछे प्रायः एक ऐसे कट्टरपन की भावना रहती है जो मज़हबी कट्टरपन से कम नहीं। उसे धर्म के साथ मिला देने से तो ऐसी शक्तियां उत्पन्न होंगी जिनकी तुलना में मध्य-युग के धार्मिक संघर्ष फीके पड़ जाएँगे। और यदि हिन्दू-समाज को हम राष्ट्रीयता का रूप देना ही चाहते हैं तो हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि अब तो यह सिद्धांत कि प्रत्येक राष्ट्र का विकास राज्य के रूप में होना चाहिए बहुत पुराना पड़ गया है। कभी यदि हिन्दू-राष्ट्र की कल्पना मूर्त्त-रूप ले भी सकी तो यह आवश्यक नहीं कि उसकी सीमाएँ राज्य की सीमाओं का संस्पर्श करें ही। आज के युग में तो यह बिल्कुल संभव है, बलिक आवश्यक है, कि कई राष्ट्र के व्यक्ति एक राज्य के अन्तर्गत मिल जुल कर, कंधे से कंधा भिड़ा कर, भाई भाई के समान, प्रेम और सहृदयता की भावना को लिए हुए, काम करें।

राष्ट्रीयता एक सांस्कृतिक अनिवार्यता है और राज्य शासन की एक आवश्यक व्यवस्था। प्रत्येक सांस्कृतिक विभिन्नता को यदि एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में संगठित करने का प्रयत्न किया गया तब तो संसार इतने अधिक राज्यों में बंट जाएगा, और वे छोटे छोटे राज्य अपने दिन प्रतिदिन की आवश्यकताओं को पूरा करने में इतने अधिक असमर्थ होंगे, कि उनके नागरिकों के लिए अपना पेट भरना भी कठिन हो जाएगा। आज की प्रमुख प्रवृत्तियों का यदि हम विश्लेषण करें तो हम स्पष्ट देख सकेंगे कि एक ओर तो सांस्कृतिक विभिन्नता बढ़ती जा रही है और दूसरी ओर राजनैतिक इकाइयां बड़ी होती जा रही हैं। ऐसी परिस्थिति में हम केवल यही कर सकते हैं कि सांस्कृतिक इकाइयों और

राजनैतिक इकाइयों को एक दूसरे से अलग करके देखें और कोई ऐसा रास्ता निकालने का प्रयत्न करें जिसमें धर्म भाषा और संस्कृति की दृष्टि से एक दूसरे से विभिन्न सांस्कृतिक इकाइयां एक बड़ी राजनैतिक इकाई के अन्तर्गत साथ साथ रह सकें।

धर्म और राजनीति के संबंधों का विश्लेषण

इस प्रश्न को हम किसी भी दृष्टि से देखें हम एक ही निर्णय पर पहुँचेंगे और वह यह है कि हमें अपने देश का राजनैतिक विकास एक शुद्ध, भौतिक जनतंत्र के रूप में करना चाहिए। राज्य को धर्म के साथ संबद्ध करने का प्रयत्न यूरोप में आज से तीन सौ वर्ष पहिले ठुकरा दिया गया था। आज हमें इस प्रकार के किसी मूर्खतापूर्ण प्रयत्न में अपनी शक्तियों को, जिन्हें दूसरे रचनात्मक क्षेत्रों में लगाने की आवश्यकता है, नष्ट नहीं करना चाहिए। धर्म और विशेष कर हिन्दू धर्म, मनुष्य के जीवन की व्यक्तिगत वस्तु है। इस सम्वन्ध में प्रत्येक मनुष्य को अपना मार्ग निश्चित करने का अधिकार होना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य को यह स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वह जिस धर्म पर चलना चाहे चल सके। इसमें केवल यही एक शर्त्त लगाई जा सकती है कि उसकी धार्मिक स्वतंत्रता किसी भी प्रकार से दूसरे मनुष्य की धार्मिक स्वतन्त्रता के मार्ग में बाधक न हो और न उससे समाज में किसी अनाचार के फैलने की सम्भावना हो। जहां राज्य पर यह प्रतिवन्ध आवश्यक है कि वह व्यक्ति के धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप न करे किसी धर्म को भी यह अधिकार नहीं दिया जा सकता कि वह राजनैतिक जीवन पर आक्रमण करे। धर्म के नाम पर जब कभी राजनीति में हस्तक्षेप किया गया है, असहिष्णुता और धार्मिक हिंसा को प्रश्रय मिला है। राज्य और धर्म दोनों के क्षेत्र इतनी स्पष्टता से एक दूसरे से भिन्न हैं कि उनके सम्वन्ध में किसी प्रकार की ग़लतफ़हमी होना ही नहीं चाहिए। सबसे अच्छा धर्म वह है जो व्यक्ति के दृष्टिकोण को शुद्ध, सात्विक और तेजस्वी बनाए और सबसे अच्छा राज्य वह है जो सामाजिक जीवन के उन सभी पक्षों को संघटित और विकसित कर सके जिनके द्वारा व्यक्ति अपने दिन प्रति दिन की आवश्यकताओं को ठीक से प्राप्त कर सके और उन्हें प्राप्त करने के प्रयत्न में उसे इतनी फुर्सत भी मिल सके कि उसकी निर्माणात्मक वृत्तियाँ समुचित विकास पा सकें।

मैं जब यह कहता हूँ कि राज्य और धर्म के क्षेत्रों को एक दूसरे से अलहदा रखना चाहिए, मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि राज्य को उन बहुत सी कुरीतियों

में दखल देने का अधिकार नहीं होना चाहिए जो हमारे समाज में प्रवेश पा चुकी हैं। धर्म और समाज के उस अन्तर को जिसका स्पष्टीकरण मैंने ऊपर किया है हमें भुलाना नहीं चाहिए। धार्मिक दृष्टि से जहाँ मुझे यह आजादी होनी चाहिए कि मैं चाहूँ तो हिन्दू धर्म का पालन करूँ, या इस्लाम, ईसाई, पारसी, बौद्ध, जैन अथवा किसी अन्य धर्म को स्वीकार कर लूँ, और हिन्दू-धर्म में भी मुझे यह सुविधा होनी चाहिए कि मैं चाहूँ तो विष्णु की पूजा करूँ अथवा शिवजी की आराधना में ही अपना सारा समय लगा दूं, साकार ब्रह्म को मानूं अथवा निराकार को, मूर्त्ति पूजा में विश्वास रखूं अथवा न रखूं, मुझे यह अधिकार नहीं होना चाहिए कि मैं अपने को इस कारण दूसरे से बड़ा मानू कि मैं ब्राह्मण के कुल में पैदा हुआ हूँ और वह किसी अन्य वर्ण में, और न यह अधिकार होना चाहिए कि किसी मनुष्य की अवहेलना मैं इस कारण करूँ कि वह अस्पृश्य है अथवा स्त्री-समाज को उसके नैसर्गिक अधिकारों से वंचित रखूं। मैं समझता हूँ कि किसी भी अच्छे लोकराज्य के लिए यह आवश्यक है कि वह क़ानून के द्वारा इस प्रकार की सामाजिक असमानता को मिटाने का प्रयत्न करे और उन लोगों को सख्त सजाएँ दे जो, चाहे तीन वेदों के ज्ञाता हों या चारों वेदों के पंडित, इस प्रकार की असमानता को कायम रखना चाहते हैं। भारतीय जनतंत्र के लिए यह आवश्यक है कि वह उन सब कुरीतियों का मिटावे जो धर्म के नाम पर आज हमारे समाज में प्रचलित हैं। इस प्रकार के सामाजिक क़ानून सभी देशों में बनाए जा रहे हैं और वस्तुस्थिति तो यह है कि किसी भी देश में वे इतने आवश्यक नहीं हैं जितने हमारे देश में। हमारी सामाजिक कुरीतियों के लिए हमारे धर्म में कोई स्थान नहीं है, और पिछले कई हज़ार वर्षों में उनके सशक्त बन जाने का सबसे बड़ा कारण यही रहा है कि राज्य की ओर से उन्हें मिटाने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। मुसलमान शासकों ने हमारे सामाजिक रीति-रिवाजों में हस्तक्षेप करना नहीं चाहा। अंग्रेज़ों ने अपने शासन के प्रारंभिक काल में सती प्रथा और बाल-हत्या आदि के मिटाने की दिशा में कुछ प्रयत्न किया, परन्तु १८५७ के बाद उन्होंने सामाजिक-प्रश्नों से अपने को तटस्थ रखने का दृढ़ निश्चय कर लिया। आगे आने वाले वर्षों में भारतीय-जनतन्त्र के सामने सबसे बड़ा काम सामाजिक असमानता के आधार पर स्थापित इन अमानुषिक कुरीतियों को मिटाना होगा। कोई भी ऐसा राज्य जिसका आधार हिन्दू-धर्म अथवा हिन्दू-समाज के वर्त्तमान ढांचे पर हो वह काम नहीं कर सकता। हिन्दू-समाज को ही यदि हम जीवित, सतेज और क्रियाशील बनाना चाहते हैं तो उसके लिए यह आवश्यक है कि हमारा शासन-तन्त्र विशुद्ध जनतंत्रीय सिद्धान्तों के आधार पर स्थापित हो।

महात्मा गांधी और हिन्दू राष्ट्रीयता

सांप्रदायिक विद्वेष के उस विषैले वातावरण में, जो विभाजन के आधार पर स्वाधीनता मिलने के परिणाम-स्वरूप देश में फैल गया था, हिन्दू-राज्य की कल्पना को प्रोत्साहन मिला, और जो इस प्रश्न पर गम्भीरता से सोचने की क्षमता नहीं रखते थे उनके लिए यह एक आश्चर्य की बात थी कि इस विचार का सबसे अधिक विरोध एक ऐसे व्यक्ति के द्वारा किया गया जिसने हिन्दू-धर्म और हिन्दू-समाज के समस्त इतिहास में उसकी सबसे अधिक सेवा की थी। गांधीजी ने हिन्दू-धर्म की जो सेवा की और उसके सुधार में जो महत्त्वपूर्ण और सफल प्रयत्न किए उनकी तुलना इतिहास में नहीं मिलती। गांधीजी निःसंदेह सबसे महान् हिन्दू थे। उनके जीवन और सिद्धान्तों पर दूसरे धर्मों का प्रभाव भी था, परन्तु उनका दृष्टिकोण मूलतः हिन्दू था। अपने जीवन की सभी प्रवृत्तियों में गांधीजी ने हिन्दू धर्म के मूल-सिद्धान्तों को आत्मसात् करने का प्रयत्न किया। हिन्दू-धर्म को उन्होंने उसके किसी एक आंशिक रूप में, कर्म, ज्ञान या उपासना के किसी एक क्षेत्र में स्वीकार नहीं किया, उनका प्रयत्न तो उसके सर्वांगीण रूप को आत्मसात् करने का रहा। मानव-जीवन के लक्ष्य निर्देश के संबंध में हिन्दू-धर्म ने जो सर्वश्रेष्ठ विचार दिए हैं उन सभी का प्रभाव हम गांधी जी के जीवन पर पाते हैं। उपनिषदों के प्रति गांधी जी की असीम श्रद्धा थी। गीता को वह अपना गुरु मानते थे और उसका अनवरत पारायण उनके नियमित जीवन का एक अंग बन गया था। रामायण के प्रति उनके मन में ऐसी श्रद्धा थी जो किसी अच्छे से अच्छे वैष्णव के मन में हो सकती है। गांधी जी हिन्दू-धर्म के सिद्धांतों पर ही विश्वास नहीं रखते थे, उसके द्वारा बताए गए आचार-विचार और यम-नियम आदि का भी पालन करते थे। दूसरे धर्मों के प्रति आस्था गांधी जी ने हिन्दू-धर्म से ही प्राप्त की थी। वह अक्सर कहा करते थे कि वह अपने को एक अच्छा मुसलमान, अच्छा ईसाई, अच्छा पारसी अथवा अच्छा बौद्ध इसीलिए मानते थे कि वह एक अच्छे हिन्दू थे।

यह सब होते हुए भी हम देखते हैं कि गांधी जी ने हिन्दू-धर्म के प्रति सदा अपनी आस्था प्रगट करते हुए भी हिन्दू समाज-तंत्र की सभी बातों को अनुकरणीय नहीं माना। अपने जीवन में बहुत जल्दी उन्होंने यह देख लिया था कि अस्पृश्यता हिन्दू-धर्म की मूल-भावनाओं के साथ मेल नहीं खाती और हिन्दू धर्म-ग्रन्थों से भी उसका समर्थन नहीं मिलता। दक्षिण अफ्रीका में ही उन्होंने

अछूतों से जातीयता के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव करना छोड़ दिया था। हिन्दुस्तान आने के बाद उन्होंने अस्पृश्यता-निवारण को अपने चतुर्मुखी रचनात्मक कार्यक्रम का एक अंग बनाया। १९३२ के सविनय अवज्ञा आन्दोलन के बाद से तो उन्होंने अपनी सारी शक्ति अछूतों की दशा सुधारने में लगा दी। इसी संबंध में उन्होंने देश भर का दौरा भी किया और दो बड़े उपवास रखे। उनके द्वारा स्थापित हरिजन सेवक संघ ने पिछले दस बारह वर्षों में देश भर में, जिसमें कई देशी रियासतें भी शामिल हैं, हरिजनों की नैतिक राजनैतिक और आर्थिक दशा सुधारने की दिशा में बहुत काम किया है। गांधी जी की दृष्टि में हरिजन-सुधार का काम राजनैतिक आन्दोलन से भी अधिक महत्त्व का था। इसी प्रकार स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार दिलाने और उनका सामाजिक स्तर ऊँचा उठाने की दृष्टि से भी गांधी जी ने बहुत बड़ा काम किया। १९२०-२१ के सत्याग्रह आन्दोलन में पहिली बार भद्र महिलाएँ सामाजिक शृंखलाओं को तोड़ कर बाहर आईं और पुरुषों से कंधे से कंधा भिड़ाकर धरने दिए, लाठियों के प्रहार सहे, शराब बन्दी और विदेशी कपड़े के आन्दोलन चलाए और उनमें से अधिकांश जेल भी गईं। हमारे देश में नारी-जागरण का तो इतिहास ही तभी से शुरू होता है। यह आन्दोलन लगातार बढ़ता गया है और इसी का परिणाम है कि आज हम अपने देश में के महिला वर्ग को इतना योग्य और प्रगतिशील पा रहे हैं कि केन्द्रीय सरकार का मंत्रित्व और महत्त्वपूर्ण विदेशी दूतावासों की अध्यक्षता भी उनकी पहुँच से बाहर नहीं रह गए हैं।

हिन्दू समाज के लम्बे इतिहास को लें तो हम देखेंगे कि उसमें सुधारकों की एक अनवरत परंपरा चली आ रही है। जब ब्रह्म-ज्ञान के संबंध में भ्रान्ति फैली तो शंकराचार्य ने अद्वैतवाद का प्रचार किया। जब जनता शुष्क ज्ञान के मरुस्थल में भटकती हुई बहुत दूर तक चली गई तब रामानुजाचार्य और वल्लभाचार्य ने भक्ति का सन्देश सुनाया। जब हिन्दू-समाज में ऊँच-नीच और छुआछूत का भेद ज्यादा फैला तो कबीर, नानक और दादू जैसे संत कवि सामने आए जिन्होंने राम और रहीम की एकता और 'हरि को भजे सो हरि का होई' के सिद्धान्तों पर जोर दिया, जब भक्ति के उच्छृंखल प्रवाह में समाज की मर्यादाएँ शिथिल होती और टूटती दिखाई दीं तब इसी समाज ने तुलसीदास जैसा महान् कवि सुधारक भी उत्पन्न किया जो अपनी लेखनी के प्रभाव से टूटते हुए बांधों को फिर से मज़बूत बनाने में सफल हुआ। सुधारकों की यह अनवरत परंपरा हिन्दू-समाज के जीते-जागते होने की निशानी है। परन्तु मैं समझता हूँ कि हिन्दू-समाज ने गांधी से बड़ा कोई सुधारक पैदा नहीं किया।

गांधी जी ने हिन्दू समाज की मूल कमज़ोरी को पहिचाना। उन्होंने देखा कि असमानता की भावना को हिन्दू-समाज से जब तक बिलकुल ही नष्ट नहीं कर दिया जाएगा वह न तो पनप सकेगा और न जीवित ही रह सकेगा, और वह उसे दूर करने के प्रयत्न में जुट पड़े। इस काम में गांधी जी को जितनी सफलता मिली वह पहिले किसी सुधारक को नहीं मिली थी। यह सच है कि पहले किसी सुधारक को काम करने की ऐसी व्यापक सुविधा भी नहीं मिली थी। बुद्ध और शंकराचार्य को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पैदल यात्रा करनी पड़ती थी। उनके पास प्रचार के इतने साधन भी नहीं थे। परन्तु यह भी सच है कि सुधार के प्रश्न को गांधी जी ने जितने सर्वांगीण रूप में लिया उतना पहिले के किसी सुधारक ने नहीं लिया था। गांधी जी न केवल आचार की दृष्टि से सभी युगों के सबसे महान् हिन्दू थे, वरन् हिन्दू धर्म के सुधारकों में भी उनका स्थान सबसे ऊँचा था।

गांधी जी ने अपनी सेवाओं के द्वारा वह वातावरण बना दिया जिसके बिना हिन्दू-समाज का किसी प्रकार का संगठन असम्भव था। समाज-सुधार के प्रश्न को जब गांधी जी ने अपने हाथ में लिया था तब हिन्दू समाज इतनी गिरी हुई दशा में था, उसमें इतने छिद्र और अभाव थे, कि उसके आधार पर किसी संगठन की नींव नहीं डाली जा सकती थी। हिन्दू-संगठन की आवाज़ तो कुछ दूसरे लोगों के द्वारा, और विभिन्न उद्देश्यों को दृष्टि में रखते हुए, उठाई गई, परन्तु हिन्दू-समाज को संगठन के लिए तैयार करने का काम किसी ने उतनी अच्छी तरह से नहीं किया जितना गांधी जी ने। परन्तु, गांधी जी इस गठन की मर्यादाओं को भी जानते थे। हिन्दुओं के अपनी सामाजिक कुरीतियाँ दूर करने और सामाजिक रूप से संगठित होने में उनका विश्वास था, पर उन्होंने कभी हिन्दू-समाज को भारतीय राष्ट्र का पर्यायवाची समझने की ग़ल्ती नहीं की। हिन्दू-धर्म के मूल तत्त्वों ने ही उन्हें यह सिखाया था कि भारतीय राष्ट्र बनने की एक आवश्यक शर्त यह है कि विभिन्न धर्मों को मानने वाले व्यक्ति सामाजिक दृष्टि से अपने को चाहे किसी भी रूप में संगठित करें, राष्ट्रीय दृष्टि से उन्हें एक दूसरे से मिल जुल कर काम करने की आवश्यकता है। जीवन के धार्मिक पक्ष की गांधी जी ने कभी अवहेलना नहीं की। वह यह आशा करते थे कि प्रत्येक हिन्दू अच्छा हिन्दू बनेगा, प्रत्येक मुसल्मान अच्छा मुसल्मान, प्रत्येक ईसाई अच्छा ईसाई और प्रत्येक पारसी अच्छा पारसी, और इस प्रकार अपने धर्म पर ठीक से चलते हुए ही, एक शुद्ध धार्मिक जीवन बिताते हुए ही, प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र की सच्ची सेवा कर सकेगा। पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित अन्य सुधारवादी नेताओं और गांधी जी में सबसे बड़ा

अन्तर यही रहा है कि जब कि अन्य नेता यह चाहते रहे हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपने धार्मिक सम्बन्धों को भूल कर अपने को राष्ट्रीयता का ही अनन्य उपासक वना ले, गांधी जी ने सदा इस बात पर जोर दिया कि व्यक्ति को पहिले अपने धर्म का पालन करना चाहिए और तभी वह राष्ट्र की सच्ची सेवा कर सकेगा।

गांधी जी चाहते थे कि हिन्दू धर्म के उदात्त सिद्धान्तों के आधार पर अपने आपको संगठित करके एक शुद्ध और स्वस्थ हिन्दू-समाज भारतीय राष्ट्र के कल्याण में योग दे। उन्होंने जीवन भर यह प्रयत्न किया कि इस प्रकार के आदर्श हिन्दू-समाज की स्थापना की जा सके। उनके रचनात्मक कार्यक्रम का प्रमुख उद्देश्य यही था। सच तो यह है कि गांधी जी जीवन में प्रत्येक वस्तु को उसके उचित स्थान पर रखना चाहते थे। वह चाहते थे कि हिन्दू-समाज से वे सब कुरीतियाँ मिट जाएँ जिनका आधार हिन्दू-धर्म में नहीं है, और इस समाज से वह अपेक्षा करते थे कि वह देश के अन्य समाजों के साथ मिल जुल कर भारतीय राष्ट्र का एक उपयोगी अंग बन सके, जिस प्रकार भारतीय राष्ट्र से उनकी अपेक्षा यह थी कि वह स्वाधीनता प्राप्त करके मानव-समाज में एक प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त करे और मानव-सम्बन्धों में सत्य और अहिंसा की स्थापना कर सके। सामाजिक क्षेत्र में गांधी जी का लक्ष्य था एक सुधरे हुए हिन्दू समाज की स्थापना और राजनैतिक क्षेत्र में वह चाहते थे एक भौतिक, जनतंत्रीय राज्य का निर्माण।

एक सुधारवादी हिन्दू समाज और एक भौतिक जनतंत्रीय राज्य की स्थापना के दोहरे प्रयत्नों में गांधी जी लगे हुए थे जब ३० जनवरी की शोक-भरी संध्या को वह एक हिन्दू हत्यारे की गोलियों का शिकार बने। जहां लोगों को यह सोच कर हैरानी होती है कि अहिंसा का यह महानतम पुजारी हिंसा का शिकार हुआ, यह भी कम अचंभे में डालने वाली बात नहीं है कि हिन्दू-समाज के इस महानतम शुभेच्छु और सुधारक को एक ऐसी विचार-धारा का शिकार भी होना पड़ा जिसका अन्तिम लक्ष्य देश में एक हिन्दू-राज्य की स्थापना करना था। जिस विचार-धारा का परिणाम गांधी जी की हत्या के रूप में हमारे सामने आया उसके निकट अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसके पीछे हिन्दू-धर्म या हिन्दू-समाज या हिन्दू-राष्ट्र की सेवा करने की कोई भावना नहीं थी। उस विचार-धारा का स्पष्ट उद्देश्य राजनैतिक सत्ता प्राप्त करना था और केवल जनता को भुलावे में डालने के लिए उसके प्रणेताओं ने कुछ आवश्यक नारों का आविष्कार कर लिया था। इन नेताओं में न तो हिन्दू धर्म के प्रति कोई आस्था थी और न हिन्दू-समाज या हिन्दू संगठन से कोई प्रेम। एक विषैले सांप्रदायिक वातावरण में उनका बेईमानी से भरा हुआ अनवरत प्रचार लोक-

मत को भ्रम में डालने में सफल हो रहा था और इस अस्थायी आवेश से चौखलाई हुई जनता के द्वारा समय समय पर अभिव्यक्त की जाने वाली भावनाओं में अपनी इच्छाओं की प्रतिध्वनि देख कर उन्हें यह विश्वास हो चला था कि गांधी को मार्ग से हटा देने पर वह जनता के इस क्षणिक आवेश से पूर्ण लाभ उठा सकेंगे और राजनैतिक सत्ता अपने हाथ में ले सकेंगे। यह तो उन्हें बाद में पता लगा कि जिस अमर व्यक्ति को उन्होंने मारना चाहा था वह जीवन और मृत्यु की सीमाओं से कभी का ऊपर उठ चुका था और हिन्दू-धर्म के प्रति उसका असीम प्रेम हिन्दू-मात्र के हृदय में उसके लिए इतना ममत्व और इतनी श्रद्धा उत्पन्न कर चुका था कि उसके पार्थिव शरीर के नष्ट हो जाने के बाद भी हिन्दू-राष्ट्रीयता के आधार पर हिन्दू राज्य की स्थापना की भ्रामक कल्पना पनप नहीं सकती थी।

फासिस्ट मनोवृत्ति पर एक बड़ा आक्रमण

इस फ़ासिस्ट विचार-धारा के प्रणेताओं ने ग़लती यह की कि उन्होंने गाँधीजी को एक साधारण मनुष्य के मापदण्ड से नापना चाहा। उनका अनुमान यह था कि गाँधीजी के मार्ग से हट जाने के बाद वे आसानी से हिन्दू-लोकमत का समर्थन पा सकेंगे और कांग्रेस के नेताओं के हाथ से शासन का सूत्र छीन लेने में उन्हें कठिनाई नहीं होगी। गांधीजी के बाद जवाहरलाल नेहरू व अन्य प्रमुख नेताओं की हत्या उनके पूर्व निर्धारित कार्य-क्रम का अंग थी। गांधीजी के विरुद्ध जिस विषैले प्रचार में वे लोग लगे हुए थे उसने स्वयं उन्हें इतना अंधा बना दिया था कि वे भूल गए कि इस देश के सभी व्यक्तियों में चाहे वे किसी विचार-धारा को मानने वाले हों, गांधीजी के व्यक्तित्व के प्रति इतना आदर और श्रद्धा का भाव था कि मरने के बाद सहज ही उनके जीवितावस्था की तुलना में कहीं अधिक प्रभावशाली होने की सम्भावना थी। ये लोग उन मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओं के संबंध में भी बिल्कुल बेखबर थे जो इन परिस्थितियों में गांधीजी की हत्या से पैदा हो सकती थीं। गांधीजी की हत्या ने बड़े स्पष्ट रूप में यह सिद्ध कर दिया कि भारतीय विशेषकर हिन्दू जनता के मन में उनके प्रति जो प्रेम था वह विचार धाराओं और स्वार्थों से ऊपर उठ कर, और व्यक्तिगत, था। गांधी हममें से लाखों व्यक्तियों के जीवन में इतना घुल मिल गए थे कि उनके अपने बीच से चले जाने के बाद हमने यह महसूस किया कि हमारा अपना निकटतम, प्रियतम और पूज्यतम व्यक्ति हमारे पास से चला गया है। उनकी मृत्यु ने एक गलत दिशा में तेज़ी के साथ

का काम हमारे लिए आसान कर दिया है। किसी भी रूप में फ़ासिस्ट विचार धाराओं की उपस्थिति देश के शासकों व लोक नेताओं दोनों के लिए एक ऐसी चुनौती है जिसका प्रत्युत्तर देना उनका एक मात्र कर्त्तव्य हो गया है, और जिस सीमा तक यह उत्तर सही और प्रभाव-पूर्ण होगा उसी सीमा तक यह कहा जा सकेगा कि हम गांधीजी के बताए हुए रास्ते पर चलने का सच्चा प्रयत्न कर रहे हैं।

भारतीय वातावरण में फासिज्म के पोषक तत्व

फ़ासिस्ट प्रवृत्तियों के विकास के लिए सबसे उपयुक्त वातावरण ऐसे देशों में होता है जहां जन-तंत्र की परंपराएँ बहुत गहरी न हों, और वह विकास ऐसे अवसर पर और भी गतिशील हो जाता है जब युद्ध, सत्ता-परिवर्त्तन अथवा किसी अन्य बड़ी राजनैतिक घटना के कारण देश की व्यवस्था एक अस्थाई समय के लिये चकनाचूर हो जाती है और चारो ओर का वातावरण अनिश्चय अस्थायित्व और आशंकाओं से भर जाता है। प्रथम महायुद्ध के बाद इटली और जर्मनी इस प्रकार की मनोवृत्ति के विकास के लिए बहुत उपयुक्त देश थे। इटली के ताजे इतिहास का अध्ययन फ़ासिज़्म के विकास के कारणों पर बड़ा उपयुक्त प्रकाश डालता है। इटली पिछले कई वर्षों से जर्मनी से मित्रता का दावा कर रहा था, परंतु जब लड़ाई शुरू हुई तब उसने दोनों दलों से सौदा करना शुरू कर दिया और अन्त में मित्र-राष्ट्रों की ओर से युद्ध में शामिल हो गया, परंतु विजय के बाद मित्र-राष्ट्रों ने उसे वे सब सुविधाएँ देने से इन्कार कर दिया जिनकी इटली उनसे अपेक्षा कर रहा था, और जिनमें से कुछ को देने का मित्र-राष्ट्रों ने वायदा भी कर दिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि विजयी होते हुए भी इटली की स्थिति हारे हुए देशों से भी बदतर हो गई और देश भर में निराशा और क्षोभ की भावना फैल गई। लड़ाई की वजह से देश की अर्थनीति का ढाँचा वैसे ही चकनाचूर हो गया था, वस्तुओं के भाव बहुत अधिक बढ़ गए थे जिसकी सीधी प्रतिक्रिया मध्य-वर्ग के लोगों के जीवन पर हो रही थी। राजनैतिक दृष्टि से इटली में एक जन-

---

अपने को फिर से संगठित करने के प्रयत्न में जुट पड़ी हैं, केवल उनकी अभिव्यक्ति का ढंग बदल गया है। स्वयं गांधीजी को, जिन्होंने हिन्दू-राज्य की कल्पना के विरोध में अपने प्राणों की बलि दी, हिन्दू-जीवन की प्रखरता का प्रतीक बना कर उसे अन्य संस्कृतियों से श्रेष्ठ सिद्ध करने और देश का राजनैतिक भविष्य उसके मूल-सिद्धान्तों पर निर्माण करने के आवाहन के प्रयत्न भी हम अपने आस पास देखते हैं।

तंत्रीय शासन-व्यवस्था का संगठन हो गया था परंतु यह जनतंत्रीय सरकार न तो देश की प्रतिष्ठा को बढा सकती थी, न अर्थनीति में कोई मौलिक सुधार करने की क्षमता रखती थी और न अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर ही अपना कोई प्रभाव डाल सकने की स्थिति में थी। देश के राजनैतिक, आर्थिक और नैतिक जीवन के इस प्रकार चकनाचूर होने का लाभ उठा कर कुछ साम्यवादी सत्ता को हड़पने के प्रयत्न में लग गए थे, जिसका परिणाम यह हुआ कि एक ओर तो राष्ट्रवादी विचार-धारा रखने वाले व्यक्तियों को जिनमें नवयुवकों की संख्या अधिक थी, यह भय हुआ कि राष्ट्रीयता की जिस भावना के आधार पर इटली के भविष्य का प्रासाद खड़ा किया जा सकता था कहीं वह बिल्कुल ही नष्ट न हो जाए और दूसरी ओर पूंजीपतियों ने अपने अस्तित्व और अपनी समस्त जीवन-व्यवस्था को खतरे में पड़ते देखा। जगह जगह अर्द्ध-शिक्षित, निराश बेकार, भूखे और भावनाशील नवयुवकों ने अपनी अर्द्ध-सैनिक टुकड़ियाँ बनाना शुरू कर दीं, राष्ट्रीयता के संरक्षण के ऊँचे आदर्शों से अनुप्राणित होकर। दूसरी ओर पूंजीपतियों ने जब यह देखा कि इन जोशीली टुकड़ियों का उपयोग बढ़ते हुए साम्यवाद का मुकाबिला करने में किया जा सकता है तो इन्होंने उनकी सहायता के लिए अपनी थैलियों के मुंह खोल दिए। इस प्रकार उग्र राष्ट्रीयता और भयग्रस्त पूंजीवाद के अपवित्र गठ-बंधन से इटली में फ़ासिज़्म का विकास हुआ और इन भावनाओं को एक प्रभाव-पूर्ण ढंग से संश्लिष्ट-संयोजित करने का काम मुसोलिनी ने अपने हाथ में ले लिया। मुसोलिनी जैसे सत्य-असत्य, हिंसा-अहिंसा, ईमानदारी और बेईमानी में भेद न करने वाले कूटनीतिज्ञ का कुशल नेतृत्व पाकर फासिज़्म बड़ी तेज़ी से बढ़ चला। फ़ासिज़्म के इस 'टेकनीक' के विकसित हो जाने के बाद वैसी ही परिस्थितियों और वैसे ही कुशल नेतृत्व में जर्मनी में, और बाद में कुछ परिवर्तित रूप में जापान में, वैसी ही फ़ासिस्ट शक्तियाँ सशक्त होने लगीं। आज की भारतीय परिस्थितियों का यदि गहराई से अध्ययन किया जाए तो हम इस परिणाम से बच नहीं सकते कि हमारे देश में भी आज इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ मौजूद हैं जिनके प्रश्रय में फासिज़्म का विकास एक खतरनाक तेज़ी के साथ हो सकता है।

शिक्षा की कमी : समाज सुधार की भावना का अभाव

इसमें तो कोई सन्देह है नहीं कि हमारे जीवन व कार्य-प्रणाली में जनतंत्र का प्रवेश बहुत अधिक नहीं हो सका है। डेढ़ सौ वर्षों के अंग्रेजी शासन में जहाँ कुछ छोटी-मोटी जन तंत्रीय संस्थाएँ इस देश में विकसित हुईं, कुछ धारा स-

भाएँ बनीं, प्रतिनिधिक और उत्तरदायी शासन की कुछ बात-चीत की गई, कुछ छोटे मोटे वैधानिक सुधार किए गए, कहीं लोक प्रिय मंत्रियों की स्थापना हुई और कहीं उन्हें थोड़े से अधिकार मिले, जनतत्र के नाम पर समय समय पर बड़ी बड़ी घोषणाएँ की जाती रहीं, वहां उक्त विदेशी शासन द्वारा जनतंत्र की विरोधी शक्तियों को सदा ही पोषित और पल्लवित किया जाता रहा। इन विरोधी शक्तियों में सबसे बड़ी शक्ति अज्ञान की शक्ति थी। हमारे देश और समाज के प्रति अँग्रेज़ों द्वारा किए जाने वाले इस गुरुतम अपराध का सादृश्य किसी भी सभ्य देश के इतिहास में मिलना कठिन है कि उन्होंने अपने डेढ़ सौ वर्षों के शासन-काल में न केवल ६१ प्रतिशत व्यक्तियों से अधिक को अक्षर ज्ञान से भी वंचित रखा, परंतु शिक्षा की हमारी जो पुरानी पद्धति थी, मंदिरों और मस्जिदों से संबद्ध पाठशालाएँ और मदरसे थे, गांवों की पंचायतों के तत्त्वावधान में जो शिक्षण-संस्थाएँ चलती थीं उन्हें भी नष्ट कर डाला। अंग्रेज़ शोधकों के वक्तव्यों से ही यह पता लगता है कि अंग्रेजी राज्य की स्थापना के प्रारंभिक वर्षों तक गांव-गांव में पाठशालाएँ थीं जहां प्रायः प्रत्येक बालक को किसी न किसी प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। अंग्रेज़ों ने इन प्राचीन संस्थाओं को तो खत्म कर दिया, पर उनके स्थान पर नई संस्थाएँ वे बहुत धीरे धीरे, संख्या में बहुत कम और उपयोगिता की दृष्टि बहुत से गिरी हुई, स्थापित कर सके। जिस देश में शिक्षा की कमी होती है वहां सच्चे जनतंत्र का विकसित होना सदा ही कठिन होता है, क्योंकि जिस विवेकशीलता पर जनतंत्र का वास्तविक आधार होता है उसका विकास शिक्षा के विना संभव नहीं होता। अशिक्षित व्यक्ति की भावनाओं को अधिक आसानी से भड़काया जा सकता है उसकी विवेक बुद्धि को जागृत करने के मुक़ाबिले में।

तब क्या यह मान कर चलना ठीक होगा कि जिन आठ या नौ फ़ी सदी व्यक्तियों को अंग्रेज़ी राज्य में थोड़ा पढ़ लिख जाने का सौभाग्य प्राप्त हो गया उनसे हम निर्विवाद रूप से जनतंत्र के समर्थन की अपेक्षा कर सकते हैं? इसे हमारा दुर्भाग्य ही मानिए कि हमें यह आशा रखने का अधिकार भी नहीं है। मैं तो कभी कभी यह सोचता हूँ कि यह अच्छा ही हुआ कि अंग्रेज़ी राज्य में शिक्षा का प्रचार इतना सीमित और संकुचित रहा, क्योंकि जिन लोगों को शिक्षा मिली है उन्हें अपना अधिकांश समय एक विदेशी भाषा पर अधिकार प्राप्त करने के निरर्थक प्रयत्न में बिताना पड़ा है, काम के विषय भी उन्हें एक विदेशी भाषा के माध्यम से ही पढ़ना पड़े हैं और जो शिक्षा उन्हें मिली है उसमें उन्हें बुद्धि से अधिक जोर स्मरण-शक्ति पर देना सिखाया गया है। उनकी शिक्षा का संबंध न चरित्र-गठन से रहा है और न उदात्त प्रवृत्तियों के विकास

से, और न व्यक्ति के सामाजिक कर्त्तव्यों का एक स्पष्ट आभास ही हम उनमें पाते हैं। इस सबका परिणाम यह हुआ है कि बिना पढ़े लिखे व्यक्ति में जागृत् विवेक शीलता का अभाव होते हुए भी जहां हमें उसमें कुछ चरित्र-बल मिल जाता है, पढ़े लिखे व्यक्ति में हम न तो गहरे विवेक की अपेक्षा कर सकते हैं और न ऊँचे चरित्र-बल की। समाज-सुधार की भी किसी प्रवृत्ति का नेतृत्व हम इस अंग्रेज़ी पढ़े लिखे शिक्षित वर्ग को अपने हाथ में लेते हुए नहीं पाते। एम० ए० और इससे भी अधिक ऊँची डिग्रियां लेने वाले सैकड़ों व्यक्तियों को मैं जानता हूँ जिन्होंने, सम्भवतः अपने मां-बाप के आदेश पर अपनी शादी में दहेज स्वीकार किया है। जिनके घर में आज भी पर्दे की प्रथा चली आ रही है अथवा जो अपने सामाजिक जीवन और व्यवहार में अपने पढ़े लिखे होने का कोई प्रमाण देते दिखाई नहीं देते। जिस वर्ग से हम सामाजिक और आर्थिक तथा राजनैतिक और सांस्कृतिक क्रांति का नेतृत्व अपने हाथ में लेने की अपेक्षा कर सकते थे उसे ही आज हम प्राचीन रूढ़ियों का पिष्ट-पेशण और प्राचीन समाज तंत्र का अंध समर्थन करते हुए पाते हैं।

राष्ट्रीय आन्दोलन और हमारी भाव प्रवणता

हम अपने इस विस्तृत देश में, पहाड़ों की कगारों पर या नदियों की तलहटी में, या दूर तक फैले हुए मैदानों के विस्तार में, बड़े शहरों की चका-चौंध या छोटे गांवों के सन्नाटे में, घनी आबादी वाले प्रदेशों में या मरुस्थल के बीहड़ में, जनता के किसी भी समूह को लें तो हमें उसमें भावना शीलता एक बड़े परिमाण में मिलेगी। आप उसे समझाने की चेष्टा करेंगे तो असफल रहेंगे परंतु 'इन्किलाब जिन्दाबाद' या 'अंग्रेजी शासन मुर्दाबाद' या इसी प्रकार के और नारे उनकी समझ में जल्दी आ जाते हैं। राष्ट्रीयता का जो प्रचार देश के कोने कोने में हुआ है उसकी 'अपील' भावना पर ही अधिक रही है। साधारण जनता ने यह नहीं समझा है कि अंग्रेज़ों ने हमारे देश का आर्थिक शोषण और सांस्कृतिक ह्रास किया है; इसलिए उन्हें यहां से चले जाना चाहिए। उसने यह भी नहीं समझा है कि किसी भी विदेशी शासन से जो हमारे प्रति उत्तरदायी न हो हमारा अपना अच्छा या बुरा, प्रगतिशील या पिछड़ा हुआ शासन ही अच्छा है। उसने तो सभाओं में जोशीले भाषण सुने हैं, महान् नेताओं के जय जय कार का उद्घोष किया है, अखबारों की खबरें या टिप्पणियां पढ़ी या सुनी हैं और वह राष्ट्रीयता के पीछे पागल बन गई है।

स्वाधीनता के इस युद्ध में हमें कुछ ऐसे महान् नेता भी मिलते गए हैं जिनमें

हमने पूर्णत्व की झांकी देखी। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी की अद्भुत वक्तृत्व शक्ति, लाजपतराय के अदम्य साहस और बाल गंगाधर तिलक के प्रगाढ़ पांडित्य और अभूत पूर्व संगठन शक्ति से तो हम मुग्ध थे ही, पिछले तीस वर्षों में हमारे राष्ट्रीय संघर्ष की बागडोर इतिहास के सबसे महान् व्यक्ति के हाथों में रही है, एक ऐसे व्यक्ति के हाथों में जिसने जीवन के चिरंतन सत्य को प्राप्त कर लिया था और उसमें अटलता से जमे रहने की जिसमें ऐसी अद्भुत शक्ति थी कि वह कभी ग़लती नहीं कर सकता था और जिसके संबंध में हमें यह विश्वास भी रहा कि वह कभी ग़लती नहीं कर सकता। गांधी के व्यक्तित्व ने दूसरे बड़े नेताओं को, जो उनके निकट-संपर्क में आए और जिन्होंने उनके जीवन से प्रेरणा ली, जन साधारण के स्तर से इतना ऊँचा उठा दिया कि वे भी हमारी श्रद्धा के पात्र बन गए। गांधी, नेहरू, पटेल, आज़ाद व राजेन्द्रबाबू आदि ने ही पिछले चालीस वर्षों में हमारे लिए सोचा है, हमारे संबंध में निर्णय बनाए हैं, हमारा नेतृत्व किया है, हमें रास्ता दिखाया है, हमारी सुप्त और शिथिल भावनाओं को जीवन-दान दिया है और ऐसे समय हमें युद्ध के बीचों बीच खड़ा कर दिया है जब हम उसके लिए बिल्कुल भी तैयार न थे अथवा हमें शान्ति और सहयोग के मार्ग पर चलने के लिए बाध्य किया है जब हम संघर्ष के लिए उतावले हो रहे थे। यह सब आकस्मिक रहा है, देश की विशिष्ट परिस्थितियों के परिणाम स्वरूप, पर इसकी प्रतिक्रिया यह हुई है कि जहाँ हमारे प्रथम श्रेणी के नेता इतने महान् व्यक्ति हैं कि उनकी तुलना किसी भी देश के किसी भी युग के प्रथम श्रेणी के नेताओं से की जा सकती है, हमारे द्वितीय श्रेणी के नेता, जिनका काम जन साधारण से प्रथम श्रेणी के नेताओं को जोड़ने वाली कड़ी जैसा रहा है, अधिक उच्च कोटि के व्यक्ति नहीं हैं। वे प्रथम श्रेणी के नेताओं के संदेश का प्रचार तो कर सकते हैं परंतु उनका अपना कोई निश्चित दृष्टिकोण अथवा विचार-धारा नहीं, अधिक विवेक बुद्धि नहीं, ईमानदारी होते हुए भी कोई बड़ा चरित्र-बल नहीं, और न कोई बड़ी राजनैतिक क्षमता ही है। प्रांतों और देशी राज्यों के बहुत से राजनैतिक नेताओं को राजनीति-संबंधी ज्ञान, विविध राजनैतिक प्रवृत्तियों की जानकारी अथवा मानव-स्वभाव के साधारण ज्ञान की दृष्टि से भी देखें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे बिना नहीं रहेंगे कि उन्हें राजनीति-शास्त्र की प्रारंभिक कक्षा में रखने की आवश्यकता है। हमारे देश का यह दुर्भाग्य रहा है कि विदेशी शासन से एक लंबे संघर्ष में विजयी होते हुए भी हमारा राजनैतिक चिन्तन न तो गहरा बन पाया है और न सुस्पष्ट। देश में ऐसे व्यक्ति उंगलियों पर गिने जा सकते हैं जिनकी राजनैतिक विचार-धारा सुलझी हुई है और जिनका चिन्तन एक स्वस्थ बौद्धिक

पृष्ठभूमि के आधार पर होता है।

स्वस्थ और सुस्पष्ट राजनैतिक चिन्तन का अभाव

एक बात जो मैंने प्रायः अनुभव की है और जिसके कारणों का विश्लेषण इस स्थान पर संभव नहीं है यह है कि हमारे देश में जितने भी राजनैतिक आन्दोलन उठे हैं उनके पीछे बहुत सुस्पष्ट राजनैतिक चिन्तन कभी नहीं रहा। किसी भी देश में जब कोई बड़ी क्रांति हुई है उसके पहिले सदा ही बौद्धिक-जगत में एक और भी बड़ी क्रांति हो चुकी होती है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति के पीछे अठारहवीं शताब्दी की यूरोप की बौद्धिक क्रान्ति का प्रभाव था, रूस की क्रांति के पीछे साम्यवाद का एक शताब्दी का चिन्तन। जिन परिस्थितियों में हमें राजनैतिक स्वाधीनता मिली उनकी तुलना मैं उन बड़ी क्रांतियों से नहीं करता, पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि हमारे देश में राजनैतिक अथवा जीवन-सम्बन्धी किसी भी मौलिक चिन्तन का बहुत बड़ा अभाव रहा है। सभी बड़े राजनैतिक आन्दोलनों का नेतृत्व गांधी जी के हाथों में रहा है। गांधी जी संसार के महानतम चिन्तकों में से थे पर वह मुख्यतः एक पैग़म्बर थे जो जीवन के संबंध में चिर-आदर्शों की स्थापना करता है, दिन-प्रतिदिन की समस्याओं का दिन-प्रतिदिन का समाधान दिन-प्रतिदिन के सिद्धान्तों के द्वारा करने का प्रयत्न उनके व्यक्तित्व से बहुत नीचे की बात थी। यह जनता के हृदय पर उनके महान् प्रभाव का परिणाम था कि जिस आदर्श की ओर उन्होंने इशारा कर दिया देश के लक्ष-लक्ष व्यक्ति उस ओर चल पड़े, परन्तु यह कहना कठिन है कि उनमें से कितने उस आदर्श को समझे और कितनों के क़दम सचमुच उस दिशा में लड़खड़ाते हुए भी बढ़ पाए। गांधी जी के विचारों को कितना कम समझा गया इसका बड़ा स्पष्ट उदाहरण तो १९४२ में मिला जब उनके निकटतम साथियों में से कुछ ने उनके द्वारा निर्दिष्ट कार्यक्रम को समझने में ग़ल्ती की और यह बताने का प्रयत्न किया कि रेल की पटरी उखाड़ना या तार काटना या इस प्रकार की कोई और तोड़-फोड़ गांधी जी के कार्यक्रम में शामिल की जा सकती है। जिन लोगों ने गांधी जी के जीवन-दर्शन को समझा उनका सदा ही हमारे राजनैतिक जीवन पर बहुत सीधा प्रभाव नहीं रहा। देश के व्यावहारिक जीवन के साथ गांधी जी के आदर्शों का किस प्रकार समन्वय किया जा सकता है, इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट चिंतन हमारे सामने नहीं आया।

राजनैतिक चिन्तकों में तो सबसे पहिले जवाहरलालजी का नाम ही लिया जा सकता है। गांधी जी के संबंध में उनका दृष्टिकोण सदा ही कुछ इस

प्रकार का रहा है—मैं नहीं जानता कि जो गांधी जी कहते हैं वह कहां तक व्यवहार में लाया जा सकता है, पर मैं इसके अलावा दूसरा रास्ता भी नहीं देखता; किसी अन्य देश के वताए हुए रास्ते पर हिन्दुस्तान नहीं चल सकता; उसे अपना रास्ता स्वयं वनाना होगा; वह रास्ता क्या होगा इसके संबंध में हमें सबसे अच्छी सलाह गांधी जी ही दे सकते हैं, क्योंकि गांधी जी में हिन्दुस्तान की आत्मा की गहराई तक जाने की एक अद्भुत क्षमता है; उस क्षमता के संबंध में मैं जब सोचता हूं तो हैरान हो जाता हूं; वह क्षमता उन्होंने कैसे प्राप्त की यह मैं नहीं कह सकता : उनका वताया हुआ रास्ता ही क्यों ठीक है, इसके बारे में मैं दलील देना नहीं चाहूँगा; मैं तो यह जानता हूं कि गाँधी में हमें एक ऐसा नेता मिला है जो कभी ग़ल्ती नहीं कर सकता और वह हमारे लिए इतना अधिक प्रिय, पूज्य और अनुकरणीय है कि वह जब और जिस रास्ते पर चल पड़ने के लिए हमसे कहे हमें चल पड़ना चाहिए। फ़ुर्सत के मौकों पर जवाहर-लाल ने देश की समस्याओं पर गंभीरता से कुछ चिन्तन भी किया—जेल में उन्हें ऐसा करने का सबसे अच्छा अवसर मिलता था—परंतु देश की राजनीति की दिशा का निर्माण करने वाली कोई सुस्पष्ट विचार-धारा उन्होंने हमारे सामने नहीं रखी। १९३२ के आन्दोलन के वाद जेल से वाहर आने पर उन्होंने 'हिन्दुस्तान किधर' शीर्षक एक लेखमाला लिखी जिसमें उन्होंने तत्कालीन विचार-धाराओं का विश्लेषण किया था और समाजवाद के अपनाए जाने पर ज़ोर दिया था पर आज भी जवाहरलालजी ने स्पष्ट रूप से यह नहीं रखा है कि हमारे देश में समाजवाद का प्रवेश कहां तक वांछनीय है, किस प्रकार का समाजवाद हमारे लिए उपयुक्त हो सकता है अथवा किन उपायों और किन साधनों से हम अपने देश में समाजवाद की स्थापना कर सकते हैं।

सुभाषचन्द्र वोस ने १९३६ में 'भारतीय संघर्ष' नाम की अपनी पुस्तक में राजनैतिक चिन्तन का प्रयत्न किया है और उसमें उन्होंने उस समय में प्रच-लित फ़ासिस्ट विचार-धाराओं का समर्थन किया है पर वह विचार-धारा अपने उस रूप में हमारे देश में प्रचलित न हो सकी। इसके अतिरिक्त समाजवादी दल, 'रॉयिस्ट' और अन्य छोटे-मोटे राजनैतिक दलों के नेताओं ने समय समय पर कुछ राजनैतिक विचार प्रगट किए हैं पर उनमें से किसी का किसी वड़े राज-नैतिक आंदोलन से सीधा सम्बन्ध नहीं रहा है। साम्यवाद जैसी कुछ सुस्पष्ट और सुचिन्तित विचार-धाराएँ हमारे यहां विदेश से आई हैं, और विशेष कर युवकों के एक वड़े समुदाय पर उनका प्रभाव पड़ा है, पर उन्हे भी भारतीय परिस्थिति और भारतीय वातावरण के अनुकूल वनाने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। इस कारण हमारे राष्ट्रीय जीवन पर वे अधिक प्रभाव नहीं डाल

सकीं हैं। हमारे देश का एक बड़ा दुर्भाग्य यह भी रहा है कि उसके विद्वानों और राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं में बहुत कम सपर्क रहा है । जहां अधिकांश विद्वानों ने राजनैतिक संघर्ष के थपेड़ों से दूर बैठ कर कोरे बौद्धिक विषयों में शुष्क वैज्ञानिक दिलचस्पी ली है हमारे राजनैतिक कार्यकर्त्ता अपने मस्तिष्क के उपयोग को एक बहुत बड़ा अपराध मानते रहे हैं, और उन्होंने किसी राजनैतिक विचार-धारा या कार्यक्रम को बुद्धि अथवा तर्क की कसौटी पर कसने या समझने का कभी कोई प्रयत्न नहीं किया है। बौद्धिक जगत और राजनैतिक जीवन के बीच का यह बड़ा अन्तर स्वभावतः ही जनतंत्र के विकास में एक बड़ी बाधा बन गया है।

फासिज्म का अन्तिम गढ़

देशी रियासतें

इन परिस्थितियों में एक ऐसी विचार-धारा का पनप जाना जो एक अशिक्षित अर्द्ध-शिक्षित अथवा कुशिक्षित, भावनाशील और संसार की गति विधि से सर्वथा अपरिचित, जनता को प्राचीन भारतीय, अथवा हिन्दू-संस्कृति की महानता के नाम पर तानाशाही ढंग पर संगठित करने में विश्वास रखती हो, बिल्कुल भी असम्भव नहीं है, और इसी कारण वर्त्तमान राष्ट्रीय सरकारों का दायित्व भी बहुत अधिक बढ़ गया है। राष्ट्रीय स्वयँ सेवक संघ जैसे अपनी प्रवृत्तियों के एक अंग को खुले रूप से संगठित करने वाले दल को कानूनी दृष्टि से दबा देना कठिन काम नहीं है, उसकी गुप्त प्रवृत्तियों पर चौकसी और अंकुश रखना भी एक ऐसी सरकार के लिए कठिन नहीं होना चाहिए जिसे सबसे प्रभावपूर्ण विरासत शान्ति और व्यवस्था के एक सुगठित यंत्र की मिली हो, पर उसकी विचार-धारा को एक विरोधी, और जनतंत्रीय, विचार धारा के सही और सतत प्रचार के द्वारा नियंत्रित रखना, और उस जनतंत्रीय विचार-धारा की नींव को सुदृढ़ बनाने के लिए शिक्षा का व्यापक प्रसार, जिसके मूल में उसके उद्देश्यों, पाठ्य क्रम व व्यवस्था सभी में क्रांतिकारी परिवर्त्तन की भावना हो, आवश्यक होगा। पर, इसके साथ ही सरकार को अपनी प्रतिष्ठा को भी बढ़ाते रहने में उद्यतशील रहना होगा। देश में प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए तो उसके लिए व्यवस्था की सुदृढ़ता के साथ नैतिक धरातल को लगातार ऊँचा उठाते रहना आवश्यक होगा — पक्षपात, रिश्वतखोरी और चोर बाजार को खत्म करने में अपनी सारी शक्तियां लगा देनी होंगी। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भी उसे अपनी साख को ऊँचा ही रखना होगा। अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों को सुदृढ़ बनाने अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में सम्मान-पूर्ण भाग लेने व समीपवर्त्ती देशों का सामान्य

हित के आधार पर, विश्वास-पूर्ण नेतृत्व प्राप्त करने से ही सरकार अपनी अन्तर्राष्ट्रीय साख बढ़ा सकती है। शासन-सम्बन्धी दृढ़ता, नैतिक महानता और दूर तक जाने वाली, पैनी, कल्पना-शक्ति के आधार पर हमारी राष्ट्रीय सरकार निःसन्देह फासिस्ट शक्तियों को बढ़ने से रोक दे सकती है।

परंतु, हमारे देश में एक बड़ा भाग ऐसा भी है जहां अभी तक देश में चारों और फैल जाने वाली चेतना, और स्वाधीनता--जन्य दायित्व की पूरी अनुभूति, का पूरा प्रकाश नहीं पहुँचा है। यह भाग देशी रियासतों का है, जो देश के एक तिहाई से भी अधिक भाग में फैली हुई हैं। अंग्रेज़ी शासन के ज़माने से ही देशी रियासतें सभी मध्य-युगीन प्रवृत्तियों और प्रतिगामी शक्तियों का गढ़ बन गई थीं। अंग्रेज़ी भारत और देशी रियासतों के विकास की गति में सदा ही समय का एक बड़ा अन्तर रहा। अंग्रेज़ी भारत में जनतंत्रात्मक संस्थाओं का थोड़ा बहुत विकास हुआ भी। पर देशी रियासतों में इस प्रकार के किसी विकास की गुंजाइश नही थी। वहां तो महाराजा अथवा नवाब का ही एक छत्र शासन था और उस शासन के विरुद्ध कोई अपनी आवाज़ नहीं उठा सकता था, क्योंकि उसके पीछे अंग्रेजी राज्य का समस्त बल था। अंग्रेज़ी भारत में राष्ट्रीयता की भावना लगातार बढ़ती जा रही थी परंतु देशी रियासतों में अधिकांश में अभी कुछ वर्ष पहिले तक गांधी टोपी पहिनना जुर्म समझा जाता था और राष्ट्रीय विचार रखने वाले व्यक्तियों पर नृशंस अत्याचार किए जाते थे। पुरानी सभ्यता और संस्कृति के नाम पर, पुराने रीति रिवाजों और परंपराओं की आड़ में, इन देशी रियासतों में प्रतिगामी शक्तियों को पल्लवित पोषित किया जाता रहा। भारतीय सिविल सर्विस में से सबसे अधिक प्रतिक्रियावादी और हृदय हीन व्यक्तियों को चुन कर देशी रियासतों में भेजा जाता था और वहां उन्हें मनमाने अत्याचार करने की पूरी सुविधा थी। १९४२ के बाद से देशी राज्यों में राजनैतिक चेतना तेज़ी के साथ बढ़ी है, पर आज भी मनोवृत्ति का अन्तर इतना स्पष्ट है कि किसी भी देशी राज्य की सीमा में प्रवेश करते ही हमें फौरन उसका आभास मिलता है। विचारों की संकीर्णता, हृदय का छोटा पन, ओछे राग द्वेष, निम्न कोटि के व्यक्तिगत संघर्ष, जिन्हें शेष भारत की नागरिकता वर्षों पहिले लांघ चुकी है, देशी रियासतों में आज भी छोटे बड़े परिमाण में पाए जाते हैं। जनतंत्र को स्वीकार करने की जनता की इस अक्षमता के साथ एक ओर तो धर्म के नाम पर उठाए जाने वाले नारों के प्रति उसका सहज आकर्षण है और दूसरी ओर सामन्तशाही का समस्त व्यवस्था तंत्र है, जो अभी तक टूटा नहीं है, और जिसे तोड़ने का कोई बड़ा प्रयत्न भी अभी तक नहीं किया गया है। अधिकांश देशी रियासतों में आज हम इन दोनों ही

प्रवृत्तियों को एक फ़ासिस्टी गठ बन्धन में बँधते हुए देख रहे हैं। देश में जन-तंत्र की स्थापना में तत्पर किसी भी राष्ट्रीय सरकार को इस प्रच्छन्न, पर सुदृढ़, ख़तरे की ओर से असावधान नहीं रहना चाहिए—क्योंकि यह असाव-धानी उसके लिए उस अवसर पर हानिकर घातक सिद्ध हो सकती है जब वह अन्य स्थानों में इस प्रकार की शक्तियों पर अन्तिम मोर्चा फ़तह कर लेने की स्थिति तक पहुँच चुकी हो।

: ८ :

देशी रियासतें : जनतंत्र का विस्तार

अंग्रेजी शासन-काल में हिन्दुस्तान दो अप्राकृतिक, पर शासन की दृष्टि से एक दूसरे से असंबद्ध, भागों में बँटा हुआ था। इसमें से एक अंग्रेजी हिन्दुस्तान कहलाता था, जो धीरे धीरे ग्यारह प्रान्तों में, जिनमें शासन की समानता एक बड़ी सीमा तक प्राप्त की जा चुकी थी, संगठित कर लिया गया था और जिन सभी प्रान्तों में जनतन्त्र की भावना व जनतंत्रीय शासन-प्रणाली का निश्चित रूप से विकास हो रहा था और दूसरा देशी राजाओं के आधिपत्य में था, जिसमें से अधिकांश में शासन के कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं थे और सामन्त-शाही और स्वेच्छाचारिता दोनों ही दृढ़ता से जड़ पकड़े हुए थे। ये देशी रियासतें लगभग ६०० बड़े छोटे टुकड़ों में बँटी हुई थी, जिनमें किसी भी प्रकार का साम्य पा लेना असंभव था। इनमें से कुछ तो, हैद्रावाद और काश्मीर जैसी, क्षेत्रफल और महत्त्व दोनों की दृष्टि से अंग्रेज़ी प्रान्तों की समकक्ष थीं और कुछ, काठियावाड़ की जागीरों के समान, इतनी छोटी कि उनका विस्तार कुछ एकड़ ज़मीन तक ही सीमित था। हैद्रावाद का क्षेत्र फल ८२,३१३ वर्ग-मील और आवादी १ करोड़ ६३ लाख थी।[1] विभाजन के पहिले देसी रिया-सतों का क्षेत्रफल ७, १५, ६६४ वर्गमील, अर्थात् समस्त देश का ४५ प्रतिशत, और विभाजन के वाद ५, ८७, ८८८ वर्गमील, अर्थात् शेष भाग का ४८ प्रतिशत है। इनमें से १५ रियासतों का क्षेत्र फल १० हजार वर्ग मील से अधिक है (जवकि २०२ रियासतों का क्षेत्र फल १० वर्ग मील से भी कम हैं)! आवादी की दृष्टि से, बँटवारे के पहिले देशी रियासतों में ६ करोड़ ३२ लाख अर्थात कुल जन संख्या के २४ प्रतिशत, व बँटवारे के वाद ८ करोड़ ८८ लाख अर्थात् वचे हुए देश के २७ प्रतिशत, व्यक्ति रहते हैं। इनमें से १६ रियासतों की आवादी १० लाख से अधिक थी (जवकि कुछ ऐसी रियासतें भी थीं जिनकी

---

१ हैद्रावाद और काश्मीर, क्षेत्रफल की दृष्टि से, इंग्लैण्ड की समानता करते हैं। मैसूर क्षेत्र फल की दृष्टि से आयर्लेण्ड के वरावर है, जवकि उसकी जन संख्या आयर्लेण्ड की तुलना में कहीं अधिक है

आबादी एक हजार से अधिक नहीं थी) ! सांप्रदायिक अनुपात की दृष्टि से बँटवारे के पहिले देश की समस्त आबादी के २५ प्रतिशत हिन्दू, १६ प्रतिशत मुसलमान, ४६ प्रतिशत भारतीय ईसाई व २७ प्रतिशत सिख देशी रियासतों में रहते थे और बँटवारे के बाद उनकी संख्या क्रमशः २७, २६, ५० व ३६ प्रतिशत हो गई है। आय की दृष्टि से, १९ रियासतों की वार्षिक आमदनी एक करोड़ से अधिक थी, ७ की पचास लाख और एक करोड़ के बीच में, और कुछ की इतनी कम कि एक साधारण कारीगर भी उससे अधिक कमा लेता है।[१] बड़ी निष्पक्षता और बड़ी सावधानी के साथ अंग्रेज़ी शासन पिछले ९० वर्षों से इस सारी विभिन्नता और वैचित्र्य, को सुरक्षित रखे हुए था !

हिन्दुस्तान के नक्शे पर दृष्टि डालें तो किसी प्रकार का भौगोलिक अन्तर हमें 'अंग्रेज़ी' हिन्दुस्तान और देशी रियासतों को बाँटता हुआ दिखाई नहीं देगा। कुछ रियासतें, काठियावाड़, जैसलमेर, बीकानेर, काश्मीर, सिक्खिम और मनीपुर आदि, देश की बाहरी सीमाओं पर बसी हैं, कुछ, सौराष्ट्र और ट्रावनकोर जैसी समुद्र तट पर हैं, कुछ, हैद्राबाद और मैसूर जैसी, कई प्रांतों से घिरी हुई हैं, कुछ, राजस्थान और मध्य भारत की रियासतों जैसी अनेकों छोटी-बड़ी रियासतों के समूह के रूप में हैं और कुछ, छत्तीसगढ़ और उड़ीसा की रियासतों अथवा टिहरी-गढ़वाल, रामपुर और बनारस के समान, प्रांतों के बीचों-बीच आ गई हैं। कई स्थानों पर देशी रियासतों की सीमाएँ प्रान्तों की सीमाओं में दूर तक घुस गई हैं और कई अन्य स्थानों पर प्रान्तों की सीमाएँ देशी राज्यों के समूहों की बीच में से काटती हुई दिखाई देती हैं। इन रियासतों में आपस में, अथवा इसमें व 'अंग्रेज़ी' हिन्दुस्तान के सूबों में, कहीं भी निश्चित भौगोलिक विभाजन, रेखाएँ नहीं हैं—केवल शासन का भेद उन्हें एक दूसरे से अलहदा किए हुए है। देश भर में यातायात के जितने साधन हैं, दूर तक फैली हुई सड़कें अथवा रेलों के आने जाने के मार्ग, वे सब प्रान्तों और रियासतों को एक दूसरे से जोड़े हुए हैं। आर्थिक स्वार्थो का किसी प्रकार का संघर्ष इनमें आपस में नहीं हैं। वर्ण, जाति अथवा भाषा संबंधी किसी प्रकार के सांस्कृतिक भेद भी हम समीपवर्त्ती प्रांतों व रियासतों में नहीं पाते। बाहर के आक्रमणों व बाद में अंग्रेज़ी शासन के आर्थिक शोषण और सांस्कृतिक आधिपत्य के शिकार भी ये सभी प्रदेश समान रूप से रहे हैं। 'अंग्रेज़ी' हिन्दुस्तान से देशी रियासतों को काटने वाले तत्त्व न तो भौगोलिक रहे हैं और न आर्थिक और सांस्कृतिक। केवल ऐतिहासिक व राजनैतिक शक्तियों ने उन्हें दो हिस्सों में

१ ये आंकड़े जुलाई १९४८ में भारत-सरकार द्वारा प्रकाशित किए जाने वाले देशी रियासतों से सम्बन्धित 'व्हाइट पेपर' से लिए गए हैं।

बांट रखा था। इतिहास की दृष्टि से इन दोनों में भेद यह था कि जब कि अन्य प्रदेश अंग्रेजी सरकार के द्वारा 'जीते' गए थे, अधिकांश देशी रियासतें अंग्रेज़ी शासन की स्थापना के पहिले बन चुकी थीं और बहुत थोड़े परिवर्त्तनों के साथ, उसमें मिला ली गई थीं। राजनैतिक दृष्टि से 'अंग्रेज़ी' प्रांतों का शासन धीरे धीरे जनतंत्रीय रूप ले रहा था, जब कि देशी रियासतों में राजा को मनमाने ढंग से राज्य करने का पूरा अधिकार था—बहुत कम राज्यों में धारा-सभाएँ आदि थी और उनमें से भी बहुत कम में इन धारासभाओं को कोई वास्तविक अधिकार मिले हुए थे। पर, ये एतिहासिक व राजनैतिक अन्तर भी समय के थपेड़ों में टूटते जा रहे थे। संधि और समझौतों में चाहे कुछ भी रहा हो, पर वस्तु स्थिति यह थी, कि एक ओर तो अंग्रेज़ी सरकार देशी रियासतों के बाह्य और आन्तरिक सभी प्रश्नों में अनियंत्रित हस्तक्षेप के अपने अधिकार का पूरा उपयोग कर रही थी, और दूसरी ओर जन-जागृति व जनतंत्रीय अधिकारों की मांग, 'अंग्रेज़ी' हिन्दुस्तान के साथ देशी रियासतों में भी, तेज़ी के साथ बढ़ती जा रही थी।

अंग्रेजी सरकार और रियासतें

ऐतिहासिक संबंध

देशी राज्यों का विकास विभिन्न ऐतिहासिक परिस्थितियों में हुआ। कुछ राज्य, राजपूताना के राज्यों में समान मुग़ल साम्राज्य के समय में भी मौजूद थे, अधिकांश की स्थापना, मुग़ल-साम्राज्य के पतन के बाद, साहसी विद्रोहियों द्वारा, की गई और कुछ राज्य ऐसे भी हैं जिनकी स्थापना, अथवा जीर्णोद्धार, अंग्रेज़ों के हाथों हुआ। अपने राज्य की स्थापना के प्रारम्भिक काल में अंग्रेज़ों की नीति, ली वार्नर के शब्दों में, 'अपने चारों ओर एक फ़ौलादी घेरा बना कर रहने' व बाहर के राज्यों के साथ किसी प्रकार का संबंध न रखने की रही। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में, वेलेज़ली के द्वारा, देशी राज्यों के साथ इस प्रकार की संधियां करने की नीति का प्रारम्भ किया गया जिनके द्वारा उनकी वैदेशिक नीति व सुरक्षा का दायित्व अंग्रेज़ी सरकार पर आ गया और उनका स्थान एक मातहत का सा हो गया। इस नीति का स्पष्ट उद्देश्य देशी-राजाओं के हाथ में 'दायित्वहीन शक्ति' रख कर उन्हें धीरे धीरे निकम्मा बना देना और अन्ततः उनके राज्य को हड़प लेना था। बेंटिक के समय में इन 'पके हुए फलों, को तोड़ने का काम शुरू कर दिया गया और डलहौज़ी ने तो किसी न किसी बहाने से देशी राज्यों को समाप्त कर देने की नीति पर इतनी तेज़ी से चलना चाहा कि इन दम तोड़ते हुए सामन्तशाही राजतंत्रों में भी विक्षोभ की

भावना जागृत् हुई और १८५७ के विद्रोह में उनके सहयोग ने अंग्रेजी सरकार को अपनी नीति बदलने के लिए विवश किया। यह भारतीय इतिहास का एक असंदिग्ध तथ्य है कि यदि १८५७ का विद्रोह न हुआ होता तो हिन्दुस्तान से देशी राज्यों का अस्तित्व ही मिट गया होता। जैसा कि कैनिंग ने १८६० में बड़ी स्पष्टता के साथ कहा, "सर जॉन माल्कम ने बहुत पहिले अपनी यह राय प्रगट की थी कि यदि हम समस्त हिन्दुस्तान को ज़िलों में (अंग्रेज़ी इलाकों में) परिवर्त्तित कर दें तो शायद हमारा साम्राज्य पचास वर्ष भी नहीं चल सकेगा, परन्तु यदि हम कुछ देशी राज्यों को, उनके हाथ से राजनैतिक सत्ता छीन कर, साम्राज्य के औज़ारों के रूप में, बना रहने दें तो हम हिन्दुस्तान में जब तक हमारी समुद्री शक्ति बढ़ी-चढ़ी है अपना अस्तित्व बनाए रख सकते हैं। इस राय के पीछे जो ठोस सचाई है मैंने उसमें कभी कोई संदेह प्रगट नहीं किया, और हाल की घटनाओं ने तो उस पर हमें अपना सारा ध्यान केन्द्रित कर देने पर विवश कर दिया है।" इस स्पष्ट वक्तव्य से यह प्रगट हो जाता है कि १८५७ के बाद यदि देशी राज्यों का अस्तित्व बना रहा तो इसका कारण यह नहीं था कि अंग्रेजों ने उनके अस्तित्व के नैतिक अधिकार को मान लिया था अथवा उनके पास कोई बड़ी सैनिक शक्ति थी। इसका एकमात्र कारण तो यह था कि अंग्रेज़ उन्हें 'उनके हाथ से राजनैतिक सत्ता छीन कर' केवल 'साम्राज्य के औज़ारों के रूप में' बनाए रखना चाहते थे।

१८५७ के विद्रोह के बाद देशी राज्यों की सीमाओं का अतिक्रमण तो रुक गया—अंग्रेज़ सरकार ने बहुत स्पष्ट शब्दों में इस बात का ऐलान कर दिया था कि उनका इरादा अपने राज्य की सीमाओं को बिल्कुल भी बढ़ाने का नहीं है—पर उन्हें केन्द्रीय शासन के निकटतम नियंत्रण में लाने, उनके आन्तरिक मामलों में अधिक से अधिक हस्तक्षेप करने और उन पर केन्द्रीय सरकार की सार्वभौम सत्ता लादने के प्रयत्न बराबर चलते रहे। लॉर्ड सैलिस्बरी ने देशी राज्यों के सम्बन्ध में तीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। पहिले का सम्बन्ध सार्वभौम सत्ता की प्राधान्यता से था—इसका सूत्रपात वेलेज़ली और हार्डिंज की नीति में हो चुका था। दूसरे का संबंध देशी राज्यों की आन्तरिक स्वाधीनता से था—इसकी घोषणा '५७ के विद्रोह के बाद' कैनिंग के समय में की गई। तीसरे सिद्धान्त के अनुसार, शासन के एक न्यूनतम स्तर के निर्वाह के देशी राज्य के उत्तरदायित्व पर ज़ोर दिया गया था और यह मान लिया गया था कि उसके वैसा न कर पाने की स्थिति में केन्द्रीय सरकार को राज्य के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का पूरा अधिकार था—इसका प्रतिपादन कई अवसरों पर किया गया, जिनमें बड़ौदा के गायकवाड़ पर मुकद्दमा

चलाना और गद्दी से उतार देना प्रमुख था। लॉर्ड कर्ज़न ने स्थिति को और स्पष्ट शब्दों में रखा। उन्होंने कहा — "हमारी नीति के परिणाम-स्वरूप देशी नरेश हिन्दुस्तान के साम्राज्यवादी संगठन का एक आवश्यक अंग बन गया है।...... मैं उसे अपना सहयोगी और साझीदार मानता हूँ। .... उसे चाहिए कि जो अधिकार उसे दिए गए हैं अपने को उनके उपयुक्त सिद्ध करे और उनका दुरुपयोग न करे। ......उसे यह भी जानना चाहिए कि जिस निश्चित आय के मिलते रहने का उसे आश्वासन मिल गया है उसका उपयोग उसे अपने स्वार्थों को पूरा करने के लिए नहीं अपनी जनता को लाभ पहुँचाने के लिए करना है। उसके आन्तरिक शासन में यदि हस्तक्षेप नही किया जाता है तो तभी तक जब तक वह ईमानदारी से चलाया जाता है।......इसी मापदण्ड से मैं उसकी जाँच करूँगा। इसी परीक्षा के परिणाम-स्वरूप वह अपने को एक राजनैतिक संस्था के रूप में जीवित रख सकेगा अथवा नष्ट हो जाएगा।" देश की सर्वोच्च राजनैतिक सत्ता होने के कारण अंग्रेज़ी सरकार ने देशी राज्यों के संबंध में बहुत से ऐसे अधिकार प्राप्त कर लिए थे जो उसे संधियों अथवा समझौतों के द्वारा नहीं मिले थे। यह सच है कि अंग्रेजी सरकार ने प्रारम्भ में इस प्रकार का कोई दावा नहीं किया था परन्तु उनके राज्य का विस्तार व शक्ति बढ़ने के साथ साथ इस दावे ने बड़ा व्यापक रूप ले लिया और देशी राज्यों से संबंध रखने वाला कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं रहा जिसमें अबाध रूप से हस्तक्षेप करने के अपने अधिकार को उसने पूरी तौर से स्थापित नहीं कर लिया। वैधानिक अथवा अन्तर्राष्ट्रीय नियमों की कसौटी पर इस दावे की जाँच करना संभव नहीं है, परन्तु देशी राज्यों से अंग्रेजी शासन के पिछले सौ वर्षों के सम्बन्धों का वह एक अनिवार्य अंग, और वर्त्तमान भारतीय इतिहास का एक जीवित तथ्य, है। जहां तक अंग्रेजी शासन के प्रति इन राजाओं के दृष्टिकोण का प्रश्न है, रशब्रुक विलियम्स के शब्दों में (१६३०), "देशी राज्यों के शासक अंग्रेजी सम्बन्ध के प्रति बहुत अधिक राज्य भक्त हैं उनमें से बहुतों का अस्तित्व अंग्रेजी न्याय और सेनाओं पर निर्भर है। उनमें से बहुत से आज मौजूद नहीं होते यदि अठारहवीं शताब्दि के बाद के और उन्नीसवीं शताब्दि के प्रारम्भिक वर्षों के संघर्षों में अंग्रेजी ताकत उन्हें सहारा नहीं देती। उनकी निष्ठा और राज्य भक्ति वर्तमान संकटों में और उन परि-वर्त्तनों में जो अनिवार्य हो गये हैं ब्रिटेन के लिये बड़ी महत्त्वपूर्ण सहारा है......।"

देशी राज्यों की आंतरिक स्थिति

ऊपर के विवेचन से यह तो स्पष्ट है कि देशी राज्यों को अंग्रेज़ी शासन में

क़ायम इसलिए रहने दिया गया कि वे संकट के समय उसे अपना निष्ठापूर्ण समर्थन दें। हमारे अंग्रेज शासकों को इस बात की चिन्ता नहीं थी कि अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए किस प्रकार का शासन वे रियासतों में चलने दे रहे हैं। देशी राज्यों की आन्तरिक स्थिति का वर्णन करते हुए जवाहरलाल जी ने अपनी आत्म कथा में लिखा —"कुचल दिए जाने की भावना स्फुरित हो उठती है : दम घुटने-सा लगता है और साँस लेने में कठिनाई प्रतीत होती है और ऊपर से शान्त अथवा बहुत धीमे बहने वाली धार के नीचे सर्वत्र रुकावट और सड़ांध है। चारों ओर से अवरुद्ध, सीमित और मस्तिष्क और शरीर के जकड़े हुए होने की भावना का अनुभव होता है। और उसके साथ ही हम एक ओर तो जनता को पिछड़ा हुआ और कष्टमय जीवन बिताते हुए पाते हैं और दूसरी ओर राजा के महल का चमकीला वैभव देखते हैं। राज्य का कितना अधिक धन राजा की व्यक्तिगत आवश्यकताओं और शान शौकत को पूरा करने के लिए महलों की ओर प्रवाहित होता है और कितना कम किसी प्रकार की सेवाके रूप में जनता के पास वापिस लौटता है ....। १ ये रियासतें एक रहस्य के आवरण से घिरी हुई हैं। समाचार पत्रों को वहाँ प्रोत्साहन नहीं दिया जाता, और अधिक से अधिक कोई साहित्यिक अथवा अर्द्ध-सरकारी साप्ताहिक ही वहां पनप सकता है। वाहर के अखबारों पर रोक लगादी जाती है। शिक्षा का प्रसार, दक्षिण की कुछ रियासतों, ट्रावंकोर, कोचीन आदि को छोड़ कर, जहां वह अंग्रेज़ी प्रान्तों से भी अधिक है, वहुत कम है ।........अंग्रेज़ी भारत में भी राजाओं को आलोचना से बचाने के लिए विशेश कानून बने हुए हैं और राज्य के भीतर तो हल्की सी आलोचना को भी सख्ती के साथ कुचल दिया जाता है।" २ देशी राज्यों में ग़ुलामी और बेगार की प्रथाएँ भी

---

१ श्री ए० आर० देसाई के शब्दों में, "इंग्लैण्ड के राजा को राज्य की आय का १६०० वाँ हिस्सा मिलता है, वेल्जियम के राजा को १००० वाँ, इटली के राजा को ५०० में से एक, डेनमार्क के राजा को ३०० में से एक, जापान के सम्राट को ४०० में एक, ... किसी भी शासन को ट्रावंकोर (जो हिन्दुस्तान की सबसे प्रगतिशील रियासतों में से है) की महारानी के समान १७ में से एक, हैद्राबाद के निज़ाम अथवा वड़ोदा के महाराजा के समान १३ में एक, अथवा काश्मीर और महाराजाओं के समान ९ में से एक, नहीं मिलता। दुनिया यह जान कर हैरान होगी कि कुछ राजा राज्य की आमदनी में से ३ में एक अथवा २ में एक भाग भी हड़प लेते हैं।"

ए० आर० देसाई *Indian Feudal States and the National Libration Struggle*

जारी थी। राजपूताना और काठियावाड़ की रियासतों में, और मध्यभारत की कुछ रियासतों में भी गुलाम, जो चाकर और दारोगा आदि कहलाते थे, बड़ी संख्या में मौजूद थे। बेगार की प्रथा तो लगभग सभी रियासतों में प्रचलित थी। नागरिक अधिकारों का प्रश्न ही नहीं उठता था। राज्य को बिना जनता के प्रतिनिधियों से पूछे, सभी प्रकार के कर लगाने का अधिकार था। भूमिकर ही २५ से ४० प्रतिशत तक था और यदि दूसरे करों को भी शामिल किया जाए तो यह कहा जा सकता है कि गरीब किसान को अपने उत्पादन का लगभग ५० प्रतिशत राज्य के अधिकारियों को सौंप देना पड़ता था।

वातावरण में परिवर्तन

प्रभु सत्ता का प्रश्न

देश में राष्ट्रीय आन्दोलन के विस्तार के साथ अंग्रेज़ी सरकार को सभी प्रतिगामी शक्तियों को अपने साथ लेकर चलने के प्रयत्न में देशी नरेशों का सहयोग प्राप्त करना भी आवश्यक हो गया और इस कारण उन्हें फिर कुछ महत्त्व दिया जाने लगा। चेम्सफ़ोर्ड ने प्रतिवर्ष देशी राजाओं की एक सभा करके सामान्य हित के प्रश्नों में उनकी सलाह लेने की प्रथा का प्रारंभ किया। प्रथम महायुद्ध के बाद होने वाले अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भी देशी नरेशों को स्थान दिया जाने लगा। इससे उनकी आकांक्षाएँ बढ़ीं। १९२१ में नरेन्द्र मंडल की स्थापना हुई, जिसमें शामिल होकर देशी नरेश अपने सामान्य हितों की बातों के सम्बन्ध में विचार-विनिमय कर सकते थे, यद्यपि एक लंबे अर्से तक इस संस्था पर वायसराय और भारत-सरकार का राजनैतिक विभाग का पूरा प्रभुत्व रहा। नरेन्द्र मंडल में सदा इस बात पर जोर दिया जाता रहा कि रियासतों का सम्बन्ध सीधे सम्राट के साथ माना जाए, और अंग्रेज़ी भारत में राज्य-सत्ता के जनतंत्रीकरण की किसी क्रिया का प्रभाव देशी नरेशों पर, उनकी स्वीकृति के बिना न पड़ सके। इसके पीछे यह भावना भी निहित थी कि सार्वभौम सत्ता पर सर्वाधिकार अंग्रेज़ी सरकार का नहीं है, प्रत्युत वह अंग्रेज़ी सरकार और देशी नरेशों में बंटी हुई है। इस प्रकार के प्रश्नों को सुलझाने के लिए १९२७ में अंग्रेज़ी सरकार ने, हारकोर्ट बटलर की अध्यक्षता में, एक कमेटी नियुक्त की। कमेटी ने राजाओं की इस दलील का तो समर्थन किया कि, उनकी संधियाँ, इकरारनामे व समझौते सीधे सम्राट से होने के कारण, सम्राट से उनके संबंध का प्रश्न उनकी अनुमति के बिना जनतंत्रीय सिद्धांतों पर स्थापित किसी नई भारत सरकार को सुपुर्द नहीं किया जाना चाहिए; परंतु सार्वभौम सत्ता के

---

२ जवाहरलाल नेहरू *Auto biography* पृ० ५३१

संबंध में बहुत स्पष्ट शब्दों में उसने कहा, "हमने सार्वभौम सत्ता के प्रयोग के संबंध में, जैसा हमसे पहिले भी कुछ लोगों ने किया था, कोई सिद्धांत ढूंढ़ निकालने का प्रयत्न किया और इसमें हमें, अपने पहिले के व्यक्तियों के समान ही, असफलता मिली। इस असफलता का कारण आसानी से समझ में आ सकता है। एक बदलती हुई दुनियां में सभी बातें तेज़ी से बदल जाती हैं। साम्राज्य की आवश्यकताओं और नई परिस्थितियों के कारण कभी भी अप्रत्याशित स्थिति उत्पन्न हो सकती है। (इस कारण) सार्वभौम सत्ता को तो सार्वभौम सत्ता ही बना रहना चाहिए, उसे समय की बदलती हुई आवश्यकताओं और राज्यों के प्रगतिशील विकास के अनुसार अपनी व्याख्या करते हुए अथवा अपने को बदलते हुए अपना कर्त्तव्य पालन करना चाहिए। ....सार्वभौम सत्ता, और केवल सार्वभौम सत्ता पर ही, देशी रियासतें आगे आने वाली पीढ़ियों में अपने बचाव के लिए निर्भर रह सकती हैं।" ....सार्वभौम सत्ता समय की आवश्यकताओं के अनुसार अपने को किस प्रकार अभिव्यक्त कर सकती है, इसका एक अच्छा उदाहरण हमें १९२६ में लार्ड रीडिंग द्वारा निज़ाम को लिखे हुए पत्र में मिलता है, जिसमें उन्होंने स्पष्ट शब्दों में इस बात की घोषणा की कि अंग्रेज़ी सरकार की "प्रभुता" का आधार संधियों और समझौते नहीं है, उसका इन सबसे स्वतंत्र अस्तित्व है।"[1] कभी

---

१ लॉर्ड रीडिंग ने इस ऐतिहासिक पत्र में निज़ाम को लिखा—"अंग्रेज़ी सम्राट की प्रभुता भारतवर्ष में सर्वोच्च और सार्वभौम है, और इस कारण कोई देशी राजा अंग्रेज़ी सरकार के साथ बराबरी के दर्जे पर बात-चीत करने का दावा नही कर सकता। सरकार की इस प्रभुता का आधार-संधियां और समझौते नहीं हैं। उसका इन सबसे स्वतंत्र अस्तित्व है। .... रियासत के साथ की गई संधियों और समझौतों का यत्न पूर्वक आदर करते हुए भी सारे भारतवर्ष में शान्ति और सुव्यवस्था कायम रखने का अंग्रेज़ी सरकार का अधिकार और कर्त्तव्य है। ....अंग्रेजी सरकार ने बार-बार बतलाया है कि किसी बहुत ही बड़े कारण के बिना रियासतों के अन्दरूनी मामलों में दखल देने के अधिकार का प्रयोग करने की उसकी इच्छा नहीं है। जो अन्दरूनी और बाहरी सुरक्षा राजाओं को प्राप्त है यह अंग्रेज़ी सरकार की शक्ति के ही कारण है और ऐसी अवस्था में जिस बात का संबंध साम्राज्य के हितों से हो अथवा जिसमें राजा के शासन के कारण प्रजा के कल्याण में बाधा पड़ती हो उसके उचित समाधान का उत्तरदायित्व सार्वभौम सत्ता पर है। राजा लोग विभिन्न मात्राओं में जिस आन्तरिक स्वतंत्रता का उपभोग करते हैं वह सार्वभौम सत्ता के इस उत्तरदायित्व के आधीन है।"

किसी सार्वभौम सत्ता के प्रयोग के संबंध में वैध और अवैध का प्रश्न इस कारण भी कोई महत्त्व नहीं रखता कि उनके विरुद्ध कोई भी शिकायत किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के सामने नहीं रखी जा सकती थी। देशी राज्यों के जो भी अन्तर्राष्ट्रीय संबंध थे अंग्रेज़ी सरकार के माध्यम से ही थे। जैसा कि प्रसिद्ध अन्तर्राष्ट्रीय-विधानवेत्ता प्रो० वैस्टलेक ने लिखा, देशी राज्यों और भारत सरकार के बीच जितने भी वैधानिक सम्बन्ध हैं उनका आधार अन्तर्राष्ट्रीय न रहते हुए साम्राज्यवादी वन गया है, यद्यपि परिवर्त्तन की यह क्रिया राजनीतिज्ञों की कुशलता, कानून जानने वालों की रूढ़िप्रियता और सार्वभौम सत्ता के संबंध में फैले हुए कुछ सिद्धान्तों के आवरण में छिप सी गई है।

कई भारतीय और योरोपीय लेखकों ने देशी राज्यों और भारत-सरकार के संबंधों को अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के आधार पर माना है। श्री० पणिक्कर ने लिखा कि "यह कहना ठीक नहीं है कि (ये संबंध) एक सर्व शक्तिमान् सार्वभौम शक्ति की इच्छा-अनिच्छा पर निर्भर हैं और वह अपने स्वार्थों को देखते हुए जब चाहे तब माने हुए सिद्धान्तों की अवज्ञा कर सकती है।" परंतु, देशी राजाओं का तो सारा प्रयत्न ही राजनैतिक विभाग की ओर से किए जाने वाले अबाध, अनियंत्रित और स्वेच्छा-पूर्ण हस्तक्षेप को रोकना था, और इस सम्बन्ध में वे इतने दुःखी थे कि इन सम्बन्धों के स्पष्टीकरण को उन्होंने संघ-शासन में शामिल होने की अनिवार्य शर्त्त ही बना दिया था।१ देशी राज्यों ने जिन दो जर्मन सलाहकारों की इस संबंध में राय ली उन्होंने बताया कि जब तक देशी राज्य अंग्रेज़ी हिन्दुस्तान में मिला नहीं लिया जावे तब तक उनका अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता, परंतु वे इस बात को भूल गए कि किसी भी राज्य को 'अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व' तभी प्राप्त होता है जब दूसरे राष्ट्र उसे इस रूप में मानने के लिए तैयार हों, और यह स्पष्ट है कि हिन्दुस्तान के देशी राज्यों को इस प्रकार की मान्यता कभी नहीं मिली। इस संबंध में यह भी कहा गया है कि सार्वभौम सत्ता के एक और अविभाज्य

---

१ पटियाला, भोपाल और बीकानेर के शासकों ने २६ फ़र्वरी १९३५ को वायसराय को दिए गए एक वक्तव्य में "पवित्र संधियों के तत्त्व और सार को प्रथा परिपाटी, रिवाज, राजनैतिक व्यवहार अथवा प्रभु सत्ता की अन्तिम शक्ति के थपेड़ों में चकनाचूर" किए जाने की चर्चा की और प्रभु सत्ता की स्पष्ट व्याख्या को संघ में शामिल होने की आवश्यक शर्त्त बताया। नवाब भोपाल ने एक दूसरे स्थान पर कहा, "एक स्वतन्त्र देशी राज्य की स्थापना का अर्थ होगा प्रभु सत्ता के उस सिद्धान्त को जो देशी राज्यों और सार्वभौम शक्ति के आपसी संबंधों में, हमारी संधियों के खिलाफ़, हम पर लाद दिया गया है।"

होने का सिद्धान्त अब पुराना पड़ गया है और वास्तव में सार्वभौम सत्ता भारत-सरकार और देशी राजाओं में बँटी हुई थी, पर सार्वभौम सत्ता के बँटवारे के जितने भी उदाहरण इतिहास में मिलते हैं उन सबमें हम बँटवारे की रेखाओं को बड़ा स्पष्ट पाते हैं, जबकि देशी राज्यों के संबंध में सत्ता का बँटवारा बिल्कुल भी स्पष्ट नहीं है। इसके अतिरिक्त एक सार्वभौम सत्ता के द्वारा दूसरी सार्वभौम सत्ता के निर्माण का कोई उदाहरण हमें संसार के इतिहास में नहीं मिलता, जबकि अपने देश में हम सार्वभौम सत्ता को देशी राज्यों को बनाते, बदलते और बिगाड़ते हुए पाते हैं। देशी राज्य के निर्माण का एक ज्वलंत उदाहरण हमें मैसूर में मिलता है। अंग्रेजों और निज़ाम ने मिल कर १७९९ में मैसूर को युद्ध में हरा कर टीपू सुल्तान की सार्वभौम सत्ता का अन्त कर दिया था। वे आसानी से सारे प्रदेश पर अपना सीधा अधिकार स्थापित कर सकते थे, पर शासन की ज़िम्मेदारियों से बचने के लिए उन्होंने मैसूर का राज्य उसके पुराने हिन्दू राज्य-वंश के एक व्यक्ति को सौंप दिया, तीस वर्ष के बाद, मैसूर के राजा के विरोध के बावजूद भी, अंग्रेज़ी सरकार ने मैसूर के शासन को अपने हाथ में ले लिया, और उसके पचास वर्ष के बाद उन्होंने उसे फिर लौटा दिया। १८८१ में राज्य को लौटाते समय अंग्रेज़ी सरकार ने मैसूर के राज्य-वंश के किसी क़ानूनी अधिकार का जिक्र नहीं किया केवल उसके हाथ में शासन सौंप देने की अपनी इच्छा प्रगट की। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि देशी राज्य के रूप में मैसूर का अस्तित्व अंग्रेज़ी सरकार की इच्छा पर निर्भर था। उन्नीसवीं शताब्दी के पहिले साठ वर्षों में तो देशी राज्यों के अस्तित्व को युद्ध अथवा विजय के द्वारा नहीं, शान्ति-पूर्वक मिटा देने के अनेकों उदाहरण मिलते हैं, और यदि उसके बाद अंग्रेज़ी सरकार ने अपने इस अधिकार का प्रयोग बन्द कर दिया तो उसका कारण यह नहीं था कि उसे देशी राज्यों के अधिकार, अथवा उनकी 'आंशिक सार्वभौम सत्ता' में विश्वास हो गया था, पर यह था कि वैसा करना उसके अपने स्वार्थों के अनुकूल नहीं था।

सच तो यह है कि अंग्रेज़ी सरकार और देशी राज्यों के सम्बन्ध में संधियों का कोई मूल्य रह ही नहीं गया था। संधि 'दो या अधिक स्वतंत्र राष्ट्रों में जनता के हित को दृष्टि में रखते हुए किए जाने वाले समझौते' का नाम है। देशी राज्यों के साथ किए जाने वाली संधियों का प्रारंभ में कुछ मूल्य हो सकता था पर एक ऐसी स्थिति में जब देशी राजा संधि को समय की गति के अनुसार बदलने अथवा तोड़ने के अधिकार का उपयोग कर ही नहीं सकते थे उनका महत्त्व काग़ज़ के मूल्यहीन टुकड़ों से अधिक नहीं रह गया था। वे

सचमुच ही देशी राज्यों के साथ के सम्बन्धों का आधार नहीं रह गई थीं। वस्तु स्थिति तो यह थी कि सारे देश पर अंग्रेजों का कब्ज़ा था पर शासन की प्रणाली की दृष्टि से उन्होंने उसे दो भागों में बांट रखा था—एक का शासन वे सीधे वैधानिक उपायों से चलाते थे, दूसरे में राजा अथवा नवाब की आड़ में। जनता के लाभ अथवा हानि में सीधी दिलचस्पी न होने के कारण वे सदा यह देखना भी आवश्यक नहीं समझते थे कि यह दूसरे ढंग का शासन ठीक से चल भी रहा है या नहीं। उनके अपने हितों का जहाँ खतरा होता था वहां वे ज़ोरों से प्रहार करने में चूकते नहीं थे। यहां यह सवाल पूछा जा सकता है कि यदि अंग्रेज़ राजनीतिज्ञ इस वस्तुस्थिति से परिचित थे तो उन्होंने स्पष्ट शब्दों में इसकी घोषणा क्यों न की और उनमें से कुछ ने देशी राजाओं को अपनी सार्वभौम सत्ता के दावे को प्रस्तुत करने में प्रोत्साहन क्यों दिया। इसका उत्तर तो बहुत स्पष्ट है ही। अंग्रेज़ देशी राज्यों को अपने साम्राज्य को मज़बूत बनाने वाले प्रतिक्रियावादी तत्त्वों के रूप में देखते थे और राष्ट्रीय भावना को आगे बढ़ने से रोकने में उनका उपयोग करना चाहते थे। देशी राजाओं के दावे को उन्होंने वहीं तक आगे बढ़ने दिया जहाँ तक उसने उनकी सार्वभौमता पर अतिक्रमण नहीं किया। उनके वैसा करने के किसी भी प्रयत्न का उन्होंने सदा ज़ोरदार विरोध किया।

संघ-शासन और देशी रियासतें

१९३५ के संघ-शासन में पहिली बार भारत-सरकार के साथ देशी रियासतों के वैधानिक संबंधों की स्थापना की गई। विधान-संबधी किसी भी परिवर्त्तन का अब तक देशी राज्यों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था, परन्तु संघ-शासन की स्वीकृति के साथ तो अंग्रेज़ी सरकार ने यह पाबन्दी लगा दी थी कि जब तक कम से कम आधे देशी राज्य भारतीय संघ में सम्मिलित होना स्वीकार न कर लें तब तक उसकी स्थापना नहीं हो सकेगी। संघ-शासन की योजना में, इस प्रकार, देशी राज्यों को एक अनिवार्य कड़ी माना गया था। इसके साथ ही उनकी वैधानिक स्थिति को स्पष्ट करना भी आवश्यक हो गया था। इस संबंध में अब यह स्पष्ट रूप से मान लिया गया कि उनकी अपनी सार्वभौम सत्ता थी। इसी कारण हम देखते हैं कि प्रान्तों के संघ-शासन में शामिल होने और देशी राज्यों की उसी क्रिया में एक मौलिक अन्तर था। प्रान्त तो अंग्रेज़ी सरकार की संपत्ति थे और इस कारण उसका आदेश उनके लिए सर्वमान्य था, पर देशी राज्यों पर, जिनकी अपनी सार्वभौम सत्ता मान

ली गई थी इस प्रकार का कोई आदेश लादा नहीं जा सकता था । संघ-शासन में वे स्वेच्छा से ही शामिल हो सकते थे । संघ के प्रवेश-पत्र के मसविदे से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि अंग्रेज़ी सरकार देशी राज्यों के प्रति अपने किसी प्रकार के अधिकार का दावा नहीं रखती थी । देशी राज्य के द्वारा भारतीय संघ को सौंपे जाने वाले अधिकारों का अन्तिम निर्णय भी देशी नरेशों के हाथ में ही था । यह अवश्य कह दिया गया था कि संघ को सौंपे जाने वाले अधिकारों के अतिरिक्त भारत-सरकार द्वारा व्यवहार में लाए जाने वाले सभी पुराने अधिकार उसी के हाथों में रहेंगे, और इस प्रकार अंग्रेज़ी सरकार की प्रभु-सत्ता एक बार फिर घोषित कर दी थी, परन्तु जहां तक संघ में सम्मिलित होने वाले देशी राज्यों के अधिकारों का प्रश्न था, कानून-संबंधी व शासन-सम्बन्धी सभी अधिकारों की स्पष्ट व्याख्या कर दी गई थी, और यह भी स्पष्ट कर दिया गया था कि विधान में किसी प्रकार का मौलिक परिवर्त्तन तब तक नहीं किया जाएगा जब तक कि देशी नरेशों की स्वीकृति न ले ली जाएगी । देशी नरेशों की सार्वभौम सत्ता की धारणा का निर्वाह करने की दृष्टि से अंग्रेज़ी सरकार एक ऐसे विचित्र संघ-शासन का निर्माण करने के लिए भी तैयार हो गई जिसकी विभिन्न इकाइयां, प्रान्तों व देशी राज्यों, का ढांचा एक दूसरे से भिन्न और बेमेल था, और देशी नरेशों ने भी सार्वभौम सत्ता के अपने अधिकार को इतनी गंभीरता के साथ लिया कि जब उनके कानूनी सलाहकारों ने उन्हें बताया कि संघ-शासन के शब्द चाहे कुछ भी हों उसकी सहज प्रवृत्ति सदा ही केन्द्रीकरण की ओर रहती है और इस कारण उनके शामिल होने का अर्थ यह होगा कि उनके आन्तरिक शासन में भी केन्द्रीय सरकार का अतिक्रमण इतना बढ़ता जाएगा कि धीरे धीरे उनकी सत्ता विलुप्त हो जाएगी तब इस काल्पनिक सार्वभौम सत्ता की सुरक्षा के लिए वे इतने बेचैन हो उठे कि उनमें से अधिकांश ने संघ-शासन से दूर रहने का ही निश्चय कर लिया । जिस परिमाण में संघ-शासन में शामिल होने का देशी-राज्यों का उत्साह ठंडा पड़ता जा रहा था उसी परिमाण में मुस्लिम-लीग का विद्रोह भी बढ़ता जा रहा था । इन परिस्थितियों में, दूसरे महायुद्ध का प्रारम्भ हो जाने के बाद संघ-शासन की योजना को बिल्कुल ही दफ़ना दिया गया ।

१९३९ के बाद

देश की राजनैतिक प्रगति के मार्ग में बाधा डालने का जो अधिकार देशी राज्यों के हाथ में आ गया था संघ-शासन की योजना के साथ ही उसका भी अन्त हो गया, और यह बात १९४२ की क्रिप्स-योजना में बिल्कुल स्पष्ट कर दी गई । क्रिप्स-योजना का आधार देश के प्रमुख राजनैतिक दलों के साथ में

केन्द्रीय शासन को सौंप देना था। देशी राज्यों के सम्बन्धों में उनकी योजना मूक और अस्पष्ट थी। क्रिप्स-योजना में प्रान्तों को यह अधिकार दे दिया गया था कि वे अपने भाग्य का निर्णय स्वयं कर ले। वे मिल जुलकर अपना एक संघ बना लें अथवा दो संघों में अपने आपको विभाजित कर लें अथवा, यदि चाहें तो, अपनी स्वतंत्र स्थिति रख सकें, इसका अन्तिम अधिकार उन्हें दे दिया गया था, परन्तु देशी राज्यों के लिए कोई बात स्पष्ट नहीं थी। उनके संबंध में तो क्रिप्स ने केवल इतना ही कहा कि सत्ता परिवर्त्तन के साथ अंग्रेज़ी सरकार के साथ की हुई उनकी संधियों में संभवतः कुछ परिवर्त्तन करना पड़े। इस पर देशी नरेशों ने एक आवेदन-पत्र क्रिप्स की सेवा में प्रस्तुत किया जिसमें उन्होंने प्रान्तों के समान यह अधिकार चाहा कि वे नए बनने वाले संघ, या संघों में से किसी एक, में सम्मिलित हो सकें अथवा, यदि चाहें तो, अपने को स्वतंत्र घोषित कर सकें। संक्षेप में, वे भी प्रान्तों के समान ही भाग्य निर्णय का अधिकार चाहते थे। क्रिप्स ने इस सुझाव को न तो स्वीकार ही किया और न अस्वीकार ही। उन्होंने केवल यही कहा कि देशी राज्यों के संबंध में कोई अन्तिम योजना उनके पास नहीं थी। क्रिप्स-योजना के देश के प्रमुख राजनैतिक दलों द्वारा ठुकरा दिए जाने के बाद से देश अंग्रेज़ी शासन से एक लंबे संघर्ष और गत्यावरोध में उलझ गया, जिसकी समाप्ति का पहिला प्रयत्न जून १९४५ के शिमला-सम्मेलन में किया गया। उसमें केवल प्रमुख राजनैतिक दलों के प्रतिनिधियों के साथ चर्चा हुई, और वह चर्चा भी असफल रही। पर यह स्पष्ट होता जा रहा था कि सत्ता-परिवर्त्तन की इन चर्चाओं की दृष्टि से देशी राज्यों को कोई महत्त्व नहीं दिया जा रहा था।

ब्रिटेन में मजदूर दल के शासन की स्थापना के बाद उसकी भारतीय नीति में एक बड़ा मौलिक परिवर्त्तन दिखाई दिया। हिन्दुस्तान की राजनैतिक स्थिति का निकट से अध्ययन करने के लिए उसने पार्लमेन्ट का एक शिष्ट मंडल भेजा और उसके बाद केबिनट के मंत्रियों का एक दल। केबिनट के मंत्रियों ने हिन्दुस्तान पहुँच कर राजनैतिक दलों के नेताओं से एक बार फिर बात-चीत शुरू की। उस बात-चीत में भी देशी राज्यों के लिए कोई स्थान नहीं था। देशी राज्यों के संबंध में अंग्रेज सरकार की ओर से एक अधिकृत घोषणा १२ मई १९४६ को प्रकाशित की गई जिसमें यह कहा गया कि हिन्दुस्तान के स्वतंत्र हो जाने पर देशी राज्यों के साथ की गई अंग्रेज़ी सरकार की समस्त संधियाँ भी समाप्त हो जायंगी, अंग्रेजी शासन की प्रभु सत्ता का अन्त हो जायगा और वैसी स्थिति में देशी राज्य पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो जायेंगे। यह बहुत स्पष्ट रूप में कह दिया था कि देशी राज्यों के संबंध में जिस प्रभु सत्ता का

उपयोग अंग्रेज़ी सरकार कर रही थी वह नई बनने वाली किसी भी भारतीय सरकार को नहीं सौंपा जायगा। अंग्रेज़ी सरकार ने इसके साथ ही अपनी यह इच्छा अवश्य प्रगट की कि नए बनने वाले वैधानिक ढांचे में देशी रियासतें अपने लिए उचित स्थान बना लें और यह सलाह भी दी कि यदि वे ऐसा करना चाहें तो उन्हें अपने शासन के स्तर को ऊँचा उठाना होगा और दूसरी ओर, कम से कम छोटे राज्यों के लिए, अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को मिटा कर बड़ी इकाइयों के रूप में अपना पुनः संगठन करना होगा। और यह भी कहा गया कि सभी राज्यों में जनतंत्रीय संस्थाओं का विकास भी आवश्यक होगा, जब तक स्थाई रूप से वे भारतीय विधान में सम्मिलित हो सकें तब तक के लिए उनको नई बनने वाली केन्द्रीय सरकार से कम से कम आर्थिक संबंध बनाए रखने की सलाह भी दी गई थी। उन्हे बताया गया था कि अंग्रेज़ी राज्य से संबंध टूट जाने की स्थिति में उनके सामने दो ही रास्ते रह गए थे—एक रास्ता संघ-शासन में शामिल होने का था और दूसरा, स्वतंत्र रहते हुए, उससे निकट राजनैतिक संबंध स्थापित करने का था। १६ मई को प्रकाशित की जाने वाली केबिनट मिशन योजना में देशी राज्यों के संबंध में कोई स्पष्ट बात नहीं कही गई थी और यद्यपि विधान-सभा में उनके लिए स्थान रखा गया था परंतु उन स्थानों की पूर्ति किस पद्धति से की जायगी इसके संबंध में कुछ नहीं कहा गया था। २४ मई के अपने एक प्रस्ताव में कांग्रेस ने यह प्रश्न उठाया कि देशी राज्यों के इन प्रतिनिधियों का चुनाव किस प्रकार होगा, जिसका उत्तर केबिनट मिशन की ओर से यह दिया गया कि इसका निश्चय विधान-सभा व देशी राज्यों के बीच बातचीत और समझौते के द्वारा ही किया जा सकेगा। नरेन्द्र मण्डल की ओर से बातचीत करने के लिए एक समिति पहिले से नियुक्त की जा चुकी थी। दिसम्बर में विधान सभा की ओर से भी एक समिति नियुक्त कर दी गई। इस दोनों समितियों की बातचीत का परिणाम १७ अप्रेल १९४७ को प्रकाशित किया गया और अप्रेल के अन्त तक बहुत से देशी राज्यों ने अपने प्रतिनिधि विधान-सभा में भेजने प्रारंभ कर दिए।

रक्तहीन क्रान्ति का सूत्रपात

३ जून १९४७ को घोषित की जाने वाली माउन्टबेटन योजना और देश के प्रमुख राजनैतिक दलों के द्वारा उसके स्वीकार कर लिए जाने के बाद बनने वाले 'भारतीय स्वाधीनता एक्ट' ने सारी परिस्थिति को एक बार फिर तेज़ी से बदल डाला। इस 'एक्ट' के द्वारा देशी राज्यों को केन्द्रीय सरकार से संयुक्त करने वाली सारी कड़ियाँ और संबंध एक साथ तोड़ डाले गए। यह बिल्कु

संभव था कि इसके परिणाम-स्वरूप देश में अराजकता फैल जाती। उससे बचने के लिए एक हल्की सी व्यवस्था डाक, तार व यातायात सम्बन्धी पुराने समझौतों के तब तक चलने की रखी गई थी जब तक वे दोनों में से किसी एक दल के द्वारा ठुकरा न दिए जाएँ। इन समझौतों के नाम पर एक रियासती विभाग खोला जा सका, जो १५ अगस्त १९४७ के बाद दो भागों में बँट गया। इस विभाग का काम प्रारंभ में केवल उन थोड़े से समझौतों के संबंध में देशी राज्यों से संपर्क बनाए रखना था जो अब भी उन्हें भारत-सरकार से जोड़े हुए थे। ५ जुलाई को इस विभाग के अध्यक्ष की हैसियत से सरदार वल्लभभाई पटेल ने एक बहुत ही राजनीतिज्ञता पूर्ण वक्तव्य दिया जिसमें उन्होंने देशी राज्यों का ध्यान उस एकता को बनाए रखने की आवश्यकता पर दिलाया जिसके अभाव में देश ने अनेकों कष्ट उठाए थे और जिसके बिना भविष्य में भी वह किसी बड़ी बात की आशा नहीं कर सकता था। उन्होंने देशी राज्यों से अपील की कि इस एकता को बनाए रखने के लिए वे भारतीय संघ में शामिल हो जाएँ। उन्होंने देशी नरेशों से अपने शासन के केवल तीन विभागों, रक्षा, वैदेशिक नीति व यातायात को केन्द्रीय सरकार को सौंपने के लिए कहा और उन्हें इस बात का आश्वासन दिया कि उन पर किसी प्रकार का आधिपत्य स्थापित करना केन्द्रीय सरकार का कभी लक्ष्य नहीं होगा। माउंटबेटन ने भी इसी प्रकार का एक वक्तव्य दिया। इन वक्तव्यों का बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा और भारत सरकार की इस नीति का परिणाम यह हुआ कि २५ जुलाई को देशी नरेशों की जो बैठक अस्थायी समझौतों के संबंध में बातचीत करने के लिए बुलाई गई थी उसने रियासतों के संघ में शामिल होने के संबंध में भी कई आवश्यक फ़ैसले किए, और १५ अगस्त १९४७ को जब देश को केवल दो भागों में विभाजित करने का प्रश्न ही सामने नहीं था बल्कि उसके शत-शत भागों में विभक्त हो जाने का भय भी था, एक भारतीय राजनीतिज्ञ की दूरदर्शिता के परिणाम-स्वरूप, हैदराबाद, काश्मीर और जूनागढ़ की रियासतों को छोड़ कर, शेष सभी रियासतें भारतीय संघ में शामिल होने का वचन दे चुकी थीं। हिन्द की एकता को बनाए रखने की दिशा में तो यह एक बहुत बड़ा क़दम था, उसे अधिक संघटित करने और जनतंत्रीय दिशा में आगे बढ़ाने की अनिवार्यता को भी इस क़दम ने संभव बना दिया था। इस प्रकार भारतीय प्रगति और संघटन और जन-तंत्रीकरण की दिशा में एक रक्तहीन क्रांति का सूत्रपात हुआ।

समग्रीकरण और जनतंत्रीकरण

१५ अगस्त १९४७ के पहिले पहिले अधिकांश देशी रियासतों के भारतीय

संघ में सम्मिलित हो जाने का परिणाम यह हुआ कि हिन्द की एकता की रक्षा हो सकी। परंतु, देशी राज्यों की समस्या को सुलझाने की दृष्टि से यह अंतिम क़दम नहीं बल्कि पहिला कदम था। जब तक इन देशी रियासतों को भारतीय संघ में आर्थिक और राजनैतिक सभी दृष्टियों से बिल्कुल ही गूंथ नहीं दिया जाता तब तक इनकी उपस्थिति से उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों का ठीक से निपटारा नहीं किया जा सकता था। इस दृष्टि से यह आवश्यक था कि एक ओर तो छोटी-छोटी रियासतों को मिला दिया जाए और दूसरी ओर उनमें जनतंत्रीय संस्थाओं की स्थापना कर दी जाए। छोटे राज्यों को मिलाने की कुछ योजनाएं पहिले भी बनी थीं। १९३३ में इस प्रकार का एक प्रयत्न किया गया था। १९३९ में लिनलिथगो ने देशी राज्यों से अपने पड़ौस के राज्यों के साथ विभिन्न प्रकार के शासन-सम्बन्धी समझौते करने के लिए प्रोत्साहित किया। १९४३ में फिर छोटे राज्यों को मिलाने की चर्चा चली। पर ये सभी योजनाएं असफल रहीं। इसका कारण यही हो सकता है कि उनके पीछे वास्तविकता का कोई बड़ा दबाव नहीं था। देश के स्वाधीन हो जाने के बाद सारी परिस्थिति अचानक और तेज़ी के साथ बदली। देश के शेष भाग में पूर्ण स्वाधीनता की स्थापना का प्रभाव देशी राज्यों की जनता पर पड़ना स्वाभाविक था। १५ अगस्त के बाद सभी देशी राज्यों में राजनैतिक आन्दोलन बड़ी तेज़ी के साथ फैलने लगे और जनतंत्रीय संस्थाओं की मांग की जाने लगी। कई राज्यों में इस मांग की तात्कालिक पूर्त्ति भी की गई। पर छोटे राज्यों में तो किसी प्रकार के जनतंत्रीय शासन की उस समय तक कल्पना भी नहीं की जा सकती थी जब तक कि उनके भौगोलिक विस्तार को बढ़ा न दिया जाए।

छोटे राज्यों में तेज़ी से बढ़ने वाली राजनैतिक चेतना की तीव्र धारा को किसी वैधानिक परिवर्त्तन की प्रतीक्षा में रोका नहीं जा सकता था। १५ अगस्त के बाद कई छोटे राज्यों में जनता ने अपने नरेशों के प्रति खुले विद्रोह की घोषणा कर दी और इन छोटे-मोटे नरेशों के लिए अपने सीमित साधनों के सहारे उन विद्रोहों को कुचलना असंभव हो गया। यह भी बिल्कुल स्वाभाविक था कि अशान्ति और अव्यवस्था की ये अराजक लहरें अपनी छोटी सीमाओं का अतिक्रमण कर अपने पड़ौसी प्रदेशों के शान्त जीवन को भी ख़तरे में डाल दें। छत्तीसगढ़ और उड़ीसा की रियासतों में तो ऐसा हुआ भी। कई वर्ष पहिले जब उड़ीसा के नए प्रान्त का निर्माण हो रहा था तब इन रियासतों से प्रान्तीय सरकार का किसी प्रकार का सम्बन्ध रखे जाने पर ज़ोर दिया गया था, पर इस विचार को क्रियात्मक रूप नहीं दिया जा सका। इन छोटे राज्यों में फैलने वाली अराजकता ने जब एक व्यापक रूप ले लिया तब सरदार

पटेल वहां गए, शासकों से इन रियासतों के भविष्य के सम्बन्ध में चर्चा की और उनके साथ एक समझौता किया जिसके परिणाम-स्वरूप छत्तीसगढ़ और उड़ीसा की रियासतें अपने समीपवर्त्ती प्रान्तों में मिला दी गईं। इस समझौते के अनुसार नरेशों ने शासन के समस्त अधिकार भारत सरकार के हाथ में सौंप दिए। भारत-सरकार ने उनकी सिविल लिस्ट, व्यक्तिगत जायदाद, उपाधियों और अन्य विशेष अधिकारों को मान लिया। १४ दिसम्बर को इस समझौते पर दस्तखत हुए थे। १६ दिसम्बर को सरदार पटेल ने एक वक्तव्य दिया जिसमें उन्होंने देशी राज्यों में जनतंत्र के तेजी से बढ़ने की आवश्यकता पर जोर दिया, और कहा कि जब तक छोटी रियासतों के स्वतंत्र अस्तित्व को मिटा नहीं दिया जाता तब तक उनमें जनतंत्रीय शासन की स्थापना असंभव होगी। सरदार पटेल ने अपने इस वक्तव्य में छोटे राज्यों के लिए तो एक आदेश-सा ही दे दिया कि उनके सामने अपने अस्तित्व को खो देने और जनतंत्रीय संस्थाओं का निर्माण करने के अलावा कोई दूसरा रास्ता रह ही नहीं गया था। छोटे राज्यों के सम्बन्ध में भारत-सरकार की नीति की इतनी स्पष्ट व्याख्या पहिले कभी नहीं की गई थी।

छत्तीसगढ़ और उड़ीसा की रियासतों से प्रेरणा पाकर दक्षिण की कई रियासतों ने, जिनमें पहिले एक स्वतंत्र संघ बनाने की चर्चा चल रही थी, वम्बई-प्रान्त में सम्मिलित किए जाने की प्रार्थना और १९ फ़र्वरी १९४८ के बाद से उनके वम्बई-प्रांत में विलीन होने की क्रिया का प्रारंभ भी हो गया। इनकी संख्या १७ क्षेत्रफल ७,६५१ वर्गमील, आबादी १७ लाख और वार्षिक आय १ करोड़ ४२ लाख के लगभग थी। इसके बाद गुजरात की छोटी रियासतों ने, जिनकी संख्या १५७ थी क्षेत्रफल १९,३०० वर्ग मील, आबादी २७ लाख और वार्षिक आय १ करोड़ ६५ लाख, बंबई प्रान्त में मिलने की प्रार्थना की और १० जून को उनका शासन भी बंबई की सरकार ने अपने हाथ ले में लिया। कुछ और छोटी-छोटी रियासतें इसी बीच पूर्वी पंजाब व मद्रास में मिल चुकी थीं। ९ मार्च को पूर्वी पंजाब के पहाड़ी प्रदेशों की इक्कीस रियासतों ने प्रार्थना की कि भारत-सरकार उनका शासन-प्रबन्ध अपने हाथ में ले ले। उनकी भौगोलिक व सांस्कृतिक स्थिति को देखते हुए भारत-सरकार ने यह निश्चय किया कि उनका शासन-प्रबन्ध तो वह अपने हाथ में ले लेगी परंतु शासन की दृष्टि से उनका अपना स्वतंत्र अस्तित्व भी रहेगा। १५ अप्रैल को हिमाचल-प्रदेश के नाम से इन राज्यों में एक मिले जुले राज्य की स्थापना की गई। इस समस्त प्रदेश का क्षेत्रफल १०,६०० वर्गमील, आबादी ९॥ लाख और वार्षिक आय ८५ लाख थी। ४ मई को कच्छ की रियासत ने भी अपना

शासन केन्द्रीय सरकार के हाथों में सौंपने का निश्चय किया । १६४८ के ग्रीष्मारंभ तक देश की लगभग सभी छोटी रियासतें या तो अपने समीपवर्त्ती प्रान्तों में विलीन हो चुकी थीं या उनका शासन केन्द्रीय सरकार के अन्तर्गत आ गया था और एक ऐसी समस्या जो पिछले पन्द्रह वर्षों के समस्त प्रयत्नों को उपहासास्पद बनाती आ रही थी चुटकियों में सुलझ गई ।

परन्तु देशी राज्यों की विस्तृत और जटिल समस्या का यह तो केवल एक अंश था । अधिकांश राज्य तो ऐसे हैं जो न तो इतने छोटे हैं कि अपने शासन का भार संभाल ही न सकें और न इतने बड़े कि अपने बलबूते पर उसे आधुनिक रूप दे सकें । इन रियासतों के लिए यह आवश्यक था कि उन्हें पड़ोस की रियासतों के साथ मिला कर संघ का रूप दिया जाए । इस प्रकार की रियासतों में काठियावाड़ की लगभग २१७ रियासतें थीं जिनकी सीमाएं बड़ी दूर तक और बड़े अस्त व्यस्त ढंग से बिखरी हुई थीं । जनवरी १६४८ के आरंभ में इन सबको मिला कर एक संघ का रूप देने की चर्चा आरंभ हुई और तीन-चार सप्ताहों के भीतर-भीतर उस योजना ने एक निश्चित रूप ले लिया जिसके परिणाम-स्वरूप १५ फ़र्वरी को सौराष्ट्र के नए राज्य की स्थापना हुई । सौराष्ट्र का क्षेत्रफल ३१,८८५ वर्ग मील, आबादी ३५ लाख २२ हज़ार और वार्षिक आय ८ करोड़ थी । इस संघ में शामिल होने वाली रियासतों के नरेशों का एक मंडल बना दिया गया था जिसमें राजप्रमुख, उपराजप्रमुख आदि अधिकारियों की व्यवस्था की गई थी—नरेशों को नए विधान में समाविष्ट करने की दिशा में यह नया और आकर्षक प्रयत्न था । सौराष्ट्र के बाद दिल्ली के पड़ोस की कुछ रियासतों, अलवर, भरतपुर, धौलपुर और करौली, ने मिल कर, जिनका क्षेत्रफल ७,५३६ वर्ग मील, आबादी १८ लाख ३८ हज़ार और वार्षिक आय १ करोड़ ८३ लाख थी, मत्स्य-राज्य की स्थापना की । इसके सम्बन्ध में अन्तिम समझौता २८ फ़र्वरी को किया गया और १६ मार्च से मत्स्य के नए शासन का श्री गणेश हुआ ।

इसके बाद तो देशी राज्यों के संघबद्ध होने की यह प्रवृत्ति तेज़ी से फैलने लगी । मत्स्य के बन जाने के कुछ दिनों बाद ही बुंदेलखंड और बघेलखंड की ३५ रियासतों ने विंध्य-प्रदेश की स्थापना की । इसके बनने में सबसे बड़ी कठिनाई रीवा की थी । रीवा अकेला लगभग अन्य सभी रियासतों से बड़ा था । इस कारण रीवा को कुछ विशेष अधिकार दिए गए और तब वह संघ में शामिल हुआ । विंध्य-प्रदेश का क्षेत्र फल, २४, ६१० वर्ग मील, आबादी ३५ लाख ६६ हज़ार और वार्षिक आय २॥ करोड़ थी । विंध्य-प्रदेश के बाद संघीकरण की इस प्रवृत्ति का झुकाव फिर राजपूताना की ओर लौटा । पूर्वी राज

पूताना की कुछ रियासतों ने कोटा की अध्यक्षता में राजस्थान संघ की योजना तैयार की। २५ मार्च को इस संघ का उद्‌घाटन भी हो गया था, परंतु उदयपुर द्वारा उसमें शामिल होने की इच्छा प्रगट किए जाने के बाद उसका रूप बदल दिया गया और उदयपुर के महाराणा की आजीवन राज प्रमुखता में उसका फिर से संगठन और १८ अप्रेल को जवाहरलाल नेहरू के द्वारा उदयपुर में उसका उद्‌घाटन किया गया। उदयपुर के सम्मिलित हो जाने पर इस संघ का क्षेत्र फल १६, ६७७ वर्ग मील, आबादी ४२ लाख ६१ हजार व वार्षिक आय ३ करोड़ १७ लाख हो गए। राजस्थान संघ की सीमाओं से मिली जुली मध्य भारत की सीमाएँ थी जिसमें बहुत से छोटे राज्यों के अलावा ग्वालियर और इन्दौर के बड़े राज्य भी शामिल थे। ये राज्य भी संघबद्ध होना चाहते थे पर काफी दिनों तक यह चर्चा चलती रही कि ये सब ग्वालियर और इंदौर में शामिल होकर अपना एक संघ बनावें अथवा ग्वालियर और इंदौर को आधार बना कर दो अलग संघों का निर्माण किया जाए। २०-२२ अप्रेल को दिल्ली में होने वाले इन रियासतों के कार्यकर्त्ताओं के एक सम्मेलन में इस विवाद का निपटारा हो गया और मध्य-भारत के एक संयुक्त संघ की स्थापना का निश्चय कर लिया गया। इसका क्षेत्र फल ४६, २७३ वर्ग मील, आबादी ७१ लाख और वार्षिक आय ८ करोड़ के लगभग थी। सरदार पटेल के शब्दों में, "यह हिन्दुस्तान में सबसे बड़े संघों में है और आर्थिक साधनों व जन संख्या में कोई दूसरा संघ इसका मुकाबिला नहीं कर सकता।" ऐतिहासिक दृष्टि से यह वह भाग है जिसमें मराठा के उत्तरी हिन्दुस्तान के साम्राज्य के अवशेष हैं और औद्योगिक दृष्टि से सभी देशी राज्यों में यह सबसे आगे बढ़ा हुआ प्रदेश है। शिक्षा व संस्कृति के विकास की दृष्टि से यह देश के अन्य भागों से किसी भी प्रकार पीछे नही है। इस संघ की स्थापना २६ मई को हुई। मध्य-भारत संघ की स्थापना के साथ काठियावाड़ से रीवा तक फैला हुआ समस्त प्रदेश, जिसे भारत का हृदय कहा जा सकता है, भारतीय संघ के साथ निकटतम संपर्कों में गूंथ दिया गया है। सभी बड़े राज्य-संघ इस क्षेत्र में समाविष्ट हैं। इसमें पांच राज्य-संघ व जोधपुर, जैसलमेर, बीकानेर, जयपुर तथा भोपाल की वे पांच रियासतें हैं जिन्होंने फिलहाल संघ-योजना से अलग रहने का निश्चय किया है। १, ७५ हजार वर्ग मील का यह क्षेत्र बँटवारे के बाद शेष रह जाने वाले महाद्वीप का एक मुख्य अंग है और इसमें से होकर पश्चिम तथा दक्षिण से उत्तर को रेलें व सड़कें जाती हैं। इस समस्त क्षेत्र के समग्रीकरण का परिणाम समस्त देश की एकता व शक्ति पर पड़ना अनिवार्य है। मध्य-भारत संघ के बन जाने के बाद पूर्वी पंजाब की पटियाला, कपूरथला जिन्द, नाभा आदि ८ रियासतों ने

अपना एक संघ बना लेने का निश्चय किया। १५ जुलाई को इस संघ का उद्घाटन हुआ और २० अगस्त तक सभी रियासतों का शासन-प्रबंध राज प्रमुख को सौंप दिया गया। इस संघ का क्षेत्र फल १० ११६ वर्ग मील, आबादी ३२ लाख २४ हजार और वार्षिक आय ५ करोड़ के लगभग है। अगस्त १९४८ के अंत तक, इस प्रकार, कुछ थोड़ी सी ऐसी रियासतों को छोड़ कर जो अपना राज्य स्वयं चला लेने की स्थिति में थीं, सभी रियासतें या तो निकटवर्त्ती प्रान्तों में मिला दी गई थीं या अपनी पास की रियासतों से मिल कर किसी न किसी संघ में शामिल हो गई थीं। संघीकरण की इस प्रवृत्ति के साथ साथ इन सभी प्रदेशों में केन्द्रीय सरकार से उनके संबंधों को दृढ़ बनाया जा रहा था। प्रारंभ में बनने वाले संघों से तो केन्द्रीय सरकार ने केवल रक्षा, वैदेशिक नीति और यातायात संबंधी अधिकारों के सौंपे जाने की माँग की थी पर राजस्थान-संघ बनते समय उन्होंने, राज्यकर संबंधी क़ानूनों को छोड़ कर, अन्य कानूनों को प्रान्तों के समान उनकी सीमाओं में जारी किए जाने की मांग की, और मध्य-भारत संघ पर तो इस प्रकार की पाबन्दी ही लगा दी गई। ६ मई को दिल्ली में सभी राज प्रमुखों और प्रधान-मंत्रियों का एक सम्मेलन बुलाया गया जिसमें उनसे केन्द्रीय सरकार के इस प्रकार के अधिकारों को मान लेने के लिए कहा गया। विभाजन द्वारा देश की एकता को जो चुनौती दी गई थी केन्द्रीकरण का यह गतिशील चक्र उसका शक्तिशाली प्रत्युत्तर देने में लगा हुआ था।

ऊपर के विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पिछले महीनों में देशी राज्यों में एक साथ ही दो प्रवृत्तियां चलती रही हैं। एक ओर तो छोटे राज्यों का अस्तित्व बड़ी इकाइयों में समाविष्ट किया जा रहा था और दूसरी ओर इन सभी प्रदेशों में शासन का पुनःसंगठन जनतंत्रीय आधार पर किया जा रहा था। समग्रीकरण की दृष्टि से देशी रियासतों के प्रति बरती जाने वाली नीति को हम चार भागों में बांट सकते हैं। पहिले भाग के अन्तर्गत छत्तीसगढ़ और उड़ीसा, दक्षिण और गुजरात आदि की वे छोटी छोटी रियासतें आती हैं जो अपने निकटवर्त्ती प्रान्तों में मिला दी गईं। दूसरे भाग में वे रियासतें शामिल हैं जिनमें अपने पैरों पर खड़े होने की क्षमता तो नहीं थी पर जिन्होंने निकटवर्त्ती राज्यों के साथ मिल कर अपने को एक सुस्पष्ट सांस्कृतिक इकाई के रूप में संघटित कर लिया। इसका एक उदाहरण सौराष्ट्र-संघ है। तीसरे भाग में छोटी बड़ी रियासतों के वे मिले-जुले संघ हैं जिनमें ऐसी बड़ी रियासतें भी शामिल हैं जो यदि चाहतीं तो अपना स्वतंत्र अस्तित्व रख सकती थीं। परंतु जिन्होंने अधिक व्यापक हितों को ध्यान में रखते हुए अपने को समीपवर्त्ती छोटे राज्यों के साथ मिला देना उचित समझा। मत्स्य में अलवर, राजस्थान-

संघ में उदयपुर, मध्यभारत में ग्वालियर और इंदौर और पूर्वी पंजाव की रियासतों में पटियाला इस प्रकार के उदाहरण हैं। चौथे भाग में जोधपुर, बीकानेर, जयपुर, बड़ौदा, भोपाल आदि वे राज्य हैं जो अपना शासन अपने आप चलाने की स्थिति में है और जिन पर भारत-सरकार ने अपने अस्तित्व को किसी बड़े संघ में विलीन करने के लिए कोई दबाव नहीं डाला। १५ मार्च १९४८ को भारत-सरकार की ओर से दिए गए एक वक्तव्य में इस प्रकार के बड़े राज्यों के लिए कहा गया कि "उन्हें किसी दूसरी इकाई से मिल जाने अथवा अपने अस्तित्व को उसमें समाविष्ट कर देने के लिए किसी प्रकार से विवश करने अथवा दवाव डालने की हमारी बिल्कुल इच्छा नहीं है। यदि वे अपने को अलग और स्वतंत्र इकाइयों के रूप में बनाए रखना चाहें तो हमें उसमें कोई आपत्ति नहीं होगी परंतु इनमें से किसी राज्य के नरेश और उसकी जनता यदि पड़ोस के प्रान्त में मिल जाना चाहे अथवा स्वेच्छा से पड़ौसी राज्यों के साथ मिल कर अपना एक संघ बनाना चाहे तो भारत सरकार उनसे ऐसा करने के लिए मना भी नहीं करेगी।" इन सभी राज्यों में जनतंत्रीय संस्थाओं का विकास भी एक अभूत पूर्व तेज़ी के साथ हुआ है। जो रियासतें प्रांतों में मिल गई हैं उनकी जनता को तो सहज ही शासन में भाग लेने का अधिकार मिल गया है, परंतु जो रियासतें किसी राज्य-संघ में शामिल हैं अथवा स्वतन्त्र हैं उनमें भी राज्य-सत्ता स्पष्टतः नरेशों के हाथ से निकल कर जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों के हाथ में आ गई है। लगभग सभी राज्यों में अन्तरिम मंत्रि-मंडल बना लिए गए हैं जिनमें जनता के विश्वास पात्र व्यक्ति हैं और विधान-सभाओं के निर्माण के संबंध में स्पष्ट आदेश दे दिए गए हैं, जिनके अनुसार थोड़े ही समय में उत्तरदायी शासन स्थापित हो सकेगा। एक महान् देश के लगभग आधे भाग में जन तंत्रीय शासन के इतनी तीव्र गति से विस्तार का इतिहास में कोई दूसरा उदाहरण नहीं है।

हैद्राबाद की समस्या

समग्रीकरण और लोकतंत्रीकरण की इन बढ़ती हुई प्रवृत्तियों के बावजूद **भी एक बड़ा** राज्य न केवल भारतीय संघ में सम्मिलित होने से इन्कार करता **रहा परन्तु स्वतन्त्रता** के अपने अधिकार की भी अनवरत घोषणा करता रहा **और भारतीय** संघ से एक बड़े संघर्ष की तैयारी में भी व्यस्त रहा। वह **हैदराबाद का** राज्य था। क्षेत्रफल की दृष्टि से वह देशी राज्यों में केवल **काश्मीर का समकक्ष** और आबादी व आमदनी की दृष्टि से सबसे बड़ा था—**उसकी आबादी** १ करोड़ ६३ लाख से कुछ अधिक थी। परन्तु यदि हम नक़्शे

पर दृष्टि डालें तो हम देखेंगे कि हैदराबाद चारों ओर से भारतीय संघ की सीमाओं से घिरा हुआ है, आर्थिक और यातायात सम्बन्धी साधनों की दृष्टि से वह भारतीय संघ का एक अविच्छिन्न अंग है। हिन्द की बड़ी बड़ी रेलें, डाक, तार और टेलीफ़ोन की व्यवस्थाएं और हवाई जहाज़ों के रास्ते, सब हैदराबाद के बीच से होकर जाते हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से देखें तो यह स्पष्ट है कि हैदराबाद की अपनी कोई स्वतंत्र और विशिष्ट संस्कृति नहीं है। पाकिस्तान के निर्माण का आधार तो कम से कम एक धर्म-विशेष के मानने वालों के बहुमत में था परंतु हैदराबाद की आबादी का ८६॥ प्रतिशत हिन्दू-धर्म को मानता है और भारतीय संघ में शामिल होने के लिए बेचैन है। हैदराबाद की अपनी कोई भाषा नहीं है। उसके निवासियों में लगभग ७० लाख तेलगू भाषा-भाषी हैं, ४० लाख व्यक्तियों की मातृभाषा मराठी है और २० लाख से अधिक कन्नड़ भाषा को अपने दैनिक जीवन में प्रयोग में लाते हैं। हैदराबाद राज्य का अपना कोई स्वतन्त्र भौगोलिक अस्तित्व भी नहीं है। हैदराबाद की तुलना यूरोप के स्विटज़रलैण्ड और आस्ट्रिया जैसे देशों से की गई है जो चारों ओर अन्य देशों की सीमाओं से घिरे हुए हैं, समुद्र तक जिनकी पहुँच नहीं है, जिनमें कई भाषाएं बोली जाती हैं और जिनका बहुत सुस्पष्ट भौगोलिक अस्तित्व भी नहीं है पर जिनकी गिनती अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से स्वतन्त्र राज्यों में की जाती है। यह तुलना भ्रम में डालने वाली है। यूरोप के ये देश कई भिन्न भिन्न स्वतंत्र राज्यों की सीमाओं से घिरे हुए हैं, जबकि हैदराबाद चारों से केवल एक बड़े राज्य, भारतीय संघकी सीमाओं से ही घिरा हुआ है। हैदराबाद की तुलना तो अमरीका के राज्यों में से बीच में स्थित मिशीगन अथवा विस्कौंसिन, इंडियाना अथवा इलीनॉय जैसे राज्य से, ब्रिटेन की डरबी, वाटविक, ग्लास्टर आदि किसी 'काउण्टी' से अथवा फ्रांस के औलियानी अथवा मेन अथवा वैरी जैसे किसी ज़िले से की जानी चाहिए, और अमरीका, ब्रिटेन अथवा फ्रांस की सरकारों से हम सचमुच यह आशा नहीं रख सकते कि वह अपने किसी अन्तर्वर्त्ती प्रदेश को इस प्रकार की स्वतन्त्रता देने के लिए तैयार हो जाएंगे।

अन्य देशी राज्यों से विभिन्न हैदराबाद की अपनी कोई स्थिति है, यह मानने के लिए कोई ठोस कारण हमारे पास नहीं हैं। १८०० में जब निज़ाम के साथ अंग्रेज़ों की पहिली संधि हुई तब तक प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का विकास नहीं हुआ था, और इस कारण ग्वालियर, जम्मू और काश्मीर, बड़ौदा, इन्दौर, भोपाल, राजपूताना के राज्य व ओरछा आदि रियासतों के साथ की जाने वाली संधियों के समान निजाम की संधि में अंग्रेज़ी शासन पर आन्तरिक

मामलों में हस्तक्षेप न करने का प्रतिवन्ध था। परन्तु, उस समय वैधानिक दृष्टि से निज़ाम दिल्ली के मुग़ल राज्य-वंश के आधीन था। १८५८ के वाद से अंग्रेज मुग़लवंश के बाज़ाप्ता अधिकारी बन गए, यद्यपि सार्वभौम सत्ता १८१८ के वाद से ही उनके हाथ में आ गई थी। निज़ाम भी अन्य देशी नरेशों के समान अंग्रेजी शासन के सैनिक प्रश्रय में आ गए, जिसका स्पष्ट अर्थ उनके राजनैतिक प्रभुत्व को मान लेना था। इस राजनैतिक प्रभुत्व के साथ अंग्रेज़ शासकों को देशी राज्यों के आन्तरिक शासन में गड़बड़ी फैलने के अवसर पर हस्तक्षेप करने का स्वाभाविक अधिकार मिल जाता था। यह स्पष्ट है कि अंग्रेज शासकों ने इस अधिकार के प्रयोग से निज़ाम को कभी मुक्त नहीं माना। १८३५ में उन्होंने निज़ाम को चेतावनी दी कि वह यदि शासन-संबंधी दुर्व्यवस्था को जल्दी ठीक नहीं कर लेंगे तो भारत-सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ेगा। १८६७ में एक बार फिर और भी कड़े शब्दों में उन्होंने निज़ाम को इसी प्रकार की चेतावनी दी। अक्टूबर १९११ में, वर्त्तमान निज़ाम के गद्दी पर बैठने के कुछ महीने बाद हार्डिंग ने उन्हें सूचना दी कि "उन्हें दो साल का अवसर दिया जा रहा था, जिसके वाद भारत-सरकार यदि ज़रूरी समझेगी तो एक रीजेंसी-कौंसिल नियुक्त कर देगी।" १९१९ में चेम्सफ़ोर्ड ने दो वार उन्हें चेतावनी दी, और दूसरी बार तो बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कहा, "यह बात बार बार साफ तौर से कह दी गई है कि मैं बुरे शासन को बर्दाश्त नहीं कर सकता और जिन परिणामों के संबंध में मैंने आप से कहा है वे व्यक्तिगत अनियमितता के स्पष्ट प्रमाण हैं। भारत-सरकार के लिए किसी ऐसे शासक को अपना समर्थन देना जो उन बातों को अपने यहाँ चलने दे जिनकी ओर मैंने इशारा किया है असंभव है।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हैदराबाद के बाहरी मामलों में ही नहीं आन्तरिक शासन में दखल देने के अपने अधिकार को भी भारत-सरकार ने बार बार दोहराया और यह केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से ही नहीं कई ऐसे अवसर भी आए जब भारत-सरकार ने निज़ाम की कथित राज्य-सत्ता का अतिक्रमण कर उसे अपनी इच्छा पर चलने के लिए विवश किया। प्रधान-मन्त्री व महत्त्वपूर्ण विभागों के अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति सदा ही रेज़ीडेंट के संकेत अथवा उसकी स्वीकृति से होती थी—सच तो यह है कि मन्त्रियों की नियुक्ति आदि में संभवतः किसी अन्य देशी राज्य में भारत-सरकार ने इतना अधिक हस्तक्षेप नहीं किया। कई अवसरों पर भारत-सरकार के आदेश पर निज़ाम को अपने प्रिय सलाहकारों को हटाने पर विवश होना पड़ा। वैधानिक सुधारों में भारत-सरकार की स्वीकृति लेने की बाध्यता थी ही, १८९९ में कर्ज़न के आदेश पर ही निज़ाम को सरकारी ख़ज़ाने से अपने व्यक्ति-

गत खर्चे के लिए पचास लाख रुपया वार्षिक से अधिक न लेने का निश्चय करना पड़ा। अन्य आर्थिक सुधार भी भारत-सरकार के इशारे पर किए गए। राजकुमारों की शिक्षा व लालन-पालन आदि के लिए भी भारत-सरकार का आदेश ही अन्तिम होता था। इन सब बातों से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि भारत-सरकार की दृष्टि में निज़ाम की स्थिति अन्य नरेशों से भिन्न और विशिष्ट कभी नहीं मानी गई। राजनैतिक और आर्थिक दृष्टि से तो हैद्राबाद अखिल-भारतीय नीतियों का एक अविच्छिन्न अंग माना ही जाता था। हैद्राबाद-स्थित भारतीय सेना का काम केवल हैद्राबाद की सेवा नहीं, समस्त दक्षिण-भारत की सुरक्षा-व्यवस्था को बनाए रखना था। भारत-सरकार को निज़ाम की सेना को बढ़ा घटा सकने व पुनः गठित करने का पूरा अधिकार था। हैद्राबाद से भारत-सरकार के पिछले एक शताब्दी के संबंधों को देखते हुए यह मानना कठिन है कि इन संबंधों में और अन्य देशी राज्यों के साथ के भारत-सरकार के संबंधों में किसी प्रकार का अन्तर था।

हैद्राबाद की स्वतन्त्रता का समर्थन आत्म-निर्णय के किसी भी अधिकार के द्वारा नहीं किया जा सकता था, और फिर आत्म-निर्णय का यह अधिकार है किसका? हैद्राबाद की जनता के नाम पर क्या निज़ाम कोई निर्णय कर सकता है, अथवा निज़ाम के चुने हुए लोगों के हाथ में इस अधिकार को सौंपा जा सकता है? आत्म-निर्णय का अधिकार तो स्पष्टतः जनता का अधिकार है। यदि यह सच भी है कि अंग्रेज़ी सरकार की प्रभु सत्ता के समाप्त हो जाने के बाद देशी राज्य स्वतन्त्र हो गए हैं तो हमें यह देखना होगा कि वह स्वतन्त्रता किसे मिली है। जब इस देश में अंग्रेज़ों का शासन था तब अंग्रेज़ी प्रान्तों और देशी राज्यों सभी पर, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से, अंग्रेज़ों का संपूर्ण और निर्विवाद अधिकार था। अंग्रेज़ों के जाने के बाद जहां प्रांतों पर से अंग्रेज़ी शासन हटा लिया गया वहाँ देशी राज्यों पर से भी उसकी प्रभु सत्ता अपने आप मिट गई। यह तो तर्क की बात हुई। पर वास्तव में अंग्रेज़ी सरकार के हटते ही प्रान्तों में और देशी राज्यों में भी आत्म-निर्णय का अधिकार सीधा जनता के हाथों में आ गया। हैद्राबाद की जनता ही इस बात का निश्चय कर सकती थी कि वह शासन की दृष्टि से भारतीय संघ का अविच्छिन्न अंग बनना पसंद करेगी अथवा अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखना चाहेगी। यह निश्चित है कि हैद्राबाद की जनता का मत पहिली बात के पक्ष में होगा। परंतु मैं तो यहाँ तक कहने के लिए तैयार हूँ कि हैद्राबाद की जनता भी यदि भारतीय हितों के विरुद्ध जाना चाहे तो उसे वैसा करने की इजाजत नहीं होनी चाहिए। प्रो० (कार) के शब्दों में "आत्म-निर्णय एक आवश्यक सिद्धान्त है जिसे किसी

भी राजनैतिक इकाई के रूप व विस्तार का निश्चय करते समय ध्यान में रखना जरूरी होता है परंतु उसे विश्वास के साथ ऐसा एकमात्र अथवा सर्वोपरि सिद्धान्त नहीं मान लेना चाहिए जिसके सामने शेष सभी आवश्यकताओं को भूला दिया जाए। आत्म-निर्णय अपने आप में संपूर्ण कोई अधिकार नहीं है, जैसे प्रजातन्त्र में किसी के लिए मनमानी करने का भी कोई संपूर्ण अधिकार नहीं है। ब्रिटेन अथवा जर्मनी के मध्य में रहने वाला व्यक्तियों का कोई समूह आत्म-निर्णय के सिद्धान्त के नाम पर अपने को एक स्वतन्त्र और स्वाधीन इकाई के रूप में घोषित करने का दावा नहीं कर सकता। इसी प्रकार वेल्स, कैटेलोनिया और उज़बकिस्तान के लिए स्वतन्त्रता के संपूर्ण और स्वयँ सिद्ध अधिकार का दावा करना उस दशा में भी कठिन होगा जब कि वहां की जनता का बहुमत यह चाहता हो। आत्म-निर्णय के प्रयोग के ऐसे दावे की ब्रिटेन, स्पेन और सोवियत रूस के व्यापक हितों के प्रकाश में जांच-पड़ताल करना आवश्यक होगा।" १ यह स्पष्ट है कि भारतीय संघ से स्वतन्त्र हैदराबाद के अस्तित्व को किसी भी दशा में स्वीकार करना असंभव था।

समस्या की पृष्ठ भूमि : तत्व शक्तियां, प्रवृतियां

तब वे कौन से तत्त्व, शक्तियाँ और प्रवृत्तियाँ थीं जो निज़ाम को इस काल्पनिक स्वतंत्रता के उपभोग के लिए प्रेरित करती रही ? इनमें सबसे पहले तो निज़ाम का अपना व्यक्तित्व है। वर्तमान निज़ाम आरंभ से ही अपनी स्वेच्छाचारिता के लिए बदनाम रहे हैं। वैधानिक अथवा आर्थिक सुधारों के लिए जब कभी अंग्रेज़ी शासन की ओर से उन पर दबाव डाला गया उन्होंने वैसा करने में टालमटोल की। इसी का परिणाम था कि जबकि दूसरे देशी राज्यों में १५ अगस्त १९४७ के पहिले भी जनतंत्रीय संस्थाएं किसी न किसी रूप में काम कर रही थीं निज़ाम समस्त राज्य-सत्ता को अपने हाथ में केन्द्रित किए हुए थे। वर्त्तमान निज़ाम को शासन के अधिकार १९१४ में मिले। १९१९ में उन्होंने अंग्रेज़ी सरकार के कड़े दबाव के कारण एक कार्यकारिणी बनाने का निश्चय किया परन्तु उसके काम में भी वह लगातार दख़ल देते रहे, जिसके संबंध में उन्हें कई बार अंग्रेज़ अफ़सरों द्वारा चेतावनी दी गई। ऐसे व्यक्ति के लिए अंग्रेज़ी सरकार की प्रभुसत्ता के समाप्त हो जाने पर अपनी अबाध और अनियंत्रित स्वाधीनता के स्वप्न देखना स्वाभाविक था। हैदराबाद का समस्त शासन निज़ाम के व्यक्तित्व में केन्द्रित था और निज़ाम अपनी सत्ता

१ ई० एच० कार *Conditions of peace*, पृष्ठ ४७-४८

के लिए किसी भी रूप में जनता पर निर्भर नहीं थे। उनको पचास लाख रुपए वार्षिक तो राज्य से वैधानिक रूप में मिलता था, पर इसके अलावा तीन करोड़ रुपए से अधिक की वार्षिक आय उन्हें व्यक्तिगत जागीरों अथवा 'सर्फ़े ख़ास' से थी। यह अनुमान किया जाता है कि राज्य की ज़मीन का ४२ प्रतिशत निज़ाम की व्यक्तिगत जागीर थी। इसी का यह परिणाम था कि हैदराबाद के निज़ाम अरबों रुपए की सपत्ति इकट्ठी कर सके और उनकी गिनती संसार के सबसे धनी व्यक्तियों में की जाती रही। अपनी इस व्यक्तिगत सत्ता को बनाए रखने के लिए निज़ाम एक ओर तो उस सामन्तशाही प्रथा पर निर्भर थे जो इतने पिछड़े हुए रूप में शायद संसार के किसी भी कोने में मौजूद नहीं है और दूसरी ओर सांप्रदायिक आधार पर नियुक्त किए गए सरकारी कर्मचारियों पर।

राज्य के समस्त क्षेत्रफल का १२००० वर्ग मील जागीरदारों में बंटा हुआ है जिनके पास न्याय और शासन सम्बन्धी पूरे अधिकार हैं, हैदराबाद में ज़मीन पर किसानों का तो कहीं भी अधिकार नहीं है, जो ज़मीन निज़ाम की व्यक्तिगत जागीर में शामिल नहीं है वह इन जागीरदारों के कब्ज़े में है। जागीरदारी की समस्त बुराइयाँ भी अपने भीषण रूप में हैदराबाद में पाई जाती हैं। जागीरदार प्रायः स्वयं जागीरों की देखभाल नहीं करते। ऐसे मजदूर जिनके पास ज़मीन नहीं है राज्य भर में बहुत बड़ी संख्या में पाए जाते हैं। गुलामी और बेगार और असंख्य दूसरी अमानवीय प्रथाएं भी हैदराबाद में मौजूद हैं। सरकारी नौकरियों का बँटवारा साँप्रदायिक आधार पर होता था। फ़ौज व अन्य सरकारी विभागों में ऊँची नौकरियाँ प्रायः मुसलमानों को ही दी जाती रहीं। आँकड़ों से पता लगता है कि बड़ी नौकरियों का ७५ प्रतिशत मुसलमानों के हाथों में था, जिनकी संख्या राज्य की समस्त आबादी का केवल १२॥ प्रतिशत है, और हिन्दुओं की संख्या आबादी के अनुपात में ८६॥ प्रतिशत होते हुए भी इस प्रकार की नौकरियों में उनकी संख्या २० प्रतिशत से अधिक नहीं है। पुलिस और फ़ौज तो लगभग संपूर्णतः मुसलमानों के हाथ में थी, जिससे राजनैतिक आंदलनों को आसानी से कुचला जा सकता। राज्य की आमदनी का अधिकांश भूमिकर, आबकारी और चुंगी से प्राप्त होता था जिसका अर्थ यह है कि वह समस्त बोझा ग़रीबों पर पड़ता था और उसका उपयोग निज़ाम, उनके संबंधियों, जागीरदारों और ऊँचे सरकारी अफ़सरों की शानशौकत को बनाए रखने के लिए होता था। बजट की स्वीकृति के लिए भी राज्य की धारासभा की, जिसके अधिकांश सदस्य सरकार द्वारा नामजद किए जाते थे, स्वीकृति आवश्यक नहीं थी। खर्च की अधिकांश मदें ऐसी थीं जिनके

संबंध में न तो कोई हिसाब देना आवश्यक था और न जाँच-पड़ताल ही होती थी। राज्य की आय का अधिकांश भाग फौज, पुलिस और लड़ाई की तैयारियों पर खर्च किया जाता रहा और शिक्षा, स्वास्थ्य, स्थानीय स्वराज्य आदि के विभागों की स्थिति बहुत पिछड़ी हुई थी।

यह निश्चित था कि जनतंत्रीय दिशा में किए जाने वाले किसी भी परिवर्त्तन में, चाहे उसकी गति कितनी ही धीमी क्यों न हो, यह समस्त व्यवस्था बदल जाती, निज़ाम की स्वेच्छाचारी सत्ता का अन्त हो जाता, उनकी व्यक्तिगत आय पर प्रतिबंध लगा दिया जाता, जागीरदारों की शक्ति पर भी अनिवार्य रूप से प्रतिबंध लगते और सरकारी नौकरियों के बँटवारे का आधार अधिक न्यायपूर्ण होता। उसमें निज़ाम, जागीरदारों, ऊँचे सरकारी अफ़सरों, फ़ौज और पुलिस के कर्मचारियों, सभी के निहित स्वार्थों पर गहरी चोट पड़ना अनिवार्य होता। इसी कारण ये सभी तत्त्व अपने आपको संगठित करके चारों ओर से तेज़ी से बढ़ने वाली जनतंत्रीय शक्तियों का सामना करने के लिए जुट पड़े। राजनैतिक चेतना की दृष्टि से जनता के अधिकांश भाग के बहुत अधिक पीड़ित, पदत्रस्त और पिछड़े हुए होने के कारण राज्य के भीतर अन्य देशी राज्यों के समान बड़े जन-आन्दोलन खड़े नहीं किए जा सके, और इस कारण इन सभी प्रतिक्रियावादी तत्त्वों को अपने आपको सुदृढ़ बना लेने का और भी अवसर मिल गया। हैदराबाद के इस फ़ासिस्ट ढांचे को संपूर्ण बनाने के लिए यदि किसी बात की कमी थी तो उसे पिछले वर्षों में देश में तेज़ी के साथ फैल जाने वाली सांप्रदायिक धर्मांधता ने पूरा कर दिया। हैदराबाद में तेज़ी के साथ यह विचार फैलने लगा, और निज़ाम ने उसके फैलने में पूरा योग दिया, कि हैदराबाद मुसलमानों का राज्य है। निजाम ने तो समय समय पर इस बात की घोषणा की कि उसके पूर्वजों को राज्य के अधिकार मुग़लों द्वारा प्राप्त हुए थे और इस कारण मुग़ल-सत्ता का उत्तराधिकार उन्हें ही मिला हुआ था। उस सामन्तशाही वर्ग से, जिसका अस्तित्व निज़ाम की व्यक्तिगत सत्ता के बने रहने पर निर्भर था सांप्रदायिकता के इस उभार को पूरा समर्थन मिला। इत्तिहादुल-मुसलमीन का संगठन इसी का परिणाम था। इत्तिहादुल-मुसलमीन के तत्त्वावधान में बहुत जल्दी रज़ाकारों के रूप में एक अर्द्ध-सैनिक संस्था का विकास हुआ। रज़ाकारों के इस फ़ासिस्ट संगठन को निज़ाम का पूरा समर्थन प्राप्त था। सरकारी खज़ाने से उन्हें रुपया मिलता था, और सरकारी प्रकाशन और प्रचार-विभाग पर उनका पूरा क़ब्ज़ा था। अब तो यह भी कहा जा सकता है कि नवम्बर १९४७ में भारतीय संघ के साथ निज़ाम ने जो समझौता किया था उसका उद्देश्य भारत-सरकार और दुनियाँ की आँखों में धूल झोंक कर

अपनी सैनिक और अर्द्ध-सैनिक शक्ति को वढ़ा लेना था। भारत-सरकार से की जाने वाली वातचीत में बार बार यह स्पष्ट होता गया कि हैदरावाद के प्रधान-मन्त्री मीर लायक अली का समस्त प्रयत्न उनकी २५ हज़ार फौज और ३५ हज़ार पुलिस के लिए आधुनिकतम हथियार और लड़ाई के अन्य साधन प्राप्त करने और उस फौजी सामान को जो हैदराबाद की सरकार ने देश के विभिन्न स्थानों पर बहुत बड़े परिमाण में खरीद रखा था तेज़ी से हैदरावाद पहुँचाए जाने के लिए था। हथियार और लड़ाई का अन्य सामान चोरी-छिपे हैदरावाद पहुँच ही रहा था। गोआ में एक बड़ा हवाई अड्डा बनाने के लिए भी निज़ाम ने कई योरोपियन अफसरों को रिश्वत में बड़ी बड़ी रकमें दीं।

एक ओर तो निज़ाम की सरकार भारतीय संघ के विरुद्ध सैनिक-तैयारियों में जोरों से लगी हुई थी और दूसरी ओर, दुवले-पतले, धर्मांध, सौम्य आकृति के आवरण को चीर कर बीच बीच में चमक उठने और आग उगलने वाली पैनी आंखों वाले कासिम रिज़वी के गतिशील नेतृत्व में रज़ाकारों का संगठन और शक्ति तेज़ी से बढ़ते जा रहे थे। जुलाई १६४७ के बाद से ही रज़ाकारों की कार्यवाही समस्त कानूनी और मानवी प्रतिबन्धों को तोड़ती हुई तेज़ी से वढ़ रही थी। इस संस्था का संघटन और विकास संपूर्णतः फासिस्ट सिद्धान्तों के आधार पर हुआ था। सैनिक प्रदर्शन उनके दैनिक कार्य-क्रम का अनिवार्य अंग थे। हैद्रावाद, सिकन्दरावाद और अन्य बड़े नगरों में उन्हें नियमित रूप से सैनिक शिक्षा दी जाती थी। संस्था में प्रवेश पा लेने पर प्रत्येक रज़ाकार के लिए इत्तिहाद, हैद्रावाद और अपने नेता के प्रति जीवन समर्पण करने और "अन्त तक दक्षिण में मुस्लिम शक्ति का प्रभुत्व बनाए रखने के लिए लड़ने" की प्रतिज्ञा लेनी पड़ती थी। रज़ाकारों का केन्द्र हैद्रावाद में था पर उनकी शाखाएँ राज्य-भर में फैली हुई थीं। अनुमान किया जाता है कि जुलाई १६४८ तक ७० हजार रज़ाकार सैनिक शिक्षा प्राप्त कर चुके थे, १ लाख पचास हजार के नाम संस्था के रजिस्टर में दर्ज थे और बहुत तेज़ी के साथ पांच लाख रज़ाकारों को सैनिक शिक्षा देने की योजना उनके पास थी। समस्त हैद्रावाद राज्य और उसके समीपवर्ती जिलों में रज़ाकार एक आतंक बन गए थे। विभिन्न स्थानों पर उनके द्वारा आयोजित सैनिक प्रदर्शनों का स्पष्ट उद्देश्य अल्पसंख्यकों में आतंक फैलाना ही था। भारतीय संघ के सीमांत प्रदेशों में लूटमार करने, स्त्रियों को बेइज्ज़त करने और मकानों और जायदाद में आग लगा देने की घटनाएँ प्रायः होती रहती थीं। मुसलमान और ग़ैर मुसलमान, सरकारी कर्मचारी और साधारण नागरिक, जिस किसी ने भी रज़ाकारों के विरोध का साहस किया वह उनके पाशविक कोप का भाजन बना।

लोगों के सिर और हाथ काटे जाने और उनके प्रदर्शन के उदाहरण भी सामने आए। ट्रेनों पर प्रायः हमले किए जाते रहे। ७ सितम्बर १९४८ के भारत-सरकार के एक वक्तव्य के अनुसार रज़ाकारों ने उस समय तक राज्य के भीतर ७० गावों पर आक्रमण किया, लगभग १५० बार भारतीय-संघ की सीमाओं में प्रवेश किया, सैंकड़ों व्यक्तियों को मार डाला, बहुतों को घायल किया, बहुत सी स्त्रियों के साथ बलात्कार किया अथवा उन्हें भगा कर ले गये, १२ ट्रेनों पर आक्रमण किए और एक करोड़ से अधिक की जायदाद को लूटा। इस सबका परिणाम यह हुआ कि कई लाख व्यक्तियों ने हैद्राबाद से भाग कर भारतीय-संघ की सीमाओं में शरण ली।

हैदराबाद के संबंध में भारत सरकार ने बड़े धैर्य के साथ काम लिया। वह यह मान कर चल रही थी कि हैदराबाद भारतवर्ष का एक अविभाज्य अंग है और अन्ततः उसे भारतीय संघ में मिलना ही पड़ेगा परंतु इसके लिए कोई बाहरी दबाव डालना नहीं चाहती थी। वह यह चाहती थी कि हैदराबाद स्वयं वस्तु स्थिति को समझ ले और भाग्य की अनिवार्यता से समझौता करले इसी आशा में भारत-सरकार ने नवंबर १९४७ में उसके साथ एक अस्थायी समझौता करना स्वीकार कर लिया और हैदराबाद के प्रति अपना विश्वास व सदिच्छा प्रदर्शित करने के लिए फ़र्वरी १९४८ में सिकन्दराबाद से अपनी फ़ौजें भी हटा लीं। एक बार फिर भारत की जनतंत्रीय सरकार ने यह विश्वास किया कि अन्त में न्याय और विवेक की जीत होगी और हैदराबाद उसे किसी हिन्सात्मक कार्यवाही के लिए विवश नहीं करेगा। जवाहरलाल जी के लिए "यह एक अकल्पनीय बात थी कि आधुनिक युग में और हिन्दुस्तान के बिल्कुल मध्य में, जहां उसका हृदय एक नई स्वतन्त्रता की धड़कन का अनुभव कर रहा हो, एक ऐसा प्रदेश भी हो सकता था, जहां इस स्वतन्त्रता की पहुँच न हो और जो एक अनिश्चित काल के लिए स्वेच्छाचारी शासन के अन्तर्गत रहे।" भारत-सरकार ने यह भी घोषणा कि कि वह हैदराबाद के भविष्य को हैदराबाद की ही जनता के अन्तिम निर्णय पर छोड़ने के लिए तैयार है। बशर्त्ते कि इस निर्णय का उपयोग स्वतंत्र वातावरण में किया जाए। परंतु, भारत-सरकार के धैर्य को कमज़ोरी का द्योतक माना गया और हैदराबाद की फ़ासिस्ट प्रवृत्तियां और लड़ाई की तैयारियां तेज़ी से बढ़ती गईं, और धीरे धीरे राज्य के शासन पर रज़ाकारों, और रज़ाकारों के हिटलर, कासिम रिज़वी, का अधिकार हो गया और निज़ाम की स्थिति उनके हाथों में बन्दी के समान हो गई। राज्य के अन्तर्गत जो अराजकता फैलती जा रही थी उसका प्रभाव पड़ौस के भारतीय प्रांतों पर भी पड़ रहा था। बहु संख्यक वर्ग का जीवन ख़तरे में पड़ता जा

रहा था । इन परिस्थितियों में भारत-सरकार के सामने इसके अतिरिक्त कोई चारा नहीं रह गया था कि वह निज़ाम पर रज़ाकार संस्था को तोड़ देने के लिए अन्तिम बार जोर दे और सिकन्दराबाद में भारतीय सेनाएँ रखने के लिए उन्हें विवश करे । इस प्रार्थना के निज़ाम द्वारा ठुकरा दिए जाने के बाद राज्य में शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना के लिए भारतीय सेना उसकी सीमाओं में प्रवेश करने के लिए भी बाध्य थी । यह पहिला और अन्तिम अवसर था जब भारतीय संघ द्वारा निर्धारित समग्रीकरण और जनतंत्रीकरण की प्रवृत्ति को किसी देशी राज्य ने सशस्त्र प्रतिरोध के द्वारा रोकने का प्रयत्न किया। यह स्वाभाविक था कि भारतीय सेना के हैदराबाद की सीमाओं में प्रवेश करने के बाद यह विरोध ४-५ दिन से अधिक नहीं टिक सका, और जो फ़ासिस्ट प्रवृत्तियां तर्क और सद्भावना के सामने झुकने के लिए तैयार नहीं थीं उन्हें शक्ति के प्रदर्शन के सामने झुकना पड़ा । हैदराबाद के संघर्ष को प्रतिगामी और फ़ासिस्ट शक्तियों द्वारा जनतंत्र के विस्तार को रोकने का अन्तिम प्रयत्न माना जा सकता है ।

देशी राज्यों की वास्तविक स्थिति : एक दृष्टि निक्षेप

स्वाधीनता के प्रथम वर्ष का अन्त होते होते इस प्रकार समस्त देश में राजनैतिक एकता की स्थापना की जा चुकी है। देशी राज्यों और अंग्रेज़ी प्रान्तों के बीच जो अप्राकृतिक व्यवधान अंग्रेज़ी राज्य के द्वारा खड़ा किया गया था वह टूट चुका है। विचारों और प्रवृत्तियों की धाराएँ अब आसानी से वर्तमान अस्पष्ट सीमाओं का अतिक्रमण कर सकती हैं । एक भाग के जीवन का स्पदंन दूसरे भाग में आसानी से अनुभव किया जा सकता है । परंतु यह मानना ग़ल्ती होगी कि समग्रीकरण और लोकतंत्रीकरण का काम समाप्त हो चुका है : वास्तव में तो अभी उसका आरंभ ही हुआ है, जिन प्रदेशों में अंग्रेज़ी शासन-काल में देशी राज्यों की स्थिति बनी रहने दी गई उनमें से अधिकांश शासन की दृष्टि से बहुत पिछड़े हुए हैं। अंग्रेज़ी प्रांतों में जहां जनतंत्रीय संस्थाएँ बहुत कुछ विकसित हो चुकी थीं अधिकांश देशी राज्यों में उनका अस्तित्व भी नहीं था । शासन का आधार क़ानून पर नहीं व्यक्तिगत इच्छा पर था। अंग्रेज़ अधिकारियों के अप्रत्यक्ष हस्तक्षेप को छोड़ कर जो सदा ही अंग्रेज़ों के हित में किया जाता था, राजा और उसके विश्वासपात्र अधिकारियों की आज्ञा ही कानून थी । राजा और उसके अधिकारियों के पास न तो शासन के सम्बन्ध में कोई बड़े आदर्श थे और न स्पष्ट कल्पना, और न जनता के हित

के लिए कोई चिन्ता। उनके स्वेच्छाचार का प्रतिकार करने के लिए भी जनता के पास कोई साधन नहीं थे। बहुत कम राज्यों में राजनैतिक चेतना का विकास हो पाया था, जिन राज्यों के पास आर्थिक विकास के साधन थे वे भी उनके उपयोग की ओर से उदासीन थे। अधिकांश राज्यों में न तो उद्योग धंधों का विकास करने की कोई तत्परता थी, न खनिज पदार्थों का ठीक से अनुसंधान करने का कोई प्रयत्न, और नदियों की वे प्रभावशील धाराएँ जिनसे असीम विद्युत्शक्ति की व्युत्पत्ति की जा सकती थी उनकी सीमाओं में से व्यर्थ ही निकल जाती थीं। शासन की दृष्टि से, इसमें संदेह नहीं, देशी राज्य अंग्रेजी प्रान्तों की तुलना में, लगभग आधी शताब्दी पिछड़े हुए हैं। इन प्रदेशों में जनतंत्रीय शासन की स्थापना का तब तक कोई मूल्य न होगा जब तक समय के इस अन्तर को मिटाया न जाए और उनमें आधुनिक शासन के मूलभूत सिद्धांतों की प्रतिष्ठा न की जाए।

इस दिशा में आज जो भी हो रहा है वह बड़ी धीमी गति से हो रहा है। भारत-सरकार देशी राज्यों को जल्दी से जल्दी शेष भारत के साथ एक राजनैतिक सूत्र में बांध देना चाहती थी। यह आवश्यक भी था। पर इसका परिणाम यह हुआ कि उसे जहां एक ओर राजाओं को संतुष्ट करने के लिए उन्हें दस करोड़ से अधिक रुपया प्रतिवर्ष पेंशन के रूप में देने के लिए विवश होना पड़ा है, दूसरी ओर अधिकांश देशी राज्यों में ऐसे कार्यकर्त्ताओं को मंत्रि-पद और शासन का उत्तरदायित्व देने पर भी विवश होना पड़ा है जिनमें से सभी का राजनैतिक चिन्तन सुस्पष्ट, शासन-योग्यता बढ़ी-चढ़ी अथवा कभी-कभी तो सार्वजनिक हितों को समझने की क्षमता भी बहुत अधिक नहीं थी। सभी राज्यों में राजनैतिक आन्दोलनों की परंपराएँ पुरानी नहीं थीं और राजनैतिक जीवन भी अधिक विकसित नहीं था पर सभी में मंत्रि-मंडल बनाने तो आवश्यक थे ही। इसका परिणाम यह हुआ है कि अधिकांश राज्यों में अधिक योग्य मंत्रिमंडल नहीं बन सके हैं। देश की तेज़ी से बदलती हुई परिस्थिति में शायद यह अनिवार्य हो गया था, पर अब यह बिल्कुल आवश्यक है कि भारत-सरकार देशी राज्यों के सर्वांगीण पुनर्निर्माण की स्पष्ट योजनाएँ बनाए और उन्हें जल्दी से जल्दी कार्यान्वित करे। आज तो बहुत से देशी राज्यों में सत्ता प्रायः राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं के एक गुट के हाथों में आ गई है और उसका उपयोग वे सदा ही निःस्वार्थ भाव से नहीं कर रहे हैं। इस स्थिति का जल्दी अन्त होना चाहिए। यह आवश्यक है कि देशी राज्यों में जल्दी से जल्दी धारा-सभाओं का निर्माण हो और ऐसे मंत्रिमंडल बनें जो धारासभाओं के प्रति-उत्तरदायी हों। इस काम को यदि स्थानीय मंत्रिमंडलों के हाथ में छोड़ दिया

गया तो उसमें बहुत अधिक समय लग सकता है। विधान-सभा का चुनाव, विधान का निर्माण, विधान-सभा द्वारा उसकी अन्तिम स्वीकृति और उसके अनुसार धारा-सभाओं का चुनाव, इस समस्त प्रक्रिया के पूरा होने में कई वर्ष तक भी लग सकते हैं। देशी राज्यों की संख्या अब बहुत कम रह गई है, पर मैं नहीं मानता कि जितनी इकाइयों के रूप में वे आज संघटित हैं उन सबको अलग अलग ढंग के शासन-विधान बनाने के लिए प्रोत्साहन देना आवश्यक है। देशी राज्यों के लिए केन्द्रीय विधान-सभा, जिसमें देशी राज्यों के प्रतिनिधि भी शामिल हैं, अथवा केवल देशी राज्यों के प्रतिनिधि-सदस्य मिल कर, समस्त राज्यों अथवा राज्य-संघों के लिए एक विधान बना लें और, स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार थोड़े परिवर्तन-परिवर्धन के साथ, वह सभी राज्यों में स्वीकार कर लिया जाना चाहिए। यह निश्चित है कि उत्तरदायी मंत्रिमंडलों की स्थापना से ही देशी राज्यों में शासन के आधुनिक सिद्धान्तों की स्थापना का कार्य पूरा नहीं हो जाएगा। अभी एक लम्बे अर्से तक केन्द्रीय सरकार को इन पिछड़े हुए प्रदेशों के शासन की वैसी ही देखरेख करनी पड़ेगी जैसी अंग्रेज़ी शासन में 'पिछड़े हुए इलाकों' की कीजाती थी। केन्द्रीय सरकार की ओर से अनुभवी अफ़सरों के भेजे जाने का काम तो अब भी शुरू हो गया है परन्तु भारत-सरकार इस दिशा में यदि कोई स्थायी काम करना चाहती है तो उसे देशी राज्यों के शासन में बहुत अधिक देखरेख करने की आवश्यकता है। यह तो मानकर चलना ही होगा कि केन्द्रीय सरकार का हस्तक्षेप उस सीमा का अतिक्रमण न करने पाए जहां वह स्थानीय कार्यकर्त्ताओं की प्रेरणा और उत्साह में बाधक सिद्ध हो।

आगे के काम की दिशा

देशी राज्यों में जो सबसे बड़ा काम करना है वह जनतंत्र की परंपराओं की स्थापना का है। यह काम आसान नहीं है। देशी राज्य सामन्तशाही व्यवस्था के आज भी दुर्गम्य गढ़ बने हुए हैं। जब तक इस सामन्तशाही व्यवस्था को तोड़ा नहीं जाता जनतंत्र का विकास असंभव है। इस व्यवस्था को तोड़ना भी आसान नहीं है। आज तो कानून द्वारा ही उसे तोड़ने की हम कल्पना कर सकते हैं। ये कानून राज्यों की धारा सभा पास करेगी। आज तो यह भी स्पष्ट नहीं है कि देशी राज्यों की जनता द्वारा किसी व्यापक आधार पर चुनी जाने वाली धारासभाएँ इस प्रकार की किसी योजना को फ़ौरन ही मान लेंगी। जनता के अधिकांश भाग के राजनैतिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ होने के कारण

यह भी निर्विवाद नहीं है कि धारासभाओं में सदा ही प्रगतिशील तत्त्वों का विश्वस्त बहुमत होगा। कई स्थानों पर आज भी सामन्तशाही शक्तियाँ हिन्दू-संस्कृति, हिन्दू-परंपरा और हिन्दू राष्ट्र की स्थापना के नाम पर सांप्रदायिक-फ़ासिस्ट मनोवृत्तियों को भी प्रोत्साहित करने की स्थिति में हैं। देशी राज्यों की जनता के सामने भारतीय राष्ट्रीयता की बहुत सुस्पष्ट व्याख्या न होने के कारण जातीयता, धर्मान्धता, रूढ़िप्रियता आदि संकीर्णताओं में उसके उलझ जाने का भय भी अभी मिटा नहीं है। सामंतशाही और सांप्रदायिक शक्तियाँ मिलकर जनतंत्र के विकास के मार्ग में बड़ी रुकावटें खड़ी कर सकती हैं। यह भय और भी बढ़ जाता है जब हम देखते हैं कि जिन राजनैतिक नेताओं के हाथ में इन फ़ासिस्ट प्रवृत्तियों के विरोध का नेतृत्व रहेगा वे स्वयं भी जनतंत्र के आधारभूत सिद्धान्तों से सदा ही परिचित नहीं हैं। शिक्षा की दृष्टि से, जो जनतंत्र का प्रमुख आधार है, देशी राज्य बहुत पिछड़े हुए हैं। जब तक शिक्षा—उचित ढंग से दी जाने वाली उचित शिक्षा—का तेज़ी के साथ प्रचार नहीं होता तब तक इन प्रतिगामी शक्तियों को रोकना आसान नहीं होगा। शिक्षा के साथ ही समाज-सुधार की गतिशील विचार-धाराओं को भी जागृत करना होगा। इस दृष्टि से तो बहुत से देशी राज्यों में एक साधारण मानवी स्तर पर स्थापित समाजतंत्र का सूत्रपात भी नहीं हुआ है। वे सामाजिक कुरीतियाँ जो अन्य प्रान्तों में नागरिकता के विकास के साथ नष्ट होती चली गई हैं देशी-राज्यों में आज भी मौजूद हैं। यह भी संभव है कि समाज-सुधार की इन प्रवृत्तियों को आगे बढ़ाने के लिए कड़े क़ानून बनाने पड़ें और सख्ती के साथ उन पर अमल किया जाए, पर उसके लिए भी एक प्रबुद्ध, जागृत और प्रगतिशील शासन-तंत्र की आवश्यकता होगी, जिसकी स्थापना की हम तब तक कल्पना नहीं कर सकते जब तक शिक्षा और समाज-सुधार की ये प्रवृत्तियां कुछ आगे न बढ़ जाएं। देशी राजाओं की सामाजिक विचार-धाराओं में जिस आमूल क्रान्ति की ओर ऊपर की पंक्तियों में संकेत किया गया है वे सब की सब नेताओं और क़ानून के द्वारा भी, जनता पर लादी नहीं जा सकती। शक्ति का प्रयोग एक सीमा तक आवश्यक हो सकता है पर उसका वास्तविक आधार जनसाधारण के सहयोग और स्वीकृति पर ही रखा जा सकता है। नेताओं की ओर से एक स्वस्थ, निःस्वार्थ और सहानुभूतिपूर्ण नेतृत्व और जन-साधारण की ओर से स्वस्थ, स्पष्ट और निर्भीक चिन्तन, इन दोनों का जब तक सहयोग नहीं होगा तब तक देशी राज्यों में उस मानसिक क्रान्ति की हम आशा नहीं रख सकते जिसके प्रभाव में देश के अन्य भाग पहले से आ चुके हैं। देशी राज्यों में आज सबसे बड़ा काम समय की सीमाओं को तोड़ना और उस युग के,

जिसमें वहां की जनता आज भी साँस ले रही है और आज के युग के, बीच की अनेकों शताब्दियों को चकनाचूर कर देना है।

: ६ :

भारतवर्ष और समाजवाद

राजनैतिक स्वाधीनता प्राप्त कर लेने, और उसे संगठित कर लेने से, ही यह नहीं कहा जा सकता कि हमने अपना लक्ष्य प्राप्त कर लिया है। वह तो केवल एक साधन है। हमें एक ऐसे लक्ष्य की ओर ले जाने के लिए जिसे प्राप्त कर लेना हमारे जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक है। जो राजनैतिक स्वाधीनता हमें सामाजिक और आर्थिक स्वाधीनता की ओर नहीं ले जाती वह हमारे लिए अभिशाप बन सकती है। जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में जो उन्होंने १९३३ में लिखे थे, "विदेशी शासन के स्थान पर देश में यदि एक भारतीय शासन स्थापित हो जाता है और वह सभी स्थिर स्वार्थों को ज्यों का त्यों बनाए रखता है तो उसे तो स्वाधीनता की परछाईं मानना भी ठीक नहीं होगा। भारतवर्ष के लिए उसके निकट भविष्य का लक्ष्य तो यही माना जाना चाहिए कि उसकी जनता का शोषण समाप्त कर दिया जाए। राजनैतिक दृष्टि से इसका अर्थ होगा स्वाधीनता और अंग्रेजी शासन से सम्बन्ध विच्छेद। आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से उसका अर्थ होगा सभी विशेष वर्ग-हितों और स्थिर स्वार्थों का समाप्त हो जाना।* " १९३६ में लखनऊ-कांग्रेस के सभापति पद से जवाहरलाल नेहरू ने एक बार फिर यह कहा, "मैं हिन्दुस्तान की आजादी के लिए इसलिए काम कर रहा हूँ कि मेरी राष्ट्रीय भावना विदेशी आधिपत्य को बर्दाश्त नहीं कर सकती। मैं उसके लिए और भी अधिक प्रयत्नशील इसलिए हूँ कि वह मेरी दृष्टि में सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन की दिशा में एक अनिवार्य कदम है। मैं तो यह चाहूँगा कि कांग्रेस एक समाजवादी संस्था बन जाए और संसार की उन दूसरी शक्तियों के साथ कंधे से कंधा भिड़ा कर काम करे जो एक नई सभ्यता के निर्माण के काम में लगी हुई हैं।" इन अवतरणों से जवाहरलाल जी का यह मत स्पष्ट हो जाता है कि राजनैतिक स्वाधीनता प्राप्त कर लेने के बाद उसे अधिक से अधिक व्यापक और गहरा बनाने का उत्तरदायित्व हम पर आ जाता है। दूसरे देशों का इतिहास भी हमें

---

* जवाहरलाल नेहरू : *Whither India ?*

यही बताता है कि केवल राजनैतिक स्वाधीनता काफी नहीं होती, बल्कि कभी कभी तो वह खतरनाक भी होती है। राजनैतिक स्वाधीनता के बाद भी यह तो संभव रहता ही है कि देश का शासन-तंत्र वर्ग विशेष और स्थिर स्वार्थों के नियन्त्रण में चला जाए और वे उसका उपयोग, जनता के हित के लिए नहीं अपने स्वार्थों को पूरा करने के लिए करें। ऐसा शासन जनता का शासन नहीं कहला सकता। वह तो पूंजीपतियों के हाथ का खिलौना-मात्र होगा और एक जीवित, जागृत, चेतनाशील जनसमाज इस प्रकार के शासन से अधिक दिनों तक संतुष्ट नहीं रह सकेगा।

राजनैतिक स्वाधीनता और आर्थिक समानता

राजनैतिक स्वाधीनता के प्राप्त होते ही प्रत्येक देश के सामने यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि वह आर्थिक स्वाधीनता किस प्रकार प्राप्त करे, और इस प्रश्न का समाधान कभी भी सरल नहीं होता। राजनैतिक स्वाधीनता का अर्थ यह होता है कि प्रत्येक व्यक्ति को शासन में भाग लेने का समान अधिकार प्राप्त हो जाता है। उसे यह अधिकार मिल जाता है कि वह धारा-सभा के चुनाव के लिए खड़ा हो सके, चुनाव में अपना मत दे सके और चुने जाने के बाद सरकार के निर्णयों पर अपना प्रभाव डाल सके। यह एक ऐसी स्वाधीनता है जिसके महत्त्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। उसे प्राप्त कर लेने से व्यक्ति का आत्म-विश्वास बढ़ता है, और वह अपने में ज़िम्मेदारी की भावना महसूस करने लगता है। दृष्टिकोण का यह परिवर्तन हम अपनी आँखों के सामने देख रहे हैं। १५ अगस्त १९४७ से पहिले हमें अपने शासन में भाग लेने का बहुत कम अधिकार था, और प्रत्येक महत्त्वपूर्ण अन्तिम निर्णय अंग्रेज़ शासकों के हाथ में था। आज हमें यह विश्वास है कि यदि किसी विषय पर हम ऐसे विचार रखते हैं जिनके अनुसार काम करना हमारी सरकार के लिए आवश्यक है तो हम उन विचारों को अपने बड़े से बड़े अधिकारी तक पहुंचा सकते हैं और यदि उनके पीछे जन-समूह का समर्थन है तो उन्हें कार्यान्वित करने के लिए हम सरकार को विवश भी कर सकते हैं। यह विश्वास कि देश के शासन का नियंत्रण हमारे हाथों में है हमें दूसरे देशों के सामने सिर ऊँचा करके चलने की प्रेरणा देता है और इससे हमारी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा बढ़ती है। परंतु इन सब बातों के होते हुए भी यदि हमारे समाज का आर्थिक ढाँचा ऐसा बना रहे कि उसमें मेह-नत तो तीस करोड़ आदमी करते हैं और उस मेहनत का लाभ दस हज़ार आदमी ही उठा पाते हैं तो उससे हमें विशेष संतोष नहीं हो सकता। प्रत्येक व्यक्ति को

मत देने के अधिकार में बराबरी का मिल जाना ही काफ़ी नहीं है। यह भी आवश्यक है कि समाज मे रोटी और कपड़े और दूसरी भौतिक आवश्यकताओं का वितरण भी इस प्रकार हो कि उसमें एक दूसरे के भाग में विशेष अंतर न रहे। एक ऐसे समाज में जिसमें ग़रीब लोग ज्यादा हैं और थोड़े से अमीरों के हाथ में सारी सत्ता केन्द्रित है, आर्थिक परिस्थितियाँ उन लाखों करोड़ों ग़रीबों को मजबूर कर देती हैं कि वे अपने मत देने के अधिकार का उपयोग मुट्ठी भर अमीरों के इशारे पर करें। ऐसी दशा में मत देने का अधिकार मिला न मिला बराबर हो जाता है, और राजनैतिक स्वाधीनता अपना मूल्य गवाँ बैठती है।

पूंजीवाद का मार्ग और उसके खतरे

राजनैतिक स्वाधीनता के बाद भी हिन्दुस्तान के सामने पूंजीवाद का रास्ता खुला हुआ है, बल्कि यह कहना चाहिए कि जब तक उसे जबरदस्ती बन्द नहीं कर दिया जायगा तब तक केवल वही रास्ता हमारे सामने है। अंग्रेज़ी शासन ने एक लंबे अर्से तक हमारे औद्योगिक विकास को रोके रखा, परंतु अन्त में परिस्थितियाँ उसके वश के बाहर हो गईं और पिछले पच्चीस-तीस वर्षों में अंग्रेज़ी शासन के बावजूद भी हम थोड़ी बहुत औद्योगिक प्रगति कर पाए हैं। इस औद्योगिक विकास के साथ साथ पूंजीवाद भी बढ़ा है। पहिले महायुद्ध के दिनों में वह अपने पैरों पर खड़ा हो सका। दोनों युद्धों के बीच के आर्थिक संकट के दिनों में भी वह अपने को जैसे तैसे जीवित रख सका, और दूसरे महायुद्ध का लाभ उठा कर तो उसने अपनी स्थिति को मज़बूत भी बना लिया है। पूंजीवाद की जड़ें हमारे देश में जम चुकी हैं। परंतु यदि उन्हें और भी मज़बूत बनने दिया गया, और उसकी शाखाओं को आकाश तक फैल जाने की निर्बाध स्वतन्त्रता दे दी गई, तो उसका परिणाम क्या होगा? पूंजीवाद एक सीमा तक देश के उत्पादन को बढ़ा सकेगा, इससे सन्देह नहीं। उन सभी देशों में जो औद्योगिक क्रांति के परिवर्त्तनों में से गुज़रे हैं पूंजीवाद ने उत्पादन के विकास में आश्चर्यजनक सहायता दी है, परन्तु यह भी निश्चित है कि उन सभी देशों में पूंजीवाद के द्वारा धन में वृद्धि तो हुई पर जनता सुखी नहीं बनी। पूंजी की इस वृद्धि का लाभ जन साधारण तक नहीं पहुँच सका। वह सदा ही समाज के एक छोटे वर्ग के हाथों में संचित और सीमित रहा। उसका नतीजा यह हुआ है कि समाज तेज़ी के साथ दो वर्गों में बँटता चला गया है। एक ओर तो अमीर लोग हैं जो और भी अमीर होते चले गए हैं और दूसरी ओर ग़रीबों

की संख्या और ग़रीबी लगातार बढ़ती गई है। धन के साथ ही सत्ता भी एक वर्ग के ही हाथों में केन्द्रित होती जाती है, और इसके द्वारा उस वर्ग के शोषण की क्षमता भी बढती जाती है। समाज के इस प्रकार के विभाजन के बाद यह संभव नहीं रह जाता कि लोगों में, विशेष कर पीड़ित वर्ग में, वर्ग-भेद की चेतना जागृत् न हो, प्रत्येक औद्योगिक समाज में ऐसा हुआ है, और इस चेतना के विकास के साथ साथ ऐसी विषम सामाजिक समस्याएँ खड़ी होती गई हैं कि कोरे राजनैतिक जनतन्त्र के द्वारा उनका समाधान असंभव हो गया है।

यह एक निःसंदिग्ध सत्य है कि किसी भी समाज में यदि पूंजीवाद को बढ़ने दिया गया तो वह जनतंत्र को खोखला और निःसत्त्व बना देगा। एक ऐसे समाज में जहां धन-संपत्ति के बँटवारे में भीषण असमानताएँ मौजूद हों पूंजींपति या ज़मीदार के ख़िलाफ मज़दूर या किसान का अपने राजनैतिक अधिकार का प्रयोग करना निरर्थक सा हो जाता है। ऐसे समाज में यदि जनतंत्र की संस्थाएँ क़ायम रखी भी गईं तो वे बहुत जल्दी अपनी वास्तविक उपयोगिता खो बैठती हैं। चुनाव होते हैं। कारखाने में काम करने वाले मज़दूर को मत देने का अधिकार होता है, परन्तु यदि कारखाने का मालिक या उसका साथी या कृपाभाजन चुनाव के लिए खड़ा होता है तो मज़दूर के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वह उसी को अपना मत दे। मैं मानता हूँ कि इस तरह का दबाव आजकल प्रत्यक्ष रूप में नहीं डाला जाता। मज़दूर या किसान जब अपना मत देता है तो प्रायः उसकी धारणा यह रहती है कि वह अपने अधिकार का उपयोग स्वतन्त्रता के साथ कर रहा है, परन्तु मत व्यक्त करने की इस स्वतन्त्रता का वास्तविक अर्थ क्या है? मज़दूर या किसान कहाँ से अपनी वह जानकारी प्राप्त करता है, विभिन्न उम्मीदवारों के संबंध में, जिसके होने का वह दावा करता है? यह जानकारी उसे या तो अख़बारों से मिली होती है या सार्वजनिक भाषणों से या छोटी मोटी प्रचार पुस्तिकाओं से या रेडियो से या प्रचार के इसी प्रकार के किसी साधन से, और ये सभी साधन इतने जटिल और विकसित हैं कि ग़रीब आदमी उनका उपयोग नहीं कर सकता पर अमीरों के लिए वे सहज साध्य होते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि वही राजनैतिक दल पनप पाते हैं, वही अख़बार चल निकलते हैं और वही वक्ता प्रसिद्धि प्राप्त कर सकते हैं जिन्हें अमीरों का समर्थन प्राप्त होता है। ग़रीब आदमी अपनी नादानी में यह समझता है कि वह अपने मत स्वातंत्र्य का उपयोग कर रहा है परंतु उसकी अन्तिम राय के बनने में वे सब साधन, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से, काम करते रहे हैं जिनका संचालन धनिक वर्ग के इशारे

से होता है। पूंजीवाद जनतंत्र में चुनाव होते हैं, राजनैतिक दल बनते और बिगड़ते हैं, धारा सभाएँ बड़ी धूम-धाम से, और जोशीली वक्तृताओं के बीच लंबे चौड़े क़ानून बनाती हैं, मंत्रि-मंडल घोषणाएँ करते हैं, पर यह सब कठ-पुतलियों के उस तमाशे के समान होता है जिसके सूत्र कुछ अदृश्य व्यक्तियों के हाथों में होते हैं जिनके इशारे पर नाटक के दृश्यों में परिवर्त्तन होता रहता है। इस प्रकार के शासन-तन्त्र को कोई भी नाम दिया जा सकता है पर उसे जनतंत्र कहना जनतंत्र की भावना का उपहास करना है।

जिस समाज का नेतृत्व पूंजीपतियों के हाथ में रहता है वह समाज, नियति के अबाध चक्र के समान, निरन्तर युद्ध और उससे भी बड़े युद्ध की ओर बढ़ता रहता है। पूंजीवादी का सीधासाधा लक्ष्य होता है रुपया कमाना और अधिक रुपया कमाना। समाज की हित चिन्ता का उसकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं है। उसकी नजर तो अपने व्यक्तिगत लाभ पर रहती है। वह चाहता है कि अपने कारखाने के यंत्रों में वह सस्ते से सस्ते दामों पर खरीदा हुआ कच्चा माल झोंकता जाए और अपने तैयार माल को अधिक से अधिक लाभ लेकर बेचे। वह अपने उत्पादन में लगातार वृद्धि करता रहता है, एक समय आता है जब वह वृद्धि इतनी बढ़ जाती है कि उसके अपने देश के बाजारों में उसकी खपत संभव नहीं रह जाती। तब वह दूसरे देशों के बाजारों की तलाश में निकलता है और उनमें अपना अधिक से अधिक प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष राजनैतिक प्रभाव भी बढ़ा लेना चाहता है, जिससे उसे यदि वहां से कच्चा माल खरीदना हुआ तो उसे सस्ते से सस्ते दामों पर खरीद सके और तैयार माल की बिक्री पर अधिक से अधिक लाभ उठा सके। जिन देशों में भी पूंजीवाद का विकास हुआ है वे स्वभावतः और अनिवार्यतः साम्राज्यवाद की ओर बढ़े हैं। इंग्लैण्ड, फ्रांस, हॉलैण्ड, पुर्तगाल आदि पश्चिमी यूरोप के जिन देशों में पूंजीवाद का सबसे पहिले विकास हुआ था वे अपने से कई गुना बड़ी भूमि और आबादी पर अपने साम्राज्यों की स्थापना कर सके, परन्तु उन देशों ने किस आर्थिक और नैतिक कीमत पर इन साम्राज्यवादों का बोझ पिछली कई सदियों तक ढोया इसकी कथा मानव इतिहास के सबसे काले अक्षरों में लिखी गई है। जो ग़रीब देश साम्राज्यवाद के शिकार बने उनके कष्टों की कथा हम थोड़ी देर के लिए दृष्टि से ओझल भी कर दें तो भी हम यह तो भूल नहीं सकते कि कुछ दिनों बाद जब पूंजीवाद नए देशों में पहुँचता है तब उन देशों में भी साम्राज्य की वैसी ही बल्कि उससे भी अधिक तीव्र लिप्सा जागृत हो जाती है और जब पूंजीवाद के क्षेत्र में आने वाले ये नए देश पाते हैं कि उनकी खुमारी से जाग

उठने के पहिले ही दुनियां बंट चुकी है तो यह स्वाभाविक होता है कि वे पुराने साम्राज्यवादी देशों को चुनौती दें। बीसवीं शताब्दि के अब तक होने वाले दो महायुद्धों के पीछे हम जर्मनी, इटली और जापान के द्वारा दी जाने वाली इसी प्रकार की चुनौती पाते हैं। इस प्रकार पूंजीवाद अनिवार्य रूप से साम्राज्यवाद की ओर बढ़ता है, और साम्राज्यवाद एक के बाद दूसरे युद्ध की सृष्टि करता चलता है, ऐसे युद्धों की सृष्टि जिनमें मानव-समाज और मानव-संस्कृति का अस्तित्व ही खतरे में पड़ता दिखाई देता है।

हिन्दुस्तान भी यदि पूंजीवाद के इसी रास्ते पर चला जिस पर यूरोप के देश पिछली कई शताब्दियों से चल रहे हैं तो उसके परिणामों की कल्पना की जा सकती है। आज तो अमरीकी पूंजीवाद ही इतना अधिक विकसित है और विकसित होने के कारण इतना अधिक भूखा है कि संसार के सब देश मिलकर भी उसके लिए काफ़ी नहीं हैं, उसके सामने एक प्रतिद्वन्दी के रूप में हिन्दुस्तान का टिक पाना संभव नहीं है। अमरीकी पूंजीवाद कहां अपना दखल जमाना नहीं चाहता? पश्चिमी यूरोप में उसने अपने पैर जमा लिए हैं। मध्य-यूरोप में उसने अपने पंजे गाड़ना शुरू कर दिए हैं। पूर्वी यूरोप के जो छोटे छोटे देश रूस की प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सहायता के द्वारा उसके चंगुल से निकलते जा रहे हैं वे उसकी खीझ और बौखलाहट को बढ़ा रहे हैं। मध्य-पूर्व और चीन के समस्त आर्थिक जीवन पर उसका नियंत्रण है। पाकिस्तान पर उसकी ललचायी आँखें हैं। हिन्दुस्तान से भी वह निराश नहीं है और दक्षिण-पूर्वी एशिया पर भी उसकी दृष्टि बार बार जा ही पड़ती है। यह पृष्ठभूमि है संसार की अर्थ नीति की जिसके आधार पर हिन्दुस्तान के पूंजीवाद को अपना भविष्य खोजना है। मैं मानता हूँ कि अभी आने वाले वर्षों में पूंजीवाद के द्वारा देश के उत्पादन का काफ़ी विकास किया जा सकता है, परंतु यदि उस पर नियंत्रण नहीं लगाया गया तो वह स्थिति जल्दी आ जाएगी जब भारतीय पूंजीवाद भी अपने आसपास के देशों में बाज़ारों की खोज और अप्रत्यक्ष राजनैतिक प्रभाव जमाने की — क्योंकि प्रत्यक्ष राजनैतिक प्रभाव जमाने का युग अब बीत चुका है—चेष्टा में तत्पर दिखाई देगा। हम चाहे कैसी भी लच्छेदार भाषा में अपनी भलमंसाहत की घोषणा करें और मकानों की चोटियों से चीखें कि हमारा देश कभी साम्राज्यवादी नहीं रहा, हम तो सभी देशों के साथ मैत्री और भाईचारा चाहते हैं, हम कभी साम्राज्यवाद के निकृष्ट रास्ते पर नहीं चलेंगे, पर यह निश्चित है कि एक आज़ाद हिन्दुस्तान यदि कुछ वर्षों भी पूंजीवादी बना रहा तो वह अवश्य ही साम्राज्यवाद के उस पुराने-पहिचाने रास्ते पर चल पड़ेगा, जिस पर उसके सभी पूंजी-

वादी पुरखे चलते आए हैं। हम अक्सर हिन्दुस्तान के द्वारा एशिया के नेतृत्व की बात करते हैं, और हमारी इस भावना को बड़े बड़े सम्मेलनों में अभिव्यक्ति का समर्थन अब देश के राजनैतिक नेताओं या आदर्शवादी युवकों के द्वारा ही नहीं किया जाता परंतु उसके पीछे पूंजीवादियों की उदारता भी जब उझक उझक कर झाँकने लगती है तब क्या हमारे पास यह सोचने का कारण नहीं है कि आदर्शवाद के इस झीने आवरण को चीर कर उनकी पैनी दृष्टि मध्य पूर्व और दक्षिण एशिया के पिछड़े हुए देशों के बाज़ारों पर है जिनमें इतनी राजनैतिक चेतना तो आ गई है कि यूरोप को वहाँ से हट जाना चाहिए पर जो एशियायी भ्रातृत्व के मोटे पर्दे के आरपार देखने को क्षमता नहीं रखते? आज की स्थिति में चाहे हम अपने स्वप्नों को मूर्त्तरूप न दे सकें पर अपने हृदय में इन इच्छाओं, अभिलाषाओं, आकांक्षाओं को पालते रहने का परिणाम ही क्या हमारे लिए अशुभ और अवांछनीय न होगा?

एक बात निश्चित है और वह यह है कि अब किसी भी देश में पूंजीवाद का निर्विरोध विकास संभव नहीं रह गया है। सभी देशों के मज़दूरों में वर्ग-संघर्ष की भावना तेज़ी के साथ बढ़ती जा रही है। वे अब इस बात को मानने लगे हैं कि वस्तुओं के 'मूल्य' का निर्धारण करने के लिए मुख्य वस्तु 'श्रम' है, और यद्यपि 'पूंजी' उसके लिए आवश्यक है परन्तु पूंजी भी अन्ततः संचित किया हुआ श्रम है, इसलिए यह आवश्यक है कि उस चीज की बिक्री से जो लाभ हो आज की तरह उसका अधिकांश पूंजीपति की जेब में नहीं जाना चाहिए। उस पर तो उन लोगों का ज़्यादा हक़ है जिन्होंने उत्पादन में अपना श्रम लगाया है। मज़दूर यह भी जानता है कि पूंजीपति जो कुछ भी करता है वह अपने स्वार्थ के लिए करता है। उसे न तो राष्ट्रीय हित की चिन्ता है और न इस बात की चिन्ता है कि उसके कारखाने में काम करने वाला मज़दूर जिसकी मेहनत पर वह मौज़ उड़ाता है भर पेट भोजन या शरीर ढकने को काफ़ी कपड़ा भी जुटा पाता है या नहीं। पूंजीपति की दृष्टि मुख्यतः अपने व्यक्तिगत लाभ पर रहती है इसलिए वह स्वभावतः ही चाहता है कि लाभ का कम से कम हिस्सा मज़दूर को दे और अधिक से अधिक हिस्सा अपने पास रखे। इसके विपरीत मज़दूर स्वभावतः यह चाहता है कि उसकी मज़दूरी के द्वारा प्राप्त होने वाले लाभ का अधिक से अधिक हिस्सा उसे मिले। जब तक मज़दूर बिखरा हुआ और असंगठित था तब तक तो पूंजीपति के निर्णय को चुपचाप मान लेने के अलावा उसके पास कोई चारा नहीं था, परंतु उत्पादन की परिस्थितियां बदल जाने के कारण और अधिक से अधिक कारखानों के ऐसे स्थानों पर केन्द्रित हो जाने के कारण जहाँ कच्चा माल, लोहा

और कोयला, आसानी से मिल सकता हो, मज़दूर को अत्र संगठन का अधिक अच्छा अवसर मिल गया है। मज़दूर यह जानता है कि अपने संगठन की शक्ति के द्वारा कारखाने में हड़ताल करा कर वह पूंजीपति पर दबाव डाल सकता है। इस प्रकार के संगठित विरोध के सामने पूंजीपति को झुकने के लिए विवश होना पड़ता है, और ज्यों ज्यों पूंजीपति इस प्रकार झुकता है, मज़दूर को संगठन की शक्ति का अधिक भान होता जाता है और मज़दूर आंदोलन मज़बूत होता जाता है।

साम्यवाद का सोनहला आकर्षण

यह मज़दूर आंदोलन जिस दिशा में आगे बढ़ रहा है उसे देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका अन्तिम लक्ष्य समाज की पूंजीवादी व्यवस्था को समाप्त करना, उत्पादन के साधनों का समाजीकरण करना और वितरण का संचालन राज्य के हाथों में ले लेना है। इतिहास में यह विचार-धारा साम्यवाद के नाम से प्रसिद्ध है। साम्यवाद के प्रणेता यह मानते आए हैं कि वह एक अनिवार्य ऐतिहासिक प्रवृत्ति है जिसे रोका नहीं जा सकता। यह सच है कि साम्यवाद का प्रचार उतनी तेज़ी से नहीं हुआ है जिसकी उसके समर्थकों को आशा थी। साम्यवाद की वाह्य-रेखा १८४४ और १८४८ के बीच मार्क्स और एंजेल्स के द्वारा प्रकाशित हुई थी, परंतु पहिली साम्यवादी क्रांति १९१७ में और, मार्क्स की भविष्यवाणी के विपरीत, रूस जैसे देश में हुई जो औद्योगिक दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ और एक कृषि प्रधान देश था। रूस की क्रांति के विधायक लेनिन ने इस अप्रत्याशित घटना का स्पष्टीकरण करते हुए कहा कि मार्क्स के सिद्धान्तों के अनुसार यह आवश्यक नहीं था कि प्रत्येक देश में वैसी परिस्थितियां बन जाएँ जिनमें साम्यवादी क्रांति सफल होती है प्रत्युत यह काफ़ी था कि विश्व में सामूहिक दृष्टि से वैसा विकास हो चुका हो। इसके साथ ही लेनिन ने यह घोषणा भी की कि रूस की क्रांति तो केवल अग्रदूत है संसार के सभी देशों में एक एक करके फैल जाने वाली क्रांतियों का, और उन्हें यह आशा थी कि आने वाले दस वर्षों में संसार भर में साम्यवाद की स्थापना हो जायगी। लेनिन की भविष्यवाणी ग़लत निकली। रूस की क्रांति के तीस वर्ष बाद ही रूस को छोड़ कर किसी भी बड़े देश में इस प्रकार की क्रांति नहीं हुई है, परंतु साथ ही यह भी निश्चित है कि साम्यवाद की विचार-धारा निरंतर फैलती गई है और दूसरे महायुद्ध के बाद से रूस के आस पास के कई देशों में, और दूसरी ओर चीन के एक बड़े भाग में —और १९४८ के उत्त-

रार्ध में क्रमशः मलाया, बर्मा, हिन्देशिया और कोरिया में---साम्यवाद तेज़ी के साथ फैला है। पश्चिमी यूरोप के भी प्रायः सभी देशों में —और प्रमुखतः फ्रांस में —साम्यवादियों की शक्ति बढ़ी है। आज सम्भवतः अमरीका ही एक ऐसा देश है जहां साम्यवादी दल विशेष शक्ति नहीं रखता, परंतु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि अमरीका की स्थिति अन्य देशों से बिल्कुल भिन्न है। पश्चिमी यूरोप के उन देशों की तुलना में जहां औद्योगीकरण का सूत्रपात हुआ अमरीका एक बड़ा और विस्तृत देश है जिसमें असीम प्राकृतिक साधन, अपार जन संख्या और अतुलित धन-संपत्ति होने के कारण औद्योगिक संकट के उत्पन्न होने की स्थिति अभी नहीं आई है : इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी ऐतिहासिक परिस्थितियां रहीं हैं जिन्होंने समस्त दक्षिण अमरीका का आर्थिक जीवन अमरीका के संयुक्त राज्य के हाथ में दे दिया है। इन सब कारणों से अमरीका में औद्योगिक विकास के साथ साथ मज़दूरों की स्थिति में भी सुधार होता गया है। पूंजीवाद के बावजूद भी वह दुनियां के किसी भी मज़दूर की तुलना में सुखी और संपन्न है। जब तक परिस्थितियां इस प्रकार से बदल नहीं जातीं कि उसके सुख और समृद्धि पर आघात पहुँचे, अमरीका का मज़दूर साम्यवाद की ओर आकर्षित नहीं होगा। परंतु संसार के सभी अन्य देशों की स्थिति अमरीका से भिन्न होने के कारण यह अनिवार्य है कि उनमें पूंजीवाद के विकास के साथ साथ मज़दूरों की चेतना, उनका विक्षोभ और साम्यवादी ढंग पर उनका संगठन बढ़ता जायगा।

पूंजीवाद के लिए मुझे कोई सहानुभूति नहीं है, पर क्या साम्यवाद ही मानवता का अन्तिम लक्ष्य है, और जिस अकेले बड़े देश, रूस में आज से तीस वर्ष पहिले साम्यवाद की स्थापना हुई थी वहां उस समय की विशेष परिस्थितियों में जन्म लेने वाली विचार-धारा आज भी संसार के सभी देशों के लिए एकमात्र अनुकरणीय मार्ग है ? मैं मानता हूँ कि रूस में मज़दूर की स्थिति आज तीस वर्ष पहिले की स्थिति से बहुत अच्छी है, यद्यपि अमरीका के मज़दूर की तुलना में आज भी वह उतनी अच्छी नहीं है। मैं यह भी मानता हूँ कि इन तीस वर्षों में एक पिछड़े हुए राष्ट्र की स्थिति से बढ़ते हुए रूस आज जो प्रमुख राष्ट्रों की पंक्ति में एक प्रमुख स्थान पा सका है, इसका श्रेय, बहुत कुछ साम्यवादी विचार-धारा को है। साम्यवाद के तत्वावधान में समय समय पर जो पंचवर्षीय अथवा अन्य योजनाएँ बनती रही हैं, उन्हीं का यह परिणाम हुआ है कि रूस के कोने कोने में छिपे हुए प्राकृतिक साधनों का उपयोग जनता को खुशहाल बनाने की दिशा में हुआ है और उसने देश को मज़बूत भी बनाया है। इन सब बातों के अतिरिक्त, साम्यवाद ने रूस की जनता के सामने एक

ऐसा ज्वलन्त आदर्श भी रखा जिसने उसे न केवल अन्य छोटे मोटे आक्रमण कारियों से वल्कि जर्मनी जैसी सुसंगठित सैनिक शक्ति का सामना करने और उस पर विजयी होने की प्रेरणा दी। रूस में राज्य की शक्ति निःसन्देह पहिले के मुक़ाबिले में कई गुना बढ़ गई है, पर यह सवाल तो फिर भी रह ही जाता है कि यह सब हुआ किस कीमत पर है, और यदि रूस की साम्यवादी सरकार द्वारा समय समय पर किए गए बर्बर और संगठित हिंसा-कांडों को हम राज्य और साम्यवाद के अस्तित्व के लिए अनिवार्य मान कर क्षमा कर सकें तो भी छोटे बड़े ऐसे अनेकों प्रश्न उठ खड़े होते हैं जिनका समाधान जनक उत्तर हमें नहीं मिलता। क्या रूस में व्यक्ति को अपनी राय बनाने और उसे व्यक्त करने की स्वतन्त्रता है? कहा जाता है कि रूस में केवल दो प्रकार के समाचार पत्र निकलते हैं। एक का संचालन राज्य के द्वारा होता है और दूसरे का नियंत्रण साम्यवादी दल के हाथ में है, और मास्को से निकलने वाले इन दोनों के मुख-पत्रों, 'इज़वेत्सिया' और 'प्रवदा', में जो संपादकीय लेख रहते हैं सभी लोकतन्त्रों और ज़िलों के समाचार-पत्रों में वही संपादकीय लेखों के रूप में ज्यों के त्यों उद्धृत कर दिए जाते हैं। और महत्त्वपूर्ण स्थानीय खबरें भी तब तक स्थानीय पत्रों में प्रकाशित नहीं हो सकतीं जब तक कि उसके लिए केन्द्रीय सरकार से आज्ञा प्राप्त न कर ली गई हो। रूस में क्या व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह किसी राजनैतिक दल का संगठन करे और साम्यवादी विचार-धारा से भिन्न अपने विचारों का प्रचार कर सके? रूस में तो आम तौर से यह कहा जाता है कि साम्यवादी दल के अलावा वहां यदि कोई दूसरा राजनैतिक दल संगठित किया गया तो उसके सदस्यों का स्थान या तो रूस के कैदखानों में होगा या साइबेरिया के जंगलों में। रूस में शासन के प्राथमिक और अंतिम सभी सूत्र वहां के एकाकी राजनैतिक दल साम्यवादी दल के हाथों में ही हैं, और उन सबका संचालन होता है, एक व्यक्ति, स्टैलिन, के द्वारा। यह स्पष्ट है कि रूस एक तानाशाही देश है और वहां जनतंत्र के नाम की चाहे जितने ज़ोरों के साथ उद्घोषणा की जाए वास्तविक जनतंत्र के विकास के लिए सचमुच कोई गुंजाइश नहीं है। रूस को पूंजीवाद के खत्म कर देने में सफलता मिली है, पर उसके साथ ही वहां लोकतंत्र का भी खात्मा कर दिया गया है। यह एक विचारणीय प्रश्न है कि पूंजीवाद को समाप्त करने के लिए जनतंत्र की वलि देना क्या अनिवार्य है?

पूंजीवादी जनतंत्र और साम्यवादः दोनों ही अर्द्ध जनतंत्रीय, अर्द्ध फासिस्ट प्रवृत्तियां

पूंजीवादी जनतंत्र और साम्यवाद दोनों की ही ओर से जनतंत्र के समर्थन

का दावा किया जाता है और दोनों ही एक दूसरे पर फ़ासिस्ट होने का दोष लगाते हैं। पहिले महायुद्ध में अमरीका और इंग्लैण्ड आदि मित्र-राष्ट्रों की जोर से जनतन्त्र के समर्थन की घोषणा की जाती थी पर इस लड़ाई में स्थिति में बड़ा परिवर्त्तन हुआ और जब कि मित्र-राष्ट्रों ने जनतंत्र के संबंध में एटलांटिक चार्टर की चार स्वाधीनताओं की घोषणा से अधिक कोई उत्साह नहीं दिखाया, स्टैलिन और रूस के प्रचार-विभाग ने बार बार इस बात की घोषणा की कि युद्ध का उद्देश्य "यूरोप और अमरीका की जनता की आज़ादी और प्रजातंत्रीय स्वाधीनता की सुरक्षा" है। जनतंत्र का समर्थन हमें लेनिन और मार्क्स की रचनाओं तक में मिलता है, पर साम्यवादी जब जनतंत्र की बात करता है तब उसका अर्थ वही नहीं होता जो पश्चिमी देशों द्वारा जनतंत्र की चर्चा में होता है। रूस का आग्रह सामाजिक समानता पर रहता है जिसके सामने वह राजनैतिक स्वाधीनता को हेय समझता है और पश्चिमी देशों का लक्ष्य राजनैतिक स्वाधीनता होता है जिसकी तुलना में वे आर्थिक समानता को अधिक महत्त्व नहीं देते। मैं समझता हूँ कि दोनों की ही जनतंत्र की कल्पना अधूरी है और जिस सीमा तक वह अधूरी है वहीं तक उन दोनों में फ़ासिज़्म के लिए जड़ जमाने की गुंजाइश रह जाती है। एक वर्ग-विशेष के हाथ में समस्त जनता के भाग्य का समस्त नियंत्रण हो और वह एकाकी राजनैतिक दल एक व्यक्ति-विशेष के इशारे पर अपना कार्य करता हो तो मुझे तो ऐसे वातावरण में और फ़ासिज़्म में बड़ी समानता दिखाई देती है। दोनों में ही तानाशाही का प्राधान्य है, जो जनतत्र के विकास का सबसे बड़ा शत्रु है। दोनों में ही व्यक्ति के राजनैतिक जीवन को बिल्कुल ही कुचल दिया जाता है। दोनों में ही शक्ति के नग्न रूप को महत्त्व दिया जाता है। दोनों के ही हाथ निर्दोष मानवता के रक्त से सने हुए पाए जाते हैं। दूसरी ओर पूंजीवादी देशों में जिस जनतंत्र की चर्चा की जाती है उसे समझने में भी मैं अपने को असमर्थ पाता हूँ, क्योंकि मैं नहीं मानता कि पूंजीवादी व्यवस्था के साथ, उस व्यवस्था के प्रश्रय में जिसका समस्त आधार समाज को शोषित और शोषक, ग़रीब और अमीर, श्रमजीवी और पूंजीपति, इन दो भागों में बाँट देना है और मानव-समानता की भावना को कुचल देना है, सच्चा जनतन्त्र कैसे टिका रह सकता है। मैं तो इस सम्बन्ध में बहुत स्पष्ट हूँ कि जनतन्त्र को यदि जीवित रहना है तो पूंजीवाद को ख़त्म होना पड़ेगा। पूंजीवाद पहिले अपने भौतिक स्वार्थ को देखता है, जन-कल्याण को नहीं, और यदि जन-कल्याण के नाम पर हम कभी उसे कुछ टुकड़े फेंकते हुए पाते हैं तो यह तभी तक जब तक जन-साधारण उन टुकड़ों से संतुष्ट हो जाता है, पर

जब वह अपने अधिकारों के प्रति सचेत हो जाता है और ग़ुर्राने लगता है तब पूंजीवाद उसकी उस मांग को कुचल देने के लिए फ़ासिज़्म का भद्दे से भद्दा रूप धारण करने में भी हिचकिचाता नहीं है। १९३९ के पहिले के वर्षों में संसार के प्रमुख जनतंत्रीय देशों ने, जिनमें पूंजीवादी व्यवस्था क़ायम थी, जनतंत्र के मूल-सिद्धान्तों के साथ जैसा विश्वासघात किया और जिस हृदय-हीनता से उसके अस्तित्व को ही खतरे में झोंक दिया उसके बाद किसी भी देश में पूंजीवाद से किसी प्रकार की भलाई की अपेक्षा करना मानवता के प्रति एक भयंकरतम अपराध माना जाना चाहिए। आज के युग का सबसे बड़ा काम जनतन्त्र को एक ओर तो पूंजीवाद के चंगुल से मुक्त करना है और दूसरी ओर उसके साम्यवाद के दुर्घर्ष जबाड़ों में प्रवेश करने और पीसे जाने से रोकने का प्रयत्न करना है।

राजनैतिक स्वाधीनता से आर्थिक समानता की ओर

तब फिर हमारे सामने रास्ता क्या है? पूंजीवाद मूलतः एक ग़लत व्यवस्था है, और वह समाज को असमानता के आधार पर किए गए संघर्षोत्सुक दो टुकड़ों में बाँट देती है। यह एक ऐसा वातावरण है जिसमें लोकतंत्र पनप नहीं सकता। दूसरी ओर साम्यवाद एक ऐसा आकर्षक और भ्रम में डाल देने वाला रास्ता है जो मज़दूरों और किसानों के राज्य की सृष्टि तो करता है, और एक ऐसे समाज की सृष्टि करने में सफल भी होता है जिसमें आर्थिक समानता के लिए एक बहुत बड़ी गुंजाइश है, पर इसके साथ ही वह जनतन्त्र की उस भावना को जिसके मूल में राजनैतिक समानता का भाव निहित है, समाप्त कर देता है। हिन्दुस्तान किस रास्ते पर चले? इन दोनों रास्तों का भेद, विचार-धाराओं का संघर्ष, आज केवल दुनियाँ को ही दो हिस्सों में ही नहीं बांटे हुए है, हमारे सामने भी बड़ा स्पष्ट हो गया है। एक ओर अमरीका का रास्ता है और दूसरी ओर रूस का रास्ता। क्या यह अनिवार्य है कि हम इनमें से किसी एक पर अवश्य ही चलें? मैं समझता हूँ कि पूंजीवाद एक ऐसा पाप है जिसके साथ समझौता नहीं किया जा सकता। वह मनुष्य के स्वाभिमान को कुचल डालता है और उसके नैतिक मूल्यों की हत्या कर डालता है। पूंजीवाद को तो हमें नष्ट करना ही है। पर, उसके बाद? उसके बाद कुछ ऐसे उद्देश्य हैं जिन्हें प्राप्त करना मानव-समाज के लिए अनिवार्य हो गया है। पहिली बात तो यह है कि उत्पादन के जितने साधन हैं उन पर किसी व्यक्ति को क़ब्ज़ा कर लेने की इजाज़त देना कभी समाज के हित में नहीं हो सकता।

उन्हें तो प्रकृति द्वारा समाज को दी गई देन मानना चाहिए, और इस कारण समाज द्वारा ही उनका उपयोग और उपभोग, होना चाहिए। जितने मुख्य उद्योग-धंधे हैं उन सबका संचालन और नियंत्रण ऐसे लोगों के हाथों में होना चाहिए जिनका उस काम में अपना कोई व्यक्तिगत स्वार्थ न हो और जो उसके लिए समाज के प्रति उत्तरदायी हों। छोटे मोटे उद्योग-धंधों के लिए इस प्रकार के नियंत्रण से मुक्त होने की सुविधा दी जा सकती है, परन्तु वहां भी समाज के लिए यह देखना तो ज़रूरी होना ही चाहिए कि उनका उपयोग किसी व्यक्ति अथवा वर्ग के हाथों में धन या सत्ता के केन्द्रित करने में नहीं परन्तु समाज के कल्याण में ही होना चाहिए। दूसरी आवश्यक बात यह है कि सभी उपयोगी वस्तुओं का वितरण इस आधार पर होना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति का भाग लगभग बराबरी का हो। कोई भी ऐसा समाज जिसमें अमीर और ग़रीब के बीच का अन्तर बहुत बड़ा होता है, पनप नहीं सकता, बल्कि अधिक दिनों तक जीवित भी नहीं रह सकता। ईश्वर का न्याय क्या है, यह तो नहीं कहा जा सकता, लेकिन समाज-रचना का तो पहिला सिद्धान्त यह होना चाहिए कि उसमें न तो अमीर ग़रीब का भेद हो, न बड़े छोटे का अन्तर और न ऊँच-नीच की कल्पना। सभी मनुष्यों को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए अधिक से अधिक अवसर मिलना चाहिए।

समाज में यदि हम इस प्रकार की समानता लाना चाहेंगे तो इसके साथ ही हमें एक तीसरी बात भी स्पष्ट करनी पड़ेगी; और वह यह है कि हमारी महनत का लक्ष्य व्यक्तिगत लाभ नहीं समाज की सेवा होना चाहिए। समाज में हम पैदा हुए हैं, समाज ने हमारा निर्माण किया है, समाज द्वारा ही हमारी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति होती है, इसलिए समाज का हम पर ऋण है और हमारा कर्त्तव्य है कि अपनी महनत के द्वारा हम समाज के इस ऋण को चुकाने की कोशिश करें। महनत हम इसलिए करते हैं कि समाज को इसकी ज़रूरत है। मैं कॉलेज में पढ़ाता हूँ, दूसरा आदमी दफ़्तर में काम करता है, तीसरा कारख़ाने में मज़दूर है, चौथा खेतीवाड़ी में लगा है, पांचवां डॉक्टर है, तो यह सब इसीलिए कि समाज को इन कामों की आवश्यकता है। हममें से हर एक को अपना काम अच्छी तरह से करते रहना है। हमारे सामने यह लक्ष्य नहीं होना चाहिए कि हम अपना काम इसीलिए करें कि हमें उसके द्वारा पारिश्रमिक मिलता है। पारिश्रमिक तो एक आकस्मिक वस्तु है, जिसकी चिन्ता हमें नहीं समाज को होना चाहिए। हमें तो अपना काम यह सोचकर करना है कि हम उसके द्वारा अपनी सेवाएँ समाज को अर्पित कर रहे हैं। इसके साथ ही एक चौथी बात हमें यह भी ध्यान में रखना है कि जहां हम

प्रत्येक व्यक्ति से यह अपेक्षा करें कि वह काम लाभ की आशा से नहीं सेवा की भावना से करे, समाज या राज्य का भी यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह इस बात का प्रयत्न करे कि प्रत्येक व्यक्ति को रहन सहन का एक न्यूनतम स्तर अवश्य प्राप्त हो जाना चाहिए। हमें एक ऐसा समाज बनाना है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति के खाने-पीने की, पहिनने ओढ़ने की और जीवन की अन्य न्यूनतम आवश्यकताएँ पूरी की जा सकें। कोई बेरोज़गार न हो। कोई भूखा-नंगा न हो। कोई बे घर-आसरा न हो। समाज को वितरण की व्यवस्था इस ढंग से करना है कि हर एक की मूल आवश्यकताएँ पूरी की जा सकें।

वह समाज जिसमें व्यक्ति की ये सब आवश्यकताएँ पूरी की जा सकें परंतु जिसमें व्यक्ति को दिन रात अनवरत और थका देने वाले काम में जुटे रहने की आवश्यकता हो अधिक विकसित एवं व्यवस्थित समाज नहीं माना जा सकता। काम करना तो प्रत्येक स्वस्थ व्यक्ति के लिए अनिवार्य होना चाहिए, पर इसके साथ ही यह शर्त्त भी होनी चाहिए कि जहां काम के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अनुकूल वातावरण प्राप्त हो काम कर चुकने के बाद उसे पर्याप्त अवकाश भी प्राप्त होना चाहिए। जीवन में अवकाश के क्षण ही तो वास्तव में निर्माण के क्षण होते हैं। अवकाश की घड़ियों में ही हमारी कल्पना नक्षत्र-लोक का स्पर्श करती है और अपनी कला कृतियों में उसकी चमक भर देती है। अवकाश न हो तो व्यक्ति का समुचित और सर्वांगीण विकास असंभव होगा। जहां इन सब बातों की आवश्यकता है हमें यह भी नहीं भूलना है कि कोई व्यक्ति तब तक सच्चा आत्म-विश्वास प्राप्त नहीं कर सकता—और आत्म-विश्वास के बिना व्यक्तित्व का विकास संभव नहीं है—जब तक उसे राज-नैतिक स्वाधीनता न मिली हो, उसे राय बनाने, बदलने और व्यक्त करने का पूरा अधिकार न हो, वह नेक-नीयती पर आज़ादी से सरकार की आलोचना न कर सके और सरकार की कड़ी से कड़ी आलोचना करते हुए भी यदि उसे जनता का समर्थन प्राप्त है और इस दिशा में उसकी आकांक्षाएँ और क्षमताएँ हैं तो शासन के ऊँचे से ऊँचे स्थान तक पहुँचने की उसे सुविधा न हो। समस्त आर्थिक परिवर्त्तनों के साथ समाज की व्यवस्था में लोकतन्त्र के इन मूल-सिद्धान्तों को बनाए रखना भी आवश्यक है। हमारे सामने मुख्य समस्या यह है कि राजनैतिक समानता प्राप्त कर लेने के बाद हम चुप होकर बैठ न जाएँ, बल्कि समाज में आर्थिक समानता की स्थापना के प्रयत्न में लग जाएँ। परन्तु यह आर्थिक समानता हर्गिज़ हमें राजनैतिक स्वत्वों की क़ीमत पर प्राप्त नहीं करना है। मेरा पूरा विश्वास है कि जनतन्त्र के राजनैतिक आधार की नींव पर ही आर्थिक जनतन्त्र के भवन का निर्माण होना चाहिए, उसके विरोध से

नहीं, और इसी कारण रूस का साम्यवाद आर्थिक जनतन्त्र के अपने समस्त दावे के साथ भी मुझे आकर्षित कर पाने में असमर्थ है। मैं चाहूंगा कि हमारे देश में आर्थिक समानता की स्थापना राजनैतिक स्वाधीनता के स्वाभाविक विकास के रूप में हो। इस प्रकार का कोई भी समाजवाद जनतन्त्र के मूल सिद्धान्तों की उपेक्षा करके आगे नहीं बढ़ सकता। समानता को हमें उसके व्यापक रूप में प्राप्त करना है, टुकड़ों में नहीं। आज़ादी की तरह हमारी समानता भी अखण्ड और अविभाजित होनी चाहिए। इस प्रकार का जो समन्वय बनेगा उसे हम जनतंत्रीय समाजवाद कह सकेंगे।

यह ब्रिटेन का रास्ता है। ब्रिटेन में उस ढंग के साम्यवाद के प्रति जो रूस में प्रचलित है कभी विशेष आकर्षण नहीं रहा। ब्रिटेन में जनतन्त्र की भावना इतनी गहरी चली गई है कि वहां की जनता ने जनतन्त्र की क़ीमत पर आर्थिक समानता प्राप्त कर लेने की तत्परता कभी नहीं दिखाई। ब्रिटेन के चिन्तकों का सदा यह विश्वास रहा कि समाज में आर्थिक समानता की स्थापना वैध, शान्ति पूर्ण और जनतंत्रीय उपायों के द्वारा ही होना चाहिए। उन्होंने सदा ही यह माना कि आर्थिक समानता की स्थापना का यह संघर्ष एक गृह-युद्ध के रूप में मशीनगनों या स्टेनगनों से नहीं लड़ा जाना चाहिए, इसकी अभिव्यक्ति तो एक ऐसी वैधानिक प्रतिद्वंद्विता के रूप में होनी चाहिए जिसमें दोनों दल यह प्रयत्न करें कि चुनाव-पेटी में अधिक चुनाव पत्र उसकी विचार-धारा के व्यक्ति के नाम के हों। इन्हीं आदर्शों को लेकर इंग्लैण्ड में मज़दूर-दल की स्थापना हुई। बड़ी लगन, ईमानदारी और सचाई के साथ यह मज़दूर-दल ब्रिटेन की जनता में अपने विचारों के प्रचार में लगा रहा। पालियामेन्ट में उसके सदस्यों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गई। दो बार उसे शासन में हिस्सा बँटाने के अवसर भी मिले, परंतु शासन में अन्य विरोधी विचार-धाराओं के सदस्यों के होने के कारण वह अधिक काम नहीं कर सका, और अंत में १९४५ के चुनावों के फल-स्वरूप उसे पालियामेन्ट में अपना बहुमत स्थापित कर लेने और शासन के सूत्र अपने नियंत्रण में लेने का अधिकार मिला। ब्रिटेन में मज़दूर-दल की विजय इतिहास की महत्त्वपूर्ण शांतिमय क्रांतियों में से है। यह मज़दूर-दल का दुर्भाग्य है कि ऐसे समय में सत्ता उसके हाथ में आई जब युद्ध ने उसके आर्थिक ढाँचे को तोड़ फोड़ डाला था और तेजी से बिगड़ती हुई अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति उसके सारे प्रयत्नों को चकनाचूर करने में लगी हुई थी, परंतु फिर भी मज़दूर-दल ने पिछले दो वर्षों में जो कुछ किया है वह अहिंसात्मक लोकतंत्रीय समाजवाद में लोगों का भरोसा पैदा करने के लिए काफी है। इन दो वर्षों में ब्रिटेन ने लड़ाई का क़र्ज़ा, खाने पीने की कमी,

कोयले का अभाव और प्रकृति के समस्त कोप के होते हुए भी देश की अर्थ-नीति में आमूल परिवर्त्तन करने की दिशा में कई बड़े बड़े कदम उठाए हैं। उसने बैंक ऑफ इंग्लैण्ड, कोयले की खानों, रेलों और नहरों का समाजीकरण कर लिया है। जमीन का समाजीकरण अभी नहीं हुआ है, पर यह व्यवस्था कर ली गई है कि उसके भावी विकास से जो लाभ हो उसका समाजीकरण किया जा सके। उसने राष्ट्र के स्वास्थ्य को सुधारने के लिए बड़ी बड़ी योजनाएँ बना लीं हैं और शिक्षा की व्यवस्था में आमूल परिवर्त्तन कर लिए हैं। उसने समाजी बीमे की भी एक ऐसी योजना बनाली है जिस के अनुसार बेरोज़गारी बीमारी आदि की स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये पर्याप्त सरकारी सहायता मिल जाती है। अपनी वैदेशिक नीति में भी उस ने कुछ ऐसे साहसी और क्रांतिकारी परिवर्तन किये हैं जिन्हें देखकर आश्चर्य होता है। हिन्दुस्थान, बर्मा, लंका आदि से अपने साम्राज्यवाद को हटाकर ब्रिटेन की मजदूर सरकार ने ऐसी राजनैतिक दूरदर्शिता और ऐसे साहस का परिचय दिया है कि जिनकी तुलना इतिहास में नहीं मिलती। यह सब इसीलिए संभव हो सका है कि ब्रिटेन का शासन एक ऐसे दल के हाथ में है जो जनतंत्र और समाजवाद के सिद्धांतों में दृढ़ता और ईमानदारी के साथ विश्वास रखता है।

समाजवादी विचार-धारा का हिन्दुस्तान में प्रचार

हमारे देश में समाजवादी विचारधारा के प्रचार में सबसे बड़ा हाथ पंडित जवाहरलाल नेहरु का रहा है। १६३०-३२ के सविनय अवज्ञा आन्दोलन के स्थगित हो जाने के बाद से ही जवाहरलालजी उसकी असफलता के कारणों का विश्लेषण करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि जब तक जनसाधारण के सामने हमारे समाज की भावी व्यवस्था, विशेष कर अर्थ व्यवस्था, का संपूर्ण चित्र नहीं होगा तब तक वे किसी भी राजनैतिक आंदोलन में बहुत अधिक सक्रिय भाग नहीं ले सकेंगे। जवाहरलालजी की इस सम्बन्ध में स्पष्ट राय थी कि हिन्दुस्तान की भावी अर्थ-व्यवस्था का आधार समाजवाद ही होना चाहिए। जेल से छूटने के बाद ही उन्होंने अपने लेखों और भाषणों के द्वारा इस विचार का जोरों से प्रतिपादन किया। देश के चिन्तनशील वर्ग ने उनके इस विचार का समर्थन भी किया। पर मध्य-वर्ग में पिछले कुछ वर्षों से साम्यवादी विचारधारा ज़ोर पकड़ती जा रही थी। १६२७ के मेरठ के मुकदमे ने जो सरकार द्वारा साम्यवादी दल के प्रमुख नेताओं पर चलाया गया था, और जिसमें उन्हें अपने सार्वजनिक वक्तव्यों द्वारा अपनी विचार-धारा के समुचित प्रचार का

अवसर मिल गया था, साम्यवादी विचारधारा को जनता तक पहुंचाने में सहायता की। परन्तु साम्यवादी विचार-धारा में कुछ बातें ऐसी थीं जिनके प्रति भारतीय जनता को आकर्षित नहीं किया जा सकता था। १९३० के आसपास जनता में आज के मुकाबले में अहिंसा में कहीं अधिक विश्वास था: १९३० का व्यापक जन-आंदोलन इस विश्वास का ज्वलन्त उदाहरण था। साम्यवाद में हिंसा की अनिवार्यता एक ऐसी बात थी जिस पर उस समय लोगों का विश्वास जमना कठिन था। परंतु इन सब बातों के होते हुए भी साम्यवाद के सिद्धांतों का प्रचार होता रहा। १९२९–३१ के विश्व-व्यापी आर्थिक संकट में संसार के लगभग सभी देश डूबे हुए थे, और प्रत्येक देश में बेरोजगारी और भुखमरी बढ़ रही थी, तब भी रूस उसके प्रभावों से सर्वथा मुक्त रह सका था। यह एक आश्चर्य में डाल देने वाली बात थी और इसने संसार के अन्य देशों का ध्यान रूस की ओर खींचा। १९३१ के बाद से दुनियां के बड़े बड़े लेखक ओर विचारक रूस जाकर स्थिति का अध्ययन करने लगे थे। एच० जी० वैल्स और बर्नर्डशा ने रूस जाकर स्टेलिन के साथ विचार विनिमय किया। इन्हीं दिनों महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी रूस गये और उन्होंने 'रूस की चिट्ठी' नाम की अपनी लेख-माला में जो सभी प्रमुख भारतीय पत्रों में धारावाही रूप से प्रकाशित हुई थी, रूस के नए जीवन का एक बड़ा आकर्षक चित्र हमारे सामने रखा।

साम्यवादी विचारधारा के सम्बन्ध में जब लोगों में दिलचस्पी बढ़ती जा रही थी तब जवाहरलाल नेहरु ने समाजवाद की ओर हमारा ध्यान खींचा। उन दिनों साम्यवाद और समाजवाद का अन्तर बहुत कम लोग जानते थे। जवाहरलालजी के प्रयत्नों का यह फल हुआ कि समाजवाद के सिद्धांतों का अधिक प्रचार होने लगा। धीरे धीरे कुछ और लोग भी सामने आये। जयप्रकाश नारायण जो सविनय अवज्ञा आन्दोलन के समय में अमरीका से एक लम्बे प्रवास के बाद लौटे थे और जिन्होंने १९३२ के आंदोलन में अज्ञात रूप से बड़ा महत्वपूर्ण भाग लिया था, समाजवाद का समर्थन करने में अग्रणी थे। १९३४ में कांग्रेस महासमिति के पटना अधिवेशन के अवसर पर जवाहरलाल नेहरु की प्रेरणा से, और जयप्रकाश नारायण और आचार्य नरेन्द्रदेव के नेतृत्व में, कांग्रेस समाजवादी दल की नींव पड़ी, पर कांग्रेस समाजवादी दल को आरंभ से ही दुर्धर्ष कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। कांग्रेस में वामपक्षीय विचार-धारा का प्रतिनिधि होने के नाते उसे दक्षिण पक्ष के जिसमें थम श्रेणी के अधिकांश नेता थे, प्रबल आक्रमणात्मक विरोध का सामना करना पड़ा। इन्हीं दिनों महात्मा गाँधी के कांग्रेस से अलहदा हो जाने से लोगों

में यह ग़लत फहमी फैली कि वह कांग्रेस की नई प्रवृत्तियों, और विशेष कर वाम-पक्ष की बढ़ती हुई शक्ति, से असंतुष्ट थे। गांधीजी के कुछ निकट के साथियों ने, जिनमें सरदार पटेल प्रमुख थे, समाजवादी दल के प्रति जोरदार प्रचार शुरू किया। परंतु बहुत जल्दी यह स्पष्ट हो गया कि समाजवादी दल न तो कांग्रेस के दक्षिण-पक्ष का संगठित विरोध करने का इरादा रखता था और न उसके बहुत अधिक मजबूत होने की आशा ही थी। कांग्रेस महासमिति की पटना-बैठक में जिन दो नई प्रवृत्तियों ने जन्म लिया था, उनमें से पार्लिया-मेन्टरी कार्यक्रम ने जनता का ध्यान अधिक आकर्षित किया। इसके बाद घट-नाओं का क्रम कुछ इस प्रकार से चला कि समाजवादी दल का कार्यक्रम बहुत सीमित रह गया। १९३६-३७ में प्रांतीय धारा सभाओं के लिए चुनाव हुए। कांग्रेस ने एक प्रगतिशील घोषणा-पत्र जारी किया, परंतु क्योंकि उसकी मंशा सभी राजनैतिक दलों को साथ लेकर चलने की थी, इसलिए आर्थिक व्यवस्था संबंधी बातों के उसमें समावेश किए जाने पर अधिक जोर नहीं दिया जा सकता था। चुनाव के बाद प्रान्तों में स्वायत्त-शासन की स्थापना हुई। कांग्रेस के समाजवादी सदस्य पद-ग्रहण से दूर रहे, पर वे न तो शासन की नीति पर अधिक प्रभाव डाल सके और न किसानों और मजदूरों में फैलने वाले वामप-क्षीय आंदोलन को रोक सके और न इसका नेतृत्व ही कर सके। परिस्थितियों का तकाजा उन्हें इस बात के लिये विवश कर रहा था कि वे कांग्रेस के दक्षिण पक्ष से अपना सम्बन्ध विच्छेद न करें। वास्तव में कांग्रेस को अपने सदस्यों में एकता बनाए रखने की कभी इतनी आवश्यकता न थी, जितनी पद ग्रहण के इन सत्ताईस महीनों में।

उसके बाद ही महायुद्ध का प्रारंभ हुआ और कांग्रेस की कठिनाइयां और भी बढ़ गई। सरकार और कांग्रेस के बीच के विरोध ने एक खुले संघर्ष का रूप ले लिया; कांग्रेस मन्त्रिमंडलों को छोड़कर देश में विभिन्न आंदोलनों की सृष्टि करने में जुट पड़ी, उधर, कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच की खाई चौड़ी होती गई, कांग्रेस में सुभाषचन्द्र बोस के नेतृत्व में और उनसे प्रेरणा पाकर एक ऐसा दल बनता जा रहा था जिसका सिद्धांत था कि हमें, विचार धाराओं के भेद की चिन्ता किए बिना, अपने शत्रुओं के शत्रुओं से मित्रता करनी चाहिए, और जर्मनी और इटली आदि से निकट के सम्बन्ध स्थापित करने चाहिए। यह दृष्टिकोण कांग्रेस की समस्त विचारधारा के विरुद्ध था, क्योंकि उसमें लोकतंत्रीय देशों का समर्थन करने की एक दृढ़ परंपरा जम चुकी थी, यद्यपि जनतंत्र के नाम पर युद्ध लड़ने वाला इंग्लैण्ड हिन्दुस्थान के प्रति जो नीति बरत रहा था उसे देखते हुए कांग्रेस के लिए उसका साथ देना असंभव हो

गया था। साम्यवादी दल का रवैया सभी से भिन्न था। जब तक रूस जर्मनी का साथ देता रहा उसने महायुद्ध के साम्राज्यवादी होने की घोषणा करते हुए हिन्दुस्थान को उससे बाहर रहने की सलाह दी, और रूस पर जर्मनी का आक्रमण होते ही उसकी दृष्टि में वह जनता का युद्ध हो गया, और भारत सरकार के युद्ध के प्रयत्नों का उसने जोरों के साथ समर्थन करना प्रारंभ किया। ऐसी परिस्थितियों में, जब देश में केवल कांग्रेस ही स्वस्थ प्रगतिशील व्यक्तियों का एकमात्र प्रतिनिधित्व कर रही थी, और उसके कमजोर पड़ जाने से प्रतिगामी शक्तियों के प्रबल बनने का खतरा था, समाजवादी दल ने कांग्रेस के अन्य पक्षों के साथ अपने समस्त सैद्धांतिक मतभेदों को भुलाकर, कांग्रेस की व्यापक नीति का ही समर्थन किया।

कांग्रेस-समाजवादी दल और उसकी गतिविधि

समाजवादी दल के सामने आरंभ से ही कुछ ऐसी कठिनाइयाँ रहीं जिनके कारण वह देश के राजनैतिक जीवन में अपनी जड़ें मजबूती से नहीं जमा सका। उसके सामने कई परस्पर-विरोधी लक्ष्य भी रहे। राजनैतिक दृष्टि से वह अपने आपको मजबूत बनाना चाहता था, पर कांग्रेस में एकता बनाए रखने की नितांत आवश्यकता के अतिरिक्त उसके सदस्यों के कांग्रेस के व्यापक संगठन को छोड़ कर बाहर न जाने का एक कारण उनमें आत्म-विश्वास की कमी भी थी, और सबसे बड़ी बात तो यह थी ही कि कांग्रेस की विचार-धारा के साथ एक बड़ी सीमा तक — राजनैतिक स्वाधीनता के प्राप्त हो जाने तक— उसकी अपनी विचार-धारा का साम्य था। जब तक देश गुलामी की जंजीरों में जकड़ा हुआ था, जब तक समाजवाद के सैद्धांतिक प्रचार के लिए ही कांग्रेस से संबंध-विच्छेद कर लेना अव्यावहारिक भी था। कांग्रेस के भीतर रहते हुए समाजवादी दल का लक्ष्य यह रहा कि वह कांग्रेस की विचार-धारा को बदले, परंतु ऐसा करने में उसे सफलता न मिलने का कारण यह था कि उसके सदस्यों की संख्या बहुत सीमित थी और उनमें भी प्रथम श्रेणी के व्यक्ति बहुत कम थे। देश के प्रधान नेताओं का मुख्य लक्ष्य स्वाधीनता था। विचार-धारा के विश्लेषण में पड़ने के लिए वे तैयार न थे। कांग्रेस में रहते हुए समाजवादी दल ने उसके पालियामेन्टरी कार्य-क्रम का सदा ही विरोध किया, पर उसका यह विरोध भी सफल नहीं हो पाया। १९३७ के बाद से, युद्ध के कुछ वर्षों को छोड़ कर, कांग्रेस की समस्त शक्ति पालियामेन्टरी कार्यक्रम में लगी रही। समाजवादी दल ने जहाँ एक ओर कांग्रेस के नेतृत्व का दृष्टिकोण बदलने में कोई

सफलता प्राप्त नहीं की, कांग्रेस के साधारण सदस्यों अथवा जनता में भी समाजवादी विचारों का विशेष प्रचार वह न कर सका। इसका मुख्य कारण यह था कि उसने अपना बहुत कम ध्यान इस ओर दिया था। एक ओर तो कांग्रेस की मुख्य राजनैतिक प्रवृत्ति, पार्लियामेन्टरी कार्यक्रम, से वह तटस्थ रहा। और दूसरी ओर कांग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम में उसने कभी इतनी दिलचस्पी नहीं ली कि वह जन साधारण का आदर प्राप्त कर पाता। कई वर्षों तक उसका समस्त कार्यक्रम निष्क्रिय विरोध तक ही सीमित रहा।

१९४२ के आँदोलन में समाजवादी दल ने अपने भाग्य का नए सिरे से निर्माण करना प्रारंभ किया। कुछ परिस्थितियाँ ऐसी रहीं जिनके कारण समाजवादी विचार-धारा में विश्वास रखने वाले प्रायः सभी प्रमुख कार्यकर्त्ता जेल में एक साथ रख दिए गए थे। वहाँ उन्हें गंभीर विचार-विनिमय का अवसर मिला, और वहीं उन्होंने यह निश्चय किया कि वे जेल से निकलने के बाद, हिंसा और अहिंसा के सैद्धांतिक भेद की अवज्ञा करके, देश में एक व्यापक राजनैतिक क्रांति की तैयारी करेंगे। जयप्रकाश नारायण आदि कुछ नेता जेल तोड़ कर भागे भी। कुछ अन्य समाजवादी नेता छिप कर आंदोलन चलाते रहने के प्रयत्न में लगे रहे। कई स्थानों पर स्वतन्त्र सरकारें भी बना ली गईं। यह कहा जा सकता है कि दिसंबर १९४२ के बाद जिन थोड़े से स्थानों पर आंदोलन चलता रहा वहाँ समाजवादी दल के नेताओं की प्रेरणा और गुप्त नेतृत्व उसे प्राप्त था। जनता के हृदय को जीत कर अपने दल को मज़बूत बना लेने की दिशा में यह एक बड़ा साहसी प्रयत्न था। परंतु अंग्रेज़ी सरकार की ओर से राजनैतिक गत्यावरोध को दूर करने की दिशा में जब पहिला सक्रिय क़दम उठाया गया तब नेतृत्व एक बार फिर महात्मा गाँधी और कांग्रेस के अन्य नेताओं के हाथ में चला गया, और उन्हीं के साथ समझौते की असफल और सफल सभी चर्चाएँ होती रहीं। समाजवादी कार्यकर्त्ता एक बार फिर पृष्ठभूमि में चले गए। इस बीच राजनैतिक क्षेत्र में तो समाजवादियों ने कुछ काम किया था, परंतु अपनी विचार-धारा के प्रचार की दिशा में वे कुछ भी नहीं कर पाए थे। गांधी जी ने जब किसी भी प्रकार के हिंसात्मक आंदोलन से कांग्रेस का संबंध न होने की घोषणा की तब तो समाजवादी दल का महत्त्व और भी कम हो गया। इस बीच अन्य राजनैतिक दल और अन्य विचार-धाराएँ सामने आ रही थीं। आजाद हिन्द फ़ौज द्वारा देश के बाहर किए जाने वाले काम की चकाचौंध में समाजवादियों द्वारा देश के भीतर किए जाने वाला काम फीका लगने लगा था। साम्यवादी दल, रूस की विजय के नाम पर काफ़ी लोगों को अपनी ओर आकर्षित कर रहा था। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ

और मुस्लिम नेशनल गार्डस् जैसी सांप्रदायिक संस्थाएँ भी अपनी शक्ति को बढ़ाने में लगीं थीं। पर, समाजवादी दल न तो कांग्रेस के भीतर ही कुछ अधिक प्रभाव डाल पा रहा था और न इस स्थिति में था कि कांग्रेस से बाहर जाकर अपना अलग संगठन बना ले।

देश के स्वाधीन हो जाने के बाद समाजवादी दल पर अचानक एक बड़ा उत्तरदायित्व आ गया। स्वाधीनता का वह लक्ष्य जिसे प्राप्त करने के लिए वह कांग्रेस का साथ दे रहा था प्राप्त हो चुका था। अब प्रश्न यह था कि स्वाधीनता का विकास किस दिशा में किया जाए। उसके भावी संघटन का आधार क्या हो, उसे प्राप्त कर लेने के बाद हम अन्य बहुत से स्वाधीन देशों के समान अपनी शक्ति बढ़ाने के काम में ही लगे रहें अथवा उस स्वाधीनता का उपयोग एक नए समाज का निर्माण करने में, जिसका आधार सामाजिक और आर्थिक समानता हो, करें। इस प्रश्न का उत्तर समाजवादियों के सामने बहुत स्पष्ट था। स्वाधीनता तो वह नींव थी जिस पर एक समाजवादी समाज का ढाँचा खड़ा करना था। इस संबंध में कांग्रेस के शेष सदस्यों से उनका मतभेद भी स्पष्ट था। वे लोग नहीं चाहते थे कि किसी स्पष्ट आर्थिक विचार-धारा के साथ देश के शासन को संबद्ध कर दिया जाए। इस मतभेद के होते हुए, और उनके संख्या में कम होते हुए, यह संभव नहीं था कि समाजवादी विचार-धारा के मानने वाले लोग कांग्रेस के अन्तर्गत काम करते रहें। कांग्रेस के दृष्टिकोण को बदलने का उनका समस्त प्रयत्न असफल हो चुका था। उन्हें अपनी इस असफलता को मान लेना था, और अपने खेमे उखाड़ कर आगे की यात्रा के लिये चल पड़ना था। यह आगे की यात्रा बीहड़ और भयावनी थी, कठिनाइयों और खतरों से भरी हुई, पर इस पर चलने के अलावा समाजवादियों के सामने दूसरा रास्ता रह भी नहीं गया था। उनके प्रयत्नों के द्वारा यदि कांग्रेस का दृष्टिकोण बदल गया होता तब तो कोई कठिनाई थी ही नहीं। सरकार कांग्रेस के कब्जे में आ गई थी। सहज ही कानूनों की एक शृंखला स्वीकृति की जा सकती थी और उनके परिणाम स्वरूप देश में एक समाजवादी जनतंत्र की स्थापना की जा सकती थी, पर कांग्रेस द्वारा इस दृष्टिकोण के न अपनाए जाने का स्वाभाविक परिणाम यह था कि समाजवादी दल पर यह विवशता आ गई थी कि वह जनता में जाकर समाजवाद के सिद्धांतों में उसे शिक्षित करके, उसके सहारे वैधानिक उपायों के द्वारा शासन पर कब्जा करता और तब उसे साधन बनाता देश में एक समाजवादी जनतंत्र की स्थापना का।

रास्तों की जुदाई

देश के स्वाधीन हो जाने के बाद उन लोगों का मार्ग जो समाज व्यवस्था

में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं करना चाहते थे स्वभावतः ही उन लोगों के मार्ग से भिन्न दिशा में जाता था जो उसे एक समाजवादी सांचे में ढाल लेने के लिए उत्सुक थे। एक लंबे अर्से तक समाज व्यवस्था में कोई भी बड़ा परिवर्तन न करने के पक्ष में बहुत सी दलीलें दी जा सकती थीं। १५ अगस्त १९४७ को कांग्रेस के हाथों में राजनैतिक शक्ति के मुख्य सूत्र सौंप तो दिए गए थे, पर वह शक्ति राशि राशि भागों में बिखरी हुई थी और उसके विभिन्न छोरों पर विशृंखलता की जो चिनगारियां रख दी गई थीं वे किसी भी क्षण भभक कर देश की इस नवजात स्वतंत्रता को भस्म कर सकती थीं। धार्मिक भावनाओं के आधार पर देश के बँटवारे की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया ही इतनी भीषण थी कि एक बार तो उससे हमारा राष्ट्रीय अस्तित्व ही खतरे में पड़ता दिखाई दिया था। मंत्रि-मंडल के स्तर पर विचार-धारा चाहे कितनी भी स्पष्ट क्यों न रही हो, समस्त शासन-तंत्र इतना दूषित था कि उसके सहारे इन धर्मांध-भावनाओं को नियंत्रण में नहीं रखा जा सकता था। इसके अतिरिक्त पाँच सौ से अधिक देशी रियासतें थीं जिनकी सामन्तशाही और मध्य-युगीन प्रवृत्तियों की गोद में इन साम्प्रदायिक-फ़ासिस्ट शक्तियों को प्रश्रय मिल रहा था। उन्हें देश के शेष भाग के साथ निकट राजनैतिक संबंधों में बाँध देना अपने आप में एक बड़ी समस्या थी। ये समस्याएँ सुलझने भी नहीं पाई थीं कि पाकिस्तान की प्रेरणा पर सीमा-प्रांत के कबाइलियों ने काश्मीर पर आक्रमण कर दिया, और उससे एक ओर तो पाकिस्तान से हमारे सम्बन्धों में नई उलझनें और पेचीदगी आ गई और दूसरी ओर हमें अपने विरुद्ध एक प्रबल अन्तर्राष्ट्रीय प्रचार का शिकार होना पड़ा। इस स्थिति से लाभ उठाकर हैदराबाद के कासिम रिजवी ने आसफिया झंडे के नीचे एक व्यापक फ़ासिष्ट आंदोलन का विकास करना प्रारंभ किया। यह अवसर सचमुच ही एक आर्थिक कार्यक्रम के आधार पर देश के सबसे सुसंगठित और सशक्त वर्ग, पूंजीपतियों, को जनतंत्रीय शासन-तंत्र के विरुद्ध और फासिस्ट प्रवृत्तियों को सुदृढ़ बनाने की दिशा में प्रवृत्त कर देने के लिए उपयुक्त नहीं था।

देश के सामने इस समय स्पष्टतः दो मार्ग थे। एक तो किसी न किसी प्रकार से, परस्पर विरोधी तत्त्वों को साथ रखते हुए भी, देश की शक्ति को बढ़ाते रहने का मार्ग था, जिस मार्ग से हट कर चलना किसी भी देश के राजनैतिक नेताओं के लिए कठिन होता है, और दूसरा था, शक्ति की राजनीति से अलग हट कर, देश को सशक्त और सुदृढ़ बनाने के सिद्धान्त की कुछ समय तक अवज्ञा करते हुए भी, उसे एक सुस्पष्ट और सुचिन्तित, विवेकपूर्ण और आदर्श लक्ष्य की ओर ले जाने का मार्ग। कांग्रेस के जिस बहुसंख्यक वर्ग के

हाथ में शासन के सूत्र थे, वह स्पष्टतः ही पहिले मार्ग पर चल रहा था। उसने दृढ़ता के साथ सांप्रदायिक शक्तियों को बहुत अधिक प्रबल हो जाने से रोका, उसने बुद्धिमत्ता से देशी रियासतों के प्रश्नों को सुलझाने का प्रयत्न किया, उसने फ़ौजी ताक़त के द्वारा कबाइली आक्रमणकारियों का मुक़ाबिला किया और अन्तर्राष्ट्रीय लोकमत को अपने विरोध में न जाने देने की दृष्टि से उसने बड़ी उदारता से काश्मीर के प्रश्न को संयुक्त राष्ट्रसंघ के निर्णय पर छोड़ा। इसके साथ ही उसने जवाहरलालजी जैसे समाजवादी नेता के शासन के शिखर पर होते हुए भी, कोई कदम ऐसा नहीं उठाया जिससे पूंजीपतियों अथवा अन्य स्थिर-स्वार्थों को सरकार के विरुद्ध जाने का अवसर मिलता। समाजवादी कांग्रेस सरकार की इस कठिनाई से परिचित थे। वे यह भी नहीं मानते थे कि देश में रातों रात एक समाजवादी जनतंत्र की स्थापना की जा सकती थी। पर, वे यह अपेक्षा करते थे कि सरकार देश की भावी समाज-व्यवस्था के सम्बन्ध में अपने सामने कम से कम एक स्पष्ट लक्ष्य रख कर चले, और वह लक्ष्य समाजवाद हो। परिस्थितियों के साथ वह तभी तक समझौता करे जब तक कि वैसा करना उसके लिए अनिवार्य हो। पूंजीवाद को वह एक साथ ही खत्म न कर दे, पर ऐसे तरीकों के संबंध में सोचना अवश्य शुरू कर दे जिन पर चल कर, एक अहिंसात्मक ढंग पर सही, देश में एक समाजवादी व्यवस्था क़ायम की जा सके। निकट वर्त्तमान में वह पूंजीवादियों को प्रोत्साहन न दे, और कोई ऐसी बात न करे जिससे देश में पूंजीवाद मज़बूत होता हो। पर समाजवादियों के सामने यह बात बहुत जल्दी स्पष्ट हो गई कि सरकार की अर्थनीति का आधार ही पूंजीवाद है, उग्र राष्ट्रीयकरण में उसे विश्वास नहीं है और जिन थोड़े से उद्योग धंधों के राष्ट्रीयकरण की तत्परता उसने दिखाई है उनमें भी, एक विभिन्न प्रणाली पर, पूंजीवादी तत्त्वों के ही प्राधान्य की संभावना है। आर्थिक योजना समिति के, जिसके अध्यक्ष जवाहरलाल नेहरू थे, सुझावों को भी सरकार कोई महत्त्व नहीं दे रही थी। सांप्रदायिक शक्तियों के सरकार द्वारा सख़्ती से न कुचले जाने के पक्ष में यह कहा जा सकता था कि उनके पीछे एक प्रबल लोकमत था और कोई भी लोकतंत्रीय सरकार एक प्रबल लोकमत को, चाहे वह कितना ही गलत क्यों न हो, आसानी से कुचल नहीं सकती, पर गाँधी जी की हत्या के बाद, जब लोकमत एक आश्चर्य जनक गति से दूसरी सीमा का स्पर्श करने लगा था तब भी सरकार ने कुछ ऐसी क़ानूनी और दूसरी कार्यवाहियाँ तो कीं जिससे उसका राजनैतिक विरोध निर्बल बनाया जा सका, पर उस सांप्रदायिक-फ़ासिस्ट प्रवृत्ति के, जिसने विश्व की सबसे महान् विभूति को हमसे छीन लिया था, मूल-तत्त्वों को नष्ट

करने का कोई संगठित प्रयत्न नहीं किया—और वे आज भी हमारे बीच में पनप रहे हैं। इससे प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी शक्तियों के बीच एक स्पष्ट विभेद के सरकार के ज्ञान के सबंध में समाजवादियों की अपनी शंकाएँ होना भी स्वाभाविक था। हैद्रावाद की समस्या के सुलझ जाने के वाद, जब देश स्पष्टतः कठिनाइयों के एक लंबे युग को पार कर चुका था और जब कांग्रेस-सरकार से भविष्य के सम्बन्ध में कुछ स्पष्ट संकेतों की अपेक्षा की जा सकती थी, तब, विजयादशमी के अवसर पर, महाराष्ट्र और गुजरात वासियों की एक सभा में सरदार पटेल ने, (१) केन्द्रीय शासन को मजबूत बनाने और (२) देश की सैनिक शक्ति बढ़ाने पर ही जोर दिया, और स्पष्ट शब्दों में यह कहा कि सैनिक शक्ति के बढ़ाने के लिए बड़े बड़े कारखानों की आवश्यकता है, और उनका संचालन वे पूंजीपति ही कुशलता से कर सकते हैं जो गुलामी के दिनों में भी देश के औद्योगिक विकास के लिए जिम्मेदार रहे हैं और, आज़ादी के वाद, जिनके और सरकार के बीच अविश्वास को दूर करने का प्रयत्न आवश्यक हो गया है। राष्ट्रीय सरकार के उपप्रधान-मंत्री के सामने उस समय स्पष्टतः ही एक ऐसे समाज का चित्र था जिसमें आने वाले वर्षों में पूंजी-वाद को सुदृढ़ बनाने के लिए सरकार की ओर से पूरा प्रयत्न किया जायगा।

समाजवादी दल का कांग्रेस से संबंध-विच्छेद

यह स्पष्ट था कि इन प्रवृत्तियों को कांग्रेस के बहु संख्यक वर्ग का मूक-समर्थन प्राप्त था। ऐसी स्थिति में समाजवादियों के लिए कांग्रेस के साथ साथ चलना असंभव हो गया था। मार्च १९४८ के अपने नासिक-अधिवेशन में समाजवादी दल ने कांग्रेस से अलहदा होने का महत्त्वपूर्ण निश्चय स्वीकार किया। समाजवादी दल अपने इस निष्कर्ष पर हृदय-मंथन की एक दीर्घ प्रक्रिया के वाद पहुँचा था। उसके नेताओं के कांग्रेस के अन्य नेताओं के साथ के निकट और स्नेहपूर्ण संबंध भी उसके इस निश्चय के बीच एक बड़े व्यवधान के रूप में खड़े थे। पर, इन सब कठिनाइयों को पार करना आवश्यक हो गया था। कांग्रेस से संबंध-विच्छेद कर लेने के वाद समाजवादी दल पर एक बहुत बड़ा उत्तरदायित्व आ गया था। उसके इस कदम से यह तो स्पष्ट हो गया है कि उसने कांग्रेस के भीतर रहते हुए कांग्रेस के दृष्टिकोण को बदल सकने में अपनी असमर्थता मान ली है। अब इसे एक नवीन राजनैतिक दल का मत-परिवर्त्तन करने का प्रयत्न नहीं करना है, बल्कि उन लाखों करोड़ों मत-दाताओं को समाजवादी सिद्धांतों में दीक्षित करना है जिनके निर्णय पर वह

देश की किसी भावी धारा-सभा में अपने बहुमत के स्वप्न देखता है। यह एक कहीं अधिक लंबा और दुर्धर्ष मार्ग है। भारतीय परिस्थितियों में इस मार्ग पर चलने का अर्थ है एक समस्त जनता को, जो न केवल राजनैतिक चेतना की दृष्टि से संसार के प्रायः सभी देशों से अधिक पिछड़ी हुई है पर जिसमें साक्षरता भी दस प्रतिशत व्यक्तियों से आगे बढी हुई नहीं है, नागरिक शिक्षण नहीं देना पर एक विशिष्ट राजनैतिक-आर्थिक विचार-धारा की बारीकियों से भी अवगत कराना, और उससे यह अपेक्षा करना कि वह अन्य विचार-धाराओं पर उसे तरजीह देगी। इंग्लैण्ड में भी, जहाँ साक्षरता और जनतंत्र दोनों की ही परंपराएँ बहुत पुरानी हैं, समाजवाद के कुछ सिद्धान्तों में विश्वास रखने वाला एक राजनैतिक दल आधी शताब्दी से अधिक के अनवरत प्रचार और प्रयत्नों के बाद, और संसार के सबसे बड़े महायुद्ध के द्वारा प्रजनित मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं की प्रतिक्रिया के परिणाम-स्वरूप, अपने अभीप्सित लक्ष्य को प्राप्त कर सका। हमारे देश के समाजवादी दल के पक्ष में एक यह बात है कि वह राजनीति के मंच पर इंग्लैण्ड के मज़दूर-दल से आधी शताब्दी के बाद आया है और इस बीच दुनियां भर में समाजवादी विचार-धारा का बहुत क़ाफ़ी प्रचार हो चुका है। समाजवादी दल को इससे अपने प्रचार के काम में आसानी होगी। इसके अतिरिक्त हमारे देश में सरकार के विरोध की परंपराएँ इतनी पुरानी हैं और कांग्रेस के दृष्टिकोण का विरोध भी इतना व्यापक है कि कांग्रेसी सरकार के बहुत से विरोधी तत्त्व, जो अन्य राजनैतिक दलों में आसानी से नहीं खप सकेंगे, समाजवादी दल को मज़बूत बनाने में सहायता देंगे। कांग्रेस के शासन में पूंजीवाद चाहे मज़बूत होता जाए, राजनैतिक स्वाधीनताओं का विकास भी अनिवार्य है, और उसमें वैधानिक सीमाओं में काम करने वाले किसी भी विरोधी दल के विकास की पूरी गुंजाइश है। यह सच है कि आज भी देश में कांग्रेस के प्रति, आज़ादी के प्रयत्नों में उसकी सन्निकटता के कारण, एक भावप्रवण निष्ठा है, पर राजनैतिक स्मृतियों के प्रख्यात अस्थायित्व को देखते हुए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि बहुत जल्दी हम भारतीय जनता को अन्य राजनैतिक दलों के तत्त्वावधान में बड़ी संख्या में एकत्रित होते हुए देखेंगे। यह वातावरण भी समाजवादी दल के द्वारा राजनैतिक शक्ति अपने हाथों में संग्रहीत करने के प्रयत्नों में सहायक ही होगा।

और उसकी सम्भावित प्रतिक्रियाएं

पर, इसके साथ ही समाजवादी दल के कांग्रेस से संबंध-विच्छेद कर लेने

की कुछ खतरनाक प्रतिक्रियाएँ भी होंगी ही। कांग्रेस-विरोधी प्रतिक्रियावादी तत्वों को समाजवादी दल अपने से बाहर रखने में समर्थ भी हो सका —अपने राजनैतिक बल को बढ़ाने की दृष्टि से उसे उन तत्वों को अपने साथ ले लेने का आकर्षण होना तो स्वाभाविक है —पर ज्यों ज्यों कांग्रेस के प्रगतिशील विचारों वाले व्यक्ति उसमें शामिल होते जायँगे, कांग्रेस कट्टर-पंथी और रूढ़िवादियों का अड्डा बनती जायगी। १ यह भी संभव है कि आगे जाकर कांग्रेस इंग्लैण्ड के अनुदार दल के समान, पूंजीवाद को बनाए रखने वाली एक संस्था के रूप में काम करने लगे। विचार-धाराओं का संघर्ष ज्यों ज्यों तीव्र होता जाएगा, समाजवादी दल अधिक उग्र रूप से समाजवाद का समर्थन करेगा और कांग्रेस अपनी सारी शक्ति पूंजीवाद को कायम रखने में लगा देगी। समाजवादी दल यदि बहुत जल्दी अपने को सशक्त बना सका —जिसकी आशा कम ही है —तब तो देश में जनतंत्रीय समाजवाद की कल्पना को सुरक्षित माना जा सकता है, परंतु यदि वह ऐसा नहीं कर सका तो पूंजीवाद कांग्रेस की आड़ में अपनी शक्तियों को बहुत मजबूत बना लेगा और समाजवादी दल को, वैधानिक और अवैधानिक सभी उपायों द्वारा, निर्दयता पूर्वक कुचल डालने का प्रयत्न करेगा। दुर्भाग्य से सभी देशों में ऐसा होता आया है। जनतंत्रीय समाजवाद इंग्लैण्ड को छोड़ कर किसी भी देश में इतना मजबूत नहीं बन पाया कि वह वैधानिक उपायों द्वारा पूंजीवाद को नष्ट कर सके। पूंजीवाद को उसने छोड़ तो दिया है, पर सिंह के समान उसने गरज कर जनतंत्रीय समाजवाद को जब दबोचना चाहा है तब वह कुछ भी नहीं कर सका है। मध्य-यूरोप के सभी देशों में कमज़ोर और निष्क्रिय समाजवाद की लाश पर ही फ़ासिज़्म का विशाल दुर्ग खड़ा किया गया था।

---

१ १९४८ के कांग्रेस के सभापति के चुनाव को यदि विचार-धाराओं की पृष्ठभूमि पर देखा जाए तो कहा जा सकता है कि संघर्ष गांधीवादी असांप्रदायिक राज्य में लोकतंत्रीय विश्वास और हिंदू-संस्कृति-प्रधान-राष्ट्रीयतावादी अर्द्ध-फ़ासिस्ट धाराओं के बीच था—यद्यपि विचार-धाराओं का यह भेद बहुत स्पष्ट नहीं था, और नेताओं के विश्वासों से अधिक उनके अनुयायियों की भावना में उसका आधार था। समाजवादी दल यदि कांग्रेस में रहा होता तो यह संघर्ष सम्भवतः समाजवादी और गाँधीवादी विचार-धाराओं के बीच होता, यद्यपि उसमें गाँधीवादी विचार-धारा के पीछे और भी बड़े बहुमत की अपेक्षा की जा सकती थी। समाजवादियों के कांग्रेस से बाहर आ जाने से उन प्रवृत्तियों को निःसन्देह बल मिला है जिनकी लोक-राज्य की कल्पना निश्चित रूप से स्पष्ट और असांप्रदायिक और वैज्ञानिक आधारों पर स्थापित नहीं है।

समाजवादी दल एक ओर तो पूंजीवाद के समर्थकों को अपना संघटन मज़बूत बनाने का मौक़ा देगा और दूसरी ओर वह साम्यवादियों के लिए भी एक चुनौती के रूप में सामने आएगा। समाजवादियों और कम्यूनिस्टों के बीच की स्पर्धा और कड़वाहट का बढ़ते जाना स्वाभाविक है, और इस प्रति-स्पर्धा में कम्यूनिस्टों के पास अधिक तेज़ हथियार हैं। उनके पास एक सुलझी हुई विचार-धारा है, जो चाहे जितनी ग़लत क्यों न हो, मस्तिष्क और भावना को तीव्रता से अपनी ओर आकर्षित करती है। उसके पास नवयुवकों में अपने प्राणों को जोखम में डाल कर भी एक विशिष्ट समाज रचना के लिए जो उत्साह होता है उसे जागृत और उद्दीप्त करने की एक अभूतपूर्व सामर्थ्य है, और अच्छे-बुरे साधनों में किसी प्रकार का भेद न करते हुए लक्ष्य की ओर बढ़ते जाने का एक जोशीला उन्माद है। जनतंत्रीय समाजवाद के पास ये सब आकर्षक, लुभावने और नशा चढ़ा देने वाले तत्त्व नहीं हैं। वह तो जनता के विवेक को जागृत करके लोकतंत्रीय और वैधानिक साधनों के द्वारा एक नए समाज का निर्माण करना चाहता है। यह एक निःसंदिग्ध तथ्य है कि नव-युवकों को अपनी ओर खींचने की प्रतिद्वन्द्विता में समाजवादी दल कम्यूनिस्टों के सामने ठहर नहीं सकेगा। इन सबका परिणाम यह होगा कि एक ओर पूंजीवाद, कांग्रेस की आड़ में, अपने को मज़बूत बनाने का प्रयत्न करेगा और दूसरी ओर कम्यूनिस्ट अपने संघटन को फ़ैलाने और मज़बूत करने के प्रयत्न में लगेंगे। देश में विचार-धाराओं का संघर्ष बहुत तीव्र हो जायगा। मैं यह नहीं कहता कि विचार-धाराओं के इस तीव्र संघर्ष से हमें बचना चाहिए। यह बहुत संभव है कि अपने भविष्य का मार्ग सुस्पष्ट बना लेने के लिए यह संघर्ष आव-श्यक हो, परंतु आज का सबसे बड़ा प्रश्न तो यह है कि क्या समाजवादी दल को इस बात का पूरा अहसास है कि उसका कांग्रेस से अलहदा होना इस संघर्ष को बहुत नज़दीक ले आता है, और यदि वह इस बात को जानता है तो क्या अपना भाग उस प्रभावपूर्ण ढंग से पूरा करने की तैयारी उसमें है, और उन साधनों के संबंध में वह स्पष्ट है जो इस संकट के अवसर पर उसे उप-योग में लाने होंगे ?

भारतीय समाजवाद की रूपरेखा

पहिला काम जो समाजवादी दल को करना चाहिए यह है कि वह उस भारतीय समाज का एक संपूर्ण चित्र जनता के सामने रखे जिसे वह प्राप्त करना चाहता है। हमारे सामने जो अन्य विचार-धाराएँ हैं उनके लक्ष बहुत कुछ

स्पष्ट हैं। पूंजीवादी देश, शासन के थोड़े बहुत हस्तक्षेप को छोड़ कर, व्यक्ति को उसके आर्थिक जीवन में पूरी स्वाधीनता देने में विश्वास रखते हैं। कम्यूनिस्ट व्यक्ति की सारी शक्तियों का उपयोग राज्य के द्वारा एक ऐसे समाज का निर्माण करने में लगा देना चाहते हैं जिसका लक्ष्य आर्थिक समानता है। उसे प्राप्त करने के साधन भी उनके सामने स्पष्ट हैं। परंतु समाजवादी विचार-धारा वैसी स्पष्ट नहीं है, विशेष कर वह समाजवादी विचार-धारा जो जनतंत्र से भी अपना संपर्क बनाए रखना चाहती है और हिंसा के प्रयोग से बचना चाहती है। किस प्रकार का समाजवाद हम अपने देश में चाहते हैं? वह १९१९-३३ के बीच जर्मनी के जनतंत्रीय समाजवादी दल का समाजवाद होगा या १९४५ के बाद के ब्रिटेन के मज़दूर दल का समाजवाद? १ समाजवादियों की एक विशेषता यह भी है कि वे राष्ट्रीय परिस्थितियों के साथ समझौता कर लेने में भी विश्वास रखते हैं। भारतीय परिस्थितियों को देखते हुए किस प्रकार के समाजवादी कार्यक्रम को वह क्रियात्मक रूप देना चाहेंगे? किन उद्योग-धंधों का वे समाजीकरण करना चाहेंगे? घरेलू उद्योग-धंधों को वे कहाँ तक प्रोत्साहन देंगे? वैयक्तिक संपत्ति को क्या वे बिल्कुल ही नष्ट करना चाहेंगे अथवा निजी और वैयक्तिक संपत्ति में वे किसी प्रकार का अन्तर मानेंगे? कर लगाने में वे किन सिद्धांतों पर चलेंगे? अमीरों का नाश वे जबर्दस्ती करेंगे या कानून के द्वारा या विभिन्न करों के द्वारा उनकी संपत्ति का अधिकांश समाज के लिए प्राप्त कर के? उनका लक्ष्य किस सीमा तक अमीरों को ग़रीब बनाना होगा और किस सीमा तक ग़रीबों के जीवन स्तर को ऊँचा उठाना? सामाजिक रक्षा की उनकी योजनाएँ किस ढंग की होंगी? समाजवादियों के सिद्धांतों में गांधीवाद से अधिक अन्तर न होते हुए मूल भेद यह है कि वे इस बात में विश्वास रखते हैं कि समाज का वह लक्ष्य स्पष्ट होना चाहिए जिस तक जन साधारण को पहुँचना है। इस कारण यह आवश्यक हो जाता है कि समाजवादी उस लक्ष्य की एक स्पष्ट रूप-रेखा जनता के सामने रखें।

समाजवादी दल के सामने एक बड़ा प्रश्न यह भी है कि वे अपने संगठन के आरंभिक वर्षों में समाजवाद पर अधिक जोर दें अथवा जनतंत्र पर। दुनियां के सभी देशों का इतिहास बताता है कि समाजवाद उन्हीं देशों में सफल हो

१ किसी ने यूरोप-महाद्वीप के देशों के समाजवाद को ब्रिटेन के समाजवाद से तुलना करते हुए कहा था कि जब कि महाद्वीप के समाजवादी चाहते हैं कि ट्रेनों में फर्स्ट क्लास के डिब्बे मज़दूरों के लिए खोल दिए जाएँ, ब्रिटेन के समाजवादी यह चाहते हैं कि उनके लिए तीसरे दर्जे के डिब्बे में ही अधिक सुविधाओं का आयोजन कर दिया जाए।

सका है जहाँ जनतंत्र की परम्पराएँ बहुत गहरी और मज़बूत थीं, और हिन्दुस्तान में तो अभी हमने जनतंत्र की प्रारंभिक मंज़िलों को भी पूरा नहीं किया है। अपने नासिक अधिवेशन में समाजवादी दल ने यह स्पष्ट किया कि वह देश में वास्तविक जनतंत्र का विकास भी चाहता है। यह विश्वास समाजवादी दल के इतिहास में बिल्कुल नई बात थी, और इस विश्वास की आवश्यकताओं को देखते हुए भी जयप्रकाश नारायण को यह कहने पर मजबूर होना पड़ा कि समाजवादी दल ने कांग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम से अलहदा रह कर एक बहुत बड़ी ग़ल्ती की। जयप्रकाश नारायण ने अपने भाषण में इस मार्क्सवादी विचार को कि राज्य के द्वारा ही सामाजिक परिवर्त्तन हो सकता है, बिल्कुल ही अस्वीकार कर दिया है। उन्होंने कहा, "मैं इस विचार-धारा का संपूर्ण विरोध करता हूँ। तानाशाही देशों के, चाहे वे फासिस्ट हों या कम्यूनिस्ट, अनुभव से यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि राज्य को ही सामाजिक पुनर्निर्माण का एक मात्र साधन मान लिया जाता है तो उसका परिणाम होता है फ़ौज़ी ढंग से व्यवस्थित किया गया एक ऐसा समाज-तंत्र जिसमें राज्य ही सर्वेसर्वा होता है। जनता की प्रेरणा को बिल्कुल ही कुचल दिया जाता है और व्यक्ति को एक बड़े और अ-मानवी यंत्र का पुर्ज़ा मान लिया जाता है। इस प्रकार का समाज सचमुच ही हमारे देश का लक्ष्य नहीं है, और न इस प्रकार के समाज की रचना करके हम उस लोकतंत्रीय समाजवादी समाज का निर्माण कर सकते हैं जो हमारा लक्ष्य है।" जयप्रकाश नारायण के इसी भाषण में और भी बहुत सी बातें हैं जिनसे पता लगता है कि वे समाजवाद की स्थापना जनतंत्र की कीमत पर नहीं, उसके आधार पर ही, कराना चाहते हैं, व्यक्ति के मुक्त और निर्बाध विकास में वह किसी प्रकार की बाधा उपस्थित करना नहीं चाहते। परंतु उनके लिए यह बताना अब भी शेष रह जाता है कि व्यक्ति की प्रेरणा को मुक्त रखते हुए, उसे समस्त जनतंत्रीय स्वाधीनता देते हुए किसप्रकार वे अपने समाजवाद की स्थापना कर सकेंगे और किस प्रकार वे उन बहुत सी गुत्थियों को सुलझाने में सफल हो सकेंगे जो जनतंत्र और समाजवाद के कुछ मूलभूत आंतरिक विरोधों के कारण समय समय पर उनके सामने उपस्थित होंगी। इसमें सन्देह नहीं कि यदि हमें समाजवाद की ओर बढ़ना है तो हमें जनतंत्र के संबंध में अपनी बहुत सी वर्तमान कल्पनाओं को बदलना होगा, जनतंत्र के मूलभूत सिद्धांतों में भी कुछ परिवर्तन करने होंगे। वैयक्तिक स्वातंत्र्य के लिए नई परिभाषा बनानी पड़ेगी और व्यक्ति की आर्थिक स्वातंत्र्य को एक बड़ी सीमा तक नियंत्रण में रखना होगा। यह सब जनतंत्र की उस कल्पना से भिन्न होगा जो अभी तक हमारे मन में रही है। समाजवादी दल के प्रमुख

नेताओं से यह अपेक्षा की जाती है कि वे इस संबंध में एक सुचिन्तित योजना हमारे सामने रखेंगे।

साधनों का प्रश्न

हमें केवल लक्ष्य के संबंध में ही बहुत स्पष्ट नहीं हो जाना है। उन साधनों का और एक के बाद दूसरी बहुत सी स्थितियों का भी, जिनसे गुजरते हुए हमें समाजवाद तक पहुँचना है, स्पष्ट चित्र हमारे सामने होना चाहिए। साधनों के संबंध में जयप्रकाशनारायण ने यह तो स्पष्ट कर दिया है कि समाजवादी दल केवल नैतिक साधनों का ही उपयोग करेगा। "मैं अधिक से अधिक स्पष्ट शब्दों में यह कह देना चाहता हूँ," जयप्रकाशनारायण ने बताया, "कि मैं इस बात में विश्वास करने लगा हूँ कि समाजवाद की प्राप्ति के लिए साधनों के संबंध में सतर्क रहना बहुत अधिक आवश्यक है। समाजवाद विभिन्न लोगों के लिए विभिन्न अर्थ रखता है परन्तु यदि समाजवाद से हमारा निर्देश एक ऐसे समाज तंत्र की ओर है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर दी जाती है और जिसमें व्यक्ति सभ्य और सुसंस्कृत, स्वतंत्र और साहसी, दयाशील और उदार होता है तो मैं इस संबंध में भी बिलकुल स्पष्ट हूँ कि हम इस लक्ष्य तक हर्गिज नहीं पहुँच सकते जब तक कि कुछ मानवीय मूल्यों और व्यवहार के मापदण्डों का सख्ती से पालन न करें।" आगे चल कर जयप्रकाशनारायण ने कहा, "अच्छे साधनों के द्वारा ही हम एक अच्छे समाज के लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं"। परन्तु वे अच्छे साधन क्या होंगे इस की स्पष्ट व्याख्या नहीं की गई है। गांधीजी के नाम को बार बार दोहराया गया है पर यह नहीं कहा गया है कि समाजवादी दल के समस्त कार्यक्रम का आधार अहिंसा पर स्थापित होगा। अहिंसा को सिद्धान्त के रूप में स्वीकार करने में क्या समाजवादी दल को कोई आपत्ति है? किस सीमा तक वह अहिंसा पर चलने के लिए तैयार होगा और किन परिस्थितियों में उसे त्याग देने के लिए अपने को विवश मानेगा।

सच तो यह है कि लक्ष्य और साधन दोनो के संबंध में समाजवादियों को अपने सिद्धान्तों का स्पष्ट प्रचार करते रहने की आवश्यकता है। इसका अर्थ यह होगा कि उन्हें अपनी काफी शक्तियां प्रचार के काम में लगानी होगी। प्रचार के साथ ही रचनात्मक कार्यक्रम भी उन्हें अपने हाथ में लेना होगा। इसके लिए मैं यह आवश्यक नहीं समझता कि उन्हें पार्लियामेन्टरी कार्यक्रम से अलग हो जाना चाहिये। यह सच है कि देश में जब तक रचनात्मक कार्यक्रम के द्वारा जनतंत्र की नींव नहीं डाल दी जाती तब तक समाजवाद की स्थापना असंभव है, पर कोई भी राजनैतिक दल राजनैतिक कार्यक्रम से अपने

को मजबूत नहीं बना सकता। समाजवादी दल के लिए स्थानीय, प्रांतीय और केन्द्रीय संस्थाओं व धारासभाओं के चुनावों में अपने अधिक से अधिक सदस्यों को भेजने के लिए प्रयत्नशील रहना पड़ेगा क्यों कि उसका अंतिम लक्ष्य तो धारासभाओं में अपना बहुमत बना कर शासन पर कब्जा कर लेना है। परंतु उसे अपनी बहुत अधिक शक्ति रचनात्मक कार्यक्रम में भी लगानी होगी। सच तो यह है कि उसका राजनैतिक कार्यक्रम रचनात्मक कार्यक्रम के अन्तर्गत और साधन के रूप में ही रहेगा। देश में जनतंत्रीय समाजवाद की स्थापना के लिए यह एक आवश्यक शर्त होगी। यह एक विवादास्पद प्रश्न हो सकता है कि आज जिस ढंग पर समाजवादी दल का संघटन है उसमें कहाँ तक उसके बड़े से बड़े नेताओं के लिए भी यह संभव होगा कि वे रचनात्मक कार्यक्रम को इतना महत्व दे सकें कि राजनैतिक कार्यक्रम उसका गौण अंग बन जाय। इसके लिए केवल सैद्धान्तिक विश्लेषण काफी नहीं हैं। समाज-सेवकों का एक ऐसा संगठन बना लेना आवश्यक होगा जिसके सदस्य पद और सत्ता के आकर्षण से अपने को मुक्त रखते हुए अपनी सामाजिक वृत्तियों को शुद्ध सामाजिक सेवा में लगा दें। कांग्रेस के ऊंचे से ऊंचे वर्ग में पद-लोलुपता जिस भयंकर रूप में बढ़ती जा रही है उसे देखते हुए विचारों में इस प्रकार की क्रान्ति की आवश्यकता बहुत बढ़ गई है। परंतु क्या समाजवादी दल अपनी अनेकों समस्याओं में उलझे हुए और उन्हें सुलझाने का प्रयत्न करते हुए अपनी समस्त सदिच्छाओं और कल्याणकारी भावनाओं के साथ भी इस नैतिक क्रान्ति के उत्तरदायित्व का भार सफलता पूर्वक उठा सकेगा?

अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद

समाजवादी आन्दोलन आज हिन्दुस्तान तक ही सीमित नहीं है वह संसार के कई देशों की प्रमुख प्रवृत्ति बन गया है। ब्रिटेन और उनके दो उपनिवेशों, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड में संपूर्ण शासन तंत्र समाजवादी दलों के नियंत्रण में है। स्कैंडिनेविया और पश्चिमी यूरोप के स्पेन और पुर्तगाल को छोड़ कर, सभी देशों में समाजवादियों का शासन में प्रमुख अथवा महत्वपूर्ण हाथ है। जापान का समाजवादी दल अन्य सभी राजनैतिक दलों की तुलना में अधिक सुसंगठित और व्यापक है, और एशिया के अन्य सभी देशों में भी समाजवाद एक प्रबल प्रवृत्ति के रूप में मौजूद है। यह सच है कि प्रत्येक देश का समाजवाद दूसरे देश के समाजवाद से भिन्न है, और अधिकांश देशों में तो समाजवादियों में आपस में ही काफी मतभेद है।[1] कई देशों

[1] इटली में कुछ समाजवादी प्रधान-मंत्री गैस्पेरी के पक्ष में थे और कुछ

ने समय समय पर समाजवाद को ईसाई-धर्म अथवा राष्ट्रीयता से संबद्ध करने का प्रयत्न भी किया —यद्यपि उसका परिणाम कभी अच्छा नहीं निकला। ब्रिटेन और महाद्वीप के देशों के समाजवाद का अन्तर तो स्पष्ट है ही। गौण बातों के संबंध में मतभेदों को मिटा कर कुछ मूल-सिद्धांतों के आधार पर क्या एक अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद का विकास नहीं किया जा सकता ? समाजवाद की यदि यह व्याख्या की जाए कि वह एक ऐसी नीति अथवा सिद्धांत है जिसका लक्ष्य एक केन्द्रीय जनतन्त्रीय शासन के तत्वावधान में, आज की तुलना में, अधिक अच्छे वितरण और उसके ही अन्तर्गत, अधिक अच्छे उत्पादन की व्यवस्था करना है, तो किसी भी समाजवादी को उसे मान लेने से इन्कार नहीं होगा। परन्तु अभी तक अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद के विकास की दिशा में कोई महत्त्वपूर्ण कदम नहीं उठाया गया है। पिछले दिनों स्विटज़रलैण्ड, वेल्जियम और ब्रिटेन में यूरोप के समाजवादियों की कुछ कान्फ्रेंसें हुई पर इनमें किसी अखिल-यूरोपीय समाजवादी संगठन की नींव भी नहीं डाली जा सकी। इसका कारण यही था कि दूसरे महायुद्ध के थपेड़ों से चकनाचूर और तीसरे महायुद्ध की संभावनाओं से आक्रांत, अमरीका और रूस के बीच बढ़ने वाली प्रत्येक दुर्भावना से प्रताड़ित यूरोप के देश आज संसार का किसी भी प्रकार का नेतृत्व अपने हाथ में ले पाने की स्थिति में नहीं हैं। यह निश्चित है कि ब्रिटेन की मज़दूर सरकार के हाथ में आज यदि एक टूटती हुई अर्थव्यवस्था और चकनाचूर होते हुए साम्राज्यवाद की अनेकों समस्याएँ न होतीं, और पूंजीवादी अमरीका के बढ़ते हुए प्रभुत्व का संकट न होता, तो वह निश्चित रूप से अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद का केन्द्र और नेता बन सकता था। मुझे पूरा विश्वास है कि यदि आज नेहरू-सरकार, जैसी कि नेहरू के प्रधान-मंत्रित्व में उससे अपेक्षा की जा सकती थी, समाजवाद के मार्ग पर चलती होती तो अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद के विकास और नेतृत्व का उत्तरदायित्व उस पर होता, और न केवल कॉमनवेल्थ की कान्फ्रेंसों में बल्कि सभी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में जवाहरलाल नेहरू आज की तुलना में कहीं अधिक प्रभावपूर्ण भाग ले सकते थे। आज के राजनैतिक और आर्थिक और बहुत से लोगों की दृष्टि में नैतिक सांस्कृतिक संकट से दुनियां को बचाने का भी यही रास्ता था। पर वैसी स्थिति न होते हुए भी आज के भारतीय समाजवादी दल के लिए यह आवश्यक है कि वह सभी देशों के समाजवादी आन्दोलनों से और विशेषकर

विरुद्ध। फ्रांस में समाजवादियों का आंतरिक मतभेद बड़ा तीव्र है। जापान में इसी मतभेद के कारण वहाँ के पहिले समाजवादी प्रधान-मंत्री को त्यागपत्र देना पड़ा।

एशिया के सभी समाजवादी दलों से, निकट के संपर्क स्थापित करे। राष्ट्रीयता की संकुचित सीमाओं को पार करके ही समाजवाद एक प्रखर अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति का रूप ले सकेगा।

: १० :

वैदेशिक नीति की समस्याएँ

पंद्रह अगस्त उन्नीस सौ सैंतालीस को मिलने वाली हमारी आजादी के पीछे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक लंबा घटना-चक्र है। इस आज़ादी के मिलने के अन्य प्रमुख कारण तो थे ही। हमारा राष्ट्रीय आंदोलन दिन बदिन इतना सशक्त होता जा रहा था कि अंग्रेजी शासन के लिए उसे कुचलना असंभव हो गया था, और उससे समझौता कर लेने के अलावा दूसरा विवेकपूर्ण मार्ग उसके सामने रह नहीं गया था। उधर, अंग्रेज़ों की आर्थिक दशा लगातार बिगड़ती जा रही थी और अब ऐसी स्थिति आ गई थी कि एक बड़े साम्राज्य का बोझ उठाना उनके लिए कठिन हो गया था। सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने बड़ी सचाई से यह मत व्यक्त किया कि इंग्लैण्ड के पास न तो इतने अफ़सर थे और न इतनी सैन्य शक्ति कि आने वाले वर्षों में वह हिन्दुस्तान पर अपना प्रभुत्व कायम रख पाता। प्रथम महायुद्ध ने ही ब्रिटेन की अर्थनीति पर एक प्रबल आघात किया था। इसी का परिणाम था कि ब्रिटेन को मिश्र, मध्य-पूर्व हिन्दुस्तान और प्रशान्त महासागर, सभी स्थलों पर थोड़े बहुत समझौते की नीति पर चलने पर विवश होना पड़ा था, परंतु दूसरे महायुद्ध ने तो उसकी अर्थनीति की रीढ़ की हड्डी को ही बिल्कुल तोड़ दिया और उसे ऐसी स्थिति में ही न रहने दिया कि वह किसी बड़े देश में, उसकी मर्जी के खिलाफ़, अपना साम्राज्य बनाए रख सके। हिन्दुस्तान की आजादी के पीछे, इस प्रकार जहाँ राष्ट्रीयता की बढ़ती हुई शक्ति, जिसकी अभिव्यक्ति १९४२ के आन्दोलन और १९४६ के हिन्दुस्तानी फौज के विक्षोभ और जहाजी बेड़े की बगावत में मिलती है, एक प्रमुख कारण थी, वहाँ दूसरी ओर ब्रिटेन की आन्तरिक कमजोरियों का भी बड़ा हाथ था। लेकिन मैं समझता हूँ कि इन दोनों कारणों से भी बड़ा कारण यह था कि लड़ाई के बाद दुनिया दो विरोधी गुटों में बँटती जा रही थी, उसमें ब्रिटेन के लिए यह आवश्यक हो गया था कि वह हिन्दुस्तान को रूस के खिलाफ़ और अपने और अमरीका के गुट में शामिल रखे। ब्रिटेन जानता था कि गुलाम हिन्दुस्तान कभी खुले दिल से उसे अपनी

सहानुभूति और सहायता नहीं देगा। वह यह भी जानता था कि एक प्रभावपूर्ण ढंग से और उदार हृदयता का एक बड़ा प्रदर्शन करके यदि वह हिन्दुस्तान को आज़ाद करता है तो इस देश की जनता अपने को उसका इतना कृतज्ञ मानेगी कि अपने प्रति किए गए उसके पुराने और काले कारनामों को भूल कर भी वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उसे अपना पूरा सहयोग दे सकेगी। मैं समझता हूँ कि देश के दो टुकड़े करने की नीति के पीछे भी अंग्रेज़ों की यही भावना काम कर रही थी कि पाकिस्तान तो राजनैतिक चेतना और आर्थिक विकास दोनों की दृष्टि से बहुत अधिक पिछड़ा हुआ होने के कारण, वैसे भी अपने को अंग्रेज़ी कॉमनवेल्थ से मुक्त करने में हिचकिचाएगा और जब तक पाकिस्तान कॉमनवेल्थ के साथ है तब तक, देश की एकता की भावना को बनाए रखने की दृष्टि से, और अन्य दूसरे कारणों से भी, हिन्दुस्तान भी आसानी से, कॉमनवेल्थ से बाहर जाने के लिए तैयार नहीं होगा। ब्रिटेन आज भरसक यह प्रयत्न कर रहा है कि पाकिस्तान व हिन्दुस्तान दोनों ही कॉमनवेल्थ का सदस्य बने रहने के लिए तैयार हो जाएँ।

हमारी वैदेशिक नीति की प्रमुख प्रवृत्तियां

इन परिस्थितियों में, देखना यह है कि, हमारी वैदेशिक नीति की रूपरेखा कैसी बनेगी। केन्द्र में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना होने के बाद से देश जिस मार्ग पर चल रहा है, उससे हमारी भावी राजनीति के संबंध में बहुत कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। पिछले दो वर्षों में पंडित जवाहरलाल नेहरु के नेतृत्व में एक ओर तो हमने एशियाई देशों से बड़े निकट के संपर्क स्थापित कर लिए हैं। मार्च १९४७ में दिल्ली में एशियायी सम्मेलन का आयोजन इस दिशा में एक बहुत बड़ा और सफल प्रयत्न था, और दूसरी ओर संसार की प्रमुख शक्तियों अमरीका रूस और ब्रिटेन से भी हमारे संबंध अच्छे ही बनते गए हैं। नज़दीक के देशों, पश्चिमी एशिया, चीन और दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों को और भी नजदीक लाते हुए हमने यह प्रयत्न किया है कि हम एशिया के बाहर के देशों से भी दूर न खिचें। जिन लोगों ने एशियायी सम्मेलन में भाग लिया था, या उसकी गति विधि को नज़दीक से अध्ययन करने का प्रयत्न किया था, वे जानते हैं कि वहाँ पर कितनी बड़ी कोशिश इस बात की की गई थी कि एशिया के बाहरी देशों और महाद्वीपों के प्रति किसी प्रकार की कटु भावना हमारे मन में उत्पन्न न हो सके। संक्षेप में हमारी नीति यह रही है कि हम संसार के सभी देशों से अच्छे संपर्क रखते हुए एशिया के देशों

से और भी निकट मैत्री के सूत्र में बँध सकें। इसी नीति का परिणाम यह था कि जब हॉलेण्ड ने हिन्देशिया पर आक्रमण किया तब हिन्देशिया के लोकतन्त्र के पक्ष में हमने अपनी आवाज़ बुलन्द की, और जब ब्रिटेन और अमरीका इस संबंध में हिचकिचा रहे थे, तब जवाहरलाल नेहरू ने लेक-सक्सेस में स्थित हिन्दुस्तान के राजदूत को यह आदेश दिया कि इस प्रश्न को वह सुरक्षा परिषद के सामने रखे। हिन्दुस्तान ने इस प्रकार, एशिया के नेतृत्व की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले ली है। बहुत संभव है कि कुछ समय के बाद एशिया में भी एक ऐसे सिद्धान्त का विकास हो जैसा अमरीका के संबंध में प्रेज़ीडेण्ट मुनरो ने प्रतिपादित किया था। यह आवाज़ तो अब भी सुनाई देने लगी है कि योरोपीय राष्ट्रों को एशिया में अपनी फौजें रखने का अधिकार नहीं होना चाहिए, और इसका नाम 'नेहरू सिद्धान्त' पड़ता जा रहा है। यह ठीक है कि स्वाधीनता प्राप्त होने के बाद हमारे देश में कुछ ऐसी आन्तरिक घटनाएँ हुईं कि हमें न केवल उनमें बहुत अधिक व्यस्त रहना पड़ा, उन्होंने हमारी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा को भी गिराया, पर यह निश्चित है कि ज्यों ज्यों हमारी शक्ति बढ़ती जाएगी हम 'नेहरू-सिद्धान्त' की भावना के अनुसार काम करेंगे और 'नेहरू-सिद्धान्त' के पूरी तौर से अमल में आने का अर्थ यह होगा कि एशियायी जमीन पर यूरोप का कोई देश अपना राजनैतिक या आर्थिक प्रभुत्व बनाए नहीं रख सकेगा।

ब्रिटेन और भारत के आपसी संबंध

जहाँ एक ओर एशियायी देशों के संगठन की बात हो रही है और यह आशा प्रगट की जा रही है कि हिन्दुस्तान इस दिशा में नेतृत्व अपने हाथ में ले सकेगा, वहीं हम यह भी देख रहे हैं कि ब्रिटेन के साथ हिन्दुस्तान के संबंध निकटतम बनते जा रहे हैं। समझौते के द्वारा सत्ता के परिवर्तन का अर्थ यह हुआ है कि हमारे मन में अंग्रेज़ों के प्रति जो कड़वाहट थी वह अब मिटती जा रही है। १५ अगस्त १९४७ के ऐतिहासिक अवसर पर और उसके बाद दिल्ली और बंबई की जनता ने लार्ड माउन्टबैटन का जैसा स्वागत किया वह इस बात का प्रमाण है। स्वतन्त्र भारत के प्रथम अर्थ मन्त्री श्री षण्मुखम् चेट्टी ने घोषणा की कि ब्रिटेन की नई अर्थ नीति में हिन्दुस्तान उसके साथ कंधे से कंधा भिड़ा कर खड़ा रहेगा। बाद में इस प्रकार की घोषणाएँ करना संभवतः बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं समझा गया, पर यह एक निर्संदिग्ध तथ्य है कि स्वाधीनता के प्रथम अठारह महीनों में ब्रिटेन से हमारे निकटतम आर्थिक संपर्क रहे हैं।

अक्टूबर १९४८ में लन्दन में होने वाले अंग्रेज़ी कॉमनवेल्थ के प्रधान-मंत्रियों के सम्मेलन में उसके अन्य उपनिवेश-सदस्यों के साथ हमारे प्रधान-मंत्री का व्यवहार न केवल शिष्ट और सहृदयतापूर्ण पर मैत्री और स्नेह की भावनाओं से भरा हुआ भी रहा है, और उन्होंने दर्जनों सभाओं में, बार बार, बड़े मधुर शब्दों में उन नए और सौहार्द्रपूर्ण संबंधों की चर्चा की है, जो धीरे धीरे हमारे और ब्रिटेन के बीच में दृढ़ होते जा रहे हैं। यह ठीक है कि दिन पर दिन अधिक गहरे बनते जाने वाले इन संपर्कों की नीली, निश्चल सतह को कभी कभी चर्चिल, बेवल या मेसर्वी आदि की अविवेकपूर्ण वक्तृताएँ अथवा पार्लियामेन्ट के किसी अन्य कट्टरपंथी सदस्य के मूर्खतापूर्ण प्रश्न और हमारे मन में उसकी प्रतिक्रिया के रूप में उठने वाली क्षोभ की लहरें, कंपायमान बना देती हैं, और कभी कभी हमारे कुछ बड़े अधिकारी और नेता भी 'उनका 'करारा' प्रत्युत्तर देने के लोभ का संवरण नहीं कर पाते, पर बहुत जल्दी ब्रिटेन के जिम्मेदार व्यक्तियों द्वारा प्रगट किये जाने वाले विचार और हमारे प्रति उनका स्वस्थ दृष्टिकोण हमारी सद्भावना को पुनः प्राप्त करनें में समर्थ होता है।

इन बातों को देखते हुए और साथ ही यह भी देखते हुए कि हमारे देश के औद्योगिक विकास के लिए ब्रिटेन और अमरीका की पूंजी, मशीनरी और औद्योगिक प्रतिभा की हमें बड़ी आवश्यकता पड़ेगी, यह स्पष्ट दिखाई देता है कि आने वाले कुछ वर्षों में ब्रिटेन के साथ हमारे संबंध अच्छे रहेंगे। जून १९४८ के बाद हमें इस बात की स्वतन्त्रता थी कि हम अंग्रेज़ी कॉमनवेल्थ से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लें, पर हमने ऐसा नहीं किया। एक समय था जब यह बात लगभग निर्विवाद रूप से मान ली गई थी कि हिन्दुस्तान का स्थान कॉमनवेल्थ में नहीं है, पर अब यह कहा जाने लगा है कि, एक विशुद्ध लोकतंत्रीय विधान के होते हुए भी, हमें कॉमनवेल्थ से किसी न किसी प्रकार के संबंध अवश्य रखने चाहिए। इस विचार-धारा के मूल में कुछ तो ऐतिहासिक परंपराएँ हैं और कुछ व्यावहारिक तथ्य। हमारा समस्त आधुनिक राजनैतिक विकास अंग्रेजी विचार-धाराओं के अनुसार हुआ है। स्वाधीनता, समानता और जनतन्त्र आदि की हमारी कल्पनाएँ ब्रिटेन से ही हमने प्राप्त की हैं। पिछले अस्सी वर्षों में ब्रिटेन के ही ढंग की शासन-पद्धति का विकास हम अपने देश में करने के प्रयत्नों में लगे रहे हैं। राजनीति के क्षेत्र में हमारा मानसिक वातावरण बहुत कुछ ब्रिटेन के मानसिक वातावरण के अनुरूप ही बनता गया है। आज भी हमारे और ब्रिटेन के स्वार्थ एक दूसरे से बिल्कुल असंबद्ध नहीं है। हिन्द और प्रशान्त महासागरों में शांति और सुव्यवस्था के बने रहने के लिए

हम भी उतने ही चिन्तित हैं जितना ब्रिटेन। मलाया और स्याम की अराजकता यदि ब्रिटेन के हितों के विरुद्ध जाती है तो वह हमारे मन में भी अपने सीमा-प्रान्तों की सुरक्षा के संबंध में चिन्ता उत्पन्न करती है। मध्य-पूर्व में ब्रिटेन यदि गृह-युद्ध के किसी ख़तरे को टालना चाहता है तो हम भी जानते हैं कि इस प्रकार की कोई घटना हमारे व्यापार और सुरक्षा संबंधी स्वार्थों को नुकसान पहुँचाए बिना नहीं रह सकती। इसके अतिरिक्त, जो लोग हिन्दुस्तान के कॉमनवेल्थ का एक अंग बने रहने में विश्वास रखते हैं उनकी एक दलील यह भी है कि यदि पाकिस्तान और हिन्दुस्तान दोनों ही कॉमनवेल्थ में रहे तो रक्षा वैदेशिक नीति और यातायात-संबंधी प्रश्नों पर उनका एक दूसरे के निकट-सपर्क में आ जाना स्वाभाविक हो जायगा, और इस प्रकार संभवतः उस आने वाले सोनहले दिन की आधार-शिला रक्खी जा सकेगी जब एक ऐसे देश के, जिसे ईश्वर और प्रकृति ने एक बनाया है, कृत्रिम रूप से निर्माण किए जाने वाले दो भाग फिर से मिल सकेंगे। मैं समझता हूँ कि हिन्दुस्तान के अँग्रेजी कॉमनवेल्थ में बने रहने का आन्दोलन और भी प्रबल होगा। इसमें सन्देह नहीं कि जहाँ तक वस्तुस्थिति का संबंध है, औपनिवेशिक स्वराज्य और पूर्ण स्वाधीनता में कोई अन्तर नहीं है। कहा जाता है कि औपनिवेशिक स्वराज्य में पूर्ण स्वाधीनता के सभी लाभ मौजूद हैं और उसकी हानियों से वह मुक्त है। अँग्रेजी कॉमनवेल्थ का सदस्य बने रहने से हमें अनायास ही एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का लाभ भी मिल जाता है जिसके साथ इतिहास और नियति ने पिछले डेढ़ सौ वर्षों से हमें संबद्ध कर रखा है। यह तो निश्चित है कि आज की दुनियां में कोई राष्ट्र, चाहे वह कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो संसार की राजनीति से अलग थलग नहीं रह सकता। जब किसी अन्तर्राष्ट्रीय समूह में हमें शामिल होना ही है तो अंग्रेजी कॉमनवेल्थ के साथ रहने में हमें एतराज क्यों हो? ये सब ऐसे तर्क हैं जिन्हें आसानी से काटा नहीं जा सकता।

ये दो प्रमुख विचार-धाराएँ हैं जो आने वाले युग की हमारी वैदेशिक नीति पर अपना जबर्दस्त प्रभाव डालेंगी। एक ओर तो हम एशियायी देशों का सामीप्य और उनकी मैत्री प्राप्त करना चाहते हैं और चाहते हैं कि उनके भविष्य के निर्माण में हमारा भी प्रमुख हाथ रहे और दूसरी ओर ब्रिटेन के साथ हम अपने सम्बन्धों को अच्छे बनाए रखना चाहते हैं। अब हमें देखना यह है कि इन दोनों विचार-धाराओं में पारस्परिक वैषम्य तो नहीं है, इस सम्बन्ध में सोचने पर पहिला विचार तो हमारे मन में यही आता है कि इन दोनों विचार-धाराओं में सामंजस्य आसानी से स्थापित किया जा सकता है। अपनी एशियायी नीति में अंग्रेजी कामनवेल्थ के उपनिवेशों, विशेष कर आस्ट्रे-

लिया से हमें सहारा ही मिलेगा। यह एक विचारणीय तथ्य है कि हिन्देशिया के मामले में सुरक्षा-परिषद् में आस्ट्रेलिया और हिन्दुस्तान दोनों ने मिलकर हिन्देशिया के प्रजातन्त्र का साथ दिया। अंग्रेजी कामनवेल्थ का सदस्य बने रहने में एक यही खतरा हो सकता है कि हम अपने देश को ब्रिटेन की वैदेशिक नीति के साथ इतना अधिक संवद्ध कर दें कि अपने लिए किसी स्वतन्त्र वैदेशिक नीति का निर्माण करना हमारे लिए कठिन हो जाए। संपूर्ण स्वाधीनता के पक्ष में जो सबसे बड़ी बात कही जा सकती है वह यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में हमें अपना एक स्वतंत्र अस्तित्व बनाना है। जब तक हम अंग्रेज़ी कॉमनवेल्थ में रहेंगे, ऐसा नहीं कर सकेंगे। कुछ नैतिक बन्धन ऐसे हैं जिन्हें शायद हम ढीले न कर सकें। पूर्ण स्वाधीनता सबसे पहिले तो एक प्रतिष्ठा का प्रश्न है, और यह 'प्रतिष्ठा' हमारे जीवन में, वह राष्ट्रीय जीवन हो या व्यक्तिगत, एक बहुत बड़ी और प्रेरक शक्ति है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। इस पूर्ण स्वाधीनता के दर्जे को प्राप्त किए बिना हम किसी स्वतन्त्र वैदेशिक नीति का निर्माण नहीं कर सकेंगे।

मैं समझता हूँ कि एशियायी प्रश्न को लेकर ब्रिटेन से हमारा कोई बड़ा संघर्ष नहीं होगा। मैं यह नहीं कहता कि अपनी एशियायी नीति में हमें ब्रिटेन का हार्दिक समर्थन प्राप्त हो सकेगा। इस संबंध में ब्रिटेन की भावनाओं और हमारी आकांक्षाओं में एक सीमा तक विरोध तो है ही। ब्रिटेन पश्चिमी यूरोप का एक देश है। युद्ध के अन्तिम दिनों में चर्चिल के नेतृत्व में उसने पश्चिमी यूरोप के देशों का एक गुट बनाने का प्रयत्न किया था। मज़दूर दल की सरकार ने भी इसी नीति पर चलना चाहा, पर कुछ समय के लिए उसे अपनी इस नीति को स्थगित रखना पड़ा, क्योंकि उसने देखा कि पश्चिमी यूरोप के संगठन के उसके प्रयत्नों को रूस और अमरीका दोनों ही देशों के द्वारा संदेह की दृष्टि से देखा जा रहा है, और वैदेशिक नीति में उसका प्रारंभिक लक्ष्य दोनों में से किसी पर भी निर्भर न रहते हुए दोनों ही के साथ अच्छे संबंध बना लेना था। अपने इस प्रयत्न में उसे कुछ आन्तरिक विरोधों का सामना भी करना पड़ रहा था। फ्रांस आसानी से ब्रिटेन के पीछे पीछे चलने के लिए तैयार नहीं हो सकता था, और नार्वे, बेल्जियम आदि देशों के नेता यह धारणा नहीं बनने देना चाहते थे कि उनके संगठन का उद्देश्य किसी भी रूप में रूस के विरुद्ध था, और रूस से भी निकटतम संबंध बनाए रखने के लिए वे उत्सुक थे। इन सब कारणों से पश्चिमी यूरोप के संगठन के प्रश्न को कुछ दिनों के लिए उठा कर रख ही देना पड़ा। पर, यूरोप की तेज़ी से बदलती हुई राजनैतिक परिस्थितियों ने एक बार फिर इस विचार को नया जीवन-दान दिया।

एक ओर तो पूर्वी यूरोप के देश तेज़ी से रूस के प्रभाव-क्षेत्र में ही नहीं उसकी राजनैतिक सत्ता के अन्तर्गत आते जा रहे थे, और दूसरी ओर ब्रिटेन, फ्रांस और पश्चिमी यूरोप के अन्य सभी देशों का अर्थ-तंत्र उतनी तेज़ी से टूटता जा रहा था। तीसरी ओर अमरीका की आर्थिक और राजनैतिक आवश्यकताएँ थीं। इन सबकी अभिव्यक्ति मार्शल-योजना में हुई। मार्शल-योजना का सीधा उद्देश्य यूरोप के आर्थिक संकट में पड़े हुए देशों को सहायता देना और उन्हें अपने पैरों पर खड़े करना था, पर यह तो सहज ही अनुमान किया जा सकता था कि उसका अप्रत्यक्ष प्रभाव इन देशों को अमरीका के राजनैतिक संरक्षण में लाने की दिशा में भी पड़ेगा। जिन सोलह यूरोपीय देशों ने अमरीका से इस प्रकार की सहायता लेना मंजूर किया वे स्वभावतः ही अमरीका के प्रभाव-क्षेत्र में आ गए, और जिन अन्य देशों ने इस सहायता से इंकार कर दिया उन्होंने उतने ही निश्चित रूप से अपने को रूस के प्रभाव-क्षेत्र में पाया। यूरोप इस प्रकार दो हिस्सों में बँट गया। ब्रिटेन स्पष्ट रूप से अमरीका पर अधिकाधिक निर्भर होता जा रहा था। इस बदले हुए वातावरण में पश्चिमी यूरोप के किसी संगठन की अँग्रेजी योजना को कम से कम अमरीका संदेह की दृष्टि से नहीं देख सकता था, और इस प्रकार ब्रिटेन की मजदूर दल की सरकार के विदेश-मंत्री श्री बेविन ने एक बार फिर पश्चिमी यूरोप के देशों के संगठन की इस योजना को अपने हाथ में लिया।

पश्चिमी यूरोप के किसी संगठन की चर्चा वातावरण में न भी होती तो भी ब्रिटेन के मन में फ्रांस और हांलेण्ड जैसे देशों के प्रति विशेष मैत्री का भाव तो रहता ही। हिन्देशिया के मामले में ब्रिटेन की सहानुभूति एशिया के इस नए उदीयमान प्रजातंत्र के साथ कभी उतनी नहीं रही जितनी अपने साम्राज्य को बनाये रखने के प्रयत्नों में लगे हुए हॉलैण्ड के साथ पश्चिमी यूरोप के देशों का संपर्क अधिक दृढ़ हो जाने के बाद अब तो यह और भी अनिवार्य हो गया है कि ब्रिटेन हिन्दुस्तान की एशियायी आवश्यकताओं से अधिक ध्यान इन देशों की मैत्री को दे। अपने इन पड़ोसी देशों के प्रति, जो अपने समाजवादी लक्ष्य और साम्राज्यवादी आकांक्षाओं में सामंजस्य स्थापित करने में ब्रिटेन की तुलना में बहुत कम सफल हुए हैं, ब्रिटेन के सहज झुकाव के कारण हमारे मन

---

१ सुरक्षा परिषद में रूस की ओर से जब यह प्रस्ताव रखा गया कि इस बात की जांच के लिए कि डच सरकार सुरक्षा परिषद के लड़ाई रोक देने के हुक्म पर कहां तक चल रही है उसके सदस्यों का एक कमीशन नियुक्त कर दिया जावे तो फ्रांस ने अपने विशेषाधिकार (Veto) का प्रयोग किया और ब्रिटेन ने हिन्देशिया का साथ न देकर चुप्पी साध ली!

में यह आशंका हो सकती है कि हिन्दुस्तान ने अपने सामने एशियायी देशों की सर्वांगीण मुक्ति का जो लक्ष्य रखा है वह संभवतः ब्रिटेन को न रुचे और इसी प्रश्न पर हमारे और ब्रिटेन के बीच एक तीव्र मतभेद बढ़ चले। इस संबंध में मेरा अपना ख्याल यह है कि पश्चिमी यूरोप के देशों से निकट के संपर्क स्थापित करने में प्रयत्नशील रहते हुए भी ब्रिटेन आज इस स्थिति में नहीं है कि वह हिन्दुस्तान से अपने संबंधों को बिगाड़ ले। इस बात को लेकर ब्रिटेन और हिन्दुस्तान के बीच मनमुटाव हो सकता है, कुछ तनाव भी हो सकता है पर बिगाड़ नहीं होगा। ब्रिटेन इस दिशा में अपनी इच्छाओं पर कुछ नियंत्रण रख कर भी हिन्दुस्तान की एशियायी नीति के किसी भी विरोध में अपने को तटस्थ ही रखेगा।

लेकिन असली प्रश्न तो यह है कि ब्रिटेन की वैदेशिक नीति में हिन्दुस्तान कहाँ तक उसका साथ दे सकेगा? ब्रिटेन में आज यदि अनुदार दल का शासन होता तो वह सर्वथा अमरीका के इशारों पर चलता हुआ नजर आता। मजदूर दल के शक्ति ग्रहण करने का परिणाम यह हुआ कि वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपने लिए एक स्वतन्त्र स्थान बना सका है। मजदूर दल ने इस बात की बहुत कोशिश की कि वह रूस और अमरीका दोनों ही से अपने संबंध अच्छे बनाए रख सके, परंतु इसमें उसे निरंतर निराशा का ही सामना करना पड़ा है। रूस की सरकार एक अनुदार ब्रिटेन और समाजवादी ब्रिटेन में कोई भेद मानने के लिए तैयार नहीं है। रूस तो उस प्रत्येक देश को अविश्वास की दृष्टि से देखता आया है जिसने संपूर्ण रूप से उसका नेतृत्व न मान लिया हो या उसकी अर्थनीति को न स्वीकार कर लिया हो। पिछले दिनों रूस की ओर ब्रिटेन ने जब कभी मैत्री का हाथ बढ़ाया, रूस ने उसे बुरी तरह झटक दिया। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि रूस के प्रति ब्रिटेन की सद्भावना व् विश्वास लगातार कम होते गए हैं और ज्यों ज्यों ब्रिटेन और रूस में अविश्वास की भावना बढ़ती गई है; ब्रिटेन ने यह जरूरी समझा है कि वह अमरीका का अधिक से अधिक सहयोग प्राप्त करे। अन्तर्राष्ट्रीय गुट बन्दी में ब्रिटेन को आज हम अमरीका के शिविर में पाते हैं। यह भी स्पष्ट है कि दुनियाँ आज दो शक्ति-केन्द्रों में बँटती जा रही है। एक का संचालन मॉस्को से होता है और दूसरे का नियंत्रण वॉशिंगटन के शासकों के हाथ में है। हिन्दुस्तान को यह तय करना होगा कि वह उस आने वाले संघर्ष में, जो रूस और अमरीका में होगा, किस ओर झुकता है। ब्रिटेन के हम जितना निकट खिंचेंगे, अनिवार्य रूप से अमरीका के प्रभाव में भी हम उतना ही अधिक आते जाएँगे। ब्रिटेन और अमरीका से इतने निकट के संबंध होते हुए क्या हम यह कल्पना करें कि हिंदु-

स्तान इन देशों का पक्ष लेकर रूस के ख़िलाफ़ लड़ेगा ? मेरा विश्वास है कि रूस और अमरीका का संघर्ष अनिवार्य होते हुए भी अभी बहुत निकट नहीं है, और हिन्दुस्तान के पास इतना समय है कि वह अपने अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के बारे में सुनिश्चित और दृढ़ नीति का निर्माण कर सके। लेकिन घटनाओं का चक्र तो किसी के निर्णय की प्रतीक्षा में रुका नहीं रहता, और इसीलिए हिन्दुस्तान को भी इस संबंध में जल्दी ही अपना निश्चय बना लेना है। यह एक ठोस वास्तविकता है कि हिन्दुस्तान अपने लिए जो भी अन्तर्राष्ट्रीय नीति बनाए उसकी आज की एशियायी नीति पर उसका आधार होना चाहिए।

एशिया की एकता व संगठन का महत्व

एशिया की एकता और संगठन पर आने वाले वर्षों की विश्व-शान्ति निर्भर रहेगी। एशिया यदि सगठित हो तो बड़े राष्ट्रों में आपसी संघर्ष के बहुत से अवसर अपने आप ही कम हो जाएँगे। अमरीका और रूस में अपने अपने प्रभाव क्षेत्रों को बढ़ाते जाने की जो होड़ लगी हुई है एक संगठित एशिया की दुर्भेद्य दीवारों से टकरा कर वह नष्ट हो जायगी, और यदि वे सीमाएँ दुर्भेद्य नहीं है, यदि वे निशक्त हैं, तो यह निश्चित है कि अमरीका और रूस के बीच छिड़ने वाला आगामी महायुद्ध एशिया की जमीन, एशिया के समुद्रों और एशिया के आसमान पर लड़ा जाएगा, और उसका परिणाम यह होगा कि इस आगे बढ़ते हुए महाद्वीप की प्रगति रुक जाएगी। अपनी रक्षा व अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति दोनों ही की दृष्टि से यह आवश्यक है कि हिन्दुस्तान ने पिछले एक साल में एशिया के संबंध में जो नीति बनाली है उस पर मजबूती के साथ चलता रहे। आज की परिस्थितियों का यह तकाजा है कि हिन्दुस्तान, बिना किसी भेदभाव के, सभी एशियायी देशों से अपने संबंध निकटतम बनाता जाए और इन सभी देशों से एतिहासिक दृष्टि से बड़े पुराने सबंध होने से उसे अपने इस काम में सहायता ही मिलेगी।

इन देशों में चीन सबसे बड़ा और सबसे पुराना देश है। चीन के साथ हमारे संबंध भी बड़े पुराने हैं। इन संबंधों का आधार सदा से, राजनैतिक प्रतिद्वन्द्विता नहीं सांस्कृतिक आदान-प्रदान रहा है। जब से अशोक और उप-गुप्त के भेजे हुए बौद्ध भिक्षुओं ने चीन में जाकर बौद्ध धर्म का प्रचार किया तभी से चीन के साथ हमारे संबंध बड़े मधुर रहे हैं। जहां एक ओर हमारे यहां से बौद्ध प्रचारक लगातार चीन जाते रहे हैं वहां चीन ने भी फ़ाहियान और हुएनसांग जैसे विद्वानों को हमारे यहां भेजा। आधुनिक काल

में महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर, महात्मा गांधी, पं० जवाहरलाल नेहरु आदि ने इन संबंधों को फिर से ताजा किया, और चीन की ओर से मार्शल और मैडम च्यांगकाईशेक व अन्य कई व्यक्तियों ने हमारे देश के प्रति चीन की सद्भावनाओं की समय समय पर अभिव्यक्ति की। जापान ने जब चीन पर आक्रमण किया तब हमारी समस्त सहानुभूति चीन के साथ थी, और १९४२ के आंदोलन के अवसर पर अन्तर्राष्ट्रीय लोकमत को हमारे पक्ष में लाने का बहुत कुछ श्रेय चीन को है। चीन के साथ अपने इस ऐतिहासिक संबंध को हम भूल नहीं सकते, और आज तो हमारी और चीन की समस्याएँ बहुत कुछ मिलती जुलती हैं और दोनों मिलकर उन्हें अधिक आसानी से सुलझा सकते हैं। चीन को कमजोर रहने देना और उसे अमरीका और रूस की आर्थिक और राजनैतिक प्रतिद्वन्द्विता का अखाड़ा बन जाने देना हमारे लिए बड़ा खतरनाक सिद्ध हो सकता है। आज एक ओर तो चीन को हमारी सहायता की आवश्यकता है और दूसरी ओर अपनी एशियायी और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के समर्थन की हम चीन से अपेक्षा कर सकते हैं।

चीन से हमारे जितने निकट के संबंध हैं उससे भी अधिक घनिष्टता के संबंध दक्षिण पूर्वी एशिया के देशों से हैं। यह वह प्रदेश है जिसे एक बार हमने अपनी संस्कृति के पोषक तत्त्वों से अनुप्राणित किया था। आज भी वहाँ के मंदिरों और प्रासादों में हमारे देवताओं की मूर्त्तियाँ और हमारे महाकाव्यों के दृश्यों का चित्रण मिलता है। इस प्रदेश से हमारे व्यापारिक संबंध भी उतने ही पुराने हैं। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में जब हम स्वयं राजनैतिक और आर्थिक दृष्टियों से अधःपतित थे, अंग्रेज़ी, फ्रांसीसी और डच साम्राज्यवादों ने मलाया, हिन्द चीन और हिन्देशिया आदि देशों को अपने शिकंजे में जकड़ लिया। पिछले कुछ वर्षों से प्रायः इन सभी देशों में स्वाधीनता के आंदोलन उठ खड़े हुए हैं, और उनमें एक बड़ी सीमा तक सफ़लता भी मिली है, परंतु आज भी इन देशों को पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त नहीं हुई है, और हिन्देशिया में तो इस आज़ादी के लिए दिन प्रति दिन बलिदान दिया जा रहा है। इन देशों को पूर्ण स्वाधीन बनाने में हमें सक्रिय सहायता देनी चाहिए। आज तो सभी पड़ौसी देशों के स्वार्थ एक दूसरे से मिले हुए हैं। दक्षिण-पूर्वी एशिया में जब तक किसी भी यूरोपीय देश का एक भी सिपाही मौजूद है तब तक एशिया के किसी भी देश की आज़ादी को पूर्ण सुरक्षित नहीं माना जा सकता। दक्षिण पूर्वी एशिया के राजनैतिक भविष्य के साथ हमारा अपना भविष्य गुंथा हुआ है।

और, यदि दक्षिण-पूर्वी एशिया की राजनीति के प्रति हम उदासीन नहीं रह

सकते तो मध्यपूर्व अथवा पश्चिमी एशिया के देशों की राजनीति के प्रति तो हमें और भी सतर्क रहना है। आज मोरक्को से लेकर ईरान की खाड़ी तक समस्त अरब देशों में सामान्य अरब संस्कृति का आधार लेकर एक नई सांस्कृतिक चेतना के व्यापक चिन्ह दिखाई देते हैं। अरब देशों में एकता और संगठन की भावना बढ़ती जा रही है। यह निश्चित है कि इस भावना के पीछे अधिक राजनैतिक बल नहीं है। यह भी निश्चित है कि उसके पीछे जो भी राजनैतिक बल है उसे ब्रिटेन और अमरीका का समर्थन मिल रहा है; और उसका एक बड़ा कारण यह है कि ब्रिटेन और अमरीका इन देशों को रूस के बढ़ते हुए प्रभाव से मुक्त रखना चाहते हैं, और दूसरा बड़ा कारण यह है कि ब्रिटेन और अमरीका उन्हें अपने आर्थिक प्रभाव से मुक्त करना नहीं चाहते।[1] पश्चिमी एशिया के देश, इस प्रकार, अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों का एक अखाड़ा बन गए हैं। ईरान के प्रश्न को लेकर जब रूस और प्रजातन्त्रीय देशों में सुरक्षा-परिषद् में एक बड़ा विरोध उठ खड़ा हुआ था तब उसका कारण केवल यही नहीं था कि ये देश ईरान की तेल की खानों को संपूर्णत: रूस के हाथों में जाने देना नहीं चाहते थे, बल्कि यह भी था कि वे उसे रूस के साम्यवाद के प्रभाव से मुक्त रखना चाहते थे। इसलिए पश्चिमी एशिया की राजनैतिक गतिविधि के संबंध में भी हमें सतर्क रहना पड़ेगा। पश्चिमी एशिया से हमारे ऐतिहासिक सम्बन्ध भी बड़े पुराने हैं। लगभग एक हज़ार वर्षों से हम अरब देशों व ईरान की संस्कृति से निकटतम संपर्कों में बँधे रहे हैं। इन देशों के धर्म, वास्तुकला, चित्र-कला, संगीत और साहित्य का हमारे जीवन पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है। आज जिसे हम हिन्दुस्तानी संस्कृति के नाम से पुकारते हैं उस पर भारतीय तत्त्वों का जितना प्रभाव रहा है शायद उतना ही बड़ा प्रभाव इस्लामी तत्त्वों का भी रहा है। मुसलमान देशों से आज भी हमें निकटतम संबंध बनाए रखना

---

१ रूस के बढ़ते हुए प्रभाव का अनुमान इससे किया जा सकता है कि आज अरब देशों में कम्यूनिस्ट और उनके क्रियाशील साथियों की संख्या १ लाख २६ हजार से अधिक है, जिसमें से ५५ हजार ईरान में, ३० हजार लेबनान व २३ हज़ार सीरिया में हैं। विभिन्न मज़दूर संघों में संगठित उन व्यक्तियों की संख्या, जो सीधे कम्यूनिस्ट प्रभाव और नियंत्रण में हैं, इनके अतिरिक्त है। उदाहरण के लिए मिश्र में कम्यूनिस्टों व उनके क्रियाशील साथियों की संख्या ७५०० होते हुए भी उन मजदूरों की संख्या जो इस प्रकार की संस्थाओं से संबद्ध हैं, १ लाख पचास हजार है। ईरान में ब्रिटेन और ईरान की मिली जुली तेल की कम्पनी में काम करने वाले ६० हजार मज़दूरों में से ९० प्रतिशत इस प्रकार के संघों के सदस्य हैं जिन पर कम्यूनिस्टों का सीधा प्रभाव है।

है। सच तो यह है कि पश्चिमी एशिया के ये मुसलमान देश हमारे बचाव की पहिली श्रेणी हैं। उनमें यदि अराजकता रही या किसी साम्राज्यवादी देश का स्वार्थपूर्ण हस्तक्षेप रहा तो उसका प्रभाव हमारी राजनीति पर पड़ना अवश्यभावी होगा। इसलिए हमारे लिए यह आवश्यक होगा कि इन देशों में एकता और संगठन और राजनैतिक आज़ादी और आर्थिक स्वावलंबन के जितने भी प्रयत्न किए जाएँ हम उन सबका समर्थन करें।

एशिया के नक़्शे पर जब हम नज़र डालते हैं तो हमें दिखाई देता है कि हिन्दुस्तान एशिया का भौगोलिक केन्द्र है, और वह चीन, दक्षिण-पूर्वी एशिया और पश्चिमी एशिया के सभी देशों के ज़मीन, पानी और हवा के यातायातों का भी केन्द्र है। एशिया की जो दो बड़ी संस्कृतियां हैं, हिन्दू-बौद्ध और इस्लामी, वे दोनों ही हमारी इस भूमि पर एक दूसरे में अविच्छिन्न रूप से घुलमिल गई हैं। इन्हीं भौगोलिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का यह परिणाम है कि राजनैतिक स्वाधीनता के सिंहद्वार में प्रवेश करने के साथ ही यह देश एशिया भर की राजनीति का केन्द्र भी बन गया है। हमें अपनी इस जिम्मेदारी को समझ लेना और अच्छी तरह निभाना है।

पाकिस्तान और हमारी वैदेशिक नीति

पाकिस्तान के बन जाने का हमारी वैदेशिक नीति पर क्या प्रभाव पड़ेगा? हिन्दुस्तान के बँटवारे और उसकी दोनों ओर की सीमाओं पर सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण एक स्वतंत्र राज्य के बन जाने से स्पष्टतः हमारे रक्षा के प्रश्न ने एक गंभीर रूप ले लिया है। इसमें तो शक नहीं कि देश के बँटवारे ने युद्ध की दृष्टि से हमारी स्थिति को अधिक संकटमय बना दिया है, परन्तु स्थिति उतनी भीषण नहीं जितनी दिखाई देती है। सौ वर्ष पहिले के इतिहास पर दृष्टि डालें तो हम देखेंगे कि हमारे देश की सीमाएँ उस समय भी लगभग वैसी ही थीं जैसी आज हैं बल्कि इससे भी खराब, क्योंकि तब तक अंग्रेज़ी राज्य सतलज के पार नहीं गया था, और आज तो हमारी सीमाएँ रावी का स्पर्श कर रहीं हैं। सच तो यह है कि जब हम किसी देश की बचाव की समस्या पर विचार करते हैं तो उसकी सीमाओं के प्रश्न पर हमें बड़े व्यापक रूप में सोचना होता है। यह सुरक्षा-सम्बन्धी आवश्यकताओं का ही तकाजा है कि आज हम अमरीका को क्यूराइल द्वीपों और रूस को ईरान की राजनीति में दिलचस्पी लेते हुए पाते हैं। इसी प्रकार हिन्दुस्तान के बचाव की सीमाओं में ईरान की खाड़ी, इराक़ और अफ़ग़ानिस्तान आ जाते हैं। हिन्दुस्तान के दो हिस्सों में

बँट जाने का परिणाम यही तो होगा न कि इन देशों की संख्या में अब एक और देश, पाकिस्तान, को भी शामिल करना होगा ? मैं समझता हूँ कि पाकिस्तान के बन जाने से हमारी सैन्य-शक्ति को भी बहुत बड़ा धक्का नहीं लगेगा। यह सच है कि सीमा-प्रांत और पश्चिमी पंजाब की लड़ाकू जातियाँ हमारे साथ नहीं होंगी, पर जाट, सिख, डोंगरा, राजपूत और मराठे सैनिक अब भी हमारी सेनाओं में रहेंगे। दो राष्ट्रों के सिद्धांत ने हमारे संगठन में जो कमजोरी ला दी थी वह भी अब हमारे सामने नहीं रहेगी। देश की समस्त सेना एक अविभाज्य राष्ट्रीयता की प्रेरणा से अनुप्राणित होगी। हमारे देश के आर्थिक और औद्योगिक साधनों में तो नाममात्र की ही कमी हुई है। हवाई ताक़त की दृष्टि से हिन्दुस्तान आज भी एशिया का केन्द्र और एक बड़ी ताक़त है। हमारी समुद्री ताकत भी किसी प्रकार कम नहीं हुई है। मैं समझता हूँ कि पाकिस्तान के बन जाने के बावजूद भी हमारे पास इतने अधिक और बड़े साधन हैं कि हम जल्दी ही संसार की बड़ी शक्तियों की श्रेणी में आ सकेंगे।

पाकिस्तान से हमारे सम्बन्धों का तात्विक विश्लेषण

परंतु हमारे इस निकटतम पड़ौसी पाकिस्तान से हमारे सम्बन्ध कैसे रहेंगे ? मैं समझता हूँ कि यह संबंध हिन्दुस्तान की एशियायी नीति की कसौटी सिद्ध होंगे। पाकिस्तान की स्थापना का अर्थ हुआ देश का दो टुकड़ों में बँट जाना। राष्ट्रीयता की एक भावुक कल्पना जिन लोगों के मन में थी उनके लिए तो सचमुच यह हृदय को दहला देने वाली बात थी कि हमारे इस प्राचीन और पवित्र देश के, हमारी भारत माता के, टुकड़े किए जा रहे हैं। परंतु इतिहास में हम देखते हैं कि कई बार ऐसा हुआ है कि कई छोटे मोटे राज्य मिल कर एक बड़ा राज्य बना लेते हैं, या एक बड़ा राज्य कई छोटे छोटे टुकड़ों में बंट जाता है। हिन्दुस्तान के इतिहास में भी यह कोई नई या अनोखी बात नहीं है। भौगोलिक और सांस्कृतिक एकता के बावजूद भी देश प्रायः कई राजनैतिक टुकड़ों में विभाजित रहा है। सच तो यह है कि ऐसे अवसर कम ही हुए हैं, और कम समय तक ही चले हैं, जब मौर्य, गुप्त, मुग़ल या अंग्रेजी साम्राज्यों के समान समस्त देश एक ही शासन के अन्तर्गत रहा हो। पाकिस्तान का बन जाना इस प्रकार कोई बहुत अजीब या अनहोनी घटना नहीं दिखाई देती। यदि यह कहा जाए कि पाकिस्तान एक मुस्लिम राज्य है तो हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि पाकिस्तान के पहिले से दुनियां में एक दर्जन से अधिक मुस्लिम राज्य मौजूद हैं। मिश्र, ईरान, इराक, सौदी अरब, यमन, सीरिया, लेबनान, अफ़ग़ानिस्तान

आदि सब ही तो मुस्लिम राज्य हैं। हिन्देशिया की सात करोड़ की आबादी में ६ करोड़ ३० लाख व्यक्तिमुसलमान हैं। हिन्दुस्तान के उत्तर-पश्चिम और दक्षिण-पूर्व दोनों ओर जब कई मुस्लिम राज्य दूर दूर तक फैले हुए हैं तब हमें एक नए मुस्लिम राज्य की वृद्धि से ही परेशान होने की क्या जरूरत है? और यदि समस्त मुस्लिम राज्यों से हमारे संबंध अच्छे रहे हैं, उनका सहयोग और सहानुभूति हमें मिलती रही है, तो हम पाकिस्तान से ही किसी बुरे प्रकार के संबंधों की आशंका क्यों रखें? पाकिस्तान एक नया मुस्लिम राज्य है, केवल यही कारण हमारी आशंकाओं के लिए काफी नहीं है।

पाकिस्तान से हमें एक डर जरूर है जो दूसरे मुस्लिम राज्यों से नहीं था। पाकिस्तान के मुस्लिम राज्य होने से तो हमें कोई खतरा नहीं है, परंतु यदि उसका आधार सर्वथा धर्मांधता पर रखा गया तो सचमुच वह मध्य-युग की कई समस्याओं को पुनर्जीवित कर देगा और एक निकट पड़ौसी होने के नाते उन समस्याओं से हमें भी जूझना पड़ेगा। इस प्रकार का डर किसी दूसरे राज्य से अब हमें नहीं रह गया है। उन सभी राज्यों में राष्ट्रीयता की भावना इतनी प्रबल हो चुकी है कि अब उनसे यह आशंका नहीं रखी जा सकती कि वे धार्मिक कट्टरता को उस पर हावी होने देंगे। बीसवीं शताब्दी के आरंभ में तुर्की के सुल्तान ने एक बार यह प्रयत्न किया था कि इस्लाम को राज्य का आधार बनाया जाए और सभी मुसलमान देशों को एक मजहबी झंडे के नीचे खड़ा किया जाए, लेकिन 'पैन-इस्लामिज़्म' का यह आंदोलन अधिक चल न सका और अब सभी मुस्लिम देशों में धर्म एक व्यक्तिगत चीज बन गया है, और राज काज पर उसका कोई सीधा प्रभाव नहीं है। वैसे तो कोई कारण नहीं दिखाई देता कि जब सभी मुस्लिम देश धर्म पर राष्ट्रीयता को तरजीह दे रहे हैं तो केवल पाकिस्तान ही क्यों एक निराले रास्ते पर चलेगा। लेकिन पाकिस्तान की स्थापना के पीछे कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ रही हैं जिनके कारण हम इस भय को बिल्कुल निर्मूल भी नहीं मान सकते। हिन्दुस्तान के मुसलमानों का संघटन मुस्लिम लीग ने मज़हब के नाम पर किया है, और ग़ैर-मुसलमानों के लिए उनके हृदय में घृणा और द्वेष की भावनाएँ भरने की कोशिश की है। मुस्लिम जनता की बर्बर और निम्नतम प्रवृत्तियों को भड़का कर ही मुस्लिम-लीग अपनी स्थिति को मजबूत बना सकी है। पाकिस्तान-प्रदेश के रहने वालों के सामने उसने बड़े बड़े लालच भी रखे हैं कि पाकिस्तान एक इस्लामी देश होगा, वहाँ के हिन्दू और सिख वहाँ से निकाल बाहर किए जाएँगे और उनकी जायदाद तथा स्त्री और बच्चों पर भी उनका अधिकार हो जायगा। बिना पढ़ी लिखी, बे समझ और पिछड़ी हुई मुस्लिम जनता को भड़काने और

मुस्लिम लीग के झंडे के तले संगठित करने का तो यह एक अच्छा तरीक़ा था, लेकिन मुस्लिम-लीग के नेता यह भूल गए कि यदि कभी सचमुच पाकिस्तान की स्थापना हो गई और शासन की ज़िम्मेदारी उनके कंधों पर आ गई तो यही प्रवृत्तियाँ पाकिस्तान की जड़ को झकझोर डालेंगी और उखाड़ कर फेंक देंगी ।

यह निश्चित है कि यदि ग़ैर-मुसलमानों को ज़ोर-ज़बरदस्ती या मार-काट से पाकिस्तान के प्रदेशों से निकाल देने और उनकी ज़मीन ज़ायदाद पर कब्जा जमा लेने की नीति पाकिस्तान के नेताओं की सुचिन्तित और गंभीर नीति है तब तो पाकिस्तान अधिक दिनों तक टिक नहीं सकेगा । मध्य-युग के कुछ बर्बरता पूर्ण सिद्धान्तों को लेकर चलने वाला कोई राज्य आज की बीसवीं शताब्दी के जनतन्त्र के युग में टिक नहीं सकता । प्रत्येक देश की जनता का अपना एक मत तो होता ही है, पर आज तो अन्तर्राष्ट्रीय जनमत नाम की एक वस्तु भी है, और दुनियाँ की सीमाएँ इतनी संकुचित हो गई हैं कि इस जनमत की अवहेलना करके कोई व्यवस्था अपने को अधिक समय तक जीवित नहीं रख सकती । मैं समझता हूँ कि पिछली लड़ाई में जर्मनी, इटली और जापान जैसे बड़े देशों की पराजय का मुख्य कारण यह था कि उनकी व्यवस्था का आधार फासिज़्म के जिन सिद्धांतों पर रखा गया था, यह अन्तर्राष्ट्रीय जनमत उन सिद्धांतों को आसानी से पचा नहीं सका । मध्य-यूरोप की फ़ासिस्ट विचार-धारा और कार्य प्रणाली जनतंत्र के सामने शायद सबसे बड़ी और अन्तिम चुनौती थी, पर वह टिक न सकी । इस अन्तर्राष्ट्रीय जनमत का विरोध करके कोई भी देश अपनी स्थिति को सशक्त नहीं बना सकता । यदि पाकिस्तान ने धार्मिक कट्टरता के आधार पर ही अपना संघटन किया तो यह संभव है कि उसे कुछ समय तक कुछ मुस्लिम देशों की आसानी से भड़काई जाने वाली कुछ जनता का आंशिक समर्थन मिल सके, पर यह निश्चित है कि इस प्रकार की धर्मांधता का समर्थन करके अन्य मुस्लिम देश कभी भी अपनी अन्तर्राष्ट्रीय साख को गिरने देना पसंद नहीं करेंगे ।

इस धारणा में कोई तथ्य नहीं है कि मुस्लिम धर्मांधता इन सभी मुस्लिम देशों को हिन्दुस्तान के खिलाफ़ किसी युद्ध में पाकिस्तान को, पूरी मदद देने के लिए विवश कर सकेगी । पहिली बात तो यह है कि मुसलमान देशों में केवल इस्लाम के नाम पर संगठित होने की कोई भावना आज मौजूद नहीं है । इनमें से अधिकांश देश आज जिस भावना के वशीभूत हैं वह अरब-जातीयता की भावना है । तुर्की जैसा बड़ा और सशक्त और आधुनिक मुसलमान देश अरब-संगठन की किसी भी कल्पना से बाहर है । यह सच है कि अरब देशों में सांस्कृतिक चेतना की एक लहर फैली हुई है, और मिश्र उसका उपयोग अपनी शक्ति को

बढ़ाने की दिशा में करना चाहता है, और क्योंकि इस राष्ट्रीय जातीय-सांस्कृतिक चेतना के पीछे अरब देशों का संभ्रात वर्ग है, ब्रिटेन और अमरीका इस भावना का उपयोग इस समस्त प्रदेश में रूस द्वारा प्रेरित सर्वहारा प्रवृत्तियों के नियंत्रण में करना चाहते हैं। पर अरब-लीग इस नवीन चेतना का एक अंश तक ही प्रतिनिधित्व करती है। अरब-लीग में भी गहरे मतभेद हैं। शियाओं और सुन्नियों का धार्मिक मतभेद है। खिलाफ़त की आकांक्षाओं को लेकर मतभेद है। इब्न सऊद और शाह फ़ारुक़ में राजनैतिक नेतृत्व के लिए प्रतिद्विन्द्विता चल रही है। फ़िलस्तीन, ईराक, सीरिया और लेबनान पर अमीर अब्दुल्ला की ललचाई हुई दृष्टि भी विग्रह का एक बड़ा कारण है। दूसरी बात यह भी है कि ये सभी मुस्लिम देश विस्तार में बहुत छोटे, साधनों में बहुत सीमित, राजनैतिक चेतना की दृष्टि से बहुत पिछड़े हुए और सैनिक शक्ति की दृष्टि से बहुत कमज़ोर हैं। वे न तो अलग-अलग और न सामूहिक दृष्टि से ही एक बड़ी ताकत माने जा सकते हैं। फिलस्तीन के संबंध में अमरीका की नीति से प्रबल विरोध होते हुए भी सांदी अरब और मिश्र निष्क्रिय बैठे रहे। ट्रांसजोर्डन में इतना साहस नहीं है कि वह ब्रिटेन के विरुद्ध जा सके।[1] इस स्थिति में यह कल्पना करना कि पाकिस्तान की धर्मांध भावनाओं से प्रेरित होकर सभी इस्लामी देश हिन्दुस्तान के खिलाफ़ एक जिहाद बोल सकेंगे, वस्तुस्थिति से अपनी आंखें बन्द कर लेना है। मैं मानता हूँ कि १९४७ के उत्तरार्द्ध में हिन्दुस्तान में मुसलमानों के खिलाफ़ जो अत्याचार हुए पाकिस्तान द्वारा प्रचारित उनके अतिरंजित वर्णनों से मुसलमान देशों की जनता में क्षोभ फैला, पर मैं यह भी मानता हूँ कि हिन्दुस्तान से उनके व्यापारिक और सांस्कृतिक संबंध इतने निकट के हैं, और हिन्दुस्तान इतने स्पष्ट रूप से एक असांप्रदायिक, भौतिक लोकतंत्र की नीति पर चल रहा है, कि यह क्षोभ अधिक टिका नहीं रह सकेगा। पाकिस्तान के नेतृत्व में इस्लामी देशों का कोई ऐसा संगठन जो हिन्दुस्तान के विरुद्ध एक लड़ाई छेड़ना चाहे, एक असम्भव कल्पना है।

पाकिस्तान के अस्तित्व के लिये यह भी आवश्यक है कि हिन्दुस्तान से उसके अच्छे से अच्छे संबंध हों। यदि धर्मांधता को उसने अपने राज्य-संचालन का प्रमुख आधार बनाया तो इसका अर्थ यह होगा कि पाकिस्तान में रहने वाले हिन्दू और सिख उसकी इस नीति के शिकार होंगे, जैसा कि आज भी हो रहा

१ अंग्रेजों के फ़िलस्तीन से हटने से पहिले समस्त अरब देशों द्वारा यहूदियों के बॉयकाट के निश्चय के कारण सीरिया और इराक की रेलों में यरुशलम के लिए माल नहीं भेजा जा सकता था, पर वह ट्रांसजोर्डन पहुँचा दिया जाता था, जहाँ से वह यहूदियों के पास भेज दिया जाता था।

है, तो वैसी स्थिति में हिन्दुस्तान पाकिस्तान की इस नीति का शाब्दिक विरोध ही नहीं करेगा वह उसके खिलाफ, हिन्दुओं और सिखों के स्वार्थों और प्राणों की रक्षा लिए पाकिस्तान से युद्ध करने तक के लिए तैयार हो जाएगा। और इस अर्ध-व्यवस्थित दशा में भी उसके पीछे जनसंख्या और आर्थिक साधनों का इतना बाहुल्य होगा कि पाकिस्तान की सेनाएँ उसके सामने टिक नहीं सकेंगी—क्योंकि आज के युग में सेनाओं की शक्ति का आधार धार्मिक कट्टरता अथवा व्यक्तिगत शौर्य नहीं लड़ाई के नवीनतम अस्त्र हैं। यदि पाकिस्तान की सरकार अथवा जनता का यह विश्वास हो कि इस मामले में ब्रिटेन से उसे किसी प्रकार की सहायता मिल सकेगी तो उसे इसमें निराशा का ही मुंह देखना पड़ेगा। ब्रिटेन हर्गिज नहीं चाहेगा कि हिन्दुस्तान के पड़ोस में और मध्य-पूर्व के देशों के बीच कोई राज्य मध्य-युगीन धार्मिक कट्टरता के आधार पर अपना काम करे, और अमरीका व दूसरे जनतंत्रीय देशों का दृष्टिकोण भी संभवतः ऐसा ही होगा। रूस के संबंध में यह भय हो सकता है कि वह पाकिस्तान की राजनीति में हस्तक्षेप करने का प्रयत्न करे, पर रूस से भी हम यह आशा तो नहीं रख सकते कि वह अपना सहारा किसी ऐसे देश को देगा जहां मजहबी कट्टरता का बोलबाला हो। सच तो यह है कि पाकिस्तान ने यदि धार्मिक कट्टरता के मार्ग को अपनाया तो वह न केवल समूचे विश्व की सहानुभूति को खो बैठेगा उसे छोटे या बड़े, पास के या दूर के, जनतंत्रीय या साम्यवादी अनेकों देशों के सक्रिय विरोध का सामना भी करना पड़ेगा।

पाकिस्तान की आंतरिक समस्याएं

और मैं जानता हूँ कि पाकिस्तान अभी इस स्थिति में नहीं है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय जनमत की अवहेलना कर सके। उसके सामने उसकी अपनी बहुत बड़ी बड़ी समस्याएँ हैं जिन्हें उसे सुलझा लेना है। पाकिस्तान के सामने सबसे बड़ी समस्या तो उसके आर्थिक साधनों के संबंध की है। यह सच है कि पाकिस्तान में खाद्य पदार्थों की कमी नहीं रहेगी। पश्चिमी पाकिस्तान की गेहूँ की पैदावार अपने खर्च से कई गुना ज्यादा है और पूर्वी पाकिस्तान भी अपने आसपास के देशों की सहायता से अपनी चावल की कमी को आसानी से जुटा सकेगा। परन्तु आज तो किसी भी देश के सामने जो अपनी शक्ति बढ़ाना चाहता है, मुख्य समस्या उद्योग-धंधों के विकास की है। पाकिस्तान को औद्योगीकरण के लिए जिन साधनों की आवश्यकता पड़ेगी वे सब उसके पास नहीं हैं। इनके सम्बन्ध में उसे हिन्दुस्तान पर निर्भर रहना पड़ेगा। यह ठीक

है कि वह यदि चाहे तो इस प्रकार की चीज़ें बाहरी देशों से मंगा सकेगा, पर ऐसा करने में उसे कठिनाइयों का सामना तो करना ही पड़ेगा। औद्योगीकरण की दृष्टि से पाकिस्तान के पास एक बहुत बड़ा साधन पानी से पैदा होने वाली बिजली (Hydro Electric Power) का है। पाकिस्तान में, विशेषकर पश्चिमी पाकिस्तान में दूर तक बहने वाली लम्बी लम्बी नदियाँ हैं जो पहाड़ी इलाक़े से होकर आती हैं और जिनसे इतनी अधिक बिजली पैदा की जा सकती है कि उससे सारे हिन्दुस्तान का काम चल सकता है। पाकिस्तान इस सम्बन्ध में बहुत ही अधिक भाग्यशाली है, परन्तु इस शक्ति का विकास करने और उसे खेती बाड़ी के कामों और कल-कारखानों में लगाने में ही पाकिस्तान को इतना अधिक रुपया खर्च करना पड़ेगा और इतने अधिक कुशल इंजीनियरों, अफ़सरों और कारीगरों की ज़रूरत पड़ेगी कि उसका सारा रुपया और सारी शक्ति इसी काम में लग जाएगी।

इस विद्युत-शक्ति से पाकिस्तान आने वाले वर्षों में जो लाभ उठा सकेगा वह तो उसे मिलेगा ही, पर निकट वर्त्तमान का प्रश्न उतना आशाप्रद नहीं है। पाकिस्तान एक बिलकुल नया राज्य है और उसके सामने अभी तो अपने शासन को ही ठीक तौर से संघटित कर लेने का एक बड़ा काम है। शासन सभी देशों में जटिल और खर्चीला होता जा रहा है। पाकिस्तान को भी अपने शासन के संघटन पर बहुत काफ़ी रुपया खर्च करना होगा। बड़े बड़े पदाधिकारी रखना होंगे। उनकी तनख़्वाहों, पेंशनों और भत्तों का प्रबन्ध करना होगा। यह सब रुपया यदि उसने अपने ही लोगों से टैक्स लगा कर वसूल करना चाहा तो इसका अर्थ होगा कि उनके जीवन का स्तर और भी नीचा गिरेगा। पाकिस्तान की जनता इसे हर्गिज़ बर्दाश्त नहीं करेगी। उसकी तो लगातार यह मांग रहेगी कि जहाँ एक ओर औद्योगीकरण की दिशा में बड़े क़दम उठाए जा रहे हैं, प्राकृतिक साधनों का पूरा उपयोग किया जा रहा है, शासन-प्रबन्ध का खर्चा बढ़ाया जा रहा है, उनके अपने जीवन के स्तर को ऊँचा उठाने का भी तात्कालिक और ठोस प्रयत्न होना चाहिए। आने वाले भविष्य के आशाप्रद स्वप्नों में पाकिस्तान की जनता आज भूखी और नंगी रहने के लिए तैयार नहीं होगी। पाकिस्तान के नेताओं के सामने यह एक बड़ा प्रश्न है जिसे सुलझाने में उन्हें जल्दी से जल्दी जुट जाना है।

आर्थिक समस्या के साथ ही साथ सेना के संघटन की समस्या भी है। भूगोल और प्रकृति ने समूचे देश के लिए जिन सीमाओं का निर्धारण किया है, पाकिस्तान पर उन सबके बचाव का भार आ जाता है। उत्तर-पश्चिमी सीमाओं की ओर से हमें एक लंबे अर्से से ख़तरा रहा है और रूस के संभाव्य

आक्रमणों से उसकी रक्षा करने व साथ ही कबाइली इलाकों के आक्रमणों को रोकने के लिए हमने बड़ी बड़ी सेनाओं का संघटन किया है, पर पिछली बड़ी लड़ाई में एक ओर आसाम और मणिपुर और दूसरी ओर चटगांव के मार्ग से जापानियों ने हिन्दुस्तान पर आक्रमण करने का जो प्रयत्न किया उससे हमारी पूर्वी सीमाओं की रक्षा का महत्त्व भी बढ़ गया है। उत्तर-पश्चिमी और उत्तर-पूर्वी दोनों ओर की हमारी पुरानी स्थल-सीमाएँ आज पाकिस्तान की स्थल-सीमाएँ है, और इनके बचाव की पूरी ज़िम्मेदारी पाकिस्तान की सरकार पर आ गई है। पाकिस्तान यदि एक सार्वभौम राज्य न होता और हिन्दुस्तान के साथ रक्षा-वैदेशिक नीति और यातायात के क्षेत्रों में उसका कुछ संबंध होता,तो इस ज़िम्मेदारी का एक बड़ा भाग हिन्दुस्तान को भी स्वीकार करना पड़ता। लेकिन अब हिन्दुस्तान पर इस प्रकार की क़ानूनी या नैतिक ज़िम्मेदारी नहीं है। सच तो यह है कि हमारी फ़ौजी ज़रूरतें पाकिस्तान के मुक़ाबिले में बहुत कम हैं। जब तक हमारे दोनों ओर पाकिस्तान के प्रदेश हैं तब तक ज़मीन के रास्ते किसी बाहरी आक्रमण से बचाव का भार और उत्तरदायित्व पाकिस्तान पर ही रहेगा। पिछली लड़ाई के पहिले हिन्दुस्तान लगभग ५६ करोड़ रुपया प्रतिवर्ष सेना पर खर्च करता था। युद्ध के दिनों में यह रक़म एक अरब तक जा पहुँची थी। पाकिस्तान को भी इतना अधिक नहीं तो इससे कुछ ही कम रुपया अपनी सेना पर खर्च करना होगा, और धीरे धीरे उसे अपने सैनिक व्यय को और भी बढ़ाते जाना होगा। अंग्रेज़ अफ़सरों के धीरे धीरे हटते जाने से सेना का व्यय कुछ कम होगा, पर दूसरी ओर उसे आधुनिक ढंग से पुनः संगठित करने के लिए बहुत अधिक रुपया खर्च करना होगा। पाकिस्तान को अपनी स्थल सेना आधुनिक अस्त्र-शस्त्र से सम्पन्न रखना पड़ेगी। इसके अलावा समुद्री बेड़े और हवाई ताक़त का तो हिन्दुस्तान और पाकिस्तान दोनों को ही नए सिरे से निर्माण करना है। उसके लिए भी बहुत रुपया चाहिए। साम्प्रदायिक वैमनस्य को देखते हुए पाकिस्तान को हिन्दुस्तान का स्पर्श करने वाली सीमाओं पर भी निरीक्षक-सेनाओं की नियुक्ति करना पड़ेगी। आधुनिक ढंग पर अपनी सेना के विकास की समस्या पाकिस्तान के विकास की प्रमुख समस्याओं में से है।

भाषा और जातीयता संबंधी

सांस्कृतिक प्रश्न

आर्थिक दृष्टि से पाकिस्तान स्वयं संपूर्ण नहीं है। सैनिक दृष्टि से वह बड़ी पिछड़ी हुई स्थिति में है। लेकिन आर्थिक और सैनिक दोनों समस्याओं

से भी बड़ी समस्या राष्ट्रीयता की भावना द्वारा उत्पन्न होने वाली कठिनाइयाँ होंगी। पाकिस्तान ने भौगोलिक तत्वों को अपने राज्य का आधार नहीं बनाया है। इस्लामी राष्ट्रीयता के नाम पर उसने अपने राजनैतिक अस्तित्व का निर्माण किया है। यह निश्चित है कि पाकिस्तान के कर्णधारों ने राष्ट्रीयता की सर्वमान्य परिभाषा को तोड़ा मरोड़ा है और एक बड़े गलत रूप में जनता के सामने रखा है। मैं हर्गिज यह मानने के लिए तैयार नहीं हूँ कि हिन्दू और मुसलमान दो अलग राष्ट्र हैं, केवल इस आधार पर कि वे दो विभिन्न धर्मों को मानते हैं। धर्म तो राष्ट्रीयता का एक बहुत कच्चा आधार है। यदि आप धर्म को आधार बना कर एक नई राष्ट्रीयता का निर्माण करना चाहते हैं और इसके नाम पर अपना एक अलग राज्य बना लेने का निर्णय भी कर लेते हैं तो कोई कारण नहीं कि इस नए राज्य में रहने वाले अन्य धर्मावलंबी भी क्यों न एक नए बटवारे की मांग करें? पाकिस्तान के सामने सिखों की एक बड़ी समस्या है, जो उन्हें अपने घरबार और जमीन जायदाद छोड़ कर भाग आने पर मजबूर किए जाकर हल नहीं की जा सकती, और न उनके मकानों में आग लगा कर और न उनके स्त्री और बच्चों पर अत्याचार करके ही सुलझ सकती है। सिख एक बड़ी संख्या में पश्चिमी पंजाब में मारे गए हैं और उससे भी बड़ी संख्या में भाग आने पर मजबूर हुए हैं। पाकिस्तान की सरकार पर यह नैतिक बाध्यता है कि वह पश्चिमी पंजाब व सिंध से जितने सिख व हिन्दू, जीवन और संपत्ति के भय से, बाहर चले गए हैं, उन सबको वापिस बुलाए, उनकी जायदाद उन्हें लौटाने का प्रबन्ध करे और एक सभ्य सरकार के समान उनके जानमाल की रक्षा की सीधी जिम्मेदारी अपने ऊपर ले। पश्चिमी पंजाब में सिखों के बड़े बड़े तीर्थस्थल हैं, गुरुद्वारे हैं, शिक्षण-संस्थाएं हैं। इसी प्रकार, सिंध का वाणिज्य और व्यापार एक बड़ी सीमा तक हिन्दुओं के हाथ में था। ये सिख और हिन्दू अपने जन्मस्थानों, तीर्थ-स्थलों और कर्मक्षेत्रों को न लौट सकें तो यह पाकिस्तान के लिए शर्म की बात होनी चाहिए। यही बात पूर्वी बंगाल के उन लक्ष लक्ष हिन्दुओं के लिए कही जा सकती है जिनके पूर्वी बंगाल से निष्क्रमण की प्रक्रिया समस्त देश में सांप्रदायिक उपद्रवों के शान्त हो जाने के महीनों बाद भी जारी है। मैं समझता हूँ कि इसका सीधा तरीका यह नहीं है कि हम पाकिस्तान को धमकी दें, अथवा युद्ध के द्वारा उसे मजबूर करें कि वह अपनी कुछ जमीन हिन्दुस्तान को दे, जहां हम शरणार्थियों को बसा सकें। यह तो एक राजनैतिक सौदे की सी बात होगी और पाकिस्तान की तुलना में हमारी बढ़ी हुई शक्ति को देखते हुए, इससे हमारी नीयत और हमारे इरादों के सम्बन्ध में गलत-

फ़हमी ही पैदा होगी।[१]

राष्ट्रीयता के कई उपकरणों में धर्म के अलावा भाषा, जातीयता, जीवन-सम्बन्धी तत्त्व-दर्शन की एक रसता आदि कई दूसरे तत्त्व भी आ जाते हैं, और प्रायः इन सभी तत्त्वों को लेकर पाकिस्तान को बड़ी बड़ी समस्याओं का मुक़ाबिला करना होगा। भाषा की दृष्टि से देखें तो सीमाप्रान्त की प्रमुख भाषा पश्तो है, पश्चिमी पंजाब में पंजाबी, सिंध में सिंधी, पूर्वी बंगाल में बंगला और बलोचिस्तान और चटगांव की पहाड़ियों में कई प्रादेशिक बोलियाँ। उर्दू के जानकार तो पाकिस्तान में कम मिलेंगे, हिन्दुस्तान में उससे कई गुना ज़्यादा—उर्दू के मुख्य केन्द्र हैदराबाद, दिल्ली और लखनऊ हिन्दुस्तान में हैं। उर्दू को यदि राजभाषा का पद दिया गया तो उसके बोलने वाले और समझने वाले इतने कम हैं कि उसका बड़ा विरोध होगा। पाकिस्तान में रहने वाले साढ़े छः करोड़ व्यक्तियों में से साढ़े चार करोड़ पूर्वी पाकिस्तान में हैं और वे संस्कृत-मिश्रित बंगला बोलते हैं। पूर्वी बंगाल के बंगाल भाषी किसी दूसरी भाषा को कैसे स्वीकार करेंगे? यदि बंगला पाकिस्तान की राष्ट्रभाषा बनी तो सीमाप्रान्त, पंजाब, सिंध और बलोचिस्तान में कितने व्यक्ति ऐसे मिलेंगे जो बंगाल में या चीन की किसी बोली में या दक्षिणी अमरीका की किसी भाषा में कोई अन्तर कर सकेंगे।

भाषा के साथ ही जातीयता का प्रश्न भी गुंथा हुआ है। पाकिस्तान में

---

१ इसका समाधान, मैं मानता हूँ, नैतिक उपायों के द्वारा ही संभव हो सकता है—उन उपायों के द्वारा जिन पर गांधी जी चल रहे थे। गांधी जी के अन्तिम दिनों के कार्यक्रम और विचारों से प्रतीत होता है कि पाकिस्तान और मुसलमानों का संपूर्ण विश्वास सम्पादन कर लेने के बाद उनका इरादा पाकिस्तान जाने का था। पाकिस्तान जाने के लिए जिस नैतिक आधार को वह प्राप्त कर लेना चाहते थे वह उन्हें मिल गया था और यदि उन्हें जीवित रहने दिया जाता तो वह बहुत जल्दी अपने इस विचार को कार्य-रूप में परिणत करते। गांधी जी के पाकिस्तान जाने से निःसन्देह ऐसा वातावरण बन जाता कि वहाँ की मुसलमान जनता भागे हुए सिखों और हिन्दुओं को खुले दिल से वापिस लेने के लिए तत्पर हो जाती, और यदि वैसा न हो पाता तो गांधी जी, अपने सत्याग्रह के सिद्धान्तों के अनुसार, कुछ ऐसे सक्रिय नैतिक उपाय ढूंढ निकालते जिन पर चल कर दोनों प्रदेशों की भयाक्रान्त मानवता अपने अपने स्थानों पर लौट पाती। इस दिशा में यदि स्थायी काम करना है तो, सरकार और उसकी सैन्य-शक्ति पर निर्भर न रहते हुए, इस प्रकार के किन्हीं नैतिक उपायों को खोज निकालना होगा।

जातीयता की दृष्टि से भी बड़े बड़े भेद हैं। लंबे कद वाले, स्वस्थ, हृष्टपुष्ट, रक्तवर्ण पठान में और दुबले-पतले, ठिगने, सांवले रंगवाले बंगाली में कहीं किसी प्रकार की समानता की कल्पना हम नहीं कर सकते। दूसरी ओर सीमाप्रान्त के पठान पर जहां मध्य-एशिया और इस्लाम की संस्कृतियों का बहुत अधिक प्रभाव है, सिंध की संस्कृति पर हिन्दू और मुस्लिम दोनों संस्कृतियों का लगभग बराबर असर पड़ा है और पूर्वी बंगाल की संस्कृति, चाहे उसके मानने वाले कई करोड़ व्यक्ति मुसलमान ही क्यों न हों, अपनी समीवर्त्ती हिन्दू संस्कृति में बिल्कुल ही डूबी हुई है। पूर्वी बंगाल और पश्चिमी बंगाल के रहने वालों का, वे चाहे मुसलमान हों या हिन्दू, पहिरावा, रहन सहन, आचार-विचार एक दूसरे से बहुत कुछ मिलते जुलते हैं, परन्तु पूर्वी बंगाल और पंजाब के मुसलमानों में कहीं भी समानता नहीं है—जनसाधारण के तो धार्मिक विश्वासों में भी अन्तर है। इसी प्रकार सिंधी और पंजाबियों में अन्तर बहुत अधिक नहीं है पर यदि किसी सिंधी अथवा पंजाबी को पूर्वी बंगाल के गांव में रहने का मौका पड़े तो अपनी साधारण आवश्यकताएँ प्रगट करना भी उसके लिए कठिन हो जाएगा। जातीयता के प्रश्न को लेकर तो अन्य कठिनाइयां भी उपस्थित होंगी। सीमाप्रान्त से पाकिस्तान के बनने से बहुत पहिले से ही आज़ाद पठानिस्तान की मांग उठने लगी थी। सीमाप्रान्त का प्रत्येक व्यक्ति अपने को पहिले पख़्तून मानता है, और फिर पाकिस्तानी या और कुछ। पाकिस्तान के बाहर रहने वाली पख़्तून जाति से उनकी समानता अधिक है, पाकिस्तान के अन्य प्रदेशों के वासियों से कम। इन सब बातों के अतिरिक्त प्रान्तीयता की बढ़ती हुई भावना का मुक़ाबिला भी पाकिस्तान को करना पड़ेगा। सीमाप्रान्त और सिंध के रहने वाले यह कभी नहीं चाहेंगे कि पंजाबी अपने स्वार्थों के लिए उन पर शासन करें, और न बंगालियों द्वारा ही पश्चिमी पाकिस्तान का शासन अधिक दिनों तक बर्दाश्त किया जा सकेगा। जन-संख्या के आधार पर वे पाकिस्तान के शासन में अपना अधिक अधिकार चाहेंगे। प्रान्तीयता की इस फैलती हुई भावना को एक राष्ट्रीयता में बांध देना पाकिस्तान के लिए एक अव्यावहारिक प्रयत्न हो सकता है।

सच तो यह है कि पाकिस्तान एक राष्ट्र नहीं है। या तो वह एक बड़े राष्ट्र, हिन्दुस्तानी राष्ट्र का ही एक अविच्छिन्न और अविभाज्य अंग है या कई छोटे छोटे राष्ट्रों का एक अव्यवस्थित समूह। एक अच्छी राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में एक आवश्यक शर्त यह है कि उसका आधार केवल धार्मिक एकता में नहीं होना चाहिए परंतु भाषा, जातीयता, वेषभूषा, कला, साहित्य और संस्कृति की एकता भी होनी चाहिए। पाकिस्तान में इस प्रकार की एकता का सर्वथा अभाव

है। एक अच्छी राष्ट्रीयता की दूसरी शर्त्त यह है कि उसके अन्तर्गत जो छोटी मोटी राष्ट्रीयताएँ हों वे इतनी प्रबल नहीं होनी चाहिए कि मूल राष्ट्रीयता की भावना को ही नष्ट कर दें। पाकिस्तान के लिए इस प्रकार का खतरा एक ओर तो बंगाल से है और दूसरी ओर सीमाप्रान्त से। इस प्रकार हम देखते हैं कि पाकिस्तान का आधार यदि धर्म पर रखा गया तो वह न केवल एक मध्य-कालीन रियासत बन जाएगा जिसका आधुनिक युग से किसी प्रकार का मेल नहीं होगा और दूसरी ओर उसने यदि राष्ट्रीयता को अपना आधार बनाया तो उसका यह आधार इतना कमज़ोर साबित होगा कि बहुत जल्दी उसके समस्त ढाँचे के ही बिखर जाने का डर है। जो राज्य इतनी कमज़ोर नींव पर खड़ा हो उसके लिए तो अपने पड़ोसी देशों, विशेषकर अपने सबसे निकट के पड़ोसी, से निकट तम संबंध स्थापित करना अनिवार्य हो जाना चाहिए।

पाकिस्तान की हिन्द सम्बन्धी नीतिः

काश्मीर की समस्या

यह सच है कि पाकिस्तान हिन्दुस्तान के संबंध में इस नीति पर नहीं चल रहा है। कुछ अनिवार्य परिस्थितियों में देश के बंटवारे के बाद, पाकिस्तान के सामने बुद्धिमानी का एकमात्र रास्ता यही था कि वह हिन्द के साथ अपने निकटतम संबंध स्थापित करे तथा उसकी और हिन्द की वैदेशिक नीति एक हो, परन्तु पाकिस्तान हिन्द से अच्छे सम्बन्ध स्थापित करने के बदले, उससे उन्मुख होकर, पश्चिमी एशिया के इस्लामी देशों में विशुद्ध धर्मांधता के आधार पर, हिन्द के विरुद्ध घृणा की भावना फैलाने में व्यस्त हो गया। इस का सीधा परिणाम यह हुआ कि एकता की ओर बढ़ने के स्थान पर एशिया दो भागों में बँटता सा-दिखाई दिया। पाकिस्तान को अपने प्रचार के काम में कुछ सफलता भी मिली। इस प्रकार एशियायी देशों की एकता की दिशा में कुछ प्राप्त करना तो दूर रहा, उनके निकट-संगठन की कोई योजना भी असंभव सी दीखने लगी। एशिया में चीन अपने गृहयुद्ध में दिनोंदिन इतना उलझता जा रहा था कि उससे हल्के सांस्कृतिक संबंधों के अलावा किसी प्रकार के अन्य सम्बन्ध, राजनैतिक अथवा आर्थिक, जोड़े ही नहीं जा सकते थे, मजबूर होकर हमारा झुकाव दक्षिणी-पूर्वी एशिया के देशों की ओर हुआ, जहाँ पश्चिमी यूरोप के टूटते हुए साम्राज्य अपनी समस्त चालबाज़ी के साथ अपने को बचा रखने के प्रयत्न में लगे हुए थे। पाकिस्तान की विरोधी नीति के परिणाम-स्वरूप, इस प्रकार एक ओर तो हमारी बाह्य-नीति का दायरा संकीर्ण हो गया, और दूसरी ओर विभाजन से उत्पन्न होने वाली हमारी आन्तरिक सम-

स्याएं विषम से विषमतर हो चलीं। अगस्त और सितम्बर १९४७ में पूर्वी-पंजाब और दिल्ली में होने वाली घटनाओं ने हमें काफ़ी धक्का पहुंचाया। हत्या-काण्ड दबाए जा सके, परन्तु उन्होंने जिस जहरीली विचार-धारा को जन्म दिया उसके विस्तार को रोकना सरकार के लिए कठिन हो गया। वैसे वाता-वरण में कोई भी रचनात्मक कार्य हाथ में लेना असंभव था। उधर, उन हत्याकांडों से हमारी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा को भी ठेस पहुंची। अब तक अन्त-र्राष्ट्रीय सम्मेलनों में हम एक आत्मविश्वास के साथ शामिल होते थे। अक्तूबर १९४७ में कोरिया के सम्बन्ध में हमारा हस्तक्षेप बड़ा प्रशंसनीय रहा था। नवम्बर में हमने दक्षिण अफ्रिका की सरकार द्वारा बरती जाने वाली वर्ग-भेद की नीति के सम्बन्ध में जोरदार शिकायत की, और संयुक्त राष्ट्र-संघ का बहुमत हम अपने पक्ष में प्राप्त कर सके। हिन्देशिया के पक्ष का भी हमने प्रभावपूर्ण समर्थन किया। परन्तु, ज्यों ज्यों साम्प्रदायिक धर्मांधता की लपटें देश में प्रबल होती जा रहीं थीं, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में हमारा प्रभाव क्षीण पड़ता जा रहा था।

साम्प्रदायिक हत्याकाण्ड अभी दब भी न पाए थे कि काश्मीर की समस्या हमारे सामने आ गई। काश्मीर का प्रश्न बिल्कुल सीधा-सादा था। अंग्रेजों ने जाते जाते देशी राज्यों की सार्वभौमता की घोषणा कर दी थी। वैधानिक दृष्टि से यह सार्वभौम सत्ता राजाओं के हाथ में आ गई थी। काश्मीर के महाराजा संभवतः काश्मीर को स्वाधीन रखना चाहते थे, पर पाकिस्तान की ओर से दबाव निरंतर बढ़ता जा रहा था, यहां तक कि पाकिस्तान से प्रेरणा पाकर कबाइली लोग काश्मीर में घुस आए थे और उसकी सुन्दर घाटियों को नष्ट भ्रष्ट करने में लग गए थे। इन परिस्थितियों में काश्मीर नरेश ने भारतीय संघ में शामिल होने की प्रार्थना की, जो फौरन मान ली गई। पर इसके साथ ही हमारी जनतन्त्रीय सरकार ने यह शर्त भी लगा दी कि काश्मीर अन्तिम रूप से भारतीय संघ में शामिल तभी माना जाएगा जब इस संबंध में वहां की जनता की स्वीकृति मिल जाएगी। हमारा विश्वास था कि काश्मीर के वैधानिक ढंग से भारतीय संघ में सम्मिलित होते ही पाकिस्तान अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के अनुसार अपनी सीमाओं में से कबाइली लोगों को गुज़रने नहीं देगा। परन्तु पाकिस्तान ने काश्मीर के निश्चय को 'धोखेबाजी और हिंसा' का परिणाम बताया और उसके ज़िम्मेदार अफ़सर अधिकारी लड़ाई का सामान और रसद खुले आम काश्मीर पहुंचाते और कबाइलियों को सहायता देते रहे। हमने फ़ौरन संयुक्त राष्ट्र-संघ के सामने सारे प्रश्न को पेश किया। तब हमारा, यह विश्वास मिटा

नहीं था कि संयुक्त राष्ट्र-संघ के सामने मामला पेश होते ही पाकिस्तान अपने अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्यों के प्रति सचेत हो जाएगा और हमारे लिए काश्मीर से कबाइलियों को निकाल कर जनमत-संग्रह का आयोजन करना सम्भव हो जायगा।

संयुक्त राष्ट्र संघ के सामने हमने एक सीधी सादी मांग रखी थी। हम चाहते थे कि (१) पाकिस्तान की सेना अथवा उसके कर्मचारी काश्मीर के आक्रमण में भाग न लें; (२) पाकिस्तान के नागरिक भी इस युद्ध से अपने को तटस्थ रखें; और (३) पाकिस्तान आक्रमणकारियों को काश्मीर के विरुद्ध (अ) फ़ौजी व दूसरी रसद न पहुँचाए, (आ) लड़ाई में अपनी ज़मीन का उपयोग न करने दे, और (इ) किसी प्रकार की ऐसी सहायता न दे जिससे लड़ाई के फैलने की संभावना हो। सुरक्षा-परिषद् में जब हमारी शिकायत पर विचार शुरू हुआ तो पाकिस्तान के विदेश-मंत्री सर ज़ाफ़रुल्ला ने हमारे खिलाफ़ अभियोगों की एक लंबी सूची पेश की, जिनका सम्बन्ध काश्मीर से बहुत कम था। इसका परिणाम यह हुआ कि 'जम्मू और काश्मीर' के प्रश्न को 'हिन्द और पाकिस्तान' का प्रश्न बना दिया गया। संयुक्त राष्ट्र-संघ में इस मामले को पेश करने के बाद तेज़ी के साथ हफ़्ते और महीने गुज़रने लगे और काश्मीर में होने वाले रक्तपात को फ़ौरन ही रोक देने के बदले हमने इस महान् अन्तर्राष्ट्रीय संस्था को पाकिस्तान द्वारा केवल समय टालने के लिए उठाए गए आधार हीन प्रश्नों के सैद्धान्तिक विवेचन में अपना सारा ध्यान केन्द्रित करते देखा। हमें यह विश्वास हो गया कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का मुख्य आधार आदर्शवाद अथवा न्याय एवं शान्ति नहीं, शक्ति का संतुलन है। काश्मीर के मामले में संयुक्त राष्ट्र-संघ में हमने अपने को बिल्कुल मित्र हीन पाया। पश्चिमी यूरोप के किसी भी देश ने एक बार भी हमारे पक्ष का समर्थन नहीं किया। रूस सभी मामलों में तटस्थ रहा। ब्रिटेन और अमरीका का झुकाव स्पष्टतः पाकिस्तान की ओर रहा।

मैं मानता हूँ कि इसका सारा दोष प्रत्यक्ष रूप से पाकिस्तान पर नहीं रखा जा सकता। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में हमारी मित्रहीन स्थिति का बहुत कुछ उत्तरदायित्व हमारी उस वैदेशिक नीति पर है जिसका आधार अपने देश को अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दी से बाहर रखने के हमारे निश्चय में है। अपनी इस नीति का निर्धारण हमने खुली आंखों से किया था। संसार स्पष्टतः दो गुटों में बँटता जा रहा था, जिनमें से एक का नेतृत्व पूंजीवादी जनतन्त्र अमरीका के हाथ में था और दूसरे का संचालन साम्यवादी रूस के द्वारा किया जा रहा था। हम इनमें से किसी भी गुट के साथ अपना गठ बन्धन करने के लिए

तैयार नहीं थे । किसी भी बड़े देश के पीछे पीछे चलना हम नहीं चाहते थे, न किसी देश के अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों से हम अपने को बांधना चाहते थे । दोनों ही गुटों से विचार-धारा में मत-भेद होने के अतिरिक्त हमारी आन्तरिक समस्याएँ ही इतनी बड़ी थीं कि किसी भी बड़े युद्ध से हम अपने को अलग रखना ही चाहते थे । अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दी से अलग हट कर खड़े रहने की जिस वैदेशिक नीति की घोषणा पंडित जवाहरलाल नेहरू ने शासन-सूत्र अपने हाथ में लेते समय की थी, वह उस पर दृढ़ता से जमे हुए हैं । परंतु किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दी से अपने को अलहदा रखना और किसी की आर्थिक सहायता पर निर्भर न होना — क्योंकि आर्थिक सहायता स्वाधीनता के बांध का वह बारीक छेद है जिसमें होकर राजनैतिक प्रभुत्व की वेगवती धारा के फट पड़ने की सदा ही संभावना रहती है । हमारी वैदेशिक नीति का केवल एक, और वह भी नकारात्मक, पक्ष ही हो सकता है। उसके दूसरे, और स्वीकारात्मक पक्ष का भी पूरा चित्र हमारे सामने शुरु से रहा है, परंतु, हम उस पर चल नहीं सके हैं । संसार में अलहदा खड़े होने के लिये भी शक्ति की आवश्यकता होती है । विभाजित हिन्दुस्तान वैसे भी दुनियां, में उतनी प्रतिष्ठा पाने की आशा नहीं रख सकता था जितना अखण्ड और अविभाजित हिन्दुस्तान—इन परिस्थितियों में उसके दोनों भागों के सभी अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में मिलजुल कर काम करनेकी और भी अधिक आवश्यकता थी । उधर, अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में न्याय के नाम पर हम अपने दृष्टिकोण को जो समय समय पर बदलते रहे उस से भी गलत फ़हमी फैली । अमरीका ने हमें अपना विश्वास-पात्र नहीं माना । जब कि दूसरी और रूस में यह धारणा फैलती गई कि हम अमरीका के पीछे पीछे चलना चाहते हैं । छोटे छोटे देशों में भी हमारी कुछ कर पाने की शक्ति में विश्वास घटता चला । हिन्देशिया और हिन्दचीन आदि ने हमसे जिस नेतृत्व की अपेक्षा की थी वह भी उन्हें नहीं मिला । स्वाधीनता के बाद के डेढ़ वर्षों में स्पष्टतः ही हम अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से आगे नहीं बढ़ पाये, और इसका मुख्य कारण यह रहा कि हम उन बहुत सी अनर्गल और मध्य-युगीन समस्याओं में उलझे रहे जो पाकिस्तान की विरोधी और प्रतिक्रियावादी नीति के कारण समय समय पर हमारे सामने खड़ी होती गई ।

पाकिस्तान से हमारे संबंधों का मनोवैज्ञानिक आधार

इन परिस्थितियों में पाकिस्तान के प्रति हमारे मन में खीझ और झुंझलाहट की भावना बढ़ते जाना स्वाभाविक है, पर अपनी इस खीझ और झुंझला-

हट में हमें उस मनोवैज्ञानिक आधार को नही भूल जाना है जिस पर पाकिस्तान की सृष्टि हुई और न उन परिणामों की ओर से ही हम अपनी दृष्टि बन्द कर सकते हैं जो पाकिस्तान के साथ किसी वैचारिक अथवा वास्तविक संघर्ष के फलस्वरूप हमारे देश में उत्पन्न हो सकते हैं। यह एक स्पष्ट तथ्य है कि पाकिस्तान के निर्माण के पीछे देश के करोड़ों मुसलमानों का तर्क-सम्मत विवेक नहीं था, एक गलत और अनैतिक प्रचार के द्वारा उकसाई गई धार्मिक भावनाएँ थीं। मुस्लिम लीग ने मुसलमानों के धार्मिक जोश को उभारा था। कायदे-आजम जिन्ना जहां अपने इस ख़याल में फूले न समाते थे कि 'कलम और जवान के जोर पर', 'कानून और वैधानिकता का सहारा लेकर', उन्होंने 'मुसलमानों के सबसे बड़े और दुनियां के पांचवे बड़े' राज्य का निर्माण किया था। पाकिस्तान के प्रांतों की मुस्लिम जनता बड़ी उत्सुकता से उस आने वाले जमाने की प्रतीक्षा कर रही थी जब उसे इस मज़हबी जोश को खुले आम व्यक्त करने का मौका मिलेगा। मुस्लिम-लीग के नेतृत्व की विशेषता यह रही है कि स्वयं कानूनदां और तर्क में विश्वास रखने वाला होते हुए भी उसने अपनी शक्ति का आधार मुस्लिम जनता की कट्टर मजहबी जोश की भावनाओं पर रखा। धार्मिक कट्टरता की जिस भावना पर मुस्लिम-लीग के नेताओं ने पाकिस्तान का निर्माण किया, उसके बन जाने के बाद उस भावना को नियंत्रण में रखना उनके लिए आसान नहीं होगा। इसके विपरीत यदि वे उस भावना को उकसाते रहे तो उन्हें जनता का भाव-प्रवण, आवेशमय, जोशीला समर्थन प्राप्त होता रहेगा जो किसी भी फॉसिस्ट राज्य की शक्ति का मुख्य आधार होता है। पाकिस्तान की स्थिति बहुत कुछ दो महायुद्धों के बीच के जर्मनी से मिलती जुलती है। जर्मनी में हिटलर ने आर्य-संस्कृति के लिये जो धार्मिक जोश फैला दिया था कायदे आदम जिन्ना धर्म के नाम पर वैसी ही कट्टरता और वैसा ही जोश पाकिस्तान के मुसलमानों में भरने में सफल हुए हैं। जर्मनी की उपमा को यदि आगे बढ़ाया जाय तो हम यह भी कल्पना कर सकते हैं कि उसने अपने आपको आर्थिक दृष्टि से संपूर्ण और संसार के सभी देशों में प्रमुख बनाने के उद्देश्य से रूस जैसे धनधान्य से समृद्ध, विशाल और आबाद देश पर कब्जा करना जरूरी समझा वैसे ही पाकिस्तान भी किसी दिन हिन्दुस्तान पर अपनी ललचायी हुई दृष्टि डालेगा। आज भी पाकिस्तान में कभी कभी यह आवाज़ गूंज उठती है—"हँस के लिया पाकिस्तान, लड़के लेंगे हिन्दुस्तान"। पाकिस्तान से अपने राशि-राशि मतभेदों को देखते हुए और उसकी इन फ़ासिस्ट प्रवृत्तियों को समझते हुए, जिनका अनिवार्य परिणाम युद्ध दिखाई देता है, बहुत से लोग यह प्रश्न कर सकते हैं और कर भी रहे हैं।

कि यदि ऐसा है तो क्यों न हम अपनी शक्ति को बढ़ा कर पाकिस्तान को उसके शक्तिशाली बनने, और हमारे प्रति अपनी दुर्भावनाओं को क्रियात्मक रूप देने के पहिले, ही कुचल दें।

पाकिस्तान और दो महायुद्धों के बीच के जर्मनी में भावनाओं और प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में बहुत कुछ समानता होते हुए भी वस्तुस्थिति में बड़ा अन्तर है। जर्मनी एक छोटा पर उद्योग-प्रधान, राष्ट्रीयता की दृष्टि से गठा हुआ और शासन और सैन्य-शक्ति की दृष्टि से मजबूत देश था। पाकिस्तान को जर्मनी की स्थिति में पहुँचने में शताब्दियाँ लगेंगी, और यदि वह कभी वैसी सैन्य-शक्ति प्राप्त कर भी सका तो अपने बलबूते पर नहीं, अन्य देशों की सहायता से ही वह ऐसा कर सकेगा, और वैसी स्थिति में उसे उन अन्य देशों का गुलाम बनकर ही रहना होगा। एक छोटा उद्योग-प्रधान देश एक बड़े कृषि-प्रधान देश पर हावी हो सकता है—और अब तो उसके भी दिन लद गए—पर एक छोटा, पिछड़ा हुआ कृषि-प्रधान देश एक ऐसे बड़े देश पर जो औद्योगीकरण की दृष्टि से बहुत आगे बढ़ा हुआ है अपना आधिपत्य स्थापित कर सके यह एक असंभव कल्पना है। पाकिस्तान के नेतृत्व में समस्त मुसलमान देश, धर्म के आधार पर, हिन्दुस्तान के विरुद्ध संगठित किए जा सकें, इस प्रकार का कोई प्रयत्न संभवतः क़ायदे-आज़म के जीवन-काल में किया जा रहा हो, पर आज तो वह संभव नहीं रह गया है। आज तो यह स्पष्ट है, जैसा पं० जवाहरलाल नेहरू ने नवम्बर १६४८ में इंग्लैण्ड से काहिरा होकर लौटने पर बताया, मध्य-पूर्व के सभी मुस्लिम देश हमारी मित्रता के लिए उत्सुक हैं।[1] वे मानते हैं कि न केवल व्यापार और सांस्कृतिक संबंधों की दृष्टि से बल्कि अपनी राजनैतिकस्वाधीनता बनाए रखने की दृष्टि से भी उन्हें हमारी मित्रता की आवश्यकता है। औरयदि ये सभी देश कभी हिन्दुस्तान के विरुद्ध धार्मिक अथवा किसी अन्य आधार पर संगठित हो भी सकें तो उनका यह संगठन हिन्दुस्तान के लिए सिर दर्द तो पैदा कर सकता है, पर विशेष चिन्ता का कारण नहीं बन सकेगा जब तक कि इस संगठन के पीछे ब्रिटेन-अमरीका या रूस का सक्रिय सहयोग न हो, और ब्रिटेन-अमेरिका अथवा रूस से अपने निकट अथवा सुदूर

---

१ "मैं नहीं समझता," पं० जवाहरलाल नेहरू ने एक प्रेस-कांफ्रेंस में दिए गए वक्तव्य में मध्य-पूर्व के देशों के सम्बन्ध में कहा, "कि तथा-कथित धार्मिक गुट के बनने की कोई सभावना है। भौगोलिक प्रादेशिकता का विकास तो होगा ही। इसी प्रकार, पश्चिमी एशिया के सम्बन्ध में लगभग सभी देशों के द्वारा यह महसूस किया जा रहा है कि उनके लिए हिन्दुस्तान के साथ निकट के संपर्क स्थापित करना आवश्यक हैं।"

भविष्य के संबंधों को देखते हुए हम इस प्रकार की कल्पना नहीं कर सकते। मुझे पूरा विश्वास है कि पाकिस्तान से हमें किसी प्रकार का भय नहीं है। पाकिस्तान को अपने संबंध में हम संभवतः वैसा आश्वासन नहीं दे सकते। आज हमारे देश में लोकतंत्रीय शक्तियां प्रबल हैं, पर फ़ासिस्ट शक्तियां भी उनके किनारों पर आकर तेज़ी से टकरा रही हैं, और कभी कभी उन्हें तोड़ती हुई उनके अन्तराल में दूर तक प्रवेश करती हुई भी दिखाई देती हैं। पाकिस्तान से हमारे सम्बन्धों का दारोमदार बहुत कुछ हमारी इन दोनों आन्तरिक प्रवृत्तियों के आपसी सम्बन्ध पर निर्भर रहेगा।

पाकिस्तान का निमार्ण एक फासिस्ट आधार पर हुआ, और उसके गठन के अधिकांश उपकरण भी फासिस्ट हैं, पर पाकिस्तान को एक फासिस्ट देश मान कर चलना गलती होगी। पाकिस्तान और हिन्द दोनों देशों की जीवन-धारा का प्रवाह लगभग एक सा ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि पाकिस्तान में प्रतिक्रियावादी तत्त्व हमारे देश की तुलना में कुछ अधिक प्रबल हैं। पाकिस्तान के शासन की बागडोर जिन व्यक्तियों के हाथ में है वे उतने प्रगतिशील नहीं हैं जितना हमारे देश का शासक वर्ग, पर उन्हें प्रतिक्रियावादी भी नहीं कहा जा सकता। फ़ासिस्ट साधनों के द्वारा उन्होंने पाकिस्तान का निर्माण किया, पर लोकतंत्रीय सिद्धांतों के आधार पर वे उसे चलाना चाहते हैं। यह सच है कि लोकतंत्र की उनकी कल्पना उतनी व्यापक नहीं है जितनी हमारे राष्ट्रीय नेताओं की—यद्यपि वह भी बहुत अधिक प्रगतिशील तो नहीं है। पाकिस्तान में फ़ासिज़्म की जो नग्न प्रवत्तियां हैं वे हिन्दुस्तान के समान ही, शासन के बाहर हैं—यद्यपि हमारी तुलना में कुछ पिछड़ा हुआ होने के कारण पाकिस्तान का शासन उन्हें उतना अधिक नियंत्रण में नहीं रख पा रहा है (पूर्ण नियंत्रण तो हमारे शासन का भी उन प्रवृत्तियों पर नहीं है)। इसका प्रमाण वह खुली आलोचना है जो देश में शान्ति और सुव्यवस्था को कायम रखने के लिए सरकार द्वारा किए जाने के प्रयत्नों के सम्बन्ध में पाकिस्तान के कुछ प्रमुख पत्रों द्वारा की जाती रही है। मौलाना ज़फ़रअली का प्रसिद्ध पत्र 'ज़मीदार' पाकिस्तान-सरकार की खुले-आम आलोचना करता है, और करांची का 'इंसाफ़' पाकिस्तान के बनने के बाद महीनों तक पाकिस्तान के मौजूदा मंत्री-मंडल के स्थान पर 'एक नया लड़ाकू मंत्रिमंडल जो इस संकट में मिल्लत की अच्छी सेवा कर सके' बनाए जाने पर ज़ोर देता रहा। मौलाना शब्बीर अहमद उस्मानी के नेतृत्व में 'मुजाहिदीने पाकिस्तान' नाम की एक संस्था पाकिस्तान में काम कर रही है, जिसका उद्देश्य "उन बहुत सी बुराइयों को, जो मुस्लिम-समाज में घुस गई हैं, मिटा देना, मुस्लिम नौजवानों को वर्तमान

गिरी हुई नैतिक अवस्था से उठाना और उनमें शुद्ध इस्लामी आदर्शों का सदेश फूंकना" है। इस आन्दोलन का वर्त्तमान शासन के प्रति क्या दृष्टिकोण है इसका अन्दाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि सांप्रदायिक उपद्रवों के अवसर पर, जब सरकार द्वारा उनकी रोक थाम का प्रयत्न हो रहा था, उसके जिम्मेदार नेता खुले-आम क़ायदे-आज़म को क़ातिले-आज़म और लियाक़तअली को हिमाक़तअली के नाम से पुकारते थे।

पाकिस्तान के प्रति दुर्भावनाओं को फैलाने का अर्थ वहां के शासन को और भी कमज़ोर बनाना और इन फ़ासिस्ट 'प्रवृत्तियों को बल देना होगा। उसकी सीधी प्रतिक्रिया हमारे देश में फ़ासिस्ट प्रवृत्तियों को सशक्त बनाने की दिशा में होगी। इन फ़ासिस्ट प्रवृत्तियों को शक्ति प्राप्त करने का अवसर देने का अर्थ होगा लोकतन्त्र की जड़ें खोदना। यह तो हमें निश्चय कर ही लेना है कि इस बीसवीं शताब्दी में हमारा शासन उन प्रतिक्रियावादी सिद्धांतों पर स्थापित नहीं होगा जिन्हें यूरोप सोलहवीं व सत्रहवीं शताब्दी में ठुकरा चुका है। मेवाड़ की स्वाधीनता की रक्षा के लिए महाराणा प्रताप ने जिस केसरीया बाने का आह्वान किया अथवा जिस भगवे झंडे को लेकर मराठे दूर दूर के प्रान्तों तक पहुँचे वे हमारी इतिहास की चमकीली और आकर्षक स्मृतियों के रूप में हमारे पास सुरक्षित रह सकते हैं, पर आज तो हम बीसवीं शताब्दी में हैं, और सोलहवीं सदी के मेवाड़ या अठारहवीं सदी के मराठा-राज्य से कहीं अधिक बड़े, और कहीं अधिक भव्य और शानदार, हिन्दुस्तान के निर्माण के काम में लगे हुए हैं। अपने इतिहास की पुरानी और चमकीली स्मृतियों को लेकर नहीं किन्तु विश्व की सभी प्रगतिशील शक्तियों को लेकर ही हमें इस महान् देश के भविष्य का निर्माण करना है। पाकिस्तान की और हमारी समस्याएँ एक ही हैं, और लक्ष्य भी एक ही हमारे सामने है। कुछ मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं और प्रतिक्रियायों की चपेट ने हमारी एकता को चकनाचूर कर डाला, पर आज दोनों को ही एक असांप्रदायिक, भौतिक लोकतन्त्र का निर्माण करना है। इस कार्य में वे एक दूसरे की सहायता कर सकते हैं। यदि पाकिस्तान के लोकतंत्रीय तत्त्व आज उतने सशक्त नहीं हैं कि वे हमारी सहायता कर सकें तो हमें उन्हें और भी कमज़ोर बनाने के समस्त प्रयत्नों से अपना सहयोग खींच लेना चाहिए, और यथा शक्ति उन्हें बल प्रदान करने का प्रयत्न ही करना चाहिए। जनबल, अर्थबल, प्रगतिशीलता सभी दृष्टियों से हम उनसे आगे बढ़े हुए हैं—हमारा कर्त्तव्य उन्हें अपने साथ लेकर चलना है। हमारे और उनके बीच एक धर्म का ही तो अन्तर है न? धर्म को राजनीति का आधार मान कर यदि हमने हिन्द और पाकिस्तान को एक दूसरे

से विपरीत दिशाओं में बढ़ने दिया तो उसका परिणाम समस्त एशिया को, जो विचार-धाराओं के आधार पर आज भी तेज़ी से गृह-युद्ध में लगे हुए दो भागों में बँटता जा रहा है, धर्म के आधार पर भी दो हिस्सों में बांट देना होगा। इस प्रकार, चीन में जन्म लेने वाला एशियायी साम्यवाद और हिन्दुस्तान में पलने-फैलने वाली धार्मिक सांप्रदायिकता, जो अब तक चीन और हिन्दुस्तान को ही कमज़ोर बना रहे थे, मिलकर समस्त एशिया को झकझोर डालेंगे और चकनाचूर कर देंगे। पाकिस्तान से अपने संबंधों को बिगाड़ लेने का अर्थ होगा इस भयंकर खतरे को निमंत्रण देना।

वैदेशिक नीति के संबंध में विभिन्न विचार-धाराएँ

वैदेशिक नीति के सम्बन्ध में जो विचार अभी तक हमारे सामने आए हैं उन्हें तीन धाराओं में बांटा जा सकता है। कुछ लोगों का तो यह स्पष्ट मत है कि हमें सभी अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों में ब्रिटेन और अमरीका का साथ देना चाहिए। ब्रिटेन से हमारे संबंध बहुत पुराने हैं। उसने हमारे विचारों के निर्माण में बड़ा योग दिया है, और यदि उसके प्रति हमारी बहुत सी शिकायतें थीं भी तो जिस ढंग से हमारी आज़ादी को उसने मान लिया है उसे देखते हुए हमारा कर्त्तव्य हो जाता है कि हम उसका साथ दें। ब्रिटेन का साथ देने का अर्थ है अमरीका का साथ देना। इस देश में हम एक बड़े औद्योगीकरण के प्रवेशद्वार पर हैं। इस औद्योगीकरण में हमें ब्रिटेन और अमरीका से एक बड़ी संख्या में मशीनरी और विशेषज्ञ मंगवाने होंगे। एक लंबे समय तक हमारी अर्थ नीति का ब्रिटेन और अमरीका की अर्थनीति से घनिष्ठ संबंध रहेगा। इन सब बातों को देखते हुए यह बिल्कुल तर्क-सम्मत दिखाई देता है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में हम ब्रिटेन और अमरीका का साथ दें। कुछ लोग तो यहाँ तक भी मानते हैं कि हमें अंग्रेज़ी कॉमनवेल्थ के अन्तर्गत ही रहना चाहिए। पर, इसके साथ ही कुछ और भी प्रश्न हैं जिन्हें हम दृष्टि से ओझल नहीं कर सकते। यदि हम कॉमनवेल्थ के एक सदस्य बने रहे तो क्या हम अपनी प्रतिष्ठा को वैसा ही बनाए रह सकते हैं जैसा हम चाहते हैं? और इससे भी बड़ा प्रश्न तो यह है कि जहां यह सच है कि ब्रिटेन और अमरीका हमारी मित्रता को खोना नहीं चाहते, क्या आज सचमुच उन्हें हमारी बहुत बड़ी आवश्यकता रह गई है? क्या ब्रिटेन ने हमें आज़ादी इसीलिए दी कि उसकी दृष्टि में हमारी आर्थिक उपयोगिता अब अधिक नहीं रह गई थी? ब्रिटेन और अमरीका आज तो पश्चिमी एशिया के अरब देशों में जो राजनैतिक चेतना की दृष्टि से पिछड़े हुए हैं, अपना आर्थिक

साम्राज्यवाद फैलाने के लिए अधिक उत्सुक हैं। इन अरब देशों में व्यापार फैलाने की दृष्टि से ही हमारे और अंग्रेज़ी भाषाभाषी देशों के बीच काफ़ी मतभेद उपस्थित हो सकता है, और इसके अतिरिक्त इन देशों और विशेषकर पाकिस्तान के साथहमारे संबंधों की दृष्टि से मतभेद के और भी अनेकों अवसर आ सकते हैं। यह निश्चित है कि इन मतभेदों में ब्रिटेन और अमरीका अपने स्वार्थ अथवा मुस्लिम देशों के दृष्टिकोण को न्याय अथवा हमारे हितों पर तरजीह ही देंगे—जैसा की काश्मीर के मामले में हुआ भी। ऐसी स्थिति में, जब हम अपने पैरों पर खड़े होने की अवस्था में पहुँच चुके हैं ब्रिटेन और अमरीका के पीछे चलना कहां तक वांछनीय होगा, जबकि उसका अर्थ रूस और उसके गुट के अन्य देशों से दुश्मनी मोल लेना हो ?

दूसरी ओर, कुछ लोगों का कहना है कि परिस्थितियाँ हमें अनिवार्य रूप से रूस का साथ देने पर मजबूर कर देंगी। ज्यों ज्यों ब्रिटेन और अमरीका से हमारे सम्बन्धों में तनाव बढ़ेगा, हम रूस की ओर खिचेंगे। फिर यह भी कहा जाता है कि हमारा अन्तिम लक्ष्य जब समाजवाद है तब क्यों न हम एक ऐसे देश के अधिक से अधिक निकट-संपर्क में आवें जो इस दिशा में बहुत कुछ उन्नति कर चुका हैं ? रूस से हमें बहुत कुछ सीखना है। हमारा देश भी सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से आज उन्हीं मध्य-युगीन प्रवृत्तियों के आधिपत्य में है जिन्होंने १९१७ की क्रांति तक रूस की प्रगति को रोक रखा था। हमें देश के उस बड़े भू-भाग को जहाँ खेती नहीं होती खेती के योग्य बनाना है, जहाँ खेती होती है वहाँ वैज्ञानिक साधनों का प्रवेश कराना है, जिन रूढ़ियों के कारण जमीन आज छोटे छोटे हिस्सों में बँटी हुई है उन्हें नष्ट करना है, उद्योग धंधों का विकास करना है, देश के राशि राशि प्राकृतिक साधनों का समाजीकरण करना है, बड़ी बड़ी योजनाएँ बनानी हैं, उन सब योजनाओं को क्रियान्वित करने के लिए एक बड़ा शासन-तंत्र संगठित करना है, और इन सब बातों को पूरा करने के लिए हमारे सामने इससे अच्छा मार्ग नहीं हो सकता कि हम रूस के आदर्श पर चलें। पर, जो लोग जानते हैं कि अपने समाजवादी लक्ष्य तक पहुँचने के लिए रूस ने राजनैतिक स्वतन्त्रता के खून से कैसी होली खेली है, और इन रक्तरंजित मार्गों से गुज़रते हुए भी रूस आज अपने लक्ष्य से भटका हुआ ही है, वे हर्गिज़ इसका समर्थन नहीं करेंगे, विशेष कर जब कि रूस के पीछे पीछे चलने का अर्थ उतने ही निश्चित रूप से ब्रिटेन और अमरीका की शत्रुता का आवाहन करना है जितना ब्रिटेन और अमरीका का पिट्ठू बन कर रूस का विरोध मोल लेना है।

इसके अतिरिक्त एक तीसरी विचार-धारा भी है, जिसके अनुसार हमें न

तो ब्रिटेन और अमरीका का साथ देना चाहिए और न रूस के पीछे पीछे चलना चाहिए। यदि हम जनतंत्र और समाजवाद की खोज में हैं तो हमें न तो पहिले डेरे में वास्तविक जनतंत्र के दर्शन होंगे और न दूसरे डेरे में वास्तविक समाजवाद के। दोनों डेरों से अपने को अलहदा रखना ही हमारे लिए श्रेयस्कर है। सभी देशों के प्रति हमारी परंपरागत मित्रता की भावना, शक्ति की राजनीति से अपने को अलहदा रखने का हमारा निश्चय, तीसरे महायुद्ध के सीधे संपर्क से अपने को अछूता रखने का हमारा प्रयत्न और शान्ति, जनतन्त्र और समानता के सिद्धान्तों को संसार में फैला देने का हमारा ध्येय, इन सब बातों का संकेत स्पष्टतः इसी दिशा में है कि हम आज के बढ़ते हुए विश्व-संघर्ष से अपने को तटस्थ रखने का प्रयत्न करें। इस तीसरी विचार-धारा का मैं समर्थक हूँ। बशर्त्ते कि तटस्थता का अर्थ निष्क्रियता न हो। हिन्दुस्तान को आज यह मान कर चलना है कि—

१ अमरीका और रूस बड़ी तेज़ी से एक अनिवार्य संघर्ष की ओर बढ़ रहे हैं और उसके लिए तैयारियाँ कर रहे हैं;

२ यदि इस संघर्ष को समय रहते नहीं रोका गया तो उसकी लपटें सभी देशों में और विशेषकर उन देशों तक जो रूस के पास हैं, पहुँचेंगी;

३ विश्व-शांति के लिए आवश्यक है कि यह संघर्ष यदि अनिवार्य भी है तो उसे सीमित किया जाए और जितने अधिक देश उसके बाहर रखे जा सकें उन्हें संगठित करने का प्रयत्न किया जाए;

४ इस दिशा में सभी तटस्थ देशों का नेतृत्व अपने हाथ में लेने का दायित्व हिन्दुस्तान पर आ जाता है;

५ इस काम में उसे चीन का सहयोग व एशिया के अधिकांश देशों का सक्रिय समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस दिशा में हिन्दुस्तान को चलना है पर उसके साथ ही हमें यह भी नहीं भूलना है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर वही देश अपना प्रभाव डाल सकता है जो शक्तिशाली हो। बँटवारे के बाद भी जनसंख्या और भौगोलिक विस्तार की दृष्टि से हम चीन को छोड़ कर दुनियां के सब देशों से बड़े हैं, और हमारे प्राकृतिक साधन संभवतः चीन से भी अधिक हैं। हमारे सामने जो काम है वह यही है कि हम अपनी इस अपार जनसंख्या को उन असीम प्राकृतिक साधनों का, जो हमारे देश में चारों ओर बिखरे पड़े हैं, अधिक से अधिक उपयोग करने की दिशा में जुटा सकें। उसके लिए जहां एक सर्वांगीण योजना की आवश्यकता है यह भी आवश्यक है कि उस योजना के विकसित और कार्यान्वित होने के लिए उचित वातावरण हो, हमारी शासन-व्यवस्था का आधार आधुनिक, वैज्ञानिक और जनतंत्रीय हो, देश

में शांति, सुव्यवस्था और राष्ट्रीय सरकार के प्रति राजभक्ति की भावना हो और अपने निकटतम पड़ोसी, पाकिस्तान के साथ हमारे संबंध अच्छे हों। इस दृष्टि से अभी तो हम प्रारंभिक प्रसव-पीड़ा के युग से ही गुजर रहे हैं; नवनिर्माण का समय तो इसके बाद ही आ सकेगा।

हमारी वैदेशिक नीति के आधार-तत्व

जिस किसी भी वैदेशिक नीति पर हम चलें उसके आधार-तत्वों का निर्धारण करने में भी हमें बड़ा सतर्क रहना पड़ेगा। पहिली बात तो यह है कि हम अपने दृष्टिकोण को संकीर्ण न बनने दें। अपनी राष्ट्रीयता को अपने पड़ोस के देश पाकिस्तान के विरुद्ध उभाड़ना बहुत सरल काम है और आज की अस्थायी परिस्थितियों में हममें से बहुत सों को यह स्वाभाविक ही दिखता है। पश्चिमी पाकिस्तान में हिन्दू और सिक्खों के साथ जो अमानुषिक अत्याचार हुए हैं उनके आधार पर हमारे राष्ट्रीय नेता भी यदि चाहते तो जनता को आसानी से न केवल बदला लेने के लिए वरन् युद्ध के लिए भी संघटित कर सकते थे। इस संबंध में जनता आज इतनी भावुक, संवेदनशील और तत्पर है कि नेताओं के लिए ऐसा करना अपनी लोकप्रियता को बढ़ाने का एक साधन ही होता। मुझे खुशी है कि हमारे राष्ट्रीय नेतृत्व ने अपने को इतना ऊँचा, प्रखर और निर्भीक प्रमाणित किया कि वह इन सस्ते आकर्षणों से अपने को मुक्त रखने में समर्थ हो सका। पाकिस्तान से युद्ध की कल्पना न केवल एक पागलपन है बल्कि आत्मघात् के समान है। देश की खोई हुई एकता को फिर से प्राप्त करने का इससे ग़लत कोई तरीक़ा नहीं हो सकता। पाकिस्तान से युद्ध शुरू करके हम मुसलमानों की धार्मिक कट्टरता को बढ़ावा ही देंगे, और उन्हें हिन्दुस्तान के खिलाफ़ दूसरे देशों से राजनैतिक गठबंधन करने पर मजबूर कर देंगे। देश की एकता को यदि हम किसी प्रकार से प्राप्त कर सकते हैं तो वह मुसलमानों का विश्वास प्राप्त करके ही, और वह विश्वास प्रेम और सौहार्द्र के मार्ग पर चल कर ही प्राप्त किया जा सकता है। किसी अन्य मार्ग से प्राप्त की हुई एकता अधिक दिनों तक टिक नहीं सकेगी। पाकिस्तान से जैसे संबंध हम बना सकेंगे उन पर एशिया के भविष्य का बनना या बिगड़ना निर्भर होगा।

दूसरी बात जो हमें ध्यान में रखना है वह यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में हमें किसी अन्य राष्ट्र के, चाहे उससे हमारे संबंध कितने ही पुराने क्यों न हों और चाहे उससे हमारी विचार-धारा का कितना अधिक सान्निध्य ही क्यों न हो, पीछे पीछे नहीं चलना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति आज

जिन दो गुटों में बँट गई है उनमें से किसी एक गुट का समर्थन करके हम दुनिया में विग्रह को ही प्रोत्साहन देंगे, और इन दोनों गुटों का आपसी मत-भेद जितना अधिक तीव्र होगा विश्व-शांति को बनाए रखना उतना ही कठिन होता जायगा। यदि हम अमरीका और ब्रिटेन के गुट में सम्मिलित होते हैं तो हम रूस का विरोध मोल ले लेंगे, और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में यदि हमने रूस का अनुगमन किया तो अमरीका और ब्रिटेन अपनी समस्त शक्ति हमारी इस नवजात स्वाधीनता को कुचल डालने में लगा देंगे। अभी हम इस स्थिति में नहीं हैं कि किसी भी बड़े राष्ट्र से युद्ध का खतरा मोल ले सकें। इस प्रकार की दलबन्दी का हमारे देश के आन्तरिक जीवन पर भी बहुत बुरा असर पड़ेगा। अमरीका और ब्रिटेन के समर्थन का अर्थ होगा, पूंजीवाद का प्रभुत्व, और यदि हमारे देश में पूंजीवाद को अधिक मजबूत बनने दिया गया तो उसकी प्रति-क्रिया के रूप में साम्यवादी शक्तियों का प्रबल होना अनिवार्य है, और वैसी दशा में हमें भी गृह-युद्ध के उसी मार्ग पर चलने के लिए विवश होना पड़ेगा जो आज चीन, मलाया, बर्मा, स्याम और हिन्देशिया के जीवन को दुखी बनाए हुए है। दूसरी ओर, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में यदि हम रूस के पीछे पीछे चले तो हमें अपने वर्त्तमान राष्ट्रीय नेतृत्व को तो खोना ही पड़ेगा, वैसे योग्य नेतृत्व के अभाव में देश में अराजकता की स्थिति भी उत्पन्न हो सकती है। अभी हम इस स्थिति में भी नहीं हैं कि देश में वर्ग-संघर्ष के आधार पर खड़े होने वाली आर्थिक क्रांन्ति के अंधड़ का वेग सह सकें, और न इस स्थिति में ही हैं कि सामजिक अराजकता को अपना विनाशात्मक ताण्डव करने दें।

सच तो यह है कि हमें अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपने लिए एक स्वतन्त्र मार्ग का निर्माण करना है। हमें उन सभी देशों का सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए जो आज अमरीका और रूस दोनों के प्रभाव-क्षेत्रों से बाहर हैं, और उनके साथ निकटतम संबंध बना लेने चाहिए। अमेरिका और रूस के बीच आज सीधा संघर्ष नहीं है। दोनों देश उस सीधे संघर्ष की तैयारी में हैं, और धीरे धीरे अधिक से अधिक देशों को अपने प्रभाव के अन्तर्गत ले आने का प्रयत्न कर रहे हैं, जिससे आने वाले महायुद्ध में उन देशों का आर्थिक और सैनिक समर्थन प्राप्त हो सके। यह निश्चित है कि ये दोनों प्रभाव क्षेत्र जितने अधिक फैलते जाएंगे, युद्ध उतना ही निकट आता जाएगा। हिन्दु-स्तान को आज दोनों राष्ट्र-समूहों के एक सच्चे मित्र के समान उनके इन फैलते हुए प्रभाव-क्षेत्रों के बीच में घुस जाना चाहिए और उनके प्रभाव-क्षेत्रों के भौगोलिक अन्तर को बढ़ाते जाना चाहिए जिससे उनकी सीमाएं कभी भी

एक दूसरे का स्पर्श न कर सकें। विश्व-शान्ति के लिए आज इसी प्रकार के तीसरे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता है, जनतन्त्र जिसका आधार हो, अहिंसा साधन और विश्व-शान्ति लक्ष्य। ब्रिटेन में मज़दूर दल की विजय के पीछे रूस और अमरीका दोनों के प्रभाव से स्वतंत्र जनतंत्रीय समाजवादी देशों का एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बनाए जाने की अपेक्षा थी। ब्रिटेन स्वभावतः ही इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का नेता होता, पर ब्रिटेन की आर्थिक विवशताएं उसे अमरीका पर अधिक से अधिक निर्भर बना रही हैं। ब्रिटेन के बाद चीन ने इस रास्ते पर चलने का प्रयत्न किया। विश्व-शांति के लिए प्रयत्नशील किसी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को मजबूत बनाने की दृष्टि से वह अपनी सार्वभौम सत्ता का भी एक अंश तक त्याग करने के लिए तैयार था। परन्तु बढ़ते हुए गृह-युद्ध की लपटों ने चीन को इतना अधिक झुलस दिया है कि आज वह किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व को उठाने की स्थिति में नहीं है। ब्रिटेन और चीन के बाद शान्ति के लिए इच्छुक सभी जनतंत्रीय प्रगतिशील देशों को एक सूत्र में बांध देने का उत्तरदायित्व हिन्दुस्तान पर आ जाता है। मैं मानता हूँ कि आज हिन्दुस्तान इस स्थिति में है कि वह इस उत्तरदायित्व का निर्वाह सफलता के साथ कर सके।

इस उत्तरदायित्व को ठीक से निभाने के लिए यह आवश्यक होगा कि हिन्दुस्तान जिस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के निर्माण में योग दे उसका आधार कुछ बड़े और स्पष्ट सिद्धांतों पर हो। मेरी दृष्टि में पहिला सिद्धांत तो यह होना चाहिए कि जो देश इस संगठन में शामिल हों वे अपने आंतरिक शासन में जनतंत्र के सिद्धांत को मानने वाले हों, और इस जनतंत्र का आधार केवल राजनैतिक समानता नहीं वरन् आर्थिक समानता भी हो। इसका अर्थ होगा इन देशों में न केवल उत्तरदायी शासन की स्थापना वरन् पूंजीवाद का अन्त और संपत्ति का एक बड़ी सीमा तक बराबरी के आधार पर बंटवारा। इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का दूसरा बड़ा सिद्धान्त यह होना चाहिए कि उसके अन्तर्गत जितने भी देश हों वे एक दूसरे के साथ एक ऐसा आर्थिक सहयोग स्थापित कर सकें जो सभी देशों के लिए समान रूप से लाभप्रद हो। जो देश आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं उन्हें अन्य देशों से आर्थिक सहायता मिलनी चाहिए। जहाँ उद्योग धंधों के विकास की आवश्यकता है वहाँ उनका विकास किया जाना चाहिए, और जहां खेती बाड़ी में मध्य-कालीन साधनों का अभी तक व्यवहार किया जा रहा है वहां नवीनतम यंत्रों के प्रयोग के लिए प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। ये सभी देश जब तक आर्थिक स्तर पर अपने को एक दूसरे से आबद्ध नहीं पाएँगे उनके आपसी संबंध दृढ़ और स्थाई नहीं बन सकेंगे। इस अन्तर्रा-

ष्ट्रीय संगठन के लिए तीसरे सिद्धांत पर चलना भी आवश्यक होगा और वह यह है कि इन सभी देशों में निकट सांस्कृतिक संपर्कों की स्थापना के लिए अधिक से अधिक अवसर जुटाए जाएँ। जब तक संसार के प्रगतिशील देशों में इस प्रकार का मुक्त सांस्कृतिक आदान-प्रदान नहीं होगा तब तक हम अपनी मानसिक संकीर्णता को नहीं छोड़ सकेंगे। संस्कृति की बहुत बड़ी विभिन्नता के लिए आज की इस दिन प्रति दिन संकुचित होती जाने वाली एक और अविभाज्य दुनियां में गुंजाइश ही कहाँ रह गई है? मानव-संस्कृति तो अन्ततः एक ही है न? हमें संस्कृति के उस मूल-रूप की ओर बढ़ना है। वैसा करने के लिए हमें दूर दूर के देशों के साहित्य, कला, विज्ञान और विचार-धाराओं से परिचित होने की आवश्यकता होगी। इन सांस्कृतिक संपर्कों के महत्व को हम अपने भविष्य को खतरे में डाल कर ही भुलाने की ग़ल्ती कर सकते हैं। इस अन्तर्राष्ट्रीय संघ की चौथी, और सबसे बड़ी शर्त्त यह होगी कि उसका आधार एक खुली हुई राजनीति पर होगा जिसके दो बड़े स्तम्भ होंगे, सत्य और अहिंसा, दूसरे सभी मार्ग आज दुनियां के सामने बन्द हो चुके हैं। जब तक हम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कम से कम उतनी नैतिक भावना न ले आएँगे जितनी हम किसी भी जनतंत्रीय देश के राष्ट्रीय व्यवहार में आवश्यक समझते हैं तब तक विभिन्न देशों में विश्वास और समझौते की भावना उत्पन्न नहीं की जा सकेगी। आज का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यही है कि राष्ट्रीय स्तर पर कानून और नैतिकता के होते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर वैसी ही अराजकता है जैसी हिंस्र पशुओं से भरे हुए किसी जंगल में होती है। इसमें सन्देह नहीं कि यह सब काम बहुत मुश्किल है और उसी क्रियात्मक रूप देने के लिए हमें अपनी समस्त शक्तियां, चाहे वे प्रकट शक्तियां हों अथवा प्रसुप्त और संभाव्य और अन्तर्निहित शक्तियां, लगा देनी होंगी, पर मैं मानता हूँ कि वैसी शक्तियां हमारे पास मौजूद हैं और उन शक्तियों का अच्छे से अच्छा उपयोग करने के लिए योग्य नेतृत्व भी हमारे पास है। देश के नेताओं में मेरा विश्वास है, और मेरा विश्वास है कि बड़ी से बड़ी ऊँचाई तक उठने की उनमें सामर्थ्य भी है। देश की मौजूदा पीढ़ी में भी मेरा विश्वास है जिस पर उसके भविष्य का आधार है। बिगुल बज चुका है और अपनी इस महान् यात्रा पर हम चल भी पड़े हैं। लक्ष्य हमारे सामने है। अभी तो वह धुंधला और अस्पष्ट है, पर यह निश्चित है कि हम सही रास्ते पर हैं, और जब तक हमारा विवेक जागृत है और हमारी भावनाएं उचित नियंत्रण में हैं, हम उस पर चलते रहेंगे।

: ११ :

एशिया : अखंड अथवा विभाजित ?

हिन्दुस्तान के सामने, वैदेशिक नीति के क्षेत्र में, आज सबसे बड़ा काम एशिया की एकता को बनाए रखना है। हिन्दुस्तान अपने इस उत्तरदायित्व के प्रति सतर्क है, इसका अन्दाजा इससे किया जा सकता है कि मार्च-अप्रेल १९४७ में, उसके निमंत्रण पर, दिल्ली में एक विशाल एशियायी सम्मेलन बुलाया गया था। एशिया के अन्य देश भी एशिया की एकता की आवश्यकता को महसूस करते हैं, इसका प्रमाण इस बात से मिल जाता है कि इस एशियायी सम्मेलन में एशिया की लगभग सभी प्रमुख संस्थाओं के प्रतिनिधि मौजूद थे। एशियायी सम्मेलन में जो प्रमुख भावना काम काम कर थी वह एशिया के सांस्कृतिक एक्य पर जोर देने व आर्थिक स्तर पर निकटतम सहयोग के उपकारणों को खोज निकालने की भावना थी। राजनैतिक पक्ष एशियायी सम्मेलन में एक गौण वस्तु के रूप में ही मौजूद था। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का गुरुत्व-केन्द्र यूरोप से हटकर एशिया में आ गया था, इसका अहसास प्रतिनिधियों का था, पर यूरोप के प्रति विरोध का भाव उनके मन में नहीं था। इस बात पर बार बार जोर दिया गया कि हम एशिया में एकता की भावना को दृढ बनाना चाहते हैं पर यूरोप के विरोध में नहीं। गुलाम देशों में साम्राज्यवादी देशों के प्रति कड़वाहट थी, पर यह विश्वास भी था कि ये देश बदल जाने वाली परिस्थितियों से परिचित हैं और उनसे समझौते की भावना की अपेक्षा की जा सकती है। दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों व पश्चिमी यूरोप के साम्राज्यवादी देशों में इस प्रकार के कुछ अस्थायी समझौते हाल में किए भी जा चुके थे, जिनके कारण वहां के उग्र राष्ट्रीय आन्दोलनों की गति कुछ रुक सी गई थी। हिन्देशिया में राष्ट्रवादियों और डच सरकार के बीच नवम्बर १९४६ में एक समझौता हो चुका था। मलाया के लिए अंग्रेजों ने एक नए शासन-विधान की घोषणा कर दी थी। जनवरी १९४७ में औंग सान के नेतृत्व में बर्मी नेताओं का एक प्रतिनिधि मंडल इंग्लैण्ड निमंत्रित किया गया था जिससे बातचीत के बाद अंग्रेजी सरकार ने बर्मा के सम्बन्ध में भी एक नई

नीति की घोषणा की। हिन्द-चीन और फ्रांस में फर्वरी १९४६ में एक समझौता हो चुका था, यद्यपि उसका ठीक से पालन नहीं किया जा रहा था। फिलिपीन स्वतन्त्र हो चुका था। हिन्दुस्तान आज़ादी के प्रवेश-द्वार पर खड़ा था—अधिकांश प्रान्तों में कांग्रेस-राज्य एक बार फिर से स्थापित हो चुका था और केन्द्र में एक मिली जुली राष्ट्रीय सरकार के हाथ में शासन के सर्वाधिकार थे। अंग्रेज़ी सरकार केबिनट मिशन योजना से बँधी हुई थी। समस्त एशिया की धमनियों में एक नवीन जीवन का स्पन्दन था; नवीन स्वप्नों और नवीन आकांक्षाओं से समस्त एशिया अनुप्रमाणित हो चुका था।

एशियायी सम्मेलन की पृष्ठ भूमि और वातावरण

मैं एशियायी सम्मेलन में भाग लेने दिल्ली गया था। रास्ते भर हम लोग उन हृदय-द्रावक घटनाओं की कथा सुनते रहे जो पंजाब में पिछले कुछ सप्ताहों में हुई थीं, और धीरे धीरे मेरे मन पर पंजाब के हत्याकाण्डों का एक विशद चित्र खिंच गया। इन दिनों पंजाब में जो हुआ उसकी पुनरावृत्ति कुछ समय के बाद फिर हुई, पर अब तक जो हो चुका था वह भारतीय इतिहास में अनोखा था। हज़ारों की संख्या में धर्मांध व्यक्ति, सशस्त्र गिरोहों के रूप में मुक्त और अबाध गति से एक गांव से दूसरे गांव तक जाते थे, कुछ विशेष धर्मों के मानने वाले लोगों के मकानों को चारों ओर से घेर लेते थे और उनमें आग लगा देते थे जिसके परिणाम-स्वरूप सैंकड़ों और कभी कभी हज़ारों व्यक्ति ज़िन्दा जला दिए जाते थे। प्रायः स्त्रियों को नंगा करके एक कतार में खड़ा कर दिया जाता था और उनके साथ बलात्कार और अन्य अमानुषिक कृत्य किए जाते थे। हज़ारों मासूम बच्चों को भी बड़ी निर्दयता के साथ मार डाला गया। पंजाब का शासन-तंत्र बिल्कुल टूट चुका था। इन हत्याकाण्डों के परिणाम-स्वरूप पंजाब के पश्चिमी ज़िलों में हिन्दू और सिख एक बड़ी संख्या में पूर्वी जिलों में आ बसने के लिए विवश हो गए थे। मैंने जब दिल्ली में प्रवेश किया तो जमुना के पुल पर शहर की सुरक्षा के लिए एक बड़ा फौजी जमाव पड़ा हुआ था। एशियायी सम्मेलन के प्रमुख अधिवेशन में जाते समय शहर में कुछ झगड़ों की अफवाहें सुनी। मुस्लिम-लीग ने यह दिन देश भर में पाकिस्तान दिवस के रूप में मनाने का निश्चय किया था! एशिया भर के प्रतिनिधि जब एशिया के सबसे बड़े सम्मेलन में एशिया की सांस्कृतिक एकता की चर्चाओं में थे, हिन्दुस्तान की राजधानी में कर्फ्यू लग चुका था। रात भर पुरानी दिल्ली 'अल्लाहो अकबर', 'हर हर महादेव' और 'सत् श्रीअकाल' के नारों

से गूंजती रही, जिनकी प्रतिध्वनि नई दिल्ली में भी सुनाई दे रही थी। फौज और पुलिस की एक अभूतपूर्व व्यवस्था के कारण एशियायी सम्मेलन के दिनों में दिल्ली में शांति रखी जा सकी। सरकार के सामने देश की प्रतिष्ठा का प्रश्न था; राजधानी में किसी प्रकार की अव्यवस्था बर्दाश्त नहीं की जा सकती थी। पर, यह स्पष्ट था कि एशियायी सम्मेलन एक ऐसे ज्वालामुखी के शिखर पर आयोजित किया गया था जो पिछले आठ-नौ महीनों से कलकत्ता और नौआखाली, बिहार और गढ़मुक्तेश्वर में बार बार धधक उठता था और जिसका एक बड़ा विस्फोट अभी पंजाब के पश्चिमी जिलो में शान्त भी नहीं होने पाया था। क्या ये प्रवृत्तियां इस बात का स्पष्ट संकेत नहीं थी कि एशिया के ऐक्य और संगठन की बात समय से कुछ पहिले की जा रही थी?

एशियायी सम्मेलन के कुछ महीनों के भीतर हिन्दुस्तान को स्वाधीनता मिल गई, पर वह उसे एकता के मूल्य पर मिली। पंजाब की घटनाएँ किसी नई भावना की द्योतक नहीं थीं। वे तो साम्प्रदायिक वैमनस्य की उस लंबी शृंखला की अन्तिम कड़ी के रूप में थीं जो देश को अपने फौलादी पंजे में जकड़ता जा रहा था। यह स्पष्ट होता जा रहा था कि हिन्दू और मुसलमान अब अधिक समय तक क दूसरे के साथ मिल जुल कर नही रह सकेंगे। पंजाब की घटनाओं ने इस सत्य को और भी स्पष्ट कर दिया। सिखों ने पंजाब के विभाजन की मांग की। पँजाब की स्थिति को देखते हुए कांग्रेस के सामने उसे मान लेने के अतिरिक्त कोई रास्ता नहीं रह गया था। पजाब के विभाजन की मांग ने बंगाल के विभाजन की मांग को बल दिया, और जिस आधार पर प्रान्तों के विभाजन का समर्थन किया जा रहा था उस पर देश का विभाजन अस्वीकार्य ठहराना अब संभव नहीं रह गया था। एशिया की एकता की ध्वनि अभी हमारे कानों में गूंज ही रही थी कि हिन्दुस्तान के विभाजन की योजना को हमने कार्यान्वित होते हुए देखा। मैं तो मानता हूँ कि उसके पीछे अन्तर्राष्ट्रीय जगत की कुछ ईर्षाएँ और आर्थिक साम्राज्यवाद के कुछ षड्यन्त्र भी थे। एशियायी सम्मेलन में ही मैंने इस बात को महसूस किया था कि उसके पीछे हमारे देश के पूंजीपतियों का सहयोग जहां एशियायी संस्कृति के प्रति उनकी श्रद्धा का परिचायक था उसका एक कारण यह भी था कि वे एशियायी संबंधों के नाम पर मध्य-पूर्व और दक्षिण-पूर्वी एशिया के बाज़ारों को अपने औद्योगिक उत्पादन से भर देना चाहते थे। इससे विशेष कर अमरीका और थोड़ा बहुत ब्रिटेन के स्वार्थों को धक्का लगने का भय था। उधर, दक्षि-णपूर्वी एशियो में पश्चिमी शक्तियाँ साम्राज्य के जो भी अवशेष बचा कर रखना चाहती थी एशियायी संगठन में उनके भी समाप्त हो जाने का भय था।

इस कारण हिन्दुस्तान के प्रति एक शंका और अविश्वास की भावना का विकास होने लगा। अंग्रेजों ने देश को दो भागों में बांटने का प्रस्ताव रखा इसमें उन्हें स्पष्टतः अमरीका का नैतिक समर्थन प्राप्त था। एक मिली जुली केन्द्रीय सरकार के शासन में हम सारे देश को संगठित रख सकेंगे, इससे हमारा विश्वास भी उठ गया था। यह निश्चय हमें था ही कि जब तक अंग्रेज हैं हम अपनी साम्प्रदायिक समस्या को हर्गिज़ सुलझा नहीं सकेंगे, और इस कारण बँटवारे की क़ीमत पर फौरन ही आज़ादी दिए जाने का प्रस्ताव जब हमारे सामने आया तो उसे मान लेने के अतिरिक्त कोई रास्ता नहीं था। इस प्रकार, एशिया भर को एक बनाने के प्रयत्नों में दृढ़ प्रतिज्ञ हमारे नेताओं को अपने ही देश का, जिसे प्रकृति और भूगोल, इतिहास व संस्कृति सभी ने एक बनाया था विभाजन मानने पर विवश होना पड़ा। नियति का कैसा दारुण उपहास था यह!

हिन्दुस्तान का विभाजनःएशिया की एकता को चुनौती

जिन राष्ट्रीय नेताओं ने देश के बँटवारे के सिद्धान्त को माना था उनके सामने कुछ निश्चित मान्यताएँ थीं। वे जानते थे कि छोटे राज्यों का युग अब सदा के लिए चला गया है और—अमरीका का महाद्वीप, दक्षिण-पूर्वी एशिया अथवा मध्य-पूर्व —सभी जगह राजनैतिक चिन्तन की प्रवृत्ति बड़े संघबद्ध संगठनों की ओर है। वे जानते थे कि आज तो युद्ध के साधन इतने वैज्ञानिक हो गए हैं और छोटे राज्यों की स्थिति इतनी दयनीय हो गई है कि उनके सामने किसी बड़े संघ में शामिल होने अथवा अपने अस्तित्व को मिटा देने के अतिरिक्त कोई तीसरा मार्ग नहीं रह गया है। सैनिक और सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में पड़ोसी राष्ट्रों के साथ एक निकट सूत्र में आबद्ध होना आज तो अनिवार्य हो गया है। हमारे नेताओं का यह विश्वास था कि पाकिस्तान भौगोलिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक सभी दृष्टियों से देश के शेष भागों से इतना संबद्ध है कि वह राजनैतिक दृष्टि से अपने को बिलकुल स्वतन्त्र नहीं रख सकेगा। उन्हें पूर्ण विश्वास था कि आर्थिक पुनर्निर्माण की योजनाएं और रक्षा के प्रश्न ही उसे हिन्द सरकार के साथ बहुत सी बातों में सहयोग स्थापित करने के लिए विवश कर देंगे। दूसरे, वे यह भी जानते थे कि मज़हबी कट्टरपन का ज़माना भी अब सदा के लिए चला गया है। उनका विश्वास था कि पाकिस्तान के बन जाने के बाद देश के मुसलमानों में जो मज़हबी जोश आज दिखाई दे रहा है वह अपने आप समाप्त हो जायगा।

उन्हें पूरा यक़ीन था कि पाकिस्तान के नेताओं के सामने इसके अलावा कोई रास्ता नहीं रह जायगा कि वे प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों पर अपने शासन का संघटन करें—वे तो यह मानते थे कि हमारी विधान-परिषद के कार्य का वे बड़ी सीमा तक अनुकरण करेंगे और अल्पसंख्यकों के प्रति सद्भावना दिखाएँगे। इससे भिन्न किसी बात की वे कल्पना भी न कर सकते थे। प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय विचार-धाराओं की अपनी जानकारी के बल पर उन्हें दृढ़ विश्वास था कि पाकिस्तान में भी राजनीति का आधार प्रजातंत्र और सहिष्णुता के सिद्धान्तों ही पर रखा जायगा। अपने इन सभी विश्वासों के कारण अपने निकट पड़ौस में, अपने दोनों ओर की सीमाओं पर, पाकिस्तान के निर्माण से उन्हें किसी प्रकार का भय नहीं था। हमारे सीमा-प्रान्तों पर अब तक भी अफ़ग़ानिस्तान और ईरान जैसे मुस्लिम देश थे। दर्जनों मुस्लिम देशों में जिन सबसे हमारे संबंध सदा ही बड़े अच्छे रहे, एक और मुस्लिम-देश की वृद्धि हो जाने से हमारे मन में किसी प्रकार भी आशंका उठना अस्वाभाविक ही होता। हमें पूर्ण विश्वास था कि पाकिस्तान से हमारे संबंध मित्रता के अतिरिक्त और किसी प्रकार के नहीं होंगे।

पर, कुछ ऐसी बातें थीं जिनके सम्बन्ध में उन्होंने बहुत स्पष्ट रूप से नहीं सोचा था। हिन्दुस्तान का बँटवारा एक बड़े ग़लत सिद्धांत पर किया गया था। पश्चिम में राजनीति से धर्म की सत्ता को मिटे हुए तीन शताब्दियाँ बीत चुकी थीं, पर हमारे देश के विभाजन का मुख्य आधार धर्म ही था। पाकिस्तान की मांग के पीछे एक कट्टर धर्मांधता थी, और यह निश्चित था कि उसका विकास और संगठन भी कट्टर धर्मांधता के आधार पर ही किया जायगा। हमारे देश के नेताओं का यह विश्वास था कि पाकिस्तान मिल जाने के बाद मुसलमान यह महसूस करेंगे कि वे अधिक से अधिक जो चाहते थे, समस्त अव्यावहारिकता के होते हुए भी, वह उन्हें मिल गया है और वे अब संतुष्ट होकर बैठ जाएँगे। यह एक बड़ी तर्क-सम्मत धारणा थी और ऐसे लोगों से, जो तर्क और विवेक को अपने काम की कसौटी बना कर चलते हों, सहज ही इसकी आशा की जा सकती थी। कुछ विशेष परिस्थितियाँ यदि खड़ी नहीं हो जातीं तो मुस्लिम-लीग के नेता सम्भवतः आरंभ से ही इस बात पर ज़ोर देते, पर इस विश्वास का आधार बड़ा कमज़ोर था। कोई भी घटना, किसी प्रकार की अफ़वाह, कोई हल्का सा प्रोत्साहन मुसलमानों के धार्मिक जोश को उभाड़ने के लिए काफी था हमारे राष्ट्रीय नेताओं ने संभवतः यह कल्पना भी नहीं की थी कि पाकिस्तान में रहने वाले प्रान्तों में ग़ैर-मुसलमानों पर जो अत्याचार होंगे उनकी प्रतिक्रिया हिन्दुस्तान के ग़ैर-मुसलमानों पर होगी। पाकि-

स्तानी प्रदेशों से भागने वाले ग़ैर-मुसलमान उस प्रतिक्रिया को तूफ़ान में फैल जाने वाली आग की लपटों की तरह चारों ओर फैला सकेंगे और देश के विभाजन के परिणाम-स्वरूप खीझ, झुंझलाहट और आक्रोश की जो भावनाएँ इस देश की ग़ैर-मुसलमान जनता के मन में अन्तर्हित थीं वे एक व्यापक अग्निदाह के लिए अच्छा वातावरण तैयार कर देंगी। अपने निकट पड़ौस में निपट दुराग्रह और नृशंस हिंसा के बल पर स्थापित धर्म का आधार लेकर चलने वाले एक इस्लामी राज्य के बन जाने की स्वाभाविक प्रतिक्रिया यह हुई कि हिन्दुओं में भी हिन्दू-धर्म का आधार लेकर, एक वैसा ही मजहबी, और कट्टर, हिन्दू राज्य कायम कर लेने की प्रवृत्ति बढ़ी। जिस पाकिस्तान का वे वर्षों से विरोध कर रहे थे, क़ायदे-आज़म जिन्ना की जिस राजनीति के प्रति वे घृणा और तिरस्कार की भावना से भरे हुए थे, और धर्म के आधार पर राज्य के निर्माण की जिस माँग को वे मध्य-युगीन, बर्बरतापूर्ण और अव्यावहारिक कहा करते थे उसके, कुछ विशेष परिस्थितियों के कारण, क्रियात्मक रूप लेते ही वे उसका अनुकरण करने के लिए बेचैन हो उठे। वे कहने लगे कि हमें नहीं चाहिए गांधी और नेहरू जो मुसलमानों को भारतीय राष्ट्र में बराबरी के अधिकारों का दावेदार मानते थे, हमें नहीं चाहिए 'डेमोक्रेसी' जिसमें अल्पसंख्यकों को विशेष सुविधाएँ और विशेष अधिकार देने की बात हो और हमें नहीं चाहिए ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय जनमत का समर्थन जो हमें अपने देश में एक धार्मिक राज्य बनाने से रोकना चाहे। हमें तो ऐसा नेता चाहिए जो कायदे-आज़म के समान हमारा नेतृत्व कर सके और हमें एक ऐसा राज्य स्थापित करने में सहायता दे सके जिसके लिए राजपूतों ने केसरिया बाना पहिना था और मराठों ने भगवे झंडे को फहराया था। हमें तो हिन्दू-राज्य चाहिए। हमें इसकी पर्वाह नहीं कि दुनियां क्या कहेगी। अन्तर्राष्ट्रीय जनमत की छाती पर जब पाकिस्तान जैसा मुस्लिम राज्य क़ायम किया जा सकता है तो हिन्दू-राज्य की स्थापना क्यों असंभव है? हमारे नेता ही क्यों इतने बुजदिल और डरपोक हैं कि वे हिन्दू-धर्म के प्रतीक भगवे झंडे को दिल्ली के लाल किले नहीं पर लहरा सकते ?

साम्प्रदायिक विभाजक-तत्वों पर राष्ट्रीयता की विजय

यह निश्चित है कि साम्प्रदायिक विद्वेष के इस बढ़ते हुए अंधड़ में भारतीय सरकार यदि अपना मानसिक संतुलन खो बैठती और उसके सामने झुक जाती तो न केवल हमारे देश की प्रगति को ठेस पहुँचती, समस्त एशिया को मध्य-युगीन बर्बर फ़ासिस्ट प्रवृत्तियों को भी बड़ा प्रोत्साहन मिलता। हमारे

देश में मुसलमानों पर होने वाले प्रत्येक अत्याचार की गूंज न केवल पाकिस्तान के कोने कोने में सुनाई देती, सभी इस्लामी देशों पर उसकी प्रतिक्रिया होती। इन सभी इस्लामी देशों में धर्मांधता की वे भावनाएं जिन्हें राष्ट्रीयता के विकास ने अब तक नियंत्रण में रखा है, एक बार फिर प्रबल हो उठतीं, और उनके विरुद्ध हम अपने अन्य पड़ोसी देशों में हिन्दू और बौद्ध तत्वों को जागृत करने के प्रयत्न में जुटे होते। धर्म के आधार पर एशिया का एक मनोवैज्ञानिक बँटवारा हो जाता, और उससे एशिया के सभी देशों के आपसी संबंधों में अनेकों उलझनें पैदा हो जातीं। आज इस्लामी देश इस स्थिति में नहीं हैं कि वे सामूहिक रूप में भी हिन्दुस्तान पर आक्रमण करने का साहस कर सकें, पर वे बाहरी देशों के हाथ अपनी राजनैतिक स्वाधीनता और आर्थिक साधनों को बेंच कर भी अपनी शक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न करते, और उससे अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ अधिक जटिल बनतीं। इस्लामी देशों, विशेष कर ईरान और एक सीमा तक मिश्र, में इस प्रकार की प्रतिक्रियाएँ आरंभ भी हो गई थीं, पर भारतीय सरकार विवेक के मार्ग पर जिस साहस और दृढ़ता के साथ चलती रही, और देश में एक असांप्रदायिक भौतिक लोकतंत्र की स्थापना पर उसका जो आग्रह रहा, और सभी सांप्रदायिक प्रवृत्तियों को कुचलने का उसने जो भरसक प्रयत्न किया, उसका परिणाम यह हुआ कि धर्म के आधार पर एशिया के किसी विभाजन का खतरा बिल्कुल मिट गया। हिन्दुस्तान में सांप्रदायिक दंगे और रक्तपात ज्यों ज्यों कम होते गए, इस्लामी देशों में उनकी गूंज भी धीमी पड़ती गई, और पाकिस्तान का हिन्द-विरोधी प्रचार भी उतना ही प्रभावहीन होता गया। इस्लामी देशों में हमारे प्रति विश्वास की भावना फ़िर लौटी, और एशिया में धर्मांधता के तत्वों के जिस विनाशकारी ताण्डव की आशंका लोगों के मन में विकसित होने लगी थी वह मिट गई। देश भर में करोड़ों लोगों के मन में प्रतिहिंसा की जो भावना फैल गई थी, एक जनतंत्रीय सरकार का उसके सामने न झुकना और असांप्रदायिक आधार पर एक लोकतंत्रीय शासन के आदर्श पर जमे रहना, इतिहास की बहुत बड़ी उपलब्धियों में गिनी जानी चाहिए।

गृह युद्ध की नई लपटें : स्याम मलाया, बर्मा

परंतु, हिन्दुस्तान में जब हमारा राष्ट्रीय नेतृत्व उन विशाल लपटों को बुझाने और कुचलने के काम में लगभग सफल हो चुका था जिनके एशिया भर में फैल जाने और उसके समस्त भविष्य को क्षार कर देने का भय था,

चीन में कई वर्षों तक चलने वाले गृह-युद्ध की चिनगारियां अपने पड़ोसी देशों में उड़ उड़ कर जाने लगी थीं और वहां नए और भयंकर विस्फोटों की सृष्टि करने के काम में लग गई थीं। एशिया की इस नई अराजकता का प्रारंभ संभवत: स्याम से हुआ, यद्यपि वहां विचार-धाराओं का संघर्ष उतना तीव्र नहीं था जितना मलाया, बर्मा और हिन्देशिया में। अप्रेल १९४८ में स्याम में एक सैनिक क्रांति हुई, जिसके प्रणेता वहां के सैनिक तानाशाह मार्शल पिबून संग्राम थे। स्याम की सरकार में पिछले पांच महीनों में यह तीसरा परिवर्त्तन था। पहिला परिवर्त्तन भी, जिसमें स्याम की १९३२ की क्रांति के नायक प्रिदी, व अन्य सभी तरुण और प्रगतिशील मंत्रियों को सरकार से हटा दिया गया था, पिबून संग्राम के इशारे पर ही हुआ था। उस समय नई खुआंग को प्रधान-मंत्री बनाया गया था। जनवरी १९४८ के चुनाव बड़े असंतोष जनक वातावरण में हुए, और उनके परिणाम-स्वरूप जो सरकार बनी उसमें भी नई-खुआंग प्रधान-मंत्री थे, और कुछ बड़े ज़मीदार, पुराने सरकारी नौकर और देशी राजा उनके मन्त्रि-मण्डल में थे। १ अप्रेल में इस मंत्रि-मण्डल को भी हटा दिया गया और स्वयं पिबून संग्राम ने देश का शासन अपने हाथ में ले लिया। यह एशिया के एक छोटे देश में फासिस्ट शक्तियों की हिंसात्मक विजय, और अन्य देशों के प्रगतिशील तत्त्वों को एक बड़ी चुनौती थी। इसके कुछ ही दिनों बाद, मई के प्रारंभ में, मलाया में गड़बड़ शुरू हुई। इस गड़बड़ के पीछे कम्यूनिष्टों द्वारा प्रेरित जमीदार, खानों और बन्दरगाहों पर काम करने वाले मजदूरों की बहुत सी मांगें थी। मज़दूरी बढ़वाने के अतिरिक्त वे कुछ आश्वासन भी चाहते थे जिनका उद्देश्य यह था कि जमींदारी में काम करने वाले व्यक्ति मज़दूर-संघों की स्वीकृति के बिना नौकरी से न हटाए जाएँ और ऐसे मजदूर और ठेकेदार, जिन्हें संघ स्वीकार न करे, नौकरी पर न रखे जाएँ। इन मांगों को लेकर सिंगापुर और स्वेटनहम के बन्दरगाहों में हड़तालें हुईं, पर वे असफल रहीं। अन्य स्थानों की हड़तालों में भी जब शिथिलता आने लगी तब मालिकों ने आक्रमणात्मक दृष्टिकोण का परिचय दिया। धमकियां दी गईं, हमले, लूटमार और हत्याएँ भी हुईं। इसके विरोध में कम्यूनिस्टों की ओर से प्रति हिंसा का प्रारंभ हुआ। जोहोर में एक जागीर के मज़दूरों ने एक पूरी जमींदारी पर कब्जा कर लिया और उसमें सामूहिक खेती करने लगे। पुलिस और फ़ौज को बुलाया गया। उसका प्रतिरोध हुआ। तब उसकी संख्या बढ़ानी पड़ी। पहिले संघर्ष में ही आठ मजदूरों की जान गई। इससे कड़वाहट फैली। मजदूरों ने फावड़े, भाले और कुल्हाड़ी का प्रयोग किया। जगह जगह हत्याएं

१ स्याम का सबसे बड़ा राष्ट्रीय नेता, प्रिदी, आज भी सिंगापुर में निर्वासित है।

होने लगीं और रबड़के गोदाम जलाए जाने लगे। सरकार ने कम्यूनिस्ट विचारों के मजदूर नेताओं को बड़ी संख्या में गिरफ्तार किया, और मज़दूर संस्थाओं के सबसे बड़े संघ को जिसमें लगभग सवालाख, मजदूर शामिल थे, ग़ैर-कानूनी करार दे दिया। कम्यूनिस्टें की प्रतिहिंसा भी दिन व दिन बढ़ती गई। एक लंबे अर्से तक उन्हें सफलता मिलती रही। उन्होंने अपने जंगलों में वर्षों से अंग्रेजी और जापानी हथियार इकट्ठा कर रखे थे शहरों में उनके योग्य गुप्तचर थे। जंगल में लड़ने का उन्हें अच्छा अभ्यास था। और मलाया का अधिकांश भाग घने जंगलों से भरा हुआ है। जनता का भी निष्क्रिय समर्थन उन्हें प्राप्त था। पर दूसरी ओर अंग्रेज़ इंग्लैण्ड और अन्य उपनिवेशो से फौजी दस्ते मंगा रहे थे, और मलाया के कम्यूनिस्टों को जड़मूल से नष्ट कर देने पर तुल गये थे। यह निश्चित है कि अंग्रेजी फ़ौजों की बढ़ती हुई संख्या और उनके नवीनतम हथियारों के सामने कम्यूनिस्टों का प्रतिरोध अधिक दिनों तक कायम नहीं रह सकेगा, पर गुरिल्ला-युद्ध की उनकी शक्ति को कुचलना आसान नहीं होगा।

१९४८ के ग्रीष्म में मलाया में अचानक दहक उठने वाली गृह-युद्ध की ये लपटें बड़ी तेजी से बर्मा की ओर बढ़ीं। बर्मा जनवरी १९४८ में मिलनेवाली स्वतंत्रता का बड़ी सुन्दरता से उपयोग कर रहा था, और एक ओर तो देश के खनिज पदार्थों के उत्पादन को बढ़ाने व महत्वपूर्ण उद्योग-धन्धों के राष्ट्रीयकरण के काम में लगा हुआ था और दूसरी ओर अपनी शिक्षा व संस्कृति में भी कुछ अभूतपूर्व प्रयोग कर रहा था। औंग-सांग की हत्या बर्मा की नवजात स्वाधीनता पर एक बड़ा प्रहार था, पर थाकिन नू के नेतृत्व में बर्मा एक बार फिर प्रगति के पथ पर चल पड़ा था। थाकिन नू ने १३ जून १९४८ को रंगून में एक भाषण दिया, उससे ब्रिटेन के कुछ पत्रों ने यह निष्कर्ष निकाला कि वह कम्यूनिस्ट है। यह गलत आरोप था। थाकिन नू एक कट्टर और धार्मिक बौद्ध हैं। अपने राजनैतिक और आर्थिक विचारों में उनका झुकाव स्पष्टतः समाजवाद की ओर है। उन्होंने बर्मा के सभी वामपक्षी दलों को मिलाना भी चाहा, पर उन्हें सफलता नहीं मिली। कम्यूनिस्टों से उनका झगड़ा राष्ट्रीयकरण के प्रश्न को लेकर प्रारंभ हुआ। थाकिन नू की सरकार ने विदेशी उद्योग-धंधों का राष्ट्रीयकरण करते समय उनके पुराने मालिकों का उचित मुआविज़ा देने का वायदा किया था। इन लोगों ने मुआविज़े के रूप में बहुत बढ़ी चढ़ी रकमें मांगी, और चाहा कि उनका फौरन ही नकद सिक्कों में भुगतान किया जावे, और इस मुआवज़े के, अथवा उनके लाभ के, नियति पर कोई नियंत्रण नहीं रखा जाय। यह निश्चय ही एक गलत माँग थी। [१]

---

[१] ब्रिटेन में एक जनवरी १९४७ में कोयले की खानों का राष्ट्रीयकरण किया

थाकिन नू की सरकार द्वारा इसके पूरा किए जाने की संभावना नहीं थी, पर इसकी प्रतिक्रिया के रूप में बर्मा में कम्यूनिस्टों का जोर बढ़ा। बर्मा में कम्यूनिस्टों के दो दल हैं—एक थाकिन सोए के नेतृत्व में लाल झंडे वाले, जिन अराकान में अधिक प्रभाव है, और दूसरे थाकिन तुन के नेतृत्व में सफेद झंडे वाले, जिनका प्रमुख कार्यक्षेत्र मध्य बर्मा है। थाकिन नू ने बहुत दिनों तक इस दूसरे दल के साथ मित्रता का वर्त्ताव रखना चाहा, पर बाद में उसे इस दल के बहुत से कम्यूनिस्टों को गिरफ्तार करने पर भी विवश होना पड़ा। बर्मा की सरकार आजकल कम्यूनिस्टों के उपद्रवों को कुचलने में व्यस्त है। कई मंत्रियों ने मंत्रिमंडल से त्याग-पत्र देकर फौज में नाम लिखा लिया है। स्थिति अभी तक सरकार के नियंत्रण में है, पर देश का समस्त राजनैतिक जीवन अनिश्चय और अस्थायित्व के थपेड़ों में चकनाचूर हो रहा है।

एशिया की प्रगति का लेखा-जोखा

यह एक निश्चित तथ्य है कि एशियायी सम्मेलन के बाद के अठारह महीनों में एशिया की प्रगति बड़ी धीमी मात्रा में हुई है, और उसे बड़ी बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। हिन्दुस्तान उसके कुछ ही महीनों बाद स्वाधीन बना, पर उसे यह स्वाधीनता एक व्यापक रक्तपात की मंहगी कीमत पर मिली, और स्वाधीनता के साथ ही उसमें कुछ ऐसी जहरीली प्रवृत्तियां भी जोर पकड़ने लगी जिन्होंने स्वाधीनता के जनक, हमारे राष्ट्र-पिता को हमसे छीन लिया। मिश्र अब भी अंग्रेजों के प्रभुत्व से निकलने के प्रयत्नों में लगा हुआ है। फिलीस्तीन की समस्या अभी सुलझी नहीं है। तुर्की, अमरीका व रूस की प्रतिस्पर्धा का शिकार बना हुआ है। ईरान में भी लगभग वैसी ही स्थिति है। बर्मा में एक रक्तिम गृह-युद्ध चल ही रहा है, और मलाया में अंग्रेजी दस्ते जनता के विद्रोह को कुचलने में व्यस्त हैं। हिन्देशिया आज भी स्वतंत्र नहीं है; स्वतंत्रता की शर्तों के संबंधमें अभी भी विचार-विनिमय चल रहा है। हिन्द-चीन, और हिन्द की फ्रांसीसी बस्तियों तक में फ्रांस अपने साम्राज्यवाद को समाप्त कर देने के लिए तैयार नहीं है। यह स्पष्ट है कि योरोपीय साम्राज्यवाद एशिया में अपने प्रभुत्व के अड्डे बनाए रखना चाहते हैं, कुछ ऐसे

गया था, परंतु अभी तक मुआवजे का तखमीना नहीं किया जा सका है, और ब्रिटेन में जहां कहीं मुआवजा दिया गया है, हुंडी अथवा हिस्से की शक्ल में ही दिया गया है, नकद नहीं, और किसी भी व्यक्ति को ब्रिटेन से कुछ पौण्ड से अधिक नकद रुपया बाहर ले जाने की इजाजत नहीं है।

केन्द्र जहां से एक भिन्न परिस्थिति में, वे एक बार फिर अपने साम्राज्यों को फैला सकें। चीन में तो विरोधी तत्त्व अपनी शक्ति के चरम शिखर पर हैं ही। समस्त उत्तरी चीन पर उनका अधिकार हो गया है, और अब उनकी सेनाएँ तेजी से दक्षिण के प्रमुख नगरों की ओर बढ़ रही है। जापान में भी शान्ति के चिन्ह कहीं दिखाई नहीं देते। उसे रूस के विरुद्ध हवाई आक्रमणों का आधार-स्थल बनाया जा रहा है। कोरिया में उसके अमरीका द्वारा नियंत्रित व रूस के अन्तंगत प्रदेशों के बीच झगड़ों की खबरें लगातार मिलती रहती हैं।

तब प्रश्न उठता है कि एशिया में हम किस ओर बढ़ रहे हैं? एकता और संगठन की ओर हम जा रहे हैं, अथवा विभाजन और विश्रंखलता की ओर? एशियायी एकता की वे लंबी चौड़ी बातें क्या केवल दिन के स्वप्नों के समान थीं अथवा उनका कोई ठोस आधार भी था? एशियायी संस्कृति की महानता के विश्वास में कोई तथ्य है अथवा हम सचमुच यूरोप अथवा अमरीका के पीछे पीछे चलने और दौड़ दौड़ कर उनकी आज्ञाओं को पूरा करने के लिए ही बनाए गए हैं? राजनैतिक स्वाधीनता मिल जाने पर भी क्यों हम अपने पैरों को बेड़ियों से जकड़ा हुआ, और आगे बढ़ने मे असमर्थ पाते हैं? यह तो निश्चित है कि यह हमारे जीवन का संक्रमण काल है और प्रत्येक देश को ऐसी स्थिति में संकटों का मुकाबिला करना पड़ता है। एशिया भर में बड़े, पुराने, शक्तिशाली साम्राज्य टूट टूट कर गिर रहे हैं, और उनके धमाके से स्वभावत: ही आसपास की जमीन में दूर दूर तक एक जलजला उठता है। कुछ लोगों का कहना कि ये साम्राज्य मिटते-मिटते भी अपने पीछे विग्रह के बीज छोड़ जाना चाहते हैं। इसमें भी संभवत: कुछ सचाई है। पर, एक बड़ा कारण यह भी जान पड़ता है कि सभी देशों में जिस नेतृत्व की अपेक्षा की गई थी, वह भी, इस संकट संक्रमण के काल में, एशिया की जनता को नहीं मिल रहा है। जिन नेताओं के हाथ में आज अधिकांश राज्यों की सत्ता है वे सामान्यत: वैधानिकता में विश्वास रखने वाले, प्राचीनतावादी औरधीमी गति के सुधारक हैं। जनता की आवश्यकताओं और उसकी आकांक्षाओं के वे सीधे संपर्क में नहीं हैं। शासन की उनकी कल्पना पुरानी है। इस स्थिति में उन्हें प्राय: ऐसे तत्वों [पूँजीपतियों और साम्राज्यवादी सरकारों] से सहयोग करना पड़ा है जिनके विरुद्ध वे एक लंबे अर्से तक लड़ते रहे हैं।

एशिया में साम्यवाद

एक विश्लेषण

यह निश्चित है कि एशिया के सभी देशों में साम्यवाद का प्रभाव तेजी

के साथ बढ़ता जा रहा है, पर मैं समझता हूँ कि इसके संबंध में हमारे बीच में बड़ी ग़लत फ़हमियां फैली हुई हैं। साधारणतः यह माना जाता है कि उसके पीछे रूस का हाथ है। रूस समस्त एशिया पर छा जाना चाहता है, यह विचार अमरीका और ब्रिटेन के समाचार पत्रों के द्वारा लगातार फैलाया जा रहा है। यह असंभव नहीं कि रूस एशिया के इस संक्रमण-काल की अस्थायित्व पूर्ण राजनीति का उपयोग एशिया में अपनी शक्ति को बढ़ाने की दिशा में करना चाहता है, पर हमें उन वास्तविक कारणों को भी खोज निकालना होगा जिन्होंने एशिया भर में साम्यवाद की प्रगति को इतना तीव्र बना दिया है, क्योंकि जब तक उन कारणों को दूर करने का समुचित प्रयत्न नहीं किया जाता तब तक ज़ोर-ज़बरदस्ती से कम्यूनिस्टों को कुचलने की सभी योजनाएँ निरर्थक सिद्ध होंगी। एशिया में साम्यवाद के तेज़ी से बढ़ते हुए प्रभाव के मूल में है—एशिया की ग़रीबी और एशिया के भाग्य विधाताओं की उसे दूर करने की दिशा में असमर्थता अथवा अनिच्छा। इसी पृष्ठ भूमि पर हम एशिया के साम्यवादी आंदोलनों को ठीक से समझ सकेंगे। चीन के कम्यूनिस्ट आंदोलन की जड़ में चीन की आर्थिक स्थिति है। चीन में ८० प्रतिशत से अधिक व्यक्ति गांवों में रहते हैं। उनमें से अधिकांश के पास ज़मीन नहीं है, वे बुरी तरह से कर्ज़ में लदे हुए हैं, बेईमान सरकारी अफ़सरों के जुल्मों से वे परेशान हो गए हैं और एक बड़े परिवर्त्तन के लिए वे उत्सुक हैं। कुंग चांग्टंग नाम का राजनैतिक दल—जो विदेशों में चीन के कम्यूनिस्ट दल के नाम से प्रसिद्ध है और—जो आज कुओमिन्टांग के हाथों से देश के एक बड़े भाग को 'मुक्त' कराने में सफल हुआ है। पिछली शताब्दी के असफल किसान विद्रोहों का ही एक विकसित रूप है, और उसका प्रमुख लक्ष्य कोई बड़ी सामूहिक क्रांति नहीं, किसानों को उनके प्रकृति-दत्त अधिकारों को दिलाना है। उनका आग्रह कम से कम, निकट भविष्य के लिए ज़मीन के समाजीकरण पर नहीं, किसानों द्वारा उसके समान अधिकार पर है। समाजीकरण वे भारी उद्योगों व, जमीन के अतिरिक्त अन्य सभी प्राकृतिक साधनों का ही करना चाहते हैं, परंतु उसमें भी व्यक्तिगत प्रेरणा को बिल्कुल ही कुचल देने की उनकी मंशा नहीं है। एक ऐसे वैधानिक शासन में, जिसमें सभी 'वर्गों' का प्रतिनिधित्व हो, उनका विश्वास है।[1] इसका अर्थ यह नहीं है कि कुंग चान्टंग और उसके नेताओं का मार्क्स-

---

१ १६३६ में माओ त्से तुंग द्वारा लिखी गई "नया जनतंत्र" नाम की प्रसिद्ध पुस्तक में चीन के लिए जिस नए शासन-विधान का प्रस्ताव किया गया था वह न तो साम्यवादी दल की तानाशाही थी न पश्चिमी ढंग का प्रजातंत्र, उसमें उन्होंने "सभी क्रांतिकारी दलों की एक मिली-जुली सरकार" बनाने पर जोर

वाद में विश्वास नहीं है, अथवा रूस के प्रति उनका आकर्षण नहीं है पर यह निश्चित है कि अपने देश को ऊँचा उठाने के लिए, उसकी जनता को सुखी बनाने के लिए, वे अपने सिद्धांतों में बहुत कुछ परिवर्त्तन करने के लिए तैयार हैं। चीन के कम्यूनिस्टों ने एक लंबे अर्से तक कुओमिन्टोंग के साथ, उसके एक अंग की हैसियत से काम किया है। जब तक कम्यूनिस्ट और कुओमिन्टोंग —किसान, मज़दूर और उच्च वर्गों के प्रगतिशील तत्त्व मिल कर काम करते रहे, उन्हें एक के बाद दूसरी और एक से बड़ी दूसरी, सफलता मिलती गई। पर, धीरे धीरे, च्यांग के नेतृत्व में चीन का प्रतिक्रियावादी दल कम्युनिस्टों को शासन से निकाल देने की नीति पर चलने लगा। चेन तु-श्यू के नेतृत्व में कम्यूनिस्ट समझौता करते रहे। पर, धीरे धीरे उनमें प्रतिहिंसा का भाव जागा। कम्यूनिस्टों का नेतृत्व माओ त्सि-तुंग के हाथ में आ गया। तब से चीन में कम्यूनिस्टों की शक्ति लगातार बढ़ती गई है। माओ त्सि-तुंग का रूस से सीधा संबंध नहीं है — जिन दिनों वे चीन में चू ते के साथ 'लाल सेना' के संगठन में लगे हुए थे वे 'कोमिन्टर्न' से निर्वासित थे। उनकी मार्क्सवाद की कल्पना भी रूस से भिन्न है। जनतंत्र में उनका प्रगाढ़ विश्वास है। उनके सिद्धान्तों को हम मार्क्सवाद का चीनी, अथवा एशियायी, संस्करण कह सकते हैं। इन सिद्धातों का जन्म स्पष्टतः चीन की, और एशिया की, विशिष्ठ परिस्थितियों में हुआ है।

माओ त्सि-तुंग का विश्वास है कि चीन अभी समाज की सामन्तशाही व्यवस्था को भी पार नहीं कर पाया है, और उसे पहिले तो उस "जनतंत्रीय-क्रांति" में से गुजरना है जिसे पश्चिमी देश शताब्दियों पहिले प्राप्त कर चुके हैं। इस कारण चीन का आज का आदर्श समाजवादी क्रांति नहीं, वैदेशिक साम्राज्यवादी नियंत्रण से राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त करना, सामन्तशाही को मिटाना और पूंजीवाद और जनतन्त्र के अनिवार्य रूपों के साथ, एक विकसित औद्योगीकरण के आधार पर, अपनी अर्थ नीति की स्थापना करना है। परंतु, चूंकि चीन की यह जनतंत्रीय क्रांति विश्व-इतिहास के एक ऐसे युग में सामने आ रही है ज़ब रूस व कई अन्य देशों में समाजवादी क्राति संपूर्ण हो चुकी है, अनिवार्यतः ही उसका पूंजीवाद एक 'नया पूंजीवाद' और उसका जनतंत्र एक 'नया जनतंत्र' होगा। इस जनतंत्रीय क्रांति का नेतृत्व पश्चिमी देशों के समान

दिया था, जिसमें मज़दूरों, किसानों, मध्यम श्रेणी के व्यक्तियों और सामंतवाद और विदेशी साम्राज्यवाद के विरोधी पूंजीपतियों के लिए भी स्थान था— और आज भी चीन की कम्यूनिस्ट पार्टी इसी 'नए प्रजातंत्र' को कार्यान्वित करने के लिए कटिबद्ध है।

पूंजीपतियों के हाथ में नहीं होगा, और न यह रूस के समान श्रमजीवियों की तानाशाही का रूप लेगा। इसका नेतृत्व मजदूरों और किसानों के हाथ में होगा, और अन्य वर्गों के प्रगतिशील व्यक्ति, छोटे शहरों का मध्यम-वर्ग, उदार पूंजीपति और समझदार जमींदार, भी उसमें शामिल हो सकेंगे। इस जनतंत्रीय क्रांति की अर्थनीति का आधार होगा—"ज़मीन किसान की है"। किसान को भारी करों और सामंतशाही के बोझ से मुक्त किया जाएगा। उत्पादन के सभी साधनों को प्रोत्साहन दिया जाएगा, उनका नियंत्रण व्यक्ति के हाथ में हो, अथवा समूह के या समाज के। श्रम और पूंजी में सहयोग की भावना की वृद्धि, और मजदूरों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने, पर जोर दिया जाएगा। जनतंत्र का आधार जनता की प्रेरणा पर रखा जाएगा। जनता को शिक्षित बनाने का पूरा प्रयत्न किया जाएगा। चीन इतना विस्तृत देश है कि सभी स्थानों पर इस जनतंत्रीय क्रांति के एक साथ सफल होने की आशा नहीं की जा सकती। इसके साथ ही जिन स्थानों में वह सफल होगी उन पर प्रतिक्रियावादियों का सामूहिक दबाव भी बढ़ेगा, इस कारण उनकी सैनिक रक्षा का समुचित प्रबंध करना पड़ेगा। इस सैनिक-रक्षा की व्यवस्था इस ढंग से की जाएगी कि उसमें जनता का सक्रिय सहयोग प्राप्त किया जा सकेगा।

यह एक बाह्य-रेखा है उन सिद्धांतों की जिन पर, माओ त्सि-तुंग के प्रेरणा-प्रद नेतृत्व में, आज चीन के कम्यूनिस्ट चल रहे हैं। स्पष्टतः यह रूस का अंधानुकरण नहीं है, स्थानीय आवश्यकताओं के दबाव में उसका परिवर्तित रूप है। एक चीनी विद्वान के शब्दों में माओ त्सि-तुंग ने "मार्क्सवाद का एक चीनी अथवा एशियायी, रूप तैयार किया है। उसका एक बड़ा काम मार्क्सवाद को उसके योरोपीय रूप से एशियायी रूप में बदल देना है। वह पहिला व्यक्ति है जिसने इस काम में सफलता प्राप्त की है।" इन सिद्धांतों से हम सहमत हों या नहीं, यह निश्चित है कि उनके पीछे चीन के २२ लाख कम्यूनिस्टों और उनके द्वारा 'मुक्त' किए गए १४ करोड़ व्यक्तियों का समर्थन है। इसके विपरीत च्यांग-काई-शेक जिसके हाथ में आज चीन की तेजी से सिकुड़ती जाने वाली सर्वोच्च राज्य-सत्ता है, एक सामंतशाही व्यवस्था का प्रतीक है। चीन में कम्यूनिस्टों और कुओमिन्टांग का संघर्ष प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी तत्वों का संघर्ष है। यह भी निश्चित है कि यह संघर्ष कदापि इतना न खिंचता यदि इन प्रतिक्रियावादी तत्वों को अमरीका का समर्थन न प्राप्त होता। रूजवेल्ट की नीति दोनों दलों के बीच समझौता करा देने की थी —और यह जान पड़ता है कि अपने जीवन के अन्तिम दिनों में च्यांग के वास्तविक रूप को उन्होंने समझ लिया था। पर, इसका कारण यह

था कि रूज़वेल्ट रूस से अपने संबंधों को अच्छा बनाए रखना चाहते थे। ट्रूमैन के हाथ में अमरीका का शासन आने के बाद से अमरीका की नीति लगातार रूस के विरुद्ध होती गई है, और उसका परिणाम यह हुआ है कि उसने चीन में च्यांग के खिलौना-शासन को बनाए रखने के लिए समय समय पर बहुत अधिक रुपया, और लड़ाई का सामान, दिया है। और, अमरीका द्वारा एक प्रतिक्रियावादी व्यवस्था को जीवित रखने के लिए जितना अधिक प्रयत्न किया जा रहा है, चीन में अमरीका के विरुद्ध भावनाएँ उतनी ही बढ़ रही हैं। जनवरी १९४६ में शांघाई के विद्यार्थियों ने अमरीकी अर्थ मंत्री मार्शल के स्वागत के लिए एक विशाल आयोजन किया था। एक वर्ष के बाद वे मार्शल, और अमरीकी सहायता, के विरोध में प्रदर्शन कर रहे थे। आज चीन के अधिकांश भागों में अमरीकनों के विरुद्ध जितना क्षोभ पाया जाता है उतना किसी अन्य देश वालों के विरुद्ध नहीं। यह परिवर्त्तन अगस्त १९४६ के बाद आया। जब चीनियों ने अमरीका द्वारा च्यांग-काई-शेक को दो अरब डॉलर दिए जाने की बात सुनी। चीनी कम्यूनिस्टों की दृष्टि में यह साम्राज्यवादियों की ओर से चीन के प्रतिक्रियावादी तत्त्वों को, अपना पूरा समर्थन देने का निश्चय था। इसके प्रकाश में चीनी जनता को अपना निश्चय बनाना था। वह निश्चय उन्होंने बनाया, बड़े साहस और दृढ़ता के साथ, और उस निश्चय पर वे आज चल रहे हैं, और चीन की ज़मीन उनके खून से लाल और लाशों से ज़रखेज़ होती जा रही है। अमरीका का सारा रुपया और उसके शस्त्रागारों के सारे हथियार, अणु बम भी, उन्हें कुचल नहीं सकेगा।

चीन में आज जो कुछ भी हो रहा है, स्याम, मलाया, बर्मा आदि में हम उसी के ढंग के आंदोलनों को विकसित होते हुए पा रहे हैं, क्योंकि इन देशों की समस्याएँ भी मूलतः वही हैं समस्त एशिया एक बड़ी संक्रांति के युग में से गुजर रहा है। वे समस्त प्रवृत्तियाँ जो विभिन्न राष्ट्रीयताओं के रंग-बिरंगे झंडों के नीचे विभिन्न साम्राज्यवादों का मुकाबिला करने के लिए एकत्रित हो गई थीं, उन साम्राज्यवादों के टूटने के साथ बिखरती चली जा रही हैं, और उन्हें आज हम, वर्गीय और वैचारिक आधारों पर, एक दूसरे को चुनौती देते हुए पा रहे हैं। यह कहना कि यह सब कम्यूनिस्टों की दुष्टता अथवा षड्यन्त्रों का परिणाम है, और उन षड्यन्त्रों के मूल-स्रोत कलकत्ता में आयोजित कम्यूनिस्ट-पार्टी के सम्मेलन में [1] अथवा इस प्रकार की किसी

१ यह सम्मेलन २८ फर्वरी से ६ मार्च १९४८ तक हुआ। दक्षिण-पूर्वी एशिया के विभिन्न देशों में वर्त्तमान वैचारिक संघर्ष का प्रारंभ उसके बाद ही, अप्रैल-मई के महीनों में, हुआ।

अन्य घटना में ढूंढ़ निकालना वस्तु-स्थिति की गहराई में जाने से इन्कार करना है। राष्ट्रीय एकता और शक्ति के नाम पर आज हम इन विशृंखल तत्वों को फिर से संयोजित नहीं कर सकते हैं। कोरी राष्ट्रीयता का आकर्षण, जिसका अंत सफेद चमड़ी के स्थान पर भूरी काली अथवा पीली चमड़ी वाले मालिकों की स्थापना में हो, एशिया के जन साधारण की दृष्टि में मिट चुका है। किसी पूंजीवादी अथवा प्रतिस्पर्धात्मक अर्थनीति के नियन्त्रण में आज हम नव-जीवन नव-चेतना और नवीन आकांक्षाओं से स्पंदित-प्रेरित-अनुप्राणित करोड़ों एशिया-वासियों को नहीं रख सकेंगे : एशिया के कोने कोने में आज उन्होंने इस प्राचीन गली-सड़ी समाज-व्यवस्था के प्रति विद्रोह का झंडा उठा लिया है। एशिया में यदि हम एकता और संगठन की स्थापना करना चाहते हैं, उसकी सभ्यता और संस्कृति के रचनात्मक तत्वों से एक लड़खड़ाती हुई विश्व-सभ्यता का जीर्णोद्धार करना चाहते हैं, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपने लिए एक स्नेह और आदर का स्थान बना लेना चाहते हैं, तो हमें पूंजीवाद और प्रतिस्पर्धा की अर्थनीति को सदा के लिए नष्ट कर देना होगा। एशिया भर में आज जो कुछ हो रहा है, उसका ज्वलंत संकेत इसी दिशा में है। यदि हम इस दिशा से भटक गए, और कम्यूनिज़म के विरोध के नाम पर एशिया को दो भागों में बांटने के लिए तैयार हो गए, तो एशिया की प्रगति के इस उठते हुए ज्वार को प्रतिक्रियावादिता के रेतीले कगारों में नष्ट भ्रष्ट होने का उत्तर-दायित्व हम पर होगा।

एशिया की जन जागृति और पश्चिमी साम्राज्यवाद

चीन में अमरीका द्वारा प्रतिक्रियावादी शक्तियों को सहायता देने की जिस नीति पर चला जा रहा है, मलाया, हिन्द-चीन और हिन्देशिया पश्चिमी यूरोप के साम्राज्यवादी देश भी उसी नीति पर चल रहे हैं। मलाया में वास्तविक संघर्ष कम्यूनिस्टों और गैर-कम्यूनिस्टों में नहीं है, वह चीनी राष्ट्रीयता, जिसमें साम्यवादी और पूंजीवादी दोनों ही तत्त्व मिले-जुले रूप में हैं, और अंग्रेज़ी पूंजीवाद में है।[१] मलाया में अंग्रेज़ी पूंजीवाद के इशारे पर अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद (जो टूटते-फूटते भी एशिया में अपने कुछ अड्डे बनाए रखना चाहता है) चीनी राष्ट्रीय आकांक्षाओं को कुचलने में व्यस्त हैं। अप्रैल के प्रारंभ से सिंगापुर

---

१ मलाया में रहने वाली तीन जातियों में चीनियों की संख्या ही सबसे अधिक है —तामिल अधिकतर खानों में काम करते हैं और मलाया के आदिम-निवासी स्थानीय सुल्तानों के, जो अंग्रेजों की कृपा पर निर्भर हैं, राजभक्त नौकर हैं।

व मलाया संघ में मजदूर-संघों के दफ्तरों पर आक्रमण किए जा रहे हैं; हड़तालियों को जबर्दस्ती कुचला जा रहा है; बड़ी संख्या में लोगों को अपने स्थान से हटाया जा रहा है; व्यापक रूप में गिरफ्तारियाँ हो रही हैं; हड़तालियों को जेल में डाला जा रहा है और, यह बात क़ानून के विरुद्ध होते हुए भी, उन्हें पीटा जा रहा है'।[1] देश में शांति और सुरक्षा बनाए रखने की दृष्टि से यह सब आवश्यक माना जा सकता है, पर मलाया के जन साधारण की आर्थिक स्थिति को हम भुला नहीं सकते। मलाया में युद्ध के पहिले प्रति व्यक्ति चावल का खर्चा १८ औंस प्रति दिन था। आज उसे ६ औंस का 'राशन' मिलता है, जिसे खरीदने में उसे पहिले १८ औंस से अधिक रुपया खर्च करना पड़ता है, और अन्न की अपनी शेष आवश्यकता को चोर बाजार से ही पूरी कर सकता है। जहां उसे पहिले के मूल्यों से नौगुना अधिक रुपया देना पड़ता है। तनख्वाहें कुछ बढ़ी हैं, पर महँगाई के परिमाण में नहीं। मलाया के विद्रोह के पीछे यह आर्थिक स्थिति है, इसे हम नहीं भुला सकते। मलाया के विद्रोह को दबाने के लिए अंग्रेज़ों को जितनी बड़ी फ़ौज रखना पड़ रही है उसी से स्थिति का अन्दाज़ा लगाया जा सकता है। अगस्त १९४८ तक, अमरीकन समाचार-पत्रों के अनुसार, मलाया में अंग्रेज़ी फ़ौज की संख्या २०,००० थी, और इसके अतिरिक्त १०,००० सशस्त्र पुलिस और १३,००० सशस्त्र विशेष पुलिस वहाँ काम कर रही थी। प्रत्येक अंग्रेज़ के पास तो शस्त्र है ही। यदि मलाया का विद्रोह कुछ प्रतिक्रियावादियों की साजिश का ही परिणाम होता तो उसे कुचलने के लिए ५०,००० सशस्त्र व्यक्तियों, और अनेकों हवाई व समुद्री जहाजों, की आवश्यकता न होती। मलाया की कुल संख्या ५० लाख के लगभग है। मलाया के अंग्रेज़ कमाण्डर जनरल बूशर ने माना है कि वह एक "राष्ट्रीय-मुक्ति" के लिए लड़ने वाली सेना से लड़ रहे हैं। मलाया का संघर्ष स्पष्टतः एक अनिच्छुक राष्ट्र को विदेशी शासन के अन्तर्गत जबर्दस्ती रखने का प्रयत्न है। उसका सारा दोष कम्यूनिस्टों पर रखना ठीक नहीं होगा। कम्यूनिस्ट स्वाधीनता के इस युद्ध की अग्रिम में पंक्तियों अवश्य हैं।

जो मलाया में हो रहा है उसी की पुनरावृत्ति हम हिन्द-चीन और हिन्देशिया में पाते हैं। हिन्द-चीन का राष्ट्रीय आंदोलन, कम्यूनिस्टों के नेतृत्व में चलाए जाते हुए भी, प्रारंभ से ही कम्यूनिस्ट नहीं था। पर ज्यों ज्यों उसकी राष्ट्रीय आकांक्षाओं को संतुष्ट करने में फ्रांस की अनिच्छा प्रदर्शित होती जाती

१ यह सब बहुत से लोगों की राय में बेविन के ब्रेसेल्स-समझौते पर दस्तखत करने के बाद से हो रहा है, जिसका प्रधान उद्देश्य पश्चिमी यूरोपीय देशों के टूटते हुए साम्राज्यों की सुरक्षा माना जाता है।

हैं और फ्रांस की फ़ौजें हिन्द-चीन में अमानुषिक रक्त पात का दायरा बढ़ाती जाती हैं, हिन्द-चीन के कम्यूनिस्ट नेता हो ची मिन्ह के अनुयायियों की शक्ति भी बढ़ती जाती है। यह अनुमान किया जाता है कि फ्रांस अपनी हिन्द-चीन की सेनाओं पर, जिनका स्पष्ट उद्देश्य उसके एशियायी साम्राज्य को जीवित रखना है, लगभग ९ करोड़ पौंड प्रति वर्ष खर्च कर रहा है। इन सेनाओं की संख्या १ लाख १५ हजार है, जिसमें आधे से अधिक फ्रांसीसी हैं और शेष उनके उपनिवेशों में से भर्ती किए गए हैं, और कई हजार युद्ध के जर्मन क़ैदी भी हैं। इनके अतिरिक्त, ३०,००० सैनिक स्थानीय जातियों, होआहोआ, तुंग और थो, के हैं। इस बड़ी सेना की सहायता, से फ्रांस कहा जाता है, दिन में आधे हिन्द-चीन पर और रात में उसके बहुत थोड़े से, या बिल्कुल भी नहीं, भाग पर शासन करता है। अमरीकी पत्र 'नेशन' के विशेष प्रतिनिधि श्री एन्ड्रयू रौथ ने, जिन्होंने हाल में हिन्द-चीन का दौरा किया था, अपने पत्र में लिखा है कि क़ैदियों को मार डालना, उनके कटे हुए सिरों का बाजारों में प्रदर्शन करना और गांव के गांव जला डालना हिन्दे-शिया में रोज़ामर्रा की घटनाएं हैं। बन्दूक चलाना सीखने के लिए फ्रांसीसी सिपाहियों द्वारा वियट-नामियों को निशाने के तौर पर काम में लाए जाने के भी उदाहरण मिलते हैं। एक फ्रांसीसी सिपाही की जान के बदले में खेतों में से एक दर्जन सिपा-हियों को पकड़ लिया जाता है और उन्हें, गले में रस्सी बांध कर, एक ट्रक के पीछे बांध देते हैं जहां वे दम तोड़ देते हैं। परंतु, इन सब अत्याचारों के बावजूद भी फ्रांसीसी हिन्द-चीन के स्वातंत्र्य प्रेम को नहीं कुचल सके हैं। हिन्द-चीन में कठपुतली सरकारें बनाने के भी उनके सभी प्रयत्न विफल हुए हैं। कुछ दिन पहिले वे अनाम के पुराने सम्राट, बाओडाई, को वियटनम का शासक बनाना चाहते थे, परंतु यह स्पष्ट है कि बाओडाई के पीछे वियटनम का लोकमत नहीं है। श्री० रौथ की राय में वियटनम की कम से कम ८० प्रतिशत जनता हो ची-मिन्ह के साथ है। हो ची मिन्ह के अनुयायियों में आज तो सभी वर्गों और विचार-धाराओं के व्यक्ति हैं, पर ज्यों ज्यों फ्रांसीसियों का दुराग्रह बढ़ता जाएगा, नम्र और उदार मत वालों को पीछे छोड़ते हुए कम्यूनिस्ट अपने हाथों में अधिक शक्ति संग्रहीत करते जाएंगे। यही बात हिन्देशिया के संबंध में भी कही जा सकती है। डच आज से कहीं पहिले हिन्देशिया वालों से एक समझौता कर सकते थे। परंतु ऐसा न करते हुए उन्होंने वहां पर खून की नदियां बहाई, और उसके बाद भी एक अस्थाई समझौता ही किया। हिन्दे-शिया के प्रमुख नेताओं, शहरयार, सोएकार्णो, आदि में से कोई भी कम्यू-निस्ट नहीं है, परंतु डच साम्राज्यवाद से उनकी समझौते की प्रवृत्ति ज्यों ज्यों

बढ़ती जाती है, शरीफुद्दीन के नेतृत्व में कम्यूनिस्ट अपनी शक्ति और अपने विरोध को बढ़ा रहे हैं।

एशियायी नेतृत्व

कसौटी पर

यह एक निसंदिग्ध तथ्य है कि एक संक्रमण-काल की समस्त तोड़ फोड़ के बीच भी एशिया की नवजात राष्ट्रीय सरकारें बड़ी योग्यता से शासन का संचालन कर रही हैं। हमारे देश में जबसे राष्ट्रीय सरकार बनी तबसे उसके सामने जो समस्याएँ आईं वे इतनी भीषण थीं कि कोई भी सरकार उनके दबाव में चकनाचूर हो सकती थी। धर्मांधता से प्रेरित हत्याकांडों के बीच जिन्होंने लाखों व्यक्तियों को अपना घर और गांव छोड़ने पर विवश किया, और सांप्रदायिक भावनाएँ जब अपने निम्नतम स्तर पर थीं, हमारी सरकार ने शासन-भार अपने हाथ में लिया था। देश भर में साम्प्रदायिक उपद्रवों पर काबू पाना और विरोधी भावनाओं के अंधड़ में भी, एक असांप्रदायिक लोकतंत्र के आदर्श पर जमे रहना किसी भी सरकार के लिए एक बड़े गौरव का कारण हो सकता है। इन कठिनाइयों से वह निकल भी नहीं पाई थी कि काश्मीर, और पाकिस्तान से संबंध, की समस्याएँ उसके सामने आईं। इधर देश में चारों ओर फैली हुई ६०० के लगभग देशी रियासतें थीं जो तेजी से विभिन्न प्रतिक्रियावादी शक्तियों का गढ बनती जा रही थीं। हिन्द-सरकार कुछ ही महीनों में उनके समग्रीकरण और लोकतंत्रीकरण की नींव डाल सकी। तब भी हैद्राबाद का प्रश्न शेष रहा। उसके संबंध में 'न्यू-स्टेट्स मैन एण्ड नेशन' जैसे संयत पत्र को यह आशंका थी कि "यदि हिन्दुस्तान की फौजें अभी निज़ाम के प्रदेश पर आक्रमण करें तो हम इस बात की संभावना रख सकते हैं कि हैद्राबाद में मुसलमान और हिन्दू एक दूसरे की हत्याएँ करेंगे, हिन्दुस्तान में हिन्दू मुसलमानों को मार डालेंगे और पाकिस्तान में मुसलमान हिन्दुओं को"।[1] देश के किसी भी भाग में किसी भी नागरिक के रक्त की एक बूंद गिरे बिना, सितम्बर के चार दिनों में भारत-सरकार ने इस समस्या को भी सुलझा लिया। गांधीजी की हत्या से देश के सामने एक बहुत बड़ा संकट उपस्थित हो गया था, हमारे अस्तित्व की जड़ों को ही उसने बुरी तरह झकझोर डाला था, पर सरकार उस स्थिति का भी साहस और दृढ़ता के साथ मुकाबिला कर सकी। इस बीच, उसने देश के शासन को सुव्यवस्थित बनाने, अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों की स्थापना करने और विभिन्न देशों से महत्त्वपूर्ण व्या-

१ न्यू स्टेट्समैन एन्ड नेशन, १४ अगस्त १९४८

पारिक वस्तुओं के आदान-प्रदान की दिशा में भी बड़ा उपयोगी काम किया। उसने अपनी सैनिक शक्ति का भी फिर से संगठन किया, और लड़ाई और व्यापार दोनों ही दृष्टियों से अपनी समुद्री ताक़त को बढ़ाया। आर्थर अप्हम पोप के शब्दों में, "कुल मिला कर, इस एक वर्ष के समाप्त होने पर, अव्यवस्था और पराजय के बावजूद भी हिन्दुस्तान की जो तस्वीर हमारे सामने है वह धीरज, विश्वास, मेहनत और राष्ट्र के भाग्य का निर्णय जिन व्यक्तियों के हाथ में हैं उनके अधिक अधिक तर्क पूर्ण और सही निर्णयों की तस्वीर है।" १

राजनैतिक स्वाधीनता प्राप्त करने के बाद आर्थिक स्वाधीनता की दिशा में एशिया के किसी भी देश ने तेज़ी के साथ वैसे क़दम नहीं उठाए जैसे, एक समाजवादी नेतृत्व में बर्मा की सरकार ने। उसने अपना पहिला लक्ष्य किसानों की स्थिति को सुधारना माना। बर्मा की ७० प्रतिशत जनता खेती पर निर्भर है, परन्तु अभी तक खेती के योग्य ज़मीन का ५० प्रतिशत ज़मीदारों के हाथ में था, जिनमें से आधे भारतीय चेटियार थे। किसान इन चेटियार–ज़मींदारों के कर्ज़ में गर्दन तक डूबे हुए थे। बर्मा की सरकार ने पहिली घोषणा यह की कि अगले पांच वर्षों तक किसानों को अपने कर्ज़ पर न तो कोई सूद देना पड़ेगा और न पूंजी का कोई अंश ही लौटाना होगा। ५० एकड़ से अधिक ज़मीन किसी कुटुम्ब को अपने पास रखने के अधिकार पर क़ानून द्वारा नियंत्रण लगाये जाने की व्यवस्था की जा रही है। समाजीकरण की दिशा में भी बर्मी सरकार तेज़ क़दम उठाना चाह रही है। केन्द्रीय बैंक के समाजीकरण की बात चल रही है। 'टीक' के जंगलों में काम करने वाले ठेकेदारों को सूचना दे दी गई है कि सरकार जल्दी ही 'टीक' का राष्ट्रीयकरण करेगी। तेल के उत्पादन को बढ़ाने का प्रयत्न चल रहा है। शासन के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने की दृष्टि से मंत्रियों पर व्यापार से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखने का प्रतिबन्ध लगा दिया गया है। ज्ञान के विस्तार की दृष्टि से बर्मा सरकार ने एक 'अनुवाद समिति' की स्थापना की है जिसका काम प्रमुख साहित्यिक और वैज्ञानिक पुस्तकों का बर्मी भाषा में अनुवाद करके उसके सस्ते संस्करण जनता तक पहुँचाना है। देश भर में पुस्तकालय खोलने व रंगून में एक राष्ट्रीय रंगशाला की स्थापना के प्रस्ताव भी सरकार के सामने हैं। डौरोथी वुडमेन ने, बर्मा की स्वाधीनता के कुछ ही महीने बाद 'न्यू स्टेट्समैन एण्ड नेशन' में लिखा, "बर्मा की स्वाधीनता के

१ आर्थर अप्हम पोप : The After months of freedom यूनाइटेड एशिया सितम्बर १९४८

इन प्रारंभिक महीनों में मैंने वर्मा के देहातों की यात्रा की : एक रचनात्मक राष्ट्रीयता के चिन्ह, नया गौरव और आत्म-विश्वास, नए वर्मा के निर्माण में व्यस्त रचनात्मक शक्तियों की मुक्ति, हर जगह ये बातें दिखाई देती हैं।"[१] हिन्देशिया के जो भाग वहां की लोकतन्त्रीय सरकार के शासन में हैं उनके सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध डच शिक्षा शास्त्री, श्री० पी० जे० कोट्म ने लिखा।" यहां मैंने जो तस्वीर देखी वह एक ऐसे समाज की नहीं है जो टूट फूट रहा है, ऐसे समाज की है जो पुनर्निर्माण के युग में से गुज़र रहा है।......यहां के निश्चित और शान्तिपूर्ण वातावरण ने मुझ पर बड़ा प्रभाव डाला। किसान अपने खेत पर काम कर रहा है, स्त्रियां वो रहीं है या काट रहीं हैं, बाज़ारों में भीड़ है, विक्रेता अपने भारी बोझों को लिए सड़कों के किनारे पर चल रहे हैं, रिक्शावाला पीठ पर अपनी गाड़ी रखे भागा जा रहा है, व्यापारी दूसरे गांव की ओर बढ़ चला है......मैंने एक लोकतन्त्रीय नेता के साथ, जिन्हें मैं हॉलैण्ड से जानता था, देर तक बातचीत की। उन्होंने ऐसे पानी का उदाहरण मेरे सामने रखा जो जमने की प्रक्रिया में हो। उन्होंने कहा के संगठन ऊपर के उस पानी के समान है जो जम कर बर्फ़ हो गया है। दूर दूर तक फैले हुए ऐसे कई स्थल हैं जहां वेफ़िक्री के साथ चला जा सकता है, क्योंकि बर्फ़ की तह मोटी और मज़बूत है। दूसरे स्थल ऐसे हैं जहां चला जा सकता है, लेकिन चलने के साथ बर्फ़ के टूटने की भयानक आवाज भी सुनाई देती है, और कुछ ऐसे हिस्से हैं जहां अभी तक बर्फ़ की एक पतली तह ही बन पाई है, और कुछ ऐसे भी स्थल हैं, जहां खुली हुई दरारें हैं। परन्तु, जमने की प्रक्रिया चल रही है, संगठन दिन प्रतिदिन दृढ़ होता जा रहा है।"[२]

परन्तु, राष्ट्रीय सरकारों की इन अभूतपूर्व सफलताओं के साथ साथ एशिया के प्रत्येक देश में उनके विरुद्ध असंतोष का भाव भी बढ़ता गया है, और स्थान स्थान पर वह विद्रोह और गृह युद्ध के रूप में धधक उठा है, जिससे एशिया की एकता के बीच में बड़ी बड़ी दरारें फटती दिखाई देती हैं। इसका प्रधान कारण यही हो सकता है कि एशिया का वर्तमान नेतृत्व उन राशि राशि आकांक्षाओं को तृप्त और संतुष्ट करने में समर्थ नहीं है जो, स्वाधीनता के साथ हमारे हृदयों में जागृत और विकसित होती जा रही हैं। प्रत्येक देश के साम्राज्यवादी शक्तियों के विरुद्ध एक खुले विद्रोह का भाव है जिसके पीछे सभी वर्गों और राजनतिक दलों का समर्थन है, परन्तु राजनैतिक दिशा में

१ डोरोथी वुडमैन: Burma—Free and Socialist, 'न्यू स्टेट्समैन एण्ड नेशन' २८ फ़र्वरी १९४८

२ २३ दिसम्बर १९४९ के अमरीकी साप्ताहिक 'टाइम' से उद्धृत

ज्यों ज्यों सफलता मिलती जा रही है, आर्थिक और सामाजिक परिवर्तनों की मांग भी तीव्र होती जा रही है। राजनैतिक सत्ता जिन लोगों के हाथ में आई है वे वैदेशिक प्रभुत्व को समाप्त करने के लिए तो कटिबद्ध थे, पर किसी आर्थिक अथवा सामाजिक क्रांति की कोई स्पष्ट योजना उनके सामने नहीं थी। आज जब इस प्रकार की योजनाएं उनके सामने लाई जाती हैं और उन योजनाओं के पीछे हड़तालों ओर गोलियों की धमकी होती है, तो उन्हें प्रतीत होता है कि उनकी स्थिति, सरकार के अस्तित्व और राष्ट्रीयता के आधार, सभी के लिए यह एक बड़ी चुनौती है, और वे उसका मुकाबिला करने के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं। जो नया क्रांति-कारी जोश उनके सामने उभड़ता हुआ आता है उसके संचालन में अपने को अक्षम पाकर वे अपनी शक्ति उसे दबाने में लगा देते हैं और उनके लिए कभी कभी बड़े अवांछनीय तत्त्वों का समर्थन एक बड़ी कीमत पर, प्राप्त करने के लिए उन्हें विवश हो जाना पड़ता है, और ज्यों ज्यों उनका झुकाव प्रतिक्रियावादी तत्वों की ओर होता है, जनता का क्षोभ बढ़ता है, और कम्यूनिस्ट उस क्षोभ के आधार पर राष्ट्रीय सरकारों के विरुद्ध विद्रोह खड़ा करने का अवसर पा जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि एशिया की सभी राष्ट्रीय सरकारों का झुकाव वाम पक्ष की ओर उतना नहीं है जितना दक्षिण पक्ष की ओर। हिन्दुस्तान की सरकार दिन बदिन पूंजीपतियों के शिकंजे में जकड़ती जा रही है, और इसी कारण प्रतिक्रियावादी तत्वों को दबाने की उसकी शक्ति भी क्षीण होती जा रही है। हिन्दू-महासभा और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ पर, गांधीजी की हत्या के बाद, जो भी नियंत्रण लगाए थे वे ढीले पड़ते गए हैं। इसके प्रतिकूल, कम्यूनिस्टों के विरुद्ध कड़ी कार्यवाही की जाती है, और समय समय पर समाजवादियों की गिरफ्तारी की खबरें भी आती हैं। प्रेस के नियंत्रण हटे नहीं हैं, और उनका उद्देश्य फासिस्ट प्रवृत्तियों को रोकना उतना नहीं है जितना वामपक्षीय प्रवृत्तियों को। राज्य-सत्ता के सूत्र पूंजीपतियों के हाथ में जा रहे हैं, और सरकार द्वारा अर्थनीति के क्षेत्र में उठाए जाने वाले प्रत्येक कदम का प्रभाव उनकी शक्ति बढ़ाए जाने की दिशा में पड़ता है। अंग्रेजी पूंजीवाद, जिसके प्रश्रय में, और कुछ विरोध में, भारतीय पूंजीवाद विकसित हुआ, आज भारतीय पूंजीवाद के पीछे पीछे चल रहा है, पर दोनों का गठबंधन दृढ़तर होता जा रहा है, और अमरीकी पूंजीवाद से भी हमारे निकट के सम्बन्ध स्थापित हो रहे हैं। हिन्देशिया में डॉ० हाटा की सरकार का झुकाव स्पष्टतः अमरीका की ओर है। जून १९४८ में हिन्देशिया की लोकतन्त्रीय सरकार ने समस्त सरकारी वैदेशिक व्यापार का उत्तरदायित्व एक अमरीकी कम्पनी को सौंप देने की

घोषणा की और इसका उद्देश्य, एक सरकारी विज्ञप्ति के अनुसार, "हिंदेशिया के विकास में अमरीका की समर्थन की भावना को प्रोत्साहन देना" बताया गया। इस कम्पनी को पन्द्रह वर्ष के लिए सर्वाधिकार देने की बात भी थी, और उसे सबसे पहिला 'ऑर्डर' ५० करोड़ डॉलर का दिया गया। इन पंक्तियों के लिखे जाते समय [अक्टूबर १९४८] हिन्देशिया के अर्थ-मन्त्री रुपया उधार लेने के लिए अमरीका गए हुए थे। एशिया की इन नई बनने वाली सरकारों में बर्मा का दृष्टिकोण सबसे अधिक स्पष्ट और समाजवादी है, पर बर्मा की, सरकार भी विदेशी पूंजीपतियों पर उतना अधिक नियंत्रण नहीं रख पा रही है जितना वहां के जन-साधारण के हितों के लिए आवश्यक है।

यह स्थिति है जो आज एशिया के सभी देशों में साम्यवाद के प्रभाव को तेज़ी से फैलने में सहायता दे रही है। एक ओर तो विदेशी पूंजीपतियों की, चाहे वह अमरीकी हों या अंग्रेज़, हॉलैण्ड वाले हों या फ्रांसीसी, एशिया के गरीबों के शरीर में अपने पंजे गड़ाए रखने की प्रवृत्ति है, और दूसरी ओर एशिया की राष्ट्रीय कहलाने वाली सरकारों के द्वारा न केवल उनसे अपना सहयोग न खींच लेने, पर स्थानीय पूंजीपतियों के दबाव में, उनका समर्थन करने, और उन्हें बढ़ावा देने की प्रवृत्ति है, और यह सब एशिया का सदियों से कुचला हुआ पर आज राजनैतिक स्वाधीनता की ताजी हवा से अपने प्राणों में नई चेतना का अनुभव करता हुआ, ग़रीब, मज़दूर या किसान, बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं है। यही कारण है कि आज एशिया में कम्यूनिस्ट आन्दोलन सभी देशों में तेज़ी से बढ़ते जा रहे हैं। संभव है, इन आन्दोलनों को रूस का समर्थन भी प्राप्त हो—परंतु, इसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण हमारे सामने नहीं है। रूस के राजदूत बांगकौक रंगून आदि स्थानों पर हैं, पर वे किसी एशिया-व्यापी षड्यंत्र का संचालन कर रहे हैं, यह मान लेने के लिए भी यथेष्ठ कारण नहीं हैं। यह अवश्य कहा जा सकता है कि आज एशिया की जो आर्थिक स्थिति, और राजनैतिक वातावरण, है उसमें साम्यवाद उसे बड़े प्रबल रूप से अपनी ओर आकर्षित करता है, और जिन प्रदेशों में, जैसे चीन के 'मुक्त' प्रदेशों में, साम्यवाद स्थापित हो चुका है, वहां गरीब पहिले की तुलना में निःसन्देह आज बहुत अधिक सुखी है। इन आन्दोलनों को यदि कहीं से सीधी प्रेरणा मिलती है तो वह एशिया की ग़रीबी और एशिया की भुखमरी से। इसमें भी सन्देह नहीं कि जो आन्दोलन आज चीन, मलाया, बर्मा, हिन्देशिया आदि एशियायी देशों में एक ऐसे गृह-युद्ध की स्थिति पैदा कर रहे हैं जो उनके अस्तित्व को ही खतरे में डाल देती है, हमारा देश, हिन्दुस्तान, और हमारा निकटतम पड़ोसी, पाकिस्तान, भी उससे बचे नहीं रह सकेंगे। जिन स्थितियों

में अन्य देशों के इन आन्दोलनों का विकास हुआ है और वे सशक्त बने हैं, वे आज हिन्दुस्तान में भी अपनी चरम सीमा तक पहुँच चुकी हैं। एक अनुभवी अंग्रेज पत्रकार, जो हमारी राजनैतिक गतिविधि के निकट संपर्क में हैं, लिखते हैं—"आज के हिन्दुस्तान और क्रांति के पहिले के रूस में, जिसका चित्र हमें महान् रूसी उपन्यासों में मिलता है, मुझे और मेरे दूसरे साथियों को बड़ी समानता दिखाई देती है। कुण्ठा का वही व्यापक वातावरण है; वही कभी न समाप्त होने वाली बकवास है; वही नीचे दर्जे की मुनाफ़ाखोरी है; वही अनियंत्रित नौकरशाही है; छोटे आदमियों के द्वारा किसी सरकारी स्थान पर कोई स्थायी नौकरी प्राप्त कर लेने का वैसा ही प्रयत्न है। और वही कम्यूनिस्ट पार्टी है जो, नियंत्रण और दमन के बावजूद भी, निःसन्देह अधिक शक्तिशाली होती जा रही है। सरकार का समर्थन कम्यूनिस्टों—प्रेरित ऑल इंडिया टी० यू० सी० के स्थान पर पूंजीपतियों द्वारा प्रेरित और कांग्रेस द्वारा संगठित इंडियन नेशनल ट्रेडर्स यूनियन कांग्रेस के साथ होने से विक्षोभ और अविश्वास तो फैला है, पर उससे ए० आई० टी० यू० सी० की सदस्यता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है, और आज भी देश में मजदूरों का सच्चा संघ वही है।" १

कम्यूनिस्ट चुनौती : उसका सही प्रत्युत्तर

ऊपर दी गई सम्मति, भारतीय राजनैतिक वातावरण में, संभवतः कुछ अतिरंजित दिखाई पड़े। कांग्रेस के बाद देश में सबसे अधिक प्रभावशाली, और संगठन की दृष्टि से कांग्रेस से अधिक सुगठित, राजनैतिक दल होते हुए भी कुछ एतिहासिक कारण ऐसे रहे हैं, विशेष कर द्वितीय महा युद्ध के प्रति उनके दृष्टिकोण में, रूस के इशारे पर, परिवर्त्तन और ४२ के आंदोलन के प्रति उनकी नीति, जिन्होंने कम्यूनिस्टों को देश के अधिकांश भागों में जनता तक पहुँचने से रोका है। २ पिछले, दिनों देश के कुछ भागों, विशेष कर बंगाल, मद्रास और बम्बई में उसका प्रभाव निश्चित रूप से बढा है—हैद्राबाद की

१ १४ अगस्त १९४८ के 'न्यू स्टेट्समैन एण्ड नेशन' से उद्धृत।

२ "हिन्दुस्तान की कम्यूनिस्ट पार्टी उन राष्ट्रीय परंपराओं से बिल्कुल तटस्थ, और अनभिज्ञ भी, है जो जनता के मन को आकर्षित करती हैं। उसका विश्वास है कि प्राचीन के प्रति उपेक्षा का भाव साम्यवाद का एक आवश्यक अंग है। वह ऐसा मानती प्रतीत होती है कि संसार का इतिहास १९१७ में प्रारंभ हुआ, और उसके पहिले जो कुछ हुआ वह उसकी तैयारी के रूप में था। साधारणतः हिन्दुस्तान जैसे देश में जहा एक बहुत बड़ी संख्या में जनता

स्थिति से लाभ उठा कर तो उसने मद्रास-हैद्राबाद सीमा पर स्थित नालगोंडा और बारंगल जिलों के कई सौ गावों में जमीन का बँटवारा भी कर लिया था। परंतु, यह भी निश्चित है कि यदि उन्होंने देश में किसी प्रकार की अशान्ति फैलाने का हल्का सा प्रयत्न भी किया तो जिन लोगों के हाथों में राज्य की सत्ता है वे अपनी सारी शक्ति उन्हें कुचलने में लगा देंगे, और अंग्रेजी शासन की कृपा से, हमारे देश में शांति और सुव्यवस्था के साधन एशिया के सभी देशों की तुलना में बहुत अधिक बढ़े हुए हैं। मैं मानता हूँ कि इस प्रकार के उपद्रवों को हिन्दुस्तान में आसानी से अथवा कठिनाइयों से, अवश्य कुचल दिया जा सकेगा। परंतु क्या वैसा करना वांछनीय होगा ? अराजकता एक बुरी चीज है, पर अन्याय उससे हजार गुना अधिक बुरा है। वाम-पक्षीय शक्तियों के साथ किसी भी संघर्ष में, यह निश्चित है, सरकार को पूंजीपतियों, सामन्तशाही और साम्प्रदायिकता वादियों का पूरा समर्थन प्राप्त होगा। १ सरकार इन प्रतिक्रियावादी शक्तियों के सहारे क्या सचमुच पुरानी, अन्याय-

---

भूखे मरने की स्थिति में हो, और आर्थिक ढांचा टूट रहा हो, साम्यवाद का तो बड़ा प्रभाव होना चाहिए। एक प्रकार से वैसा अस्पष्ट प्रभाव है भी, परंतु कम्यूनिस्ट पार्टी उससे लाभ नहीं उठा सकती, क्योंकि उसने अपने को राष्ट्रीय भावना के मूल स्रोतों से विच्छिन्न कर लिया है, और जिस भाषा का वह प्रयोग करती है वह जनता के हृदय का स्पर्श नहीं कर पाती।"

—जवाहरलाल नेहरू :Discovery of India' पृ० ६२६

१ राष्ट्रीय स्वयँ सेवक संघ के कुछ प्रमुख नेताओं ने, संघ पर से कानूनी प्रतिबंध हटाए जाने की प्रार्थना के साथ, सरकार को यह आश्वासन भी दिया कि वह "मुसल्मानों के, जो किसी भी क्षण राज्य के खिलाफ जा सकते हैं और जिन पर आज भी दूसरे उपनिवेश की ओर पक्षपात की भावना रखने का सन्देह है, चिरंतन खतरे" का मुक़ाबिला करने के अतिरिक्त "साम्यवाद के उस बढ़ते हुए ज्वार" को दबाने में भी सरकार की सहायता करेंगे "जो वे पढ़े लिखे मजदूरों और भावनाशील युवकों का तत्पर समर्थन पाकर चारों ओर से हम पर आक्रमण कर रहा है।" इस आवेदन-पत्र में आगे चल कर कहा गया था—"हम नहीं मानते कि साम्यवादियों को किसी राजनैतिक अथवा आर्थिक प्रचार के द्वारा दबाया जा सकता है, क्योंकि वे जन साधारण के सामने एक निम्न प्रकृति के बड़े आकर्षक वायदे रख कर उन्हें गुमराह कर सकते हैं। दमन से आंदोलन का प्रोत्साहन ही मिलेगा। राष्ट्रीय स्वयँ सेवक संघ का मार्ग ही साम्यवाद की चुनौती के प्रत्युत्तर का एक मात्र सही मार्ग है .... ।"

पूर्ण समाज-व्यवस्था को बनाए रखना चाहेगी ? यदि सरकार कभी उस रास्ते पर चलने के लिए तैयार हो गई तो वह सचमुच हमारे देश के इतिहास में एक दुर्भाग्य की घड़ी होगी, क्योंकि सरकार के उस निश्चय माओ त्सि तुग और थाकिन थान तुन जैसे विद्रोही नेताओं का जन्म होगा, जिन्हें देश में आर्थिक स्वतन्त्रता के लिए एक नया युद्ध शुरू करना होगा। एशिया के अन्य देशों के समान, हिन्दुस्तान की भूख भी न तो झूठी प्रतिष्ठा से मिटाई जा सकती है, न गोलियों से। जैसा कि मलाया के एक पत्र, 'स्टेट्स टाइम्स' ने लिखा —"साम्यवाद का एकमात्र प्रभावपूर्ण और स्थाई उत्तर उसके राजनैतिक संगठनों को ग़ैर-कानूनी करार देना नहीं है, परंतु एक ऐसी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था का निर्माण करना, है जो साम्यवादी सिद्धांत के सामने दुर्भेद्य रह सके।" वह व्यवस्था निःसन्देह पूंजीवाद नहीं है, और सभी प्रतिक्रियावादी शक्तियों से एक बड़े संघर्ष के बिना उसे स्थापित भी नहीं किया जा सकेगा।

कम्यूनिस्ट चुनौती के प्रत्युत्तर का एक ढंग तो यह हो सकता है कि सरकार, प्रतिक्रियावादी शक्तियो के सहारे, उन्हें कुचलने का प्रयत्न करे। एशिया के सभी देशों में इसी प्रकार की प्रवृत्ति बढ रही है। दूसरा मार्ग, जो पहिले मार्ग का विरोधी नहीं, उसका पूरक है, ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की सृष्टि करना है जो एक मिले-जुले रूप में सभी देशों मे उठ खड़े होने वाले कम्यूनिस्ट विद्रोहों का सामूहिक प्रतिरोध करे। यह मार्ग भी खोदा जा रहा है और उस पर कंकड़ी और बजरी डाल कर सड़क तैयार करने का काम अमरीका के, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष नेतृत्व में, प्रारभ हो गया है। मार्शल-योजना, यूरोप पर आर्थिक प्रभुत्व की स्थापना और पश्चिमी यूरोप के देशों का संघ इस प्रवृत्ति के ज्वलंत द्योतक है। कॉमनवेल्थ के पुनःगठन की आज जो चर्चा सुनाई देती है वह भी इसी दिशा में एक प्रयत्न है। जनवरी १९४४ में लॉर्ड हेलीफ़ैक्स ने कनाडा के एक भाषण में कहा— "अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपना पलड़ा भारी रखने के लिए ग्रेट ब्रिटेन को कॉमनवेल्थ को साथ लेकर चलना चाहिए।" उसके बाद से यह स्पष्ट हो गया है कि ब्रिटेन जिस पलड़े को भारी बनाना चाहता है उसके दूसरी ओर रूस का पलड़ा है। उसकी वैदेशिक नीति का प्रमुख उद्देश्य रूस के विरोधी तत्त्वों को संगठित करना होता जा रहा है, और कॉमनवेल्थ के प्रति उसकी नीति इसी का एक अंग है। सितम्बर १९४७ में हिन्द-चीन की एक ग़ैर-सरकारी यात्रा के बाद प्रेसीडेन्ट ट्रूमैन के व्यक्तिगत प्रतिनिधि, श्री० डब्ल्यू० सी० बुलिट ने कहा बताते हैं कि यदि विरोधी पक्ष के वियट-मिन्ह तत्त्वों का संबंध कम्यूनिस्टों से है, जैसा उन्हें

सन्देह था । तो "उसे सभी संभव उपायों से कुचल देना चाहिए ।" इसके कुछ ही दिनों बाद श्री० वुलिट ने 'लाइफ' के अपने एक लेख में लिखा कि उनकी राय में फ़ांसीसी हिन्द-चीन (वियटनम) सोवियट रूस आक्रमणात्मक योजनाओं से सुदूर पूर्व की रक्षा करने की दृष्टि से अमरीका के लिए बड़े महत्त्व का स्थल है और साम्यवाद के खिलाफ दक्षिणी चीन की रक्षा की दृष्टि से इन प्रदेशों की रेल की व्यवस्था बड़ा सामरिक महत्त्व रखती है। अक्तूबर १९४८ में लंदन में होने वाले कॉमनवेल्थ के प्रधान मंत्रियों के सम्मेलन के वातावरण में भी यह बात थी कि एशिया में साम्यवाद के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने की दृष्टि से कॉमनवेल्थ के देशों में निकट संपर्कों की स्थापना, और युद्ध के सामान्य उपायों का निर्धारण आवश्यक है । इस प्रकार आज तो हम स्पष्ट देख सकते हैं कि साम्यवाद के प्रभाव को रोकने के नाम पर एशियायी देशों में एक ओर तो प्रतिक्रियावादी तत्त्वों को जीवित रखा, और सशक्त बनाया जा रहा है, और दूसरी ओर साम्राज्यवादी देशों को अपने ढहते हुए दुर्ग की मरम्मत करने और उसकी दीवारों को मज़बूत बनाने का अवसर मिल रहा है । एशिया के नए साम्यवादी आंदोलनों के किसी भी गहरे और निष्पक्ष अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि एशिया का साम्यवाद न तो रूस के षड्यन्त्रों का फल है और न रूस के साम्यवाद की नकल । उसके पीछे, अधिकांश देशों में अधिकतर, जनता की पीड़ा और कराह, जनता का भूख और नंगापन, जनता का विक्षोभ और विद्रोह, और जनता का समर्थन है । वह, एक बड़े अंश तक, जनता का आंदोलन है, और जनता की भावनाओं की उसमें सच्ची अभिव्यक्ति है। प्रत्येक देश की अपनी स्थानीय आवश्यकताएँ और स्थानीय परिस्थितियां हैं जो उसे बल दे रही हैं । उसके मूल कारणों का विश्लेषण और उन्हें दूर करने का प्रयत्न किए विना उसे कुचलने के सभी प्रयत्न न केवल निरर्थक सिद्ध होंगे वे एशिया के सभी देशों को अमरीका और रूस के बीच बढ़ते जाने वाले संघर्ष का खुला क्रीड़ा-स्थल बना देंगे, और जहाँ हमने इन बाहरी तत्त्वों को अपने राष्ट्रीय जीवन में प्रधानता दी, हम एक ऐसे दल-दल में फँसते जाएँगे कि उससे निकलना असंभव भी हो सकता है ।

चीन : एक चेतावनी

चीन इस दिशा में एक बड़ी चेतावनी है । चीन में कुओमिन्टांग की तथा-कथित लोकतंत्रीय सरकार ने अपने समाज से सामन्तशाही और पूंजीवाद को मिटाने के, और जनता की ग़रीबी दूर करने, के बदले एक मध्य-युगीन ता ना-शाही का रास्ता इख्तियार किया । प्रगतिशील तत्त्वों ने भरसक उसका साथ

देने का प्रयत्न किया। जापान के विरुद्ध एक लंबे युद्ध में वे उससे कंधे से कंधा मिलाकर शत्रु का मुकाबिला करते रहे, परन्तु जब उन्होंने सरकार को प्रतिक्रियावादी तत्त्वों के समर्थन में दिन बदिन आगे बढ़ता पाया तो उन्हें विद्रोह का झंडा हाथ में लेने पर विवश होना पड़ा। इस चुनौती के प्रत्युत्तर में चीन की सरकार एक ओर तो प्रतिक्रियावादी तत्त्वों के हाथ का खिलौना बनती गई और दूसरी ओर बाहर के पूंजीपति देशों, विशेषकर अमरीका, के सामने रुपया और हथियारों की भीख मांगने के लिए हाथ फैलाती गई और उसके आर्थिक और राजनैतिक प्रभुत्व के शिकंजे में कैद होती गई।[1] दूसरी ओर कम्यूनिस्ट विद्रोही दल संभवतः, और अप्रत्यक्ष रूप से तो स्पष्टतः, रूस की सहायता पर निर्भर है। इसका परिणाम यह है कि अमरीका और रूस के आपसी संबंधों की सीधी प्रतिक्रिया चीन की आन्तरिक घटनाओं पर होती है—और चीन की स्थिति उस निःसहाय 'चिड़िया' के समान है जिसे खेल के दो प्रतिस्पर्धी अपनी संपूर्ण शक्ति लगाकर 'चोट' पहुँचाने के प्रयत्न में होते हैं। चीन के ताज़े इतिहास पर एक सरसरी दृष्टि भी इस वक्तव्य की सत्यता को प्रमाणित कर सकेगी। अमरीका का उद्देश्य जब तक चीन में केवल व्यापार करने का था और रूस ने उसमें दिलचस्पी लेना शुरू नहीं किया था तब तक चीन की राजनीति का विकास मुक्त और निर्बाध गति से होता रहा। पर आज अमरीका चीन में केवल व्यापार की सुविधाएं ही नहीं चाहता वह उसे रूस के विरुद्ध एक शक्तिशाली दीवार, और प्रशान्त की समस्याओं में एक साथी, के रूप में चाहता है, और रूस चीन में एक ऐसी मित्र सरकार की स्थापना देखना चाहता है जो इस देश को रूस के विरुद्ध अमरीका के आक्रमणात्मक प्रहारों का आधार न बनने दे। इसी कारण, अमरीका और रूस के संबंधों की पहिली प्रतिक्रिया आज चीन पर होती है। जब तक रूस जापान के विरुद्ध युद्ध में शरीक नहीं हुआ था, कुओमिन्टांग और कम्यूनिस्टों में मतभेद बढ़ता जा रहा था। ज्यों ही रूस युद्ध के पूर्वी-एशियायी क्षेत्र में प्रविष्ट हुआ, १९४५ के ग्रीष्म में कम्यूनिस्टों और राष्ट्रवादियों में समझौते की चर्चा प्रारंभ हो गई और एक शान्त और सहयोगपूर्ण वातावरण में छः हफ्तों की बातचीत के बाद दोनों दलों में एक समझौता भी हो गया। परंतु, लन्दन के विदेश-मंत्रियों के सम्मेलन में ज्यों ही अमरीका और रूस के कुछ मतभेद

[1] आज की परिस्थिति में तो चीन की च्यांग-काई शेक की सरकार को एक स्वतंत्र सरकार कहना वस्तुस्थिति का उपहास करना है। आज तो च्यांग की प्रत्येक पराजय की सीधी प्रतिक्रिया वाशिंगटन में होती है और वहां अधिक रुपया और अधिक हथियार भेजने के निश्चय किए जाते हैं।

सामने आए, चीन फिर गृह-युद्ध में प्रवृत्त हो गया। दिसम्बर १९४५ में, मास्को-सम्मेलन में ये मतभेद कुछ मिटते दीखे, और उसके कुछ दिनों बाद ही, सेक्रेटरी मार्शल के सहयोग से, दोनों दलों में एक बार फिर समझौता हो गया, जिसमें फ़ौज, शासन व धारा सभाओं में कम्यूनिस्टों के अनुपात के संबंध में महत्वपूर्ण निर्णय किए गए। इसके बाद यूनान, हिन्देशिया और ईरान के प्रश्नों को लेकर ज्योंही अमरीका और रूस में फिर तनातनी का प्रारंभ हुआ, चीन की राजनीति पर उसका प्रभाव दिखाई दिया और मंचूरिया में दोनों दल एक खूनी संघर्ष में जूझ पड़े। रूस ने मंचूरिया खाली कर देने का वायदा कर लिया था, पर उसे पूरा करने में उसने इतना अधिक समय लगा दिया कि इस बीच इस समस्त प्रदेश पर कम्यूनिस्टों को अपना अधिकार जमा लेने का अवसर मिल गया। सेक्रेटरी मार्शल ने जून १९४६ में एक बार फिर चीन पहुँच कर दोनों दलों में मेल कराने का प्रयत्न किया परंतु इस बार उन्हें सफलता नहीं मिली, और इसका स्पष्ट कारण यह था कि अमरीका और रूस के आपसी मतभेद अब बहुत बढ़ गए थे। जैसा कि किसी लेखक ने उन्हीं दिनों लिखा, मार्शल एक गलत देश में संधि करने के लिए पहुँच गए थे, वास्तव में उन्हें रूस जाना चाहिए था। उसके बाद से तो अमरीका और रूस के मतभेदों ने बड़ा तीव्र रूप ले लिया है, और इसी कारण चीन का गृह-युद्ध भी भीषणतर होता गया है। जब तक चीन के दोनों दलों को अमरीका और रूस का, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष, समर्थन प्राप्त है, उनका संघर्ष मिट नहीं सकेगा। और, यह स्पष्ट है कि दोनों ही दल, किसी न किसी सीमा तक उस समर्थन के आधार पर ही काम कर रहे हैं। मुझे चीन के अमरीकी राजदूत जॉन लीटन स्टुअर्ट के इस कथन की सचाई में पूरा विश्वास है कि "यदि अमरीका और रूस मिलकर काम करें तो चीन के राष्ट्रवादी और कम्यूनिस्ट भी एक दूसरे के साथ मिल जुल कर काम करना आरंभ कर देंगे।

एशियायी एकता के आधार-तत्व

चीन में आज जो कुछ हो रहा है, उसी की प्रतिक्रिया हमें स्याम, मलाया, बर्मा, हिन्देशिया और वियट-नम में पाते हैं। हिन्दुस्तान भी क्या चीन का अनुसरण करेगा? क्या यह एशियायी एकता का मार्ग है? यह तो स्पष्टतः समस्त एशिया को, प्रत्येक एशियायी देश में एक बड़े या छोटे गृह-युद्ध के बाद अमरीका और रूस के प्रभाव-क्षेत्रों में बांट देने और तीसरे

महायुद्ध की लपटों में उसे झोंक देने और भस्म कर देने का मार्ग है। यह स्पष्टतः अपने को अन्तर्राष्ट्रीय दलबन्दी से तटस्थ रखने का वह मार्ग नहीं है जिसे हमने अपनी वैदेशिक नीति का आधार बनाया है। पर एशिया का नेतृत्व क्या आज इसी मार्ग पर नहीं चल रहा है ? ये सब बड़े महत्त्व के प्रश्न हैं जिनका समुचित उत्तर हमें ढूंढ निकालना है। गांधीजी ने हमें यही सिखाया है कि यदि हम लक्ष्य से विपरीत दिशा में चल पड़े तो लक्ष्य तक कभी नहीं पहुंच सकेंगे। यदि हम लक्ष्य तक पहुँचना चाहते हैं तो रास्ते की दिशा के सम्बन्ध में भी हमें चौकन्ना रहना पड़ेगा। एशिया की एकता के सम्बन्ध में हमें पहिली बात यह समझ लेना है कि हम किसी बाहरी शक्ति का सहारा लेकर, उसकी अंगुली पकड़कर अथवा उसके पीछे पीछे चलते हुए, कभी उसे प्राप्त नहीं कर सकेंगे। अमरीका और रूस केवल दो राजनैतिक सत्ताएं नहीं हैं जिनके पीछे एशिया की सरकारें आसानी से खड़ी हो सकें। वे दो विभिन्न विचार-धाराएं हैं, जिनके बीच आज साधारणतः संसार के सभी देशों में और विशेषकर एशिया के देशों में एक तीव्र संघर्ष चल रहा है। इनमें से किसी को भी बिना परिवर्त्तन, परिवर्धन अथवा संशोधन के मान लेना श्रेयस्कर नहीं है—क्योंकि एक विचार-धारा देश में अमीरों के प्रभुत्व को ग़रीबी और बेबसी को चिर-स्थायित्व देती है, और एशिया के सभी देशों का प्रधान लक्ष्य इस ग़रीबी को दूर करना होना चाहिए; और दूसरी, कम या अधिक, ऐसे साधनों में विश्वास रखती है जो पुरानी व्यवस्था को तोड़ तो सकते हैं पर नई व्यवस्था को कैसा रूप देंगे, इसके संबंध में सदा ही आश्वस्त नहीं रहा जा सकता। परंतु, अपने को अमरीकी और रूस के प्रभाव से मुक्त रखना और पूंजीवाद और साम्यवाद दोनों के खतरों से अछूता रखना तो हमारे निर्णय और हमारी प्रगति का एक पक्ष हो सकता है, केवल नकारात्मक पक्ष जिसके आधार पर हम एशिया की किसी स्थायी एकता की नींव नहीं डाल सकते। केवल राजनैतिक स्वाधीनता के आधार पर संगठित एशियायी राज्यों का संघ, जो बाहरी प्रभावों को रोक पाने में तो सतर्क है पर भीतर की सामाजिक व्यवस्था (अथवा अव्यवस्था) को वैसी ही बनी रहने देना चाहता है, नए आन्तरिक विग्रहों की सृष्टि करने में ही समर्थ हो सकता है। यदि हम एशिया के राजतंत्रों की एकता नहीं, एशिया की जनता की एकता, चाहते हैं तो हमें तेजी से उस स्वाधीनता का विकास आर्थिक और सामाजिक समानता की दिशा में करना पड़ेगा। एशिया का नेतृत्व क्योंकि इस दिशा में सशंकित, सहमा और संभ्रमशील है, एशिया की जनता क्षुब्ध, बेचैन और विद्रोही बनती जा रही रही है, और क्योंकि अपने पुराने, प्रिय और श्रद्धास्पद नेताओं से उसे स्पष्ट,

निर्भीक और विवेकपूर्ण, सही और तात्कालिक नेतृत्व नहीं मिल रहा है, वह नए और अनुभव हीन, लक्ष्य में स्पष्ट पर साधनों में गुमराह नेतृत्व के पीछे पीछे चल पड़ी है। वह आज लक्ष्य की झांकी—मात्र से संतुष्ट होने की स्थिति में नहीं है, उसे प्राप्त करना चाहती है और प्राप्ति के इन प्रयत्नों में; चलना नहीं, दौड़ना चाहती है। आज उसके स्वप्न सजग हो उठे हैं, आकांक्षाएं तीव्र और पैनी बन गई हैं। क़ाहिरा से कोरिया और सायबेरिया से मेलिबीज तक राज-नैतिक स्वाधीनता की नव-चेतना से अनुप्राणित एशिया आज एक सर्वांगीण जन-जागृति की उत्ताल तरंगों में उछल रहा है। एशिया के वर्तमान नेतृत्व का आज सबसे बड़ा काम यह है कि वह इस व्यापक जन-जागृति की गहराई को पहिचाने, उसके साथ तादात्म्यता स्थापित कर सके, और उसे उन स्वप्नों और आकांक्षाओं को पूरा करने में अपना क्रियात्मक सहयोग दे जिन्हें एशिया की जनता युगों से राजनैतिक स्वाधीनता के साथ गूंथती आ रही है, और जिसके फूल राजनैतिक स्वाधीनता के सूत्र हाथ में आ जाने के बाद भी उसमें गुंथे न देख कर वह आज निराश, कुण्ठित और बेचैन है, क्योंकि उसमें वह विजय का हार नहीं पराजय की बेड़ियां ही, देख पाती है।

: १२ :

पुनर्निर्माण की दिशा : जनतन्त्रीय समाजवाद

"आज हम एक स्वतंत्र और सार्वभौम राष्ट्र हैं," पंडित जवाहरलाल नेहरू ने स्वतंत्र भारत के प्रथम प्रधान-मंत्री की हैसियत से राष्ट्र के नाम अपने पहिले ब्रॉडकास्ट भाषण में कहा "और भूतकाल के बन्धनों से हमने छुटकारा पा लिया है। संसार की ओर हम निर्भीक और मित्रतापूर्ण दृष्टि से देख सकते हैं और भविष्य की ओर दृढ़ता और विश्वास के साथ।" गुलामी के लंबे, उत्पीड़न से भरे, वर्षों का उस दिन अन्त हो रहा था, और एक नया सूर्य, ताजी हवाओं के प्रकंपन में, अपनी नई लजीली-शर्मीली किरणें बिखेरने में व्यस्त था। हमारी आकांक्षाएँ एक नवीन कसमसाहट के साथ जाग उठी थीं, हमारे उन स्वप्नों को मूर्त-रूप देने के लिए जो गुलामी की तंद्रा में, एक विदेशी हुकूमत, हमारी छाती पर बैठ कर भी कुचल नहीं सकी थी। उन स्वप्नों की चमक हमारी आंखों में थी। "विदेशी आधिपत्य का बोझा हम फेंक चुके हैं," पंडित नेहरू ने आगे चल कर कहा, "परंतु स्वतन्त्रता के अपने उत्तरदायित्व और अपने बोझे होते हैं, और वे एक ऐसे स्वतन्त्र राष्ट्र की भावना में ही उठाए जा सकते हैं जो अनुशासित हो और उस स्वतन्त्रता की रक्षा करने और उसे व्यापक बनाने में दृढ़ प्रतिज्ञ हो; हमने बहुत कुछ प्राप्त किया है; हमें इससे बहुत अधिक प्राप्त करना है।.........दुनियां की आंखें आज हम पर हैं, और वे पूर्व में स्वतंत्रता के इस उदय को देख रही हैं और सोचती हैं कि आगे जाकर यह कैसा रूप लेगी।..... ...जनता के पास आज खाना, कपड़ा और दूसरी आवश्यकताओं का अभाव है, और चीजों के दाम तेजी से बढ़ रहे हैं।.........हम किसी का बुरा नहीं चाहते, परंतु यह साफ तौर से समझ लिया जाना चाहिए कि एक लंबे अर्से से कष्ट सहने वाली जनता के हितों को प्राधान्य दिया जाएगा, और प्रत्येक स्थिर स्वार्थ

को जो उसके मार्ग में बाधा के रूप में मौजूद हो, हट जाना पड़ेगा।... उत्पादन आज की प्रधान आवश्यकता है, और उत्पादन में अवरोध उत्पन्न करने, अथवा उसे घटाने,का प्रत्येक प्रयत्न राष्ट्र को, और विशेष कर मजदूर-वर्ग को, नुकसान पहुंचाएगा। परंतु केवल उत्पादन ही काफ़ी नहीं है क्योंकि उससे थोड़े से हाथों में धन के और भी अधिक केन्द्रीकरण का खतरा है, और वह प्रगति में बाधा डालता है और उससे, आज के वातावरण में, अस्थायित्व और संघर्ष पैदा होता है। समस्या के समाधान की दृष्टि से समुचित और न्यायपूर्ण वितरण भी बहुत आवश्यक है। आज हम अपने देश में ऐसा वातावरण निर्माण करने की प्रतिज्ञा लें।"

राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद ने इसी ऐतिहासिक अवसर पर अपने एक भाषण में कहा, "जहां प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र हो और उसे अपनी योग्यता की पूरी ऊंचाई तक विकास पाने का अवसर मिले; जहां ग़रीबी और क्लेश और अज्ञान और अस्वास्थ्य बिल्कुल मिटा दिए जाएँ; जहां ऊँच-नीच और अमीर-ग़रीब का भेद न रहे; जहां धर्म को स्वीकार करने, उसका प्रचार करने और व्यवहार में लाने की पूरी स्वतन्त्रता ही न हो, धर्म मनुष्य को मनुष्य से बांधने वाला एक दृढ़ तत्त्व बन सके, और अव्यवस्था और तोड़ फोड़ करने वाला तत्त्व न रहे जो विभाजन और दूरी की सृष्टि करता है; जहां अस्पृश्यता रात्रि के एक क्लेश पूर्ण स्वप्न के समान भुला दी गई हो; जहां मनुष्य के द्वारा मनुष्य का शोषण समाप्त हो चुका हो; जहां आदिम-जातियों और अन्य सभी पिछड़े हुए वर्गों को समाज के शेष भाग के समकक्ष में लाने के लिए सुविधाओं और विशेष आयोजनों की व्यवस्था की गई हो; और जहां पृथ्वी अपने करोड़ों पुत्रों को केवल खाने भर के लिए काफ़ी भोजन ही न दे, उसमें एक बार फिर दूध की नदियां बहने लगें; जहां पुरुष और स्त्रियां खेतों और कारखानों में अपनी समस्त योग्यता के साथ हँसें-खेलें और काम करें; जहां प्रत्येक कुटी और झोंपड़ी ग्रामोद्योगों के मधुर संगीत से गूंज उठे और स्त्रियां उनमें काम करने और उनकी लय के साथ गुनगुनाने में व्यस्त हों; जहां सूर्य और चंद्रमा सुखी घरों और प्रेम से भरे चेहरों पर चमकें।"

पुनर्निर्माण के कुछ आधार-भूत सिद्धांत

यह वह लक्ष्य है जो स्वाधीन भारत के निर्माताओं ने हमारे सामने रखा है और जिसे अपने देश में हमें प्राप्त करना है। राजनैतिक दृष्टि से आज हम एक नए युग के प्रवेश-द्वार पर खड़े हैं। ग़ुलामी की जिन जंजीरों ने हमें डेढ़ सौ वर्षों से जकड़ रखा था वे आज टूट कर बिखर गई हैं। आज हम स्वयं

अपने भाग्य के विधाता हैं, और जो बड़ा उत्तरदायित्व हमने अपने कंधों पर लिया है, राजनैतिक स्वाधीनता का विकास आर्थिक और सामाजिक समानता की दिशा में करने की जो प्रतिज्ञा हमने ली है, उसे पूरा करना है। परंतु, समस्त जीवन के पुनर्निर्माण के महान् कार्य में जब हम कटिबद्ध होते हैं तो एक सोनहले और आकर्षक, श्रेयस्कर और मंगलप्रद, लक्ष्य का निर्धारण ही काफ़ी नहीं होता, हमें उन मार्गों के संबंध में भी स्पष्ट और सचेत होना पड़ता है जिन पर चल कर हम अपने लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं। सच तो यह है कि लक्ष्य के संबंध में आज विभिन्न व्यक्तियों और विभिन्न विचार-धाराओं में विशेष अन्तर नहीं रह गया है। सभी जनता के अभावों को दूर करने में प्रयत्नशील हैं; सभी जनता की उन्नति और जनता का उत्थान चाहते हैं; सभी की दिलचस्पी जन साधारण के सर्वांगीण विकास में है। आज तो जनतंत्र के संबंध में भी विशेष मतभेद नहीं रह गया है। एक ओर अमरीका और ब्रिटेन अपने को जनतंत्र का बहुत बड़ा समर्थक मानते हैं, और दूसरी ओर रूस अमरीका और ब्रिटेन की इस आधार पर आलोचना करता है कि वहां सच्चे अर्थों में जनतंत्र नहीं है, और स्वयं एक आदर्श जनतंत्र होने का दावा करता है। विचार-धाराओं के दो विरोधी शिखरों पर स्थित ये दोनों देश एक दूसरे पर फ़ासिस्ट होने का दोष लगाते हैं। अमरीका और ब्रिटेन का विश्वास है कि जब तक व्यक्ति को राजनैतिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता न हो, शासन में भाग लेने और शासन की आलोचना करने के उसके अधिकार सुरक्षित न हों, तब तक आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में समानता की बात करना बेमानी है। मनुष्य केवल पेट नहीं है। केवल शरीर भी नहीं है। उसके पास हृदय और मस्तिष्क भी है। वह मौलिक रूप से सोचना और व्यक्त करना भी चाहता है। उसकी उत्तरदायित्व की भावना को भी अभिव्यक्ति मिलना चाहिए। दूसरी ओर, रूस के द्वारा कहा जाता है कि एक ऐसे वातावरण में जहां आर्थिक और सामाजिक समानता न हो राजनैतिक अधिकार अपना मूल्य खो बैठते हैं। भूखे आदमी के मत को कुछ टुकड़ों से ख़रीदा जा सकता है। एक ऐसे समाज में जहां पूंजी पर नियंत्रण कुछ लोगों का है और शेष को अपना श्रम, कम से कम दामों पर, बेच कर अपना पेट भरना पड़ता है, राजनैतिक अधिकारों के प्रयोग में ईमानदारी की अपेक्षा नहीं की जा सकती, ऐसे समाज में तो मनुष्य का मनुष्य के द्वारा लगातार शोषण ही चलता रहता है और राज्य पूंजीवादी वर्ग के हाथ में शोषण का एक यंत्रमात्र बन कर रह जाता है।

मैं तो मानता हूँ, जैसा मैंने इस पुस्तक में कई स्थलों पर स्पष्ट करने का

यत्न भी किया है, कि पश्चिमी प्रजातन्त्रों और रूस दोनों की ही प्रजातंत्र की कल्पना अधूरी है। स्वतंत्रता और समानता प्रजातन्त्र के सिक्के के दो पक्ष हैं, जिन्हें एक दूसरे से अलहदा नहीं किया जा सकता। राजनैतिक दृष्टि से समानता का अर्थ एक यान्त्रिक समानता नहीं है जिसमें प्रत्येक मनुष्य को बराबर रोटी और कपड़ा और बराबर वज़न और ऊँचाई रखने पर विवश किया जाए। बराबरी का अर्थ यह है कि क़ानून, अधिकारों, अवसरों और व्यक्तित्व के विकास की दृष्टि से सभी मनुष्यों को एक सी सुविधाएं दी जाएं। जिस समाज में इस प्रकार की सुविधाएं नहीं हैं उसे जनतंत्रीय समाज कहना जनतन्त्र का उपहास करना है। परन्तु, प्रायः ऐसा होता है कि इन सुविधाओं को जुटाने के लिए मनुष्य की स्वतन्त्रता पर आक्रमण किया जाता है। मनुष्य के नैसर्गिक अधिकारों की सुरक्षा जिस समाज में न हो वह भी सही मानी में जनतन्त्र नहीं है। स्वतंत्रता और समानता में एक विरोधाभास अवश्य है। समाज में एक वर्ग ऐसा है जो असमानता में ही फलता-फूलता है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के नाम पर वह समानता के प्रयत्नों को रोकना चाहता है। इस वर्ग की स्वतन्त्रता पर नियंत्रण रखना अनिवार्य हो जाता है। समानता की सृष्टि जिनके लिए की जाती है वे भी प्रायः अज्ञान के कारण और बहकावे में आकर, उन प्रयत्नों का विरोध करते हैं। इस कारण स्वतंत्रता को कुचलना आवश्यक माना जाने लगता है। समाज में व्यक्ति की स्वतन्त्रता जितनी अधिक विकसित होगी, समानता की स्थापना में उतनी ही कठिनाई होगी। इस प्रकार स्वतंन्त्रता और साम्य दोनों ही एक दूसरे के शत्रु प्रतीत होने लगते हैं। परन्तु जीवन के संपूर्ण विकास के लिए दोनों ही आवश्यक हैं। बहुत संभव है कि इस देश में हम इन दोनों के बीच एक तारतम्य, सामंजस्य का एक सूत्र, ढूंढ निकालने में सफल हों, और दुनियां को संपूर्ण जनतन्त्र की एक झांकी दे सकें। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह मार्ग दुर्गम और कठिनाइयों से भरा होगा और लक्ष्य तक पहुँचने में हमें बड़े साहस और अध्यवसाय, धैर्य और सहिष्णुता का परिचय देना होगा।

राजनैतिक जनतंत्र और उसका स्वरूप

सबसे पहिला निश्चय जो हमें कर लेना है वह यह है कि जनतन्त्र को हमने जिस आंशिक रूप में प्राप्त किया है उसे हमें सुरक्षित रखना है। मैं मानता हूँ कि राजनैतिक जनतन्त्र वास्तविक जनतन्त्र का एक आंशिक रूप ही

है, पर वह उस नींव के समान है जिस पर जनतन्त्र का भव्य प्रासाद खड़ा किया जा सकता है, जिसे इस नींव को मज़बूत किए बिना खड़ा करने का यदि प्रयत्न किया गया तो ताश के महल के समान उसके ढह जाने का डर है। हम जिस किसी भी समाज का निर्माण करें, यह राजनैतिक जनतन्त्र उसका मूल-आधार होना चाहिए। यदि यह कहना सच है कि आर्थिक समानता के बिना राजनैतिक जनतन्त्र एक प्राणहीन, खोखली और निःसार वस्तु के समान है तो यह कहना और भी अधिक सच है कि आर्थिक समानता प्राप्त करने के लिए राजनैतिक जनतन्त्र के अतिरिक्त यदि किसी अन्य मार्ग पर चलने का प्रयत्न किया गया तो वह समानता न केवल एक व्यापक हिंसा और रक्तपात के द्वारा प्राप्त की गई होगी, वह कृत्रिम, उथली और अस्थायी होगी।[१] तानाशाही के द्वारा समाज में जो भी परिवर्त्तन लाए जाएंगे वे इसी प्रकार के होंगे, और राजनैतिक स्वतंत्रता को तो उनसे सदा खतरा ही रहेगा, तलवार से जो व्यक्ति शासन करते हैं वे जानते हैं कि यदि उनके हाथ की मुट्ठी ढीली पड़ी, अथवा उनकी आंखें एक क्षण के लिए भी झिपीं, तो दूसरे हाथ उन तलवारों को छीन लेंगे और दूसरे क्षण उनकी गर्दन उनके नीचे होगी। तानाशाही के द्वारा बड़ी बड़ी योजनाएं कार्यान्वित की जा सकती हैं, बड़े बड़े युद्ध लड़े और जीते जा सकते हैं, परंतु मनुष्यों के हृदय पर शासन नहीं किया जा सकता, और जिस शासन-व्यवस्था के पीछे जनसाधारण का सक्रिय, रचनात्मक, प्रेरणा-जन्य समर्थन नहीं है वह समाज को सच्चे अर्थों में ऊँचा नहीं उठा सकती।

इस राजनैतिक जनतन्त्र की आवश्यक शर्त्तें क्या हैं? उसकी पहिली शर्त्त, निःसन्देह, शासन का जनता के प्रति उत्तरदायी होना है। इस उत्तरदायित्व का अर्थ है, शासन के चुनाव में जनता का हाथ होना। चुनाव यदि दो या अधिक वस्तुओं के बीच किया जाता है, देश में सदा ही दो या उससे अधिक राजनै-

---

१ रूस में १९३७ और ३८ के शासन को अवांछित व्यक्तियों से मुक्त करने के प्रयत्नों में दो हज़ार व्यक्तियों को फांसी दिए जाने के समाचार रूस के राष्ट्रीय समाचार-पत्रों में, और इसके अतिरिक्त बहुत से अन्य व्यक्तियों की फांसी के समाचार–स्थानीय पत्रों में छपे। इनमें से एक भी व्यक्ति के खिलाफ कोई अदालती कार्यवाही नहीं की गई थी, और इस सूची में प्रान्तीय लोकतन्त्रों के, एक को छोड़कर, सभी अध्यक्ष और प्रधान-मन्त्री थे, फ़ौज के अधिकांश बड़े अफ़सर थे, जलसेना के सब अध्यक्ष थे, और रूस की क्रांति के लगभग सभी पुराने नेता थे।

तिक दल अथवा विचार-धाराएं अथवा दृष्टिकोण होते हैं। इनमें से किसे शासन का नियंत्रण अपने हाथ में लेने की अनुमति दी जाए, यह निश्चय जनता को ही करना है, क्योंकि उसके कार्यक्रम का सीधा प्रभाव उसके जीवन पर ही पड़ेगा। जनता को न केवल सरकार को चुनने का अधिकार होना चाहिए उसे यह अधिकार भी होना चाहिए कि वह एक अवांछनीय सरकार को स्थान-च्युत, भी कर सके। सच तो यह है कि जनता के लिए यह निर्णय करना अधिक आसान है कि वह किस सरकार को नहीं चाहती बजाए इसके कि वह किन निश्चित सामाजिक नीतियों के पक्ष में है। राजनैतिक जनतन्त्र की दूसरी शर्त उसकी पहिली शर्त में ही अन्तर्हित है। यदि हम जनता को सरकार के चुनाव का अधिकार देना आवश्यक समझते हैं तो यह भी आवश्यक है कि उसे वास्तविक चुनाव की सुविधा हो। यह चुनाव विभिन्न राजनैतिक दलों के बीच ही किया जा सकता है। विभिन्न राजनैतिक दल तभी पनप सकते हैं, जब जनता को सरकार का विरोध करने की सुविधा हो। विरोधी दल को जब तक इतनी सुविधा नहीं है कि शासन को अपने हाथ में लेने की वह खुले तौर पर तैयारी कर सके, जनता के सामने अपने विचारों, और सरकार की तीखी आलोचना, रख सके, और उसे यह विश्वास हो कि जनता का समर्थन प्राप्त कर लेने के बाद सरकार शासन के सूत्र चुपचाप उसके हाथों में सौंप देगी, तब तक जनता के सामने चुनाव की वास्तविक सुविधा नहीं मानी जा सकती। विरोधी दल की अनुपस्थिति में जनता को मतदान का अधिकार देना, जैसा समय समय पर फ़ासिस्ट और कम्यूनिस्ट दोनों ही देशों में होता रहता है, चुनाव के अधिकारों का मखौल उड़ाना है। गोएबिल्स ने एक बार कहा था, "हम सभी नात्सियों को इस बात का विश्वास है कि हम सही रास्ते पर हैं, और हम किसी ऐसे आदमी को बर्दाश्त नहीं कर सकते जो कहता है कि वह सही रास्ते पर है। क्योंकि या तो, यदि वह ठीक कहता है तो, वह नात्सी है, और यदि वह नात्सी नहीं है तो वह ठीक नहीं कहता।" गोएबिल्स के जर्मनी के समान स्टैलिन के रूस में भी यही बात ठीक है। दोनों ही देशों में चुनाव, एक अंग्रेज लेखक के शब्दों में, फ़्यूरर हिटलर और फ़्यूरर हिटलर के बीच, अथवा मार्शल स्टैलिन और मार्शल स्टैलिन के बीच होता है। वे एक देश में नात्सीदल और नात्सीदल के बीच चुनाव कर सकते थे और दूसरे में कम्यूनिस्ट पार्टी और कम्यूनिस्ट पार्टी के बीच।

जनतन्त्र का आधार सहिष्णुता की भावना में है, विशेषकर विरोधी पक्ष के प्रति सहिष्णुता में। विरोध को जहां दबाया जाता है, या ग़ैरक़ानूनी क़रार दे दिया जाता है या नष्ट करने का प्रयत्न किया जाता है, वहां जनतन्त्र का

अन्त ही मानना चाहिए। यह सच है कि सभी जनतंत्रीय देशों में विरोधी पक्ष को समान स्वतन्त्रता नहीं है, परन्तु इस स्वतन्त्रता की वास्तविकता को ही जनतन्त्र की सच्ची कसौटी माना जाना चाहिए। शासन के निर्माण और भंग करने में जनता का प्रत्यक्ष हाथ और विरोधी दल को, सभी वैध उपायों द्वारा, अपना विरोध व्यक्त करने का संपूर्ण अधिकार, जनतन्त्र की इन दो आवश्यक, और स्थूल, शर्तों की चर्चा के साथ हम अपने को, अनायास ही भावनाओं के एक विशिष्ट वातावरण की चर्चा करते हुए पाते हैं जो जनतन्त्र की एक तीसरी आवश्यक शर्त है। जनतन्त्र किसी देश में तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक वहां सहिष्णुता की एक व्यापक भावना विकसित न हो चुकी हो। जनतन्त्र का अर्थ केवल 'जनता का राज्य' नहीं है—उसका अर्थ बहुमत का राज्य तो हर्गिज नहीं है—जनता के लिए' चलाया जाने वाला राज्य भी है। उसके लिए जनता के विभिन्न वर्गों के दृष्टिकोण को सहानुभूति के साथ समझने और उसे अपने निर्णयों में उचित स्थान देने की आवश्यकता है—इन अल्पसंख्यक वर्गों का आधार धर्म हो, अथवा जातीयता अथवा आर्थिक विचार-धारा। जनतन्त्र में किसी भी अल्पसंख्यक वर्ग को कुचलने, और गुलाम बना कर रखने की भावना के लिए तो गुंजाइश है ही नहीं। जिस वर्ग के हाथ में देश का शासन है वह यदि अन्य वर्गों को कुचलने में व्यस्त है तो वे दूसरे वर्ग, वैधानिक और अवैधानिक, सभी उपायों से सत्ता को अपने हाथ में लेने का प्रयत्न करेंगे, और उनमें से कोई भी वर्ग जिस दिन सत्ता को अपने हाथ में ले पाएगा, आज के शासक-वर्ग, और संभवतः अन्य वर्गों के प्रति भी, वैसी ही असहिष्णुता का वर्त्ताव करेगा; जनतन्त्र के विकास के लिए ऐसा वातावरण सचमुच ही उपयुक्त नही है। जनतन्त्र का अर्थ तो यह है कि एक राजनैतिक दल, केवल इस आधार पर कि जनता के बहुमत ने उसे अपना समर्थन दिया है, दूसरे 'राजनैतिक दल से, खेल के विजयी योद्धा के समान, सद्भावना और सौहार्द्र के वातावरण में, राज्य की सत्ता अपने हाथ में ले सके।

ऊपर जनतन्त्र के जिन सिद्धांतों की चर्चा की गई है उनका संबंध उस 'राजनैतिक जनतन्त्र' से है जो पूंजीवादी देशों में भी पाया जाता है। क्या उस जनतन्त्र को हम इसी कारण ठुकरा दें कि पूंजीवाद के प्रश्रय में उसने विकास पाया है? [१] आज इस बात के लिए प्रमाण जुटाने की आवश्यकता

१ तब तो हमें आधुनिक युग के सारे आविष्कारों को, और औद्योगीकरण की समस्त प्रक्रिया को, और कला और संस्कृति के उन अमूल्य तत्वों को भी

नहीं रह गई है कि केवल जनतन्त्रीय शासन ही जनता का वास्तविक प्रतिनिधित्व कर सकता है और उसे सुखी बना सकता है। जनतन्त्र के अतिरिक्त जितने भी मार्ग हैं वे सब जबर्दस्ती और अत्याचार के मार्ग हैं। जनता की आवाज़ की उनमें अभिव्यक्ति नहीं होती, और इस कारण जनता के हित-चिन्तन की उनसे अपेक्षा नहीं की जा सकती। समस्त विरोधों के होते हुए राष्ट्रीय एकता की भावना का विकास भी जनतंत्रीय देशों में ही संभव है। अन्य देशों की एकता पाशविक बल के आधार पर स्थापित की गई एकता है। इस दृष्टि से हम तानाशाही और जनतन्त्रीय देशों के वातावरण में एक बड़ा अन्तर पाते हैं। तानाशाही देशों में सत्ता जिन लोगों के हाथ में होती है वे सदा ही फ़ौज और पुलिस के कड़े संरक्षण में रहते हैं क्योंकि उन्हें भय लगा रहता है कि उन हज़ारों बेगुनाह व्यक्तियों की हत्या, और उत्पीड़न का बदला, जिनके खून से उनके हाथ लाल हैं, उनसे न जाने कब ले लिया जाए। इसके विपरीत जनतंत्रीय देशों में राष्ट्रपति और सेनाध्यक्ष प्रधान-मन्त्री और अर्थ-सचिव सभी निहत्थे और निर्भीक, अकेले और प्रायः अरक्षित घूमते हुए दिखाई देते हैं। एटली के शासन में चर्चिल और उसके साथियों को सरकार के कड़े से कड़े विरोध की वे सब सुविधाएं प्राप्त हैं जो चेम्बरलेन के शासन में एटली और उनके साथियों को थीं: ब्रिटेन में तो विरोधी दल के नेता को इस बात के लिए एक बड़ा पारिश्रमिक दिया जाता है कि वह सरकार की आलोचना करे, उसे बुरा भला कहे और चाहे तो, उसकी बातों को तोड़-मरोड़ कर भी जनता के सामने रख सके। जनतन्त्र में सभी राजनैतिक दलों में आपस में एक दूसरे के विरोध को न केवल बर्दाश्त करने बल्कि उसे अभिव्यक्ति के लिए पूरी सुविधाएं देने का एक अलिखित समझौता होता है और, इस समझौते का पालन यह जानते हुए भी किया जाता है कि जब सत्ता दूसरे राजनैतिक दल के हाथ में जाएगी तब वह उसका उपयोग पहिले राजनैतिक दल के स्थिर स्वार्थों पर आघात पहुँचाने की दिशा में करेगा। चर्चिल की सरकार ने जब एटली के हाथों में शासन की सत्ता सौंपी तो अनुदार दल, और उसके समर्थक पूंजीपति वर्ग, को न केवल आशंका थी, बल्कि पूरा विश्वास, था कि एटली की सरकार क़ानून और शासन-तंत्र का उपयोग देश में पूंजीवाद की जड़ों को खोदने और समाजवाद की स्थापना की दिशा में करेगी। परंतु, जनता के

जिनका विकास इतिहास के उन युगों में हुआ जिनमें पूंजीवाद का प्राधान्य था, ठुकरा देना होगा। हम सचमुच ही भाप और बिजली, रेडियो और अणु की शक्तियों को ठुकराने के पक्ष में नहीं है।

बहुमत के सामने झुक जाने के अतिरिक्त अनुदार दल ने अपने सामने कोई दूसरा मार्ग नहीं देखा।

जनतंत्रीय शासन और जनतंत्र-विरोधी राजनैतिक दल

जनतन्त्र में राजनैतिक दलों के प्रति सहिष्णुता एक आवश्यक शर्त्त है। पर, उन राजनैतिक दलों के संबंध में क्या कहा जाए जो जनतन्त्र—या राजनैतिक जनतन्त्र के आधार-भूत सिद्धांतों में ही विश्वास नहीं रखते ? यह स्पष्ट है कि जितने भी फ़ासिस्ट और कम्यूनिस्ट दल हैं राजनैतिक जनतन्त्र के मूल-सिद्धांतों से उनका विरोध है। यह भी स्पष्ट है कि हमारे देश में यदि राज्य की सत्ता राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ अथवा कम्यूनिस्ट पार्टी के हाथों में चली गई तो वे जनतन्त्रीय शासन की जड़ों को ही उखाड़ कर फेंक देंगे और सामन्तशाही अथवा साम्प्रदायिकता अथवा एक वर्ग विशेष के हिंसात्मक संगठन के आधार पर, बमों और मशीनगनों से, देश पर शासन करेंगे। कोई भी जनतन्त्रीय शासन इस प्रकार के विरोध को बर्दाश्त नहीं कर सकता। यह सच है कि किसी देश में यदि इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ हैं तो वे उसके अस्वास्थ्य की सूचक हैं, और शासक-वर्ग को गंभीरता के साथ यह सोचने की आवश्यकता है कि उस वातावरण को, चाहे वह सांप्रदायिक विद्वेष का वातावरण हो अथवा आर्थिक शोषण का, किस प्रकार मिटाया जाए जिसमें इस प्रकार के अवांछनीय तत्वों को पोषण मिलता है। जनतन्त्र की रक्षा और शासन में कमजोरी न आने देना, ये दोनों उस राजनैतिक दल के प्रमुख कर्त्तव्यों में से हैं जिसके हाथ में देश की सरकार है। किसी भी राजनैतिक दल के द्वारा भय अथवा स्थिर-स्वार्थों की रक्षा की दृष्टि से, किसी ऐसे दल के हाथों में शासन सौंप देना जो देश के जनतन्त्र को मिटाने के लिए कटिबद्ध हो, जनतन्त्र के और उसके साथ जनता का जो हित बँधा हुआ है उसके साथ विश्वासघात करना है। ये प्रवृत्तियां जब तक विचार के क्षेत्र में है तब तक उनके प्रति उपेक्षा भी दिखाई जा सकती है, परंतु यदि वे संघ-बद्ध होने लगें और अपनी सैनिक अथवा अर्द्ध-सैनिक टुकड़ियाँ भी खड़ी करने लगें तब तो जनतन्त्रीय शासन को अपनी सभी शक्ति लगा कर उन्हें कुचलना आवश्यक हो जाता है। परंतु कोई भी स्वस्थ जनतन्त्रीय शासन इन प्रवृत्तियों के विरुद्ध राजदण्ड के प्रयोग को ही अपना अन्तिम हथियार नहीं मान सकता। उसके अस्तित्व की एक बड़ी आवश्यक शर्त्त यह है कि वह देश में राष्ट्रीय एकता की भावना को बनाए रख सके। फ़ासिस्ट और कम्यूनिस्ट विचार-धाराएँ दो विभिन्न कोनों

से उद्भूत होकर इस राष्ट्रीय एकता पर ही सबसे बड़ा प्रहार करती हैं। फ़ासिस्ट प्रवृत्तियाँ विभिन्न सम्प्रदायों, हिन्दू और मुसलमान, के बीच, और कम्यूनिस्ट प्रवृत्तियां, विभिन्न वर्गों, अमीर और ग़रीब, के बीच बड़ी बड़ी दरारें डाल देना चाहती हैं। संघर्षों के इस आधार पर कोई भी जनतंत्रीय शासन अधिक दिनों तक खड़ा नहीं रह सकता। जनतन्त्र के लिए समझौते और सहयोग की भावना आवश्यक है। वह यदि समाज में नहीं है तो उसका निर्माण करना पड़ेगा। हिन्दू और मुसलमानों के भेद यदि मिटाए जा सकते हैं तो मिटाने पड़ेंगे। अमीर और ग़रीब के बीच की खाई को अगर पाटा जा सकता है तो उसे पाटना पड़ेगा। यदि यह संभव नहीं है तो जनतन्त्र का समस्त ढांचा टूट कर बिखर जायगा।

हिन्दुस्तान और जनतंत्रीय शासन

परन्तु, एक बड़ा मौलिक प्रश्न तो यह है कि जनतंत्रीय शासन हिन्दुस्तान के वातावरण के लिए उपयुक्त है भी या नहीं? एक लंबे अर्से तक यह प्रश्न उन अनुदार अंग्रेज़ लेखकों के द्वारा उठाया जाता रहा जो हिन्दुस्तान की जनता के हाथों में शासन सौंपने के लिए नित्य नए बहानों की तलाश में व्यस्त रहा करते थे। उन्होंने तो यहां तक कहा कि हिन्दुस्तान में जनतन्त्र की स्थापना करना उसकी प्राचीन संस्कृति, वर्त्तमान राजनीति और समस्त राष्ट्रीय मनोवृत्ति के विरुद्ध जाना है। "एक बात जो हम, और अधिकांश भारतीय नेता, भूल जाते हैं," भूतपूर्व भारत-मंत्री एमरी ने १९ नवम्बर १९४१ को मैंचेस्टर में 'भारतीय वैधानिक समस्या' पर बोलते हुए कहा, "यह है कि हमारे ढंग का शासन-विधान एक ऐसे संयुक्त-समन्वित समाज में ही सफल हो सकता है जहां राजनैतिक दल निश्चित सार्वजनिक समस्याओं को लेकर अपने मतभेदों को व्यक्त करते हों, और उन्हें केन्द्र मान कर देश का व्यापक जन-समाज अपनी धारणाओं को बनाता और बदलता रहता हो, परन्तु जीवन के मूल-सिद्धातों अथवा मूल-विश्वासों के संबंध में कोई स्थायी वैषम्य न हो। दुर्भाग्यवश ऐसी परिस्थितियाँ भारतवर्ष में, कम से कम आज के भारतवर्ष में, मौजूद नहीं हैं।" कांग्रेस सही अर्थों में एक जनतांत्रिक राजनैतिक दल नहीं है, इसकी चर्चा करते हुए शूस्टर और विंट ने 'भारतवर्ष और प्रजातन्त्र' नाम की अपनी पुस्तक में लिखा "करोड़पति और मजदूर, संत और ठग, शिक्षक और अशिक्षित, गंवार और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विशारद, उदार विचारों वाले, क्रांतिकारी,

१—शूस्टर और विंट : India and Democracy पृ० १६६

समाजवादी, सन्यासी, कट्टर मुसलमान और रूढ़िवादी हिन्दू," सभी उसमें शामिल हैं, और "अंग्रेजी शासन के प्रति घृणा ही इन सब परस्पर-विरोधी तत्वों को एक दूसरे के साथ संयोजित किए हुए है।" उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि कांग्रेस का संगठन और उसकी कार्य प्रणाली सभी एक फासिस्ट आधार पर क़ायम हैं। हिन्दुस्तान में मुसलमानों और इस्लामी संस्कृति को कुचलने और देशी राज्यों पर अनैतिक प्रभाव डालने के दोष भी उस पर लगाए गए। इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया कि हिन्दुस्तान न केवल दो 'राष्ट्रों' में बंटा हुआ है "वह लगभग एक दर्जन प्रमुख राष्ट्रों का संग्रह है, जिनमें प्रत्येक एक विभिन्न भाषा का उपयोग करता है, प्रत्येक की अलग-अलग साहित्यिक परंपराएं हैं, और प्रत्येक की राजनैतिक स्वाधीनता और सैनिक वीरता की स्मृतियाँ भी भिन्न हैं।" हिन्दुस्तान की तुलना यूरोप से की गई, और हमें बताया गया कि अंग्रेजों के इस देश से हटते ही हम एक दूसरे का गला घोंटने, दबाने के, प्रयत्नों में लग जाएंगे, मराठा की तलवार राजपूत की गर्दन पर होगी, दक्षिण भारत के लोग उत्तर भारत के लोगों के ख़िलाफ़ हो जाएंगे, सिख मुसलमान से युद्ध में जूझ रहा होगा। हमें यह बताया गया कि हिन्दुस्तान के सभी वर्गों में इतना अधिक विक्षोभ है कि हम अपने देश में वैसे शान्त वातावरण की कभी कल्पना कर ही नहीं सकते जिसमें जनतन्त्र का विकास संभव होता है—हिन्दुस्तान में जनतन्त्र की स्थापना "एक सशक्त और पेचीदा एंजिन एक बालक के हाथ में दे देने के समान" बताई गई। इन लोगों की अन्तिम दलील यह थी कि जनतन्त्र हमारे देश के राष्ट्रीय मनोविज्ञान के ही विरुद्ध जाता है। जनतंत्रीय संस्थाओं का हमारे देश में कभी विकास नहीं हुआ। एक उदार स्वेच्छाचारिता पर स्थापित शासन-तंत्र ही हमारे लिए उपयुक्त है। जहां लोग छोटी छोटी बातों पर भी समझौता करने की शक्ति न रखते हों, नागरिक चेतना का जहां बिल्कुल अभाव हो और जहां अशिक्षा और भाव प्रवणता इतनी व्यापक हो, वहां जनतन्त्र की परंपराओं की स्थापना असंभव है।[1]

ये सब दलीलें स्वाधीनता की पहिली किरणों में पिघल कर नष्ट हो चुकी हैं। यह सच है कि कुछ विशेष परिस्थितियों में, और मैं मानता हूँ कि एक अस्थाई काल के लिए, हमारे सांप्रदायिक विद्वेष इतने तीव्र हो उठे थे कि एक जनतंत्रीय शासन के सफल विकास के लिए हमारे देश में उपयुक्त वातावरण नहीं रह गया था। तब हमने सर्जन का चाकू निकाला और बड़ी निर्म-

१ इन प्रश्नों का विस्तृत विवेचन लेखक की अंग्रेजी पुस्तक Problem of Democracy in India में मिलेगा।

मता से देश के दो टुकड़े कर दिए। उसकी अनिवार्य मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाएँ हुईं। बहुत खून, और उसके साथ बहुत सा मवाद भी, बहा। पर, यह हमारी जनतंत्रीय प्रवृत्तियों का ही परिणाम था कि हम इस सारी अव्यवस्था, और उससे उत्पन्न होने वाली भावनात्मक प्रतिक्रियाओं, पर विजयी हो सके। हमारा यह बड़ा जख्म भरने भी न पाया था कि देशी राज्यों की सार्वभौम सत्ता की घोषणा से अंग्रेज़ों ने जाते जाते हिन्दुस्तान के जो सैकड़ों टुकड़े कर दिए थे वे भी तेज़ी से एक दूसरे में सिमिटते, जुड़ते और दृढ़ होते दिखाई दिए। सिख और हिन्दू, मराठा और राजपूत, मद्रासी और पंजाबी, ब्राह्मण और अब्राह्मण सभी ने अपने को एक दूसरे के समीप पाया। सभी ने मिल कर एक नए हिन्दुस्तान को बनाने का भार अपने हाथों में लिया। पिछले डेढ़ वर्षों में कांग्रेस जिस ढंग से देश का शासन चलाती रही है वह किसी भी जनतंत्रीय शासन के इतिहास में एक गौरवशाली युग माना जाना चाहिए। मंत्रिमंडल में, फ़ौज में, पुलिस में, सरकारी नौकरियों में, सभी स्थानों पर हिन्दुओं का भारी बहुमत होते हुए भी शासन ने, एक असांप्रदायिक लोकतंत्र की भावना में काम करते हुए, हिन्दू सांप्रदायिक तत्त्वों के ख़िलाफ सख्त कार्यवाही की। उसने, अपने अस्तित्व की कीमत पर भी, एक संप्रदाय और दूसरे संप्रदाय के बीच किसी प्रकार का भेद करने से इन्कार कर दिया, और शासन की दृष्टि से भी उसने अपनी योग्यता का इतना परिचय दिया कि उस बड़े संकट में भी वह अपने और देश के अस्तित्व को सुरक्षित रख सकी। शासन की सुरक्षा की दृष्टि से उसने जनता की ग़लत भावनाओं के आधार पर स्थापित सशस्त्र और व्यापक संगठनों पर आक्रमण करने से भी मुहँ नहीं मोड़ा। परंतु, इन डेढ़ वर्षों में केवल कांग्रेस ही जनतन्त्र की कसौटी पर खरी नहीं उतरी है, देश की जनता ने भी जनतंत्रीय शासन को चलाने की अपनी योग्यता का परिचय दिया है। समाजवादी दल के कांग्रेस से बाहर आ जाने और वैधानिक आधार पर अपने को एक विरोधी दल के रूप में संगठित कर लेने को मैं देश में राजनैतिक जनतन्त्र की भावना के विकास का एक बड़ा चिन्ह मानता हूँ। जनता ने समय समय पर कांग्रेसी सरकार की कड़ी से कड़ी आलोचना करते हुए भी अनुशासन की मर्यादा को कभी नहीं तोड़ा है, और जो जनतंत्र-विरोधी शक्तियां देश में हैं उन्हें एक सीमित रूप में ही अपना समर्थन दिया है। देश के आज के वातावरण में न तो राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के बहुत सशक्त हो पाने की संभावना है और न यह आशंका ही की जा सकती है कि कम्यूनिस्टों को जनता के एक बड़े वर्ग का समर्थन मिल सकेगा। कांग्रेस की नीति से ज्यों ज्यों असन्तोष फैलता जाएगा, जनता

के उन राजनैतिक दलों की ओर झुकने की ही अधिक आशा है जो वैधानिक ढंग से उसकी आलोचना कर रहे हैं, और जनतांत्रिक ढंग से उस पर क़ब्जा करना चाहते हैं। देश में बच रहने वाले चार करोड़ मुसलमानों ने भी जिस सहयोग और समझौते की भावना, और कभी कभी असह्य होने वाली परिस्थितियों में भी, जिस राजनिष्ठा का परिचय दिया है वह इस दिशा में एक स्पष्ट संकेत है कि वे अपने भाग्य को इस देश के भविष्य के साथ गुंथा हुआ मानते हैं, और हिन्दू समाज के भारी बहुमत का उनके साथ जो व्यवहार है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे, उतनी ही तत्परता के साथ, उन्हें अपने से अभिन्न मानने के लिए तैयार हैं। इन परिस्थितियों में भी यदि आज हमारे देश में कुछ लोग ऐसे हैं जिन्हें जनतन्त्रीय संस्थाओं की सफलता में अविश्वास है तो उनके सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि उन्होंने न तो जनतन्त्रीय सिद्धान्तों का ठीक से अध्ययन किया है, और न इस देश के जीवन, वातावरण, परंपराओं और प्रवृत्तियों को ठीक से पहिचाना—परखा है।

क्रांति के जनतांत्रिक साधन: एक विश्लेषण

यह स्पष्ट है कि राजनैतिक स्वाधीनता प्राप्त कर लेने के बाद आर्थिक और सामाजिक समानता की ओर तेज़ी से बढ़ना हमारे लिए अनिवार्य हो गया है। परंतु साधनों के चुनाव के संबंध में भी सतर्क रहना हमारे लिए आवश्यक होगा। "साधनों पर तो हमारा नियंत्रण सदा रह सकता है," गांधीजी कहा करते थे, "लक्ष्य पर नहीं।" "लक्ष्य तो साधनों में से उत्पन्न होता है।" "जैसे साधन होंगे वैसा लक्ष्य बनेगा।" "यदि हमने साधनों की चिन्ता ठीक से कर ली तो लक्ष्य तो अपनी चिन्ता अपने आप कर लेगा।" गांधीजी के ये सिद्धात सामाजिक क्रांति के लिए उतने ही उपयुक्त हैं जितने राजनैतिक परिवर्त्तन के लिए। 'सामाजिक क्रांति' और 'जनतांत्रिक साधनों, में मेरी दृष्टि में, न केवल किसी प्रकार का विरोध ही नहीं है वे एक दूसरे के पूरक भी हैं। सामाजिक क्रांति को लाने के जितने भी अन्य साधन अपनाएं जाएंगे वे सदा असफल रहेंगे। कहा जा सकता है कि रूस व अन्य कम्यूनिस्ट देशों में आर्थिक और सामाजिक समानता की स्थापना के लिए जो मार्ग चुना गया वह जनतांत्रिक मार्ग से बिल्कुल विपरीत था। परन्तु मैं तो यह मा-ने के लिए तैयार नहीं हूँ कि रूस ने अपने उस लक्ष्य को प्राप्त कर लिया है जिसकी खोज में वह चला था। यह कहा जा सकता है कि रूस में आर्थिक समानता तो एक बड़ी सीमा तक प्राप्त की जा सकी है, एंर सामाजिक

न्याय अभी दूर की वस्तु है। आर्थिक स्थिर स्वार्थों के स्थान पर आज हम रूस में राजनैतिक स्थिर स्वार्थों को और भी दृढता से स्थापित होते हुए देख रहे हैं—जनता के आर्थिक बंधन टूटे हैं परन्तु राजनैतिक बन्धन दृढ़तर बन गए हैं। ज़ारशाही शासन के विरोध में रूस में जिस जनतंत्रीय शासन का विकास प्रारंभ हो चला था, आर्थिक समानता के तूफ़ान में वह नष्ट भ्रष्ट हो गया। और, रूस से जनतन्त्र ने जो विदा ली तो वह फिर लौटा नहीं। हिंसा के साधनों में सबसे बड़ी खराबी यही है कि वे प्रयोग करने वाले में हिंसा की ऐसी भावना को जागृत कर देते हैं कि वह फिर सभ्य साधनों को काम में लाने की क्षमता खो बैठता है। और जब एक बार किसी देश में हिंसा और तानाशाही, की स्थापना हो जाती है तो उसका जनतांत्रिक संस्थाओं की ओर लौटना बहुत कठिन हो जाता है। जब तक हमारे पास राजनैतिक जनतन्त्र है तब तक हम कम से कम उस रास्ते पर तो हैं जिस पर चल कर आर्थिक और सामाजिक समानता के लक्ष्यों तक पहुँच सकते हैं। उसे एक बार परित्याग कर देने के बाद हम अनवरत रूप से हिंसा और प्रतिहिंसा, तानाशाही और आतंकवाद के विषम चक्र में डूबते-उतराते रहते हैं। श्री० ई० एफ० एम० डर्बिन के शब्दों में "यह एक देर से समझने में आनेवाला पर महत्त्वपूर्ण सत्य है कि समाजवाद जनतंत्र के लिए आवश्यक है--इस दृष्टि से कि पूंजीवाद और जनतन्त्र साथ साथ नहीं चल सकते। परन्तु यह एक बहुत सरल और स्पष्ट सत्य है कि जनतंत्र समाजवाद के लिए आवश्यक है। यह बात नहीं है कि जनतन्त्र समाजवाद तक पहुँचने के लिए सबसे मधुर, अथवा सबसे प्रभावपूर्ण, अथवा सबसे निश्चित मार्ग है, परन्तु वह उसके लिए एक ही मार्ग है, और दूसरी जितनी भी आशाएँ और योजनाएं हैं वे ग़लत और भ्रामक हैं। जनतन्त्र का समाजवाद से संबंध वैसा नहीं है जैसा डबल रोटी और उस पर लिपटी हुई चमकीली पन्नी का, या कॉफी और मलाई का—एक सजावट अथवा बड़े सुधार के रूप में; परंतु ऐसा है जैसे हवा और सांस का, कोयले और आग का प्रेम और जीवन का—वह एक अनिवार्य साधन, और हमारी सभी सामाजिक आशाओं का मूल-प्रेरक है"[१]

१ ई० एफ० एम० : The Politics of Democratic Socialism पृ० २७१

एशियायी आन्दोलनों की दिशा

एशिया की नई सांस्कृतिक चेतना, आर्थिक योजनाओं और राजनैतिक आंदोलनों के पीछे जनतंत्रीय सिद्धान्तों में एक अटूट विश्वास भी बहुत स्पष्ट दिखाई देता है। वर्त्तमान एशिया के सबसे बड़े क्रांतिकारी नेता माओ त्सि-तुंग का 'नया जनतंत्र' इसका एक सबल प्रमाण है। उन्होंने अपनी इस पुस्तक में बार बार यह दोहराया है कि चीन में किसी बड़े आर्थिक परिवर्त्तन के पहिले वहां पर जनतंत्र का विकास आवश्यक होगा। एशिया के देशों को पहिले तो सामंतशाही से जनतंत्र के युग में आना है; उसके बाद ही वे समाजवाद की ओर बढ सकेंगे। समाजवाद का विकास, एशिया में, लोक-राज के रूप में ही संभव है। हिन्देशिया के सुल्तान शहरियार ने अपने 'हिन्देशिया समाजवादी दल' में इसी सिद्धान्त को अपनाया है। ज्वाहरलाल नेहरू ने, हिन्दुस्तान में, बार बार कहा है कि उनके सामने जनतन्त्र की स्थापना का प्रश्न पहिले है, समाजवाद का उसके बाद। चीन के कम्यूनिस्ट कहे जाने वाले व्यक्ति, जैसा पहिले बताया जा चुका है, सभी प्रगतिशील तत्त्वों को अपने साथ लेकर चलना चाहते हैं। उन्होंने बार बार इस बात को दोहराया है कि देश की सरकार एक राजनैतिक दल के हाथ में नहीं होनी चाहिए, 'बल्कि एक व्यापक राष्ट्रीय आधार पर उसका संगठन होना चाहिए, जिसमें एक केन्द्रीभूत जनतांत्रिक विधान के अन्तर्गत अनेकों क्रांतिकारी वर्ग सम्मिलित हो सकेंगे।" "चीनी क्रांति", माओ त्सि-तुंग ने 'नया जनतंत्र' में लिखा, "दो मंज़िलों में घटित होती जानी चाहिए। पहिली मंजिल नए जनतंत्र की, और दूसरी मंज़िल समाजवाद की। पहिली मंजिल निःसंदेह कुछ अधिक लंबी होगी। सुबह से शाम तक में सचमुच ही उसे समाप्त नहीं किया जा सकेगा।" अपने विश्लेषण में माओ त्सि-तुंग ने नए जनतन्त्र की अपनी इस कल्पना को साम्यवाद से भिन्न बताया है। "हमें साम्यवादी विचार, और साम्यवादी समाज-व्यवस्था के प्रचार को नए जनतंत्र के आचरण और कार्यक्रम से भिन्न रखना चाहिए।" "दोनों को मिला देना अवांछनीय है।" अन्य स्थानों पर भी उन्होंने लिखा है कि "हमारी वर्त्तमान संस्कृति "साम्यवाद नहीं है, नया जनतंत्र है।" और नए जनतंत्र को साम्यवाद से बिल्कुल अलग कर देना चाहिए।"

एशिया के सभी देशों में आज जिस गृह-युद्ध की लपटें भड़क उठी हैं, अथवा भड़कने वाली हैं, वह स्पष्टतः ही जनतंत्र और साम्यवाद के बीच एक संघर्ष नहीं है वह तो उन दो वर्गों के बीच का संघर्ष है जिनमें

से, एक जनतंत्र की आड़ में एक पिछड़ी हुई समाज-व्यवस्था को बनाए रखना चाहता है और दूसरा जनतंत्र को उसके सही और व्यापक रूप में, एक नवीन और प्रगतिशील समाज-व्यवस्था के आधार के रूप में, स्थापित करने में प्रयत्नशील है। चीन का ही उदाहरण लें, क्योंकि राजनैतिक स्वाधीनता में अग्रणी होने के नाते एशिया के इस गृह-युद्ध का आरंभ वहीं से हुआ। माओ त्सि-तुंग सुनयातसेन के अधिक निकट हैं, च्यांग काई शेक की तुलना में। सुनयातसेन का विश्वास ज़मीन के अधिकारों के संबंध में अनिवार्य समानता की स्थापना में था। च्यांग ने इस योजना को अव्यवहार्य बता कर छोड़ दिया, पर माओ और चू ते द्वारा 'मुक्त' किए गए सभी प्रदेशों की अर्थनीति का यही आधार है। च्यांग सुनयातसेन के अन्य आदर्शों से भी पीछे हटते जा रहे हैं, माओ उनसे एक कदम आगे बढ़ना चाहते हैं। "डॉ० सुनयातसेन का सिद्धांत जनतांत्रिक क्रांति से आगे नहीं जाता—हम दूसरी मंज़िल की ओर प्रगति करना चाहते हैं।" सुनयातसेन का लक्ष्य भी स्पष्टतः इसी दिशा में था। वह अमरीका और रूस दोनों की ही महानता पर मुग्ध थे, परंतु अपने अन्तिम दिनों से रूस की क्रांति का उन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा था। कुओमिन्टॉंग से भी उन्होंने यही आशा प्रगट की थीं कि वह चीन को साम्राज्यवाद के बंधनों से मुक्त करके, और अन्य गुलाम देशों को स्वाधीन होने में सहायता पहुँचा कर, रूस से अधिक से अधिक सहयोग करेगा। सुनयातसेन की इस आशा को पूर्ण करने की दिशा में च्यांग ने निःसन्देह कोई कदम नहीं उठाया है। माओ यदि इस ओर बढ़े हैं तो केवल इस कारण कि चीन की परिस्थितियों का यह तकाज़ा है। उनका रूस से कोई सीधा संपर्क है, अथवा किसी प्रकार की विशेष सहायता मिल रही है इसमें मुझे संदेह है, पर च्यांग की सरकार तो वाशिंगटन द्वारा दी जाने वाली भीख पर निर्भर है। यह निश्चित है कि एशिया में पुरानी, सामन्तशाही व्यवस्था को बनाए रखने का प्रयत्न जो भी राष्ट्रीय सरकार करेगी उसे, आज की परिस्थितियों में, अपने देश के सभी प्रतिक्रियावादी तत्त्वों व बाहर से अमरीका की मौजूदा सरकार का पूरा समर्थन मिलेगा, क्योंकि उन्हें पूरा विश्वास है कि इन सरकारों के विरोधी तत्त्व पुरानी समाज-व्यवस्था को हिंसात्मक साधनों के द्वारा नष्ट करना चाहते हैं। और नई व्यवस्था की स्थापना कर वह राष्ट्र को रूस के हाथों बेंच देंगे। मैं मानता हूँ कि उनका यह विश्वास बहुत ही गहरा नहीं है और उसकी अभिव्यक्ति में अधिक ईमानदारी भी नहीं है और स्थिर स्वार्थों को और भी मजबूत बना लेने का दुराग्रह भी उनमें है।[1] पर विरोधी तत्त्वों

---

१ चीन में कुओमिन्टॉंग के द्वारा हज़ारों विद्यार्थियों, किसानों और मज़-

पर भी यह दायित्व आ जाता है कि वे अपने उद्देश्यों और लक्ष्यों, साधनों और कार्य प्रणालियों को एक ओर तो हिंसा से सर्वथा मुक्त रखने का प्रयत्न करें और दूसरी ओर अपने को किसी भी देश की शक्ति की राजनीति से संबद्ध न होने देने का यथा शक्ति प्रयत्न करें। १

मैं नहीं कह सकता कि राजनैतिक स्वाधीनता से आर्थिक और सामाजिक समानता की ओर बढ़ने में एशिया के सभी देश आज जिस कठिन, संक्रामक घड़ियों में से गुज़ार रहे हैं उनमें, उन देशों की एतिहासिक परंपराओं और वर्त्तमान परिस्थितियों को देखते हुए, अहिंसा का प्रयोग कहां तक व्यवहार्य होगा, पर मैं यह कह सकता हूँ कि हमारे देश में आज प्रगति के समर्थक सभी तत्त्वों को यह स्पष्ट घोषणा कर देनी चाहिए कि [१] वे अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में अहिंसा के साधनों पर ही कटिबद्ध रहेंगे और [२] अपने इन प्रयत्नों में वे किसी भी बाहरी शक्ति से सहायता नहीं लेंगे। अहिंसा के प्रयोग के संबंध में यह कहा जा सकता है कि हमारे देश में भी प्रगतिशील तत्त्वों को संभवतः उस दल से संघर्ष करना पड़े जिसके हाथ में आज राज्य की सत्ता है, और जो, शासन के अधिकार के नाते, उनके विरुद्ध एक संगठित हिंसा का प्रयोग करने की स्थिति में है। इस सम्बन्ध में प्रायः चीन के कुओमिन्टांग का उदाहरण दिया जाता है। यह कहना एक बात है कि हमारे देश में जनतन्त्र में विश्वास रखने वाले व्यक्तियों में भी एक वर्ग ऐसा है जो समाज-व्यवस्था में किसी बड़े परिवर्त्तन के लिए तैयार नहीं है और जो भविष्य में, जब वर्ग-संघर्ष तीव्र हो जायगा, संभवतः प्रगतिशील तत्त्वों को शक्ति के द्वारा कुचलने का प्रयत्न करे,

दूरों की कम्यूनिस्ट होने के इल्ज़ाम में हत्या की गई। वे निःसन्देह कम्यूनिस्ट नहीं थे। पिछले वर्ष कुओमिन्टांग चीन के लगभग सभी स्वतंत्रचेता विचारकों, और बड़े बड़े विद्वानों पर जो अपने को दोनों ही दलों से स्वतंत्र घोषित कर रहे थे, कम्यूनिस्ट होते का इल्ज़ाम लगया गया था और इसमें सुनयातसेन के पुत्र व पत्नी भी शामिल थे। इसे सभी संभव उपायों द्वारा प्रतिक्रियावादी तत्त्वों को सुदृढ़ करने अथवा फ़ासिज़्म के अतिरिक्त क्या कहा जाए ?

१ यह स्थिति कितनी कठिन है, इसकी हम कल्पना कर सकते हैं। देश में जब दो वर्गों में संघर्ष चल रहा हो, एक ऐसे सिद्धान्त पर जिसके संबंध में संसार के प्रायः सभी देशों में तीव्र मतभेद है और जिसे आधार बना कर दुनियां शक्ति के दो गुटों में बंट गई है, और एक वर्ग दिन बदिन इनमें से एक बड़े गुट के नियंत्रण में जा रहा हो, दूसरे वर्ग के लिए यह बड़ा कठिन हो जाता है कि वह दूसरे गुट से किसी प्रकार की सहायता न लेने की नैतिक ऊँचाई तक अधिक समय तक स्थिर रह सके।

और उससे यह निष्कर्ष निकालना कि कांग्रेस कुओमिन्टांग के मार्ग का अनु-सरण कर रही है बिल्कुल दूसरी बात है। दोनों में कोई तारतम्य नहीं है। कुछ अवांछनीय प्रवृत्तियों के होते हुए भी, जिनके सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि वे जड़ पकड़ेंगी ही, कांग्रेस और कुओमिन्टॉग में कोई समानता नहीं है। कांग्रेस का समस्त आधार जनतांत्रिक है। उसके प्रायः सभी नेताओं का एक लंबे अर्से तक, विदेशी साम्राज्य से एक बड़े संघर्ष में देश के जनसाधारण से निकट का संपर्क रहा है। विभिन्न चुनावों में उन्होंने प्रतिक्रियावादी शक्तियों से मोर्चा लिया है, और परास्त किया है। प्रगतिशील योजनाओं पर चलने की प्रतिज्ञाओं में वे बँधे हैं। अन्तरिम शासन को स्थायित्व देने का उनका कोई इरादा नहीं है। एक जनतांत्रिक विधान का निर्माण करने में वे तेज़ी से लगे हुए हैं। चुनाव में किसी प्रकार का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप करने की उनसे आशंका नहीं की जा सकती। चुनाव में जो भी राजनैतिक दल बहु-मत प्राप्त कर लेगा उसके हाथों में वे शासन के सूत्र, बड़ी प्रसन्नता के साथ सौंप देंगे, इसमें भी सन्देह नहीं है।

जनतंत्रीय समाजवाद की रूप रेखा

इन परिस्थितियों में उन सभी व्यक्तियों का, जो जनतन्त्रीय समाजवाद में विश्वास रखते हैं यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे जनता में इन सिद्धांतों का प्रचार करें और चुनाव में उस राजनैतिक दल को अपना समर्थन दें जिसका जनतन्त्र और समाजवाद के इस दुहरे कार्यक्रम में विश्वास हो। मैं तो चाहूँगा कि वह राष्ट्रीय नेतृत्व, जिसने हमें स्वाधीनता के सिंह द्वार तक पहुँचाया है, आगे की अनिवार्य प्रगति को तीव्र बनाने में हमारी सहायता कर सके। परंतु यदि, एशिया के अन्य देशों के समान, हमारे देश में भी यह असंभव हो तो मैं चाहूँगा कि इस कार्यक्रम को लेकर जो भी राजनैतिक दल सामने आए वह, एशिया के अन्य देशों से विपरीत, अहिंसात्मक और वैधानिक उपायों में अपना विश्वास दृढ़ रखे क्योंकि एशिया के अन्य देशों की अपेक्षा उसके लिए हमारे देश में अधिक गुंजाइश है। यह संभव है कि एक या दो, या अधिक, चुनावों तक उसे रुकना पड़े, पर इस बीच जनता को जनतन्त्र और समाजवाद के सिद्धांतों में दीक्षित करने का महत्वपूर्ण कार्य तो चलता ही रहेगा। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण काम जनतन्त्रीय समाजवाद के उस कार्यक्रम की रूप रेखा बनाने का है जो वह, शक्ति प्राप्त करने के बाद, कार्यान्वित करने के लिए प्रतिज्ञा-बद्ध होगा। यह निश्चित है कि, एशिया के अन्य देशों के समान, उसका पहिला

काम देश के ८० प्रतिशत व्यक्तियों, किसानों, को ज़मीदारों और साहूकारों की उन यंत्रणाओं से मुक्त करना होगा जिनके नीचे शताब्दियों से पिसते चले आ रहे हैं, और जिस ज़मीन पर वे खेती कर रहे हैं, उस पर उनके स्वामित्व के अधिकार को मान लेना होगा। "ज़मीन उनकी है जो उसे जोतते हैं।" ज़मींदारी को मिटाने के लिए आज भी प्रायः सभी प्रान्तों में प्रयत्न हो रहा है, पर वह काफ़ी नहीं है और तेज़ नहीं है। हिन्दुस्तान में औद्योगिक विकास एशिया के अधिकांश देशों की तुलना में, अधिक तेज़ी के साथ हुआ है, और इस कारण हमारे सामने केवल सामन्तशाही को दूर करने का ही प्रश्न नहीं है, पूंजीपतियों पर नियंत्रण लगाने की भी आवश्यकता है। जमींदारी और पूंजीवाद इन दोनों के भस्मावशेषों पर ही नए हिन्दुस्तान और नई मानवता का निर्माण संभव हो सकेगा। पर एक ऐसा दल, जो अहिंसा के सिद्धान्तों से बंधा हो, यह प्रयत्न करेगा कि ज़मींदारी और पूंजीवाद पर पहिला आक्रमण ही इतना अधिक तीव्र और अधिक व्यापक न हो कि वह उन्हें एक खुले और सशस्त्र विद्रोह के लिए प्रेरित कर दे। देखने में तो यह आदर्शों के साथ एक समझौता प्रतीत होता है, और आगे बढ़ते हुए क़दमों के लिए एक व्यर्थ की रोक-सी भी। पर वास्तव में बात ऐसी नही है। गृह-युद्ध को अवसर देना जनतन्त्र से एक लंबे अर्से के लिए विदा लेना है। समाजवाद की ओर भी हमें इसी आधार पर बढ़ना है कि वह जनतन्त्र को खतरे में न डाले। इसके अतिरिक्त शर्त विरोधी तत्त्वों को खुले सशस्त्र विद्रोह की सीमा का स्पर्श न करने देने की है। समाज के किसी भी वर्ग के लिए संगठित शासन के विरुद्ध विद्रोह करना सरल नहीं होता, और स्थिर स्वार्थों के लिए यह और भी कठिन होगा क्योंकि इस प्रकार के किसी भी संघर्ष के पहिले आक्रमण में ही उनके नष्ट हो जाने का भय रहता है, जबकि किसी अन्य उपाय पर चल कर संभवतः उनकी कुछ समय तक, और कुछ मात्रा में, रक्षा होने की आशा भी हो सकती है। इन बातों को देखते हुए कोई भी शासन, इस आवश्यक शर्त के बावजूद भी, अपने उद्देश्यों की पूर्त्ति की दिशा में बहुत दूर तक आगे जा सकता है। यह निश्चित है कि यदि देश में साधारण श्रमिकों द्वारा संचालित छोटे छोटे उद्योग धंधों को तेज़ी से फ़ैलाने, माध्यमिक उद्योग-धंधों पर से पूंजीपतियों का मुनाफ़ा और नियंत्रण दोनों ही कम करने व उनके संचालन में श्रमिकों के अधिक रचनात्मक सहयोग को जागृत करने और बड़े और भारी उद्योग-धंधों का समाजीकरण करने की नीति पर चला गया तो उससे कुछ वर्गों में तीव्र क्षोभ फैलना तो स्वाभाविक होगा, पर उस क्षोभ के गृह-युद्ध की सीमा तक जाने की तो कोई संभावना नहीं है। मुआविज़े के प्रश्न को भी समाधान जनक ढंग से सुल-

जाया जा सकता है। व्यक्तिगत आय को उचित अनुपात में, और उचित सीमा तक ही, गिराना ठीक होगा। आज के अमीर दर दर के भिखारी बनने पर बाध्य न हों। उन्हें जो खोना पड़े, उसका बोझा एक साथ और एक पीढ़ी पर न पड़े। इस प्रकार के कुछ सिद्धांत बनाए जा सकते हैं जो पुरानी और अवांछित समाज-व्यवस्था पर प्रगतिशील तत्त्वों के द्वारा किए जाने वाले आक्रमण के वेग और तीखेपन को संयमित कर सकें।

इन सभी मानवी समझौतों में हमें अपनी दृष्टि आदर्श से नहीं हटानी चाहिए। उसे प्राप्त करने के समय और साधनों में समझौता हो सकता है, पर आदर्श के सम्बन्ध में नहीं। जहां तक निकट भविष्य में उठाए जाने वाले कार्यक्रमों का प्रश्न है, एक खतरे से हमें सावधान रहना चाहिए, और वह यह है कि हम किसानों और मज़दूरों की स्थिति में तात्कालिक सुधारों के प्रवाह में दूर तक न बह जाएं। आज भी बहुत सी समाजवादी सरकारें शिक्षा का प्रसार करने, मज़दूरों के काम के घंटों की संख्या कम करने, मज़दूरी बढ़वाने, उनके लिए अच्छे घरों, अस्पतालों और क्लबों की व्यवस्था करने, बेरोज़गारी, बुढ़ापे अथवा बीमारी में यथेष्ट आर्थिक सहायता पहुंचाने आदि के कामों को ही लक्ष्य मानती प्रतीत होती हैं। कुछ का ध्यान किसानों को कर्ज़ के नियंत्रण से अस्थाई छुटकारा दिलाने पर भी है। ये सब आवश्यक काम हैं, और चुनाव जीतने की दृष्टि से तो किसी भी राजनैतिक दल के लिए लाभदायक भी हैं, पर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि कोई भी सरकार इस प्रकार के कामों को एक अनिश्चित काल तक नहीं चला सकती। क्योंकि उसकी समस्त अर्थनीति पर इनका बड़ा दबाव पड़ता है। इन कार्यों को भी स्थाई रूप तभी दिया जा सकता है जब समाज की अर्थ-व्यवस्था में आमूल परिवर्त्तन किए जाएं। इस कारण प्रत्येक समाजवादी सरकार का लक्ष्य समाजीकरण ही होना चाहिए। आमदनी के आधार को बदल देना काफ़ी नहीं है, उसका नियंत्रण व्यक्तियों के हाथ से निकल कर समाज के हाथ में आना चाहिए। यह नियंत्रण संपूर्ण हो अथवा अपूर्ण, कड़ा हो अथवा शिथिल, एक साथ लाद दिया जाए अथवा तेज़ी से अथवा धीरे धीरे, ये सब प्रश्न ऐसे हैं जिनका समुचित उत्तर किसी देश की उस समय की परिस्थितियां ही दे सकती हैं, पर जब तक इस दिशा में हम नहीं चलते सत्ता व्यक्तियों के हाथ से निकल कर समाज के हाथ में नहीं आती और उसका उपयोग सामाजिक विकास की दिशा में नहीं किया जा सकता। उत्पादन में संभवतः फ़ौरन ही कोई विशेष वृद्धि न करते हुए भी पूंजी और सत्ता दोनों के आधार को समाजव्यापी बना देने की दृष्टि से समाजीकरण प्रगति की एक अनिवार्य शर्त्त है। समाजीकरण की क़ीमत पर नहीं पर समाजीकरण के साथ साथ

उत्पादन को बढ़ाते रहना भी—जिस पर देश का समस्त जीवन निर्भर है—आवश्यक है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि समाजवाद का अन्तिम लक्ष्य राष्ट्र और व्यक्ति दोनों ही के सुख और समृद्धि को बढ़ाना है।

यदि हमारे देश की कोई भी सरकार आज की स्थिति में भी इस कार्यक्रम पर चलें तो मुझे विश्वास है कि स्थिर स्वार्थों पर स्थापित वर्गों में वह तीव्र असन्तोष अवश्य उत्पन्न कर देगी, पर इन वर्गों की ओर से किसी खुले सशस्त्र विद्रोह की आशंका नहीं की जा सकती। ज़मींदारों और पूंजीपतियों से विशेष खतरा नहीं है। पर, क्या यह भी उतनी ही निश्चिन्तता के साथ कहा जा सकता है कि एक ऐसा कार्यक्रम, जिसमें इन्किलाव और मुर्दावाद के नारे नहीं हैं, उथल-पुथल और तोड़-फोड़ नहीं हैं, हिंसा और प्रतिहिंसा का वातावरण नहीं है, हमारी उन राशि राशि 'सर्वहारा' प्रवृत्तियों को भी सन्तुष्ट कर सकेगी, जो ग्रीष्म के आरम्भ के सहस्र-सहस्र पहाड़ी स्रोतों के समान, ज़मीन फाड़कर चारों ओर से फूटती दिखाई दे रहीं हैं ? मैं जानता हूँ कि देश की ग़रीबी को दूर करने की दिशा में उठाया गया कोई भी कदम देश के करोड़ों भूखे और नंगे किसानों और श्रमिकों को संतुष्ट ही करेगा, और यदि उन्हें विश्वास दिलाया जा सका कि सरकार ईमानदारी से इस दिशा में बढ़ना चाहती है तो वे कुछ प्रतीक्षा भी कर सकेंगे। पर, देश में एक ऐसा वर्ग भी तो है न जो अपनी कुंठाओं और अपने स्वार्थों, अपनी संकीर्णताओं और अपने राग द्वेषों को लेकर इस सर्वहारा के एकमात्र प्रतिनिधि होने का दावा करते हैं। क्या सरकार की ईमानदारी उन्हें भी सन्तुष्ट कर सकेगी और क्या उसके धीमेपन को आधार बना कर, अथवा किसी नए आधार की सृष्टि करके, वे उसका उपयोग, जनता की भावनाओं को भड़काने और अपनी राजनैतिक शक्ति को बढ़ाते रहने की दिशा में नहीं करेंगे ? इस वर्ग को तो सचमुच ही सन्तुष्ट नहीं किया जा सकेगा, पर सरकार जितनी अधिक निष्क्रिय, और प्रतिक्रियावादी शक्तियों की समर्थक, रहेगी इस वर्ग को प्रचार और शक्ति-संग्रह का अधिक अवसर मिलेगा, और ज्यों ज्यों वह समाजवादी दिशा में आगे बढ़ेगी इसके प्रचार और शक्ति-संग्रह का आधार खोखला पड़ता जाएगा, "साम्यवाद का प्रचार" जैसा कि डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने यूनेस्को के बीसत-अधिवेशन में कहा, "अपने आन्तरिक गुणों के कारण नहीं हैं, हमारी ग़ल्तियों के कारण है। यदि हम अपने इरादों में ईमानदार हैं तो—जहाँ भी हमारे हाथ में शक्ति है—हमें आर्थिक न्याय और जातीय समानता प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। साम्यवाद का यही, और एकमात्र यही, उत्तर है।"

निष्क्रियता का मूल्य

यही एक मार्ग है जिस पर चलते हुए हम राष्ट्रीय एकता, एशियायी संगठन और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के अपने त्रिविध लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। पूंजीवादी समाज-व्यवस्था को जड़मूल से मिटा देने के निश्चय में किसी प्रकार की ढिलाई देश में ग़रीबी और अव्यवस्था को स्थायित्व प्रदान करेगी और निःस्वार्थ अथवा स्वार्थपूर्ण, किसी भी भाव से उसका उपयोग करने वाले तत्त्व दृढ़ बनते जाएंगे और सरकार को जल्दी ही एक खुले गृह-युद्ध की चुनौती देंगे—च्यांग-काई शेक का सीधा-सादा प्रत्युत्तर माओ त्सी-तुंग है और इस गृह-युद्ध में जनता की समस्त भावनाएं चुनौती देने वालों के साथ होंगी। अपने देश की जनता का समर्थन खो देने के बाद इस प्रकार की सरकार के सामने—चीन की कुओमिन्टांग-सरकार के समान—एक विदेशी ताक़त का ख़रीदा हुआ ग़ुलाम बन जाने के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं रह जाता। और, यह बिल्कुल संभव है कि ज्यों ज्यों इस प्रकार की प्रतिक्रियावादी सरकार बाहर के किसी एक देश पर आश्रित होती जाए, विरोधी वर्ग किसी अन्य देश का समर्थन खोजने पर विवश हो। ये परिस्थितियां देश में न केवल गृह-युद्ध की सृष्टि ही करती हैं, उसे अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दी का क्रीड़ा-स्थल भी बना देती हैं। राष्ट्रीय एकता के लिए इससे बड़ा खतरा नहीं हो सकता। यदि हम अपनी भौगोलिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों से प्रेरित होकर, आर्थिक और सांस्कृतिक पुनर्निर्माण की दृष्टि से, एशिया के राजनैतिक संपर्कों को सुदृढ़ बनाना चाहते हैं तो जनतंत्रीय समाजवाद का मार्ग ही हमें अपने अभीसिप्त लक्ष्य तक पहुँचा सकता है। सामन्तशाही और पूंजीवाद को आज, उत्तरी चीन से लेकर हिन्देशिया तक, एशिया भर में बड़ी सशक्त ठोकरें लग रहीं हैं—जिनके परिणाम-स्वरूप वह तेजी से टूटता, बिखरता और नष्ट होता जा रहा है। हिन्दुस्तान में हम उसे ज्यादा दिनों तक जिंदा नहीं रख सकते। आज हमारे पास इतना समय अवश्य है कि उसे नष्ट करने के प्रभावशाली पर शान्तिपूर्ण उपाय निकाल लें। गत युगो के निर्वाणोन्मुख आदर्शों के आधार पर यदि हम किसी एशियायी एकता का संगठन कर भी सके तो वह, सूखे पत्तों के ढेर के समान, ताजी हवा के कुछ झोकों में बिखर जाएगा। एशियायी एकता का स्थायी आधार एशिया की तेजी से बढ़ती हुई जन-जागृति पर ही रखा जा सकता है, उसके विरोध पर नहीं। एशियायी देशों को अमरीका और रूस की संसार पर छा जाने की महत्त्वाकांक्षी प्रतिस्पर्धा का विहार-स्थल बनने दिया गया—जो पूंजीवाद और साम्यवाद के किसी भी सीधे हिंसात्मक संघर्ष में

अनिवार्य है—तो उसका अर्थ होगा एक तीसरे, और इतिहास के सबसे बड़े महायुद्ध को, जिसमें मानव-सभ्यता के ही नष्ट हो जाने का डर है, दोनों हाथों से निमंत्रण देना। वैसी स्थिति में, जैसा पहिले कहा जा चुका है, अमरीका और रूस के बीच यह महायुद्ध, एशिया के समुद्रों, एशिया की ज़मीन और एशिया के आस्मान पर लड़ा जाएगा, और पृथ्वी, जल और आकाश में फैल जाने वाले युद्ध के उस दावानल में बेबस चीनी और निःसहाय विएटनमी, मीठे स्वप्नों की खुमारी में जागने वाले हिन्दुस्तानी और एक नए समाज के निर्माण में गंभीरता से व्यस्त हिन्देशियायी, दुःखी मलायाली और धार्मिक बर्मी, अपने को जलते भुनते और राख होते हुए पाएंगे। अभी समय है कि हम, निश्चय और ईमानदारी, दृढ़ता और साहस, चरित्र और विवेक, सेवा और त्याग, पार-दर्शिता और दूरदर्शिता, से उस चुनौती का मुक़ाबिला करने के लिए जुट पड़ें जो स्वाधीनता के देवता ने हमारे सामने फेंकी है। दिन ढल चुका है, पर सूरज की किरणें अभी अस्त नहीं हुई हैं; झोंपड़ियों और खेतों में अभी उनका प्रकाश है। आकाश अभी लाल नहीं हुआ है। पर, यह निश्चित है कि समय का रथ रुकेगा नहीं, और यदि हमने अपने को आगे की मंज़िल के लिए तैयार नहीं कर लिया तो उसके तेज़ घोड़े हमें अपने पैरों के तले कुचल डालेंगे, और हमारे अवशेषों को रौंदते हुए आगे बढ़े जाएंगे। स्वाधीनता का देवता तब अपने विकराल रूप में प्रगट होगा।

कई वर्षों तक कांग्रेस या अंग्रेज़ी सरकार के द्वारा जो भी प्रस्ताव उनके सामने रखे गए एक बड़ी निर्भीक सरलता से वे उन्हें ठुकराते रहे, और परिस्थितियों का चक्र कुछ ऐसा रहा कि उनकी प्रत्येक अस्वीकृति का परिणाम यह हुआ कि उनकी व्यक्तिगत शक्ति और मुस्लिम-लीग का बल दोनों लगातार बढ़ते गए।

महायुद्ध की प्रतिक्रियाः फासिज्म का और भी अधिक विकास

यह एक बड़े आश्चर्य की बात है कि जिस महायुद्ध ने जर्मनी, इटली और जापान जैसी बड़ी फ़ासिस्ट ताकतों को खत्म किया उसका हिन्दुस्तान पर यह प्रभाव पड़ा कि मुस्लिम-लीग जैसे फ़ासिस्ट राजनैतिक दल और मि० जिन्ना जैसे फ़ासिस्ट डिक्टेटर की शक्ति बहुत बढ़ गई। अंग्रेजी सरकार की युद्ध सम्बन्धी नीति को देखते हुए कांग्रेस के लिए यह संभव नहीं रह गया था कि वह अधिक दिनों तक अंग्रेज़ी सरकार से सहयोग जारी रखती। नवम्बर १६३९ में, सत्ताईस महीनों के सफल शासन के बाद, कांग्रेस के मंत्री मंडलों ने इस्तीफ़ा दे दिया। मुस्लिम-लीग ने फौरन ही भारतीय मुसलमानों को इस बात पर अपनी खुशी जाहिर करने के लिए मुक्ति-दिवस मनाने का आदेश दिया: यह एक आश्चर्य की बात थी कि जिस अंग्रेज़ी शासन ने डेढ़ सौ वर्षों से हिन्दू और मुसलमान दोनों को गुलामी के शिकंजे में जकड़ रखा था, मुस्लिम-लीग ने उससे मुक्त होने का कभी कोई प्रयत्न नहीं किया। अंग्रेज़ी शासन ने अपने लम्बे जीवन में यों तो सदा ही प्रतिक्रियावादी शक्तियों का साथ दिया था पर युद्ध के दौरान में ज्यों-ज्यों यह स्पष्ट होता गया कि भारतीयों के हाथ में वास्तविक सत्ता सौंपे बिना उसे किसी भी प्रकार से कांग्रेस का समर्थन नहीं प्राप्त हो सकेगा मुस्लिमलीग और देश के अन्य प्रतिक्रियावादी राजनैतिक दलों के साथ उसने एक निकटतम संपर्क स्थापित किया। एक कुशल राजनीतिज्ञ होने के नाते मि० जिन्ना ने यह समझ लिया था कि देश की वर्तमान राजनैतिक परिस्थिति उनकी अपनी व मुस्लिम-लीग की शक्ति को अधिक से अधिक बढ़ा लेने के लिए सर्वथा उपयुक्त है। अंग्रेज़ी शासन की लाचारी का वह अधिक से अधिक उपयोग कर लेना चाहते थे। दूसरी ओर उनकी नीति ने अमरीका आदि देशों में इंगलैण्ड पर हिन्दुस्तान को आज़ाद कर देने की दिशा में जो दबाव बढ़ता जा रहा था उसके विरोध में अंग्रेज़ों को यह कहने का मौका दिया कि वे तो हिन्दुस्तान को आजादी देने के लिए पूरी तौर से तैयार हैं पर यहां की साम्प्रदायिक स्थिति को देखते हुए और इस तथ्य को देखते हुए कि देश के मुसलमान कांग्रेस का समर्थन नहीं कर रहे हैं वे यह नहीं जानते कि हुकूमत किसके हाथ

में सौंपे। जिन्ना साहिब की यह मांग कि अंग्रेज़ी शासन किसी ऐसे वैधानिक परिवर्तन को अपनी स्वीकृति नहीं देगा जिसे पहिले से मुस्लिम भारत का समर्थन न मिल चुका हो, अगस्त १९४० की घोषणा के रूप में मान ली गई। इस प्रकार, अंग्रेज़ी सरकार और मुस्लिम-लीग दोनों अपनी अपनी स्थिति को मज़बूत बनाने की दृष्टि से मैत्री के सूत्र में बँध गए। इस समझौते के पीछे केवल कूटनीतिज्ञता थी, विश्वास अथवा सिद्धाँतों की समानता न थी। यह तो वैसा ही समझौता था जैसा कुछ महीनों पहिलें नात्सी जर्मनी और सोवियत रूस में हुआ था। जर्मनी और रूस के समझौते के समान इस समझौते से भी अंग्रेज़ी सरकार और लीग दोनों की स्थिति अधिक दृढ़ हो सकी।

हमें यह बात भूलना नहीं चाहिए कि पाकिस्तान का प्रस्ताव कांग्रेसी मंत्रि मंडलों के पद त्याग के चार महीने बाद — एक ऐसे समय में जब अंग्रेज़ी सरकार को कांग्रेस के ख़िलाफ़ सभी राजनैतिक तत्वों को सशक्त बनाने की नीति स्वीकार करने पर विवश होना पड़ा था — हमारे सामने आया। यह कहना ठीक न होगा कि जिन्ना साहेब अंग्रेज़ी शासन के हाथ में कठपुतली का काम कर रहे थे—सच तो यह है कि वह अंग्रेज़ों की कमज़ोरी का पूरा लाभ उठाने में लगे हुए थे। वह जर्मनी के फ्यूरर से भी अधिक तेज़ी के साथ अपने हाथों में शक्ति संग्रहीत कर रहे थे। ग़ैर-कांग्रेसी सूत्रों में उनकी धाक ऐसी थी जैसी किसी ज़माने में शायद मुग़ल-सम्राट की भी न रही हो। मंत्रि-मंडलों का निर्माण व पतन उनके इशारे पर निर्भर रहता था। पंजाब और बंगाल के मुस्लिम प्रांत भक्ति, बल्कि भय से, जिन्ना साहिब की आज्ञाओं का पालन कर रहे थे वायसराय की रक्षा-समिति से वह बड़े से बड़े मुसल्मान नेताओं को अलहदा रखने में सफल हुए — और जिन्होंने आसानी से उनका कहना नहीं माना उन्हें लीग से निकाल बाहर किया गया। मध्य-कालीन युद्धों में जिस प्रकार सिपाहियों के जोश को ताजा रखने के लिए मारू बाजे बजते रहते थे वैसे ही भारतीय राजनीति की पृष्ठ भूमि पर मुस्लिम-लीग व उसके प्रमुख नेताओं द्वारा पाकिस्तान की मांग बराबर दोहराई जाती रही—और कांग्रेस के ख़िलाफ़ लड़ाई अपने पूरे ज़ोर में चलती रही। मुस्लिम लीग की शक्ति भी दिन व दिन बढ़ती जा रही थी। अप्रैल १९४१ में, लीग ने मद्रास अधिवेशन में, पाकिस्तान की मांग को फिर से दोहराया और लाहौर-प्रस्ताव के क्षेत्र को और भी विस्तीर्ण बना लिया। दिसम्बर १९४१ में लीग की वर्किंग-कमेटी ने, नागपुर अधिवेशन में, इस बात पर अपना 'गहरा असन्तोष और विरोध' प्रगट किया कि 'अंग्रेज़ी अखबारों और राजनीतिज्ञों में कांग्रेस को सन्तुष्ट करने की नीति पर अधिकाधिक ज़ोर दिया जा रहा है' और घोषित किया कि "यदि न

अगस्त १९४० की नीति और गम्भीर घोषणा में अथवा मुसलमानों के साथ किए गए वायदों में किसी प्रकार का अन्तर पड़ा तो 'हिन्दुस्तान के मुसलमान उसे अपने प्रति एक बड़े विश्वासघात के रूप में देखेंगे, अथवा यदि नीति में कोई ऐसा परिवर्त्तन हुआ या कोई ऐसी नई घोषणा हुई जिससे पाकिस्तान की मांग पर बुरा असर पड़ा अथवा जिसके परिणाम स्वरूप किसी ऐसी केंद्रीय सरकार का संगठन हुआ जिसमें हिन्दुस्तान को एक इकाई माना गया और मुसल्मानों को अल्प संख्या में डाल दिया गया तो मुसलमानों को इससे वड़ा क्षोभ पहुँचेगा और वे अपनी समस्त शक्ति लगा कर इसका ऐसा ज़ोरदार विरधो करेंगे जिसका प्रभाव इस नाज़ुक स्थिति में देश के युद्ध-प्रयत्नों में बहुत बुरा पड़ना अवश्यंभावी है······।" कांग्रेस भी अपनी धमकियों में कभी इतनी दूर तक न गई थी। इसका उत्तार अंग्रेज़ी सरकार ने क्रिप्स-प्रस्ताव के रूप में रखी गई अपनी उस योजना में दिया जिसमें सैद्धान्तिक दृष्टि से, देश को दो भाग में बांट देने की मुस्लिम माँग का सरकारी तौर से समर्थन किया गया था।

अगस्त १९४२ में, कांग्रेसी नेताओं की गिरफ्तारी के बाद देश भर में, विद्रोह और विक्षोभ की जो आंधी उठी, मि. जिन्ना के नेतृत्व में मुस्लिम-लीग उस समय भी अपनी नीति को अडिग रख सकी—राष्ट्रीयता का यह अभूत-पूर्व उत्कर्ष मुस्लिम-लीग का स्पर्श न कर सका। किसी भी परिस्थिति में, और किसी भी नैतिक क़ीमत पर अपनी पार्टी को सशक्त बनाने (*Real politik*) की जिस फ़ासिस्ट नीति को मि. जिन्ना ने अपनाया था, क्रांति के उन सुलगते हुए दिनों में भी वह उसे छोड़ने को तैयार न हुए। जिन्ना साहेब ने घोषणा की कि "कांग्रेस का निश्चय"—उनका इशारा अगस्त प्रस्ताव की ओर था—न केवल अंग्रेजी सल्तनत के ख़िलाफ़ बगावत की घोषणा है, वह एक गृह-युद्ध की खुली चुनौती भी है, और यह आन्दोलन चलाया ही इसलिये गया है कि अंग्रेजी सरकार को कांग्रेस की मांग स्वीकार करने पर मजबूर कर दिया जाये, और हमारा विश्वास है कि कांग्रेस की मांग हमारी मांगों के प्रतिकूल है।" अगस्त १९४२ के बाद तो यह दशा हुई कि एक ओर तो सरकार का दमन-चक्र अपने पूरे वेग से राष्ट्रीयता पर प्रहार कर रहा था और उसके आघातों से कांग्रेस की मशीनरी टूटती जा रही थी और दूसरी ओर मुस्लिम-लीग अपनी शक्ति बढ़ाने के एकाकी प्रयत्न में दत्तचित्त थी। 'आंदोलन' प्रारम्भ होने के कुछ दिनों बाद ही मुस्लिम-लीग ने यह प्रस्ताव रखा कि वह दूसरे ऐसे दलों के साथ जो सहयोग के लिए तैयार हों एक ऐसी अस्थाई सरकार बना लेने के लिए तैयार है जो देश की समस्त शक्तियों का उपयोग उसके बचाव और युद्ध

के सफल संचालन के लिए कर सके। मुस्लिम-लीग की नीति में यह एक नया परिवर्तन था। अब तक तो जिन्ना साहिब की दलील यह थी कि जब तक पाकिस्तान की मांग स्वीकार न कर ली जाए विधान में स्थाई अथवा अस्थाई किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जाना चाहिए। पर अब वह यह मांग कर रहे थे कि, समझौता हो या न हो, केवल इस आधार पर कि कांग्रेस सहयोग के लिए तैयार नहीं है, मुसलमानों को शासन के अधिकारों से वंचित नहीं रखना चाहिए। यह स्पष्ट था कि वह कांग्रेस के क्रियात्मक क्षेत्र से हटा दिए जाने से जो परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी उसका पूरा लाभ उठाना चाहते थे। अंग्रेजी सरकार मुस्लिम-लीग पर अपना आभार इस सीमा तक प्रदर्शित करने के लिए तैयार नहीं थी —— केन्द्रीय शासन में वह किसी भी राजनैतिक दल को, चाहे वह लीग ही क्यों न हो, तनिक भी अधिकार देने के लिए तैयार नहीं थी—पर प्रांतीय शासन में उसने लीग को बड़ी बड़ी सुविधाएँ दीं। मुस्लिम बहुमत वाले प्रांतो में तो मुस्लिम लीग का सर्वाधिकार मान लिया गया था। सिंध में, खान बहादुर अल्लाबख्श को बिना किसी कारण के हटा कर मुस्लिम लीग का मंत्रि-मंडल क़ायम किया गया। बंगाल में फजलुल हक़ से त्याग पत्र पर जबर्दस्ती दस्तखत कराए गए और सर नज़ीमुद्दीन, जिन्ना और बंगाल गवर्नर के संयुक्त आशीर्वादों के साथ, प्रधान-मंत्री की गद्दी पर बैठे। पंजाब में जिन्ना साहिब ने यूनियनिस्ट पार्टी के प्रभाव को कम करने व सर सिकन्दर हयातखां को लीग के अधिक कड़े अनुशासन में लाने की चेष्टा की। सर सिकन्दर मँजे हुए खिलाड़ी थे —— परंतु फिर भी पंजाब में मुस्लिम जनता पर अपने प्रभाव को मि० जिन्ना ने बहुत बढ़ा लिया। सर सिकन्दर की असामयिक मृत्यु और खिजर हयात खां तिवाना के नेतृत्व में एक नए मंत्रि-मंडल के निर्माण से मि० जिन्ना को पंजाब में अपनी शक्ति बढ़ाने में और भी अधिक सुविधा हो गई। मि० जिन्ना इन दिनों शक्ति और प्रतिष्ठा के ऊँचे आकाश में थे, और उनकी शक्ति ज्यों ज्यों बढ़ती जा रही थी, मुस्लिम-लीग की जड़ें गहरी और मज़बूत बनती जा रही थी —— परंतु अंग्रेज अधिकारी इस स्थिति से अब कुछ चिन्तित हो चले थे। एडगर स्नो ने अपनी एक पुस्तक* में 'मुस्लिम लीग के मुग़ल-सम्राट् क़ायदे-आज़म' के संबंध में वायसराय के एक अफ़सर के साथ अप्रेल १९४३ में होने वाली एक बात चीत का ज़िक्र किया है। जिसमें उस अफ़सर ने कहा—— "जिन्ना इस समय देश की सबसे अच्छी मखमली घास पर बैठे हैं। सारा क्षेत्र उनके हाथ में है। गांधी को जितने अधिक दिन जेल में रखा जाएगा, जिन्ना की मौज रहेगी। लेकिन, अब हम चिन्तित हो चले हैं। पाकि-

Glory and bondage

स्तान बर्फ की लुढ़कती हुई गेंद की तरह तेज़ी से बढ़ता जा रहा है। वह समय शायद दूर नहीं है जब उसे रोकना असम्भव हो जायगा।"

पाकिस्तान को रोकने का अंग्रेजी सरकार का प्रयत्न

लार्ड लिनलिथगो ने, जिन्होंने पाकिस्तान की कल्पना को सबसे अधिक बल दिया था, अपने शासन-काल के अंतिम महीनों में उसे रोकने की चेष्टा की। कलकत्ता के चेम्बर्स ऑव कॉमर्स में दिए गए अपने भाषण में उन्होंने हिन्दुस्तान की भौगोलिक एकता पर बहुत जोर दिया। लार्ड वेवल ने भी लगातार हिन्दुस्तान की भौगोलिक और सांस्कृतिक एकता पर जोर दिया। उन्होंने केन्द्रीय धारा-सभा के अपने प्रथम भाषण में सभी प्रांतों में पंजाब के ढंग पर मिश्रित मंत्रि-मंडल बनाने की अपील भी की। पंजाब में खिजर हयातखां के मंत्रि-मंडल को हटाने का मि० जिन्ना ने जो प्रयत्न किया था, गवर्नर के दृढ़ रवैये के कारण, उसमें भी उनकी हार हुई। इस बीच, अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में भी एक बड़ा परिवर्त्तन आ गया था। प्रत्येक रण-क्षेत्र में धुरी राष्ट्रों की फौजें पीछे हटाई जा रही थीं: मध्य यूरोप में लाल सेनाएँ पोलैण्ड को चीरती हुई जर्मनी के अन्तराल में घुस गई थीं और दक्षिण में इटली का पतन हो चुका था। इसका प्रभाव कांग्रेस के प्रति अंग्रेजी सरकार के दृष्टिकोण पर पड़ना भी अनिवार्य था। जून १९४५ में कांग्रेस कार्य-समिति के सभी नेता छोड़ दिए गए और उसके बाद ही शिमला की ऊँचाई पर वायसराय ने उनके व मुस्लिम-लीग के नेताओं के साथ भारतीयों के हाथ में सत्ता सौंप देने के संबंध में विचार-विनिमय किया। मि० जिन्ना ने इस बात पर जोर दिया कि वायसराय की कार्यकारिणी में जितने मुसलमान सदस्य लिए जाएँ वे सब मुस्लिम लीग द्वारा नामजद हों। उनके इस आग्रह की चट्टान से टकरा कर शिमला-कान्फ्रेंस की नौका चकना चूर हुई। कान्फ्रेन्स की असफलता की जिम्मेदारी स्पष्टतः मि० जिन्ना पर होने के कारण उनकी अन्तर्राष्ट्रीय साख को बड़ा धक्का पहुँचा। पाकिस्तान का स्वर अब कुछ मध्यम पड़ चला था। दूसरी ओर राष्ट्रीयता की भावना का प्रवाह अधिक तीव्र होता जा रहा था: उसका प्रबल वेग साम्प्रदायिकता के किनारों से टकराता हुआ और उन्हें तोड़ता हुआ एक बाढ़ का रूप ले रहा था। इस वातावरण में १६ मई १९४७ की केबिनट मिशन की उस योजना की घोषणा की गई, जिसमें अंग्रेज़ी सरकार ने स्पष्ट और अधिकृत शब्दों में पाकिस्तान की मांग को सर्वथा अव्यावहारिक बताया और देश की अखंडता के आधार पर

बनने वाली एक मिली जुली केन्द्रीय सरकार के हाथ में अधिकार सौंपने का निश्चय प्रगट किया। अंग्रेज़ी सरकार के इस बदले हुए रुख के सामने मुस्लिम-लीग के नेताओं का, जिनकी समस्त राजनीति आज तक अंग्रेज़ों के इशारे पर चलती थी, अचानक यह साहस नहीं हुआ कि केबिनट मिशन योजना को अस्वीकृत करते कांग्रेस ने भी इस योजना को स्वीकार कर लिया। लीग द्वारा इस योजना के स्वीकार किए जाने का स्पष्ट अर्थ यह था कि वह पाकिस्तान के अपने लक्ष को छोड़ने के लिए तैयार है। लीग के द्वारा समझौते की इस भावना के इस अभूतपूर्व प्रदर्शन से यह आशा बनने लगी थी कि भारतीय राजनैतिक गुत्थी के एक स्थाई समाधान के अब हम नज़दीक पहुँच रहे हैं। केबिनट मिशन योजना में केन्द्रीय सरकार के पंगु और निःसहाय बन जाने की जो संभावना थी उससे हम दुखी थे, परन्तु हमें विश्वास था कि, अल्प-संख्यकों के अधिकारों को सुरक्षित रखते हुए, ऐतिहासिक परि-स्थितियाँ धीरे धीरे केन्द्रीय शासन के हाथों में सभी आवश्यक उपादान सौंप देंगी।

मुस्लिम सांम्प्रदायिकता का अंतिम और सबसे सशक्त उत्थान

भारतीय राजनीति में हम राष्ट्रीयता और सांप्रदायिकता की भावनाओं को एक साथ बढ़ता हुआ पाते हैं। एक दूसरे के समकक्ष बहने वाली इन दोनों धाराओं में हम कभी एक को अधिक वेगवान् पाते हैं और कभी दूसरी को अधिक द्रुतगति। १९४५–४६ में, प्रांतीय चुनाव, कांग्रेसी नेताओं की मुक्ति, '४२ के आन्दोलन की वीरता-पूर्ण कथाओं और आजाद हिन्द फौज के कार-नामों का आधार लेकर राष्ट्रीयता का एक ऐसा तूफ़ान उठा कि उसने आर्थिक संकट में डूबे हुए अंग्रेजी साम्राज्य को जड़ तक हिला दिया और उसकी तेज़ी में एक बार तो मुस्लिम-लीग का वह नेतृत्व भी जिसका अस्तित्व तथ्यों और घटनाओं की शरारत-पूर्ण तोड़-मरोड़ और समय–असमय में चारों ओर मुक्तहस्त से बिखेरी हुई धमकियों पर ही कायम था, सहम उठा। लीग के नेतृत्व ने शायद इस बात की अपेक्षा नहीं की थी कि पाकिस्तान की माँग अब एक राज-नैतिक सौदे के आधार से कहीं अधिक व्यापक रूप ले चुकी थी। देश के लग-भग प्रत्येक मुसलमान के मन में उसने नई आशा नए स्वप्नों की सृष्टि कर दी थी। मुस्लिम साम्प्रदायिक भावना कितनी गहरी चली गई थी, इसका ठीक अन्दाजा संभव है लीग के साम्प्रदायिक नेताओं को भी नहीं था। पाकिस्तान ने एक ऐसे दानव का रूप ले लिया था जिसे लीग के बड़े से बड़े नेता भी

अब दबा नहीं सकते थे। इन्हीं दिनों दिल्ली में विधान-परिषद के लिए चुने गए लीगी सदस्यों की एक कान्फ्रेंस हुई जिसमें मुस्लिम जनता की धर्मांधता जिस पर लीग के द्वितीय श्रेणी के संकीर्ण-दृष्टि और स्वार्थी नेताओं का आधार था, अपने नंगे रूप में सामने आई। इस जल्से में लीग के ज़िम्मेदार समझे जाने वाले नेताओं ने एक मज़हबी पागलपन से भरे हुए जोश में ऐसी तक़रीरें कीं जिनके सामने हिटलर के नात्सी साथी भी शरमाते। कहा गया कि मुसल्मान एक बार फिर चंगेज़खां और हलाकू खाँ के समान हिन्दुस्तान की ज़मीन को खून से रंग देंगे। हिन्दुओं की हस्ती को बिल्कुल मिटा देंगे और देश भर में तलवार के ज़ोर से अपना शासन स्थापित कर लेंगे। आगे आने वाली घटनाओं ने यह सिद्ध किया कि यह कोरी धमकियाँ ही नहीं थीं। कांग्रेस द्वारा राष्ट्रीय सरकार बनाने के निश्चय पर मुस्लिम-लीग ने मुसल्मानों को 'सीधी कार्यवाही' का दिवस मनाने का आदेश दिया। १६ अगस्त १९४६ को 'सीधी कार्यवाही के सिलसिले में कलकत्ते में जो रक्तपात और बर्बरता का नग्न ताण्डव हुआ उसने देश भर में साम्प्रदायिक विद्वेष की एक ऐसी ज्वाला को, और हिंसा प्रतिहिंसा के ऐसे विषैले चक्र को, जन्म दिया कि उसकी लपटें और वेग तब से लगातार बढ़ते ही गए। कलकत्ते के बाद नोआखाली और पूर्वी बंगाल, पूर्वी बंगाल के बाद बिहार और गढ़ मुक्तेश्वर, गढ़मुक्तेश्वर के बाद पंजाब के पश्चिमी जिले, एक के बाद एक इस आग की लपटों में जलते गए।

पंजाब के पश्चिमी ज़िलों में तो सांप्रदायिक विद्वेष ने एक बड़ा ही भीषण रूप ले लिया। गांव के गांव जला दिए गए। हजारों बेबस स्त्रियों और मासूम बच्चों की निर्मम हत्याएं की गईं। निःसहाय स्त्रियों के साथ, जिनके पति, भाई और पुत्र क़त्ल कर दिए गए थे, खुले आम बलात्कार किया गया। भागते हुए हिन्दुओं और सिक्खों पर भी आक्रमण किया गया। रेलों पर हमले हुए। चंगेज़ खां और हलाकू की नृशंसताओं की स्मृति सजीव होने लगी थी! इन हत्याकांडों से एक यह बात तो स्पष्ट हो गई थी कि उन प्रदेशों में से अधिक के मुसल्मान जहां वे अधिक संख्या में हैं एक केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत रहना हर्गिज़ स्वीकार नहीं करेंगे। उधर, केन्द्रीय शासन में मुस्लिम लीग के सदस्यों का रवैया स्पष्टतः असहयोग और अड़ंगा डालने का था और कांग्रेस को यह विश्वास हो गया था कि न तो इन सदस्यों से ही किसी प्रकार के सहयोग की आशा की जा सकती है और न शासन के विभिन्न ओहदों पर काम करने वाले मुसल्मान कर्मचारियों से जो प्रायः सभी मुस्लिम-लीगी मनोवृत्ति के थे। अहिंसा के सिद्धान्त से बंधी होने के कारण कांग्रेस, देश के किसी भी ऐसे वर्ग को ज़बर्दस्ती अपने साथ नहीं रख सकती थी जो उसके साथ स्वेच्छा

से रहने के लिए तैयार न हो। यह निश्चित था कि वह देश के बंटवारे के सर्वथा विरुद्ध थी, पर वह एकता के अपने अभीप्सित आदर्श को किसी अल्पसंख्यक वर्ग पर बलपूर्वक थोपना भी नहीं चाहती थी। पश्चिमी पंजाब में हिन्दुओं और सिखों पर जो बड़े बड़े अत्याचार हुए उनसे घबरा कर उन्होंने पंजाब के शासन को दो भागों में बांट देने की ज़ोरदार मांग की। सिखों के प्रबल आग्रह पर कांग्रेस को विभाजन के इस सिद्धान्त को मानने पर विवश हो जाना पड़ा। पंजाब के विभाजन की मांग के कांग्रेस द्वारा समर्थन किए जाने के बाद स्वभावतः बंगाल के विभाजन की मांग भी उठी, और बंगाल और पंजाब के शासन के, सांप्रदायिक आधार पर, दो विभिन्न भागों में बंट जाने का यह तर्क सम्मत परिणाम था कि समस्त देश का शासन भी, उसी आधार पर, दो भागों में बांटा जाए। उधर, दिक्कत यह थी कि अंग्रेज़ों ने जून १६४८ तक हिन्दुस्तान को छोड़ देने की घोषणा कर दी थी, पर वे समस्त देश के शासन को किसी एक राजनैतिक दल या किसी एक जाति के लोगों के हाथ में सौंपने के लिए तैयार नहीं थे और पिछले एक वर्ष के सांप्रदायिक वातावरण ने एक मिले जुले शासन की स्थापना को असंभव बना दिया था। कांग्रेस के सामने अब दो ही मार्ग रह गए थे—या तो वह अपने एकता के सिद्धान्त पर जमे रहते हुए देश की 'आज़ादी को एक अनिश्चित भविष्य के हाथों सौंप दे या एकता के सिद्धान्त के साथ समझौता करके अपनी लम्बी दासता की कड़ियों को फ़ौरन ही तोड़ फेंके। आज़ादी के लिए एक लंबे और अनवरत संघर्ष में लगी रहने वाली संस्था के लिए यह स्वाभाविक था कि वह दूसरे मार्ग को चुनती।

परिस्थितियों के इस अनोखे जमघट का परिणाम यह हुआ कि देश का बँटवारा हो गया और मुस्लिम-लीग दस वर्षों से जिस अस्पष्ट और धुंधले आदर्श का प्रचार कर रही थी उसने अचानक एक सजीव और मूर्तिमान रूप ले लिया। यह पहिला अवसर था जब किसी फ़ासिस्ट दल का दुर्लभ लक्ष्य उसे सचमुच प्राप्त हो गया था—संसार पर जर्मन जाति का एकाधिपत्य स्थापित कर देने की हिटलर की कल्पना, प्राचीन रोम-साम्राज्य से भी बड़े एक नए इटली के साम्राज्य के निर्माण का मुसोलिनी का स्वप्न और पूर्वी एशिया पर छा जाने की तोजो की आकांक्षा सभी तो चूर्ण चूर्ण हो चुके थे। मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की कल्पना भी कुछ कम दुःसाध्य नहीं थी। एक ऐसे देश के टुकड़े कर देना जो सदियों से भौगोलिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनैतिक दृष्टियों से एक और अविभाज्य रहा है स्पष्टतः ही अव्यावहारिक दिखाई दे रहा था—और धर्म के आधार पर इस प्रकार का विभाजन तो इतना

पिछड़ा हुआ, मध्ययुगीन और वर्बरतापूर्ण विचार था कि आधुनिक युग में उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। सिखों की समस्या भी पाकिस्तान के मार्ग में एक वड़ी बाधा के रूप में खड़ी थी। सिख अपने धार्मिक स्थानों के वंटवारे के लिए तैयार नहीं थे। पश्चिमी पंजाब में उपजाऊ ज़मीनें उनके पास थीं, बड़े बड़े उद्योग-धंधे उन्होंने फैला रखे थे और बड़ी बड़ी शिक्षण संस्थाओं का वें संचालन कर रहे थे, उन सबको स्वभावतः ही वे छोड़ना नहीं चाहते थे—और पश्चिमी पंजाब में उन पर जो अत्याचार हुए, हज़ारों की संख्या में उन्हें मौत के घाट उतार-गया, उनकी जमीन-जायदाद छीन ली गई, स्त्रियों को वेइज्जत किया गया, इससे कम क़ीमत पर वे उन्हें छोड़ने के लिए तैयार भी नहीं होते। देश के वे करोड़ों हिन्दू, जिनमे एक उद्दण्ड हिन्दुत्व की भावना वढ़ रही थी, अपनी मातृ-भूमि के विभाजन की किसी योजना को आगे वढ़ कर मान लेंगे, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। आर्थिक दृष्टि से पाकिस्तान में शामिल किए जाने वाले प्रदेश इतने पिछड़े हुए थे और स्वतंत्र हो जाने पर अपने रक्षा-सम्वन्धी व्यय को भी जुटा पाने की उनकी असमर्थता इतनी स्पष्ट थी और सांस्कृतिक दृष्टि से इतनी विभिन्न राष्ट्रीयताओं का वह मजमूआ थे कि हम इस संवंध में पूरे आश्वस्त नहीं थे कि यदि पाकिस्तान सचमुच वना दिया गया तो मुस्लिम-लीग के नेता उसे मान ही लेंगे। इसके साथ ही न तो अंग्रेज़ी सरकार से और न देश के राष्ट्रीय मुसलमानों से हम देश के वँटवारे को अन्तिम रूप से मान लेने की आशा कर सकते थे। कहीं भी तो कोई चिन्ह ऐसा दिखाई नहीं दे रहा था जिससे हम सोच पाते कि पाकिस्तान की कल्पना सचमुच मूर्त्त-रूप ले सकेगी : केविनट मिशन योजना के वाद तो वह कल्पना और भी मुर्झाती और सूखती-सी दिखाई दे रही थी! पर परिस्थितियों का ऐसा ववण्डर सा उठा, देश के मुसलमान और हिन्दू दोनों समाजों में साम्प्रदायिक घृणा, विद्वेष और पाशविकता की भावनाएँ सभी मानवीय सीमाओं को तोड़ती हुई इस प्रकार फैलती गईं और अंग्रेज़ी शासकों ने जब हिन्दुस्तान छोड़ देने का एक बार निर्णय कर लिया तो उसे कार्य में परिणत करने में इतनी जल्दबाजी की कि देश को दो भागों में वाँट देने की असंभव, अव्यावहारिक और अनैतिक कल्पना को हमने सभी राजनैतिक दलों द्वारा स्वीकृत होते और स्वीकृति के कुछ हफ़्तों के भीतर ही कार्य-रूप में परिणत होते देखा।

: ४ :

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की पृष्ठभूमि

भारतीय राष्ट्रीयता और अन्तर राष्ट्रीय राजनीति

हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन की वागडोर अवसे महात्मा गांधी ने अपने हाथ में ली तभी से अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से उसका महत्त्व वहुत अधिक वढ़ गया है। यों तो गांधीजी के पहिले भी हमारे राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता, विशेष कर क्रांतिकारी दलों से संवंध व्यक्ति, विदेशों में भारतीय स्वाधीनता के संवंध में विचार किया करते थे, परन्तु उनका प्रभाव वहुत सीमित था, और जिस आन्दोलन के वे समर्थक थे वह अपने मूल-रूप में शुद्ध राष्ट्रीय था। गांधीजी दक्षिण अफ्रीका में वहां के हिन्दुस्तानियों पर योरोपीयनों द्वारा किए जाने वाले दुर्व्यवहार के विरुद्ध सत्याग्रह का अनोखा प्रयोग करने के कारण इंग्लेण्ड और कुछ दूसरे देशों में ख्याति प्राप्त कर चुके थे, और कार्य-प्रणाली का गहरा प्रभाव पड़ा था। इसी का यह परिणाम था कि हिन्दुस्तान वापिस आते ही उनकी गिनती प्रथम श्रेणी के राजनैतिक नेताओं में की जाने लगी। उन्होंने प्रारंभ में खेरा चम्पारन आदि स्थानों पर एक सीमित रूप में सत्याग्रह का प्रयोग किया, परन्तु रौलट-कानूनों और पजाव के हत्याकाण्ड ने उन्हें देश भर में सत्याग्रह और असहयोग की घोषणा कर देने पर विवश कर दिया। इस आन्दोलन के अनोखेपन और ऊँचे आध्यात्मिक धरातल ने संसार के सभी देशों का ध्यान अपनी ओर खींचा। अव तक हिंसा और प्रतिरोध की भावना पर ही विश्व के सभी स्वातन्त्र्य-आंदोलन लड़े गए थे। गांधी जी ने एक ऐसा रास्ता वताया जिसमें हिंसा ही नहीं शासकों के प्रति घृणा और क्रोध के भाव को भी कोई स्थान नहीं था। अपने कष्ट सहन के द्वारा अन्याय करने वाले के हृदय को परिवर्तित कर देने का यह एक अद्भुत प्रयोग था। गांधी जी ने इसके द्वारा एक निःसहाय और निरस्त्र देश को एक शक्तिशाली साम्राज्य के सामने सिर ऊंचा करके खड़े हो जाने की प्रेरणा दी। हिन्दुस्तानियों ने जिस तत्परता और श्रद्धा से इस मार्ग का अवल-

लंवन किया वह भी इतिहास में एक अनोखी चीज़ थी। अपने हृदय में किसी प्रकार की दुर्भावना को स्थान न देते हुए चालीस हजार व्यक्तियों ने जेल का आवाहन किया और सैकड़ों ने देश की आजादी के लिए अपना सर्वस्व चढ़ा दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि संसार के सभी देशों का ध्यान हमारे राष्ट्रीय आंदोलन की ओर खिंचा और वे उसमें एक अभूतपूर्व दिलचस्पी लेने लगे।

सच तो यह है कि गांधी जी केवल हिन्दुस्तान की आज़ादी के लिए नहीं लड़ रहे थे, वे तो ऐसे क्रांतिकारी सिद्धान्तों के संबंध में प्रयोग कर रहे थे जिनके सहारे मनुष्य मात्र के स्वभाव में परिवर्त्तन लाया जा सके और समस्त मानवी संबंध एक ऊँचे धरातल तक उठ सकें। उनका प्रयत्न बुद्ध ईसा और मुहम्मद के समान एक पैग़म्बर का प्रयत्न था : यह एक आकस्मिक बात थी कि उन्हें अपने सिद्धान्तों के प्रयोग के लिए हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन का क्षेत्र मिला। गांधी जी ने हमारे पुराने उद्देश्यों और साधनों को एक नया रूप दिया। एक विदेशी शासन के प्रति विरोध की जो भावना हममें तेज़ी से बढ़ रही थी गांधी जी ने उसे रोकने का कोई प्रयत्न नहीं किया, केवल उसकी अभिव्यक्ति की दिशा छुट-पुट और अव्यवस्थित हिंसा से सजग और सामूहिक अहिंसा में परिवर्तित कर दी : व्यक्ति के जीवन में क्रोध को अक्रोध से जीत लेने का जो मार्ग ऋषियों ने बताया था गांधी जी ने उसे समस्त राष्ट्र के द्वारा अपनाए जाने का मार्ग बताया। विदेशी कपड़े, और दूसरे माल के बहिष्कार का आंदोलन हमारे देश में एक लंबे अर्से से चला आ रहा था। उसके पीछे विदेशी शासकों के प्रति घृणा की भावना स्पष्ट थी और उसका उद्देश्य इंग्लैण्ड के उद्योग-धंधों को क्षति पहुँचा कर उसकी सरकार को भारतीय राष्ट्रीयता से समझौता कर लेने के लिए विवश कर देना था। गांधी जी ने बहिष्कार के इस आन्दोलन को अपनाया पर उसकी आत्मा को बिल्कुल बदल दिया। अंग्रेज़ी माल का बहिष्कार उन्होंने इसलिए आवश्यक बताया कि वह स्वदेशी की भावना के विरुद्ध था। और स्वदेशी की भावना उनकी दृष्टि में जीवन के आध्यात्मिक दृष्टिकोण में निहित थी। स्वदेशी में भी उन्होंने अधिक जोर खादी पर दिया। खादी जीवन के एक नए दृष्टिकोण की द्योतक थी। उसके पीछे आर्थिक अ-केन्द्रीकरण का सिद्धान्त था जिस पर चल कर पश्चिम के देश भी अपनी उन बहुत सी बुराइयों से छुटकारा पा सकते थे जो उन्हें औद्योगीकरण की विरासत में मिली थीं। गांधी जी के सत्याग्रह-अस्त्र का प्रयोग भी जितना प्रभाव-पूर्ण रूप में हिन्दुस्तान में किया जा सकता था उतना ही विश्व के किसी

भी दूसरे देश में । गांधीजी ने आध्यात्मिकता और राजनीति को एक विचित्र सूत्र में बाँध दिया था। अब तक राजनीति का जो अर्थ लिया जाता था वह धूर्तता से भिन्न नहीं था। राजनीति में अपने राष्ट्रीय स्वार्थों को अच्छे और बुरे सभी साधनों से आगे बढ़ाने की खुली छूट मानी जाती थी। यह माना जाता था कि राजनीति एक चीज है और आध्यात्मिकता दूसरी, और इनमें आपस में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। गांधीजी ने आध्यात्मिकता और राजनीति का ऐसा सम्मिश्रण कर दिया था कि बड़े से बड़े अध्यात्मवादी को भी राजनीति में अधिक से अधिक साधनामय जीवन बिताने का अवसर मिल सकता था और राजनैतिक कार्यकर्त्ता पर यह जिम्मेदारी आ गई थी कि वह सत्य और अहिंसा पर चलते हुए एक धार्मिक जीवन व्यतीत करे। गांधी जी के इन सिद्धांतों ने सहज ही संसार भर का ध्यान अपनी ओर खींचा। कुछ बड़े बड़े लेखकों ने गांधी जी के सम्बन्ध में लिखा। 'ज्याँ क्रिस्तोफ़' के ख्याति प्राप्त लेखक और बीसवीं शताब्दी के प्रमुख कलाकार और चिन्तक रोम्याँ रोलाँ ने गांधी के संबंध में एक बड़ी ही मार्मिक पुस्तक लिखी और डॉ. होम्स और रिचर्ड बी. ग्रेग जैसे लेखकों ने गांधीजी के राजनैतिक अध्यात्म और अर्थशास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्तों के प्रचार को अपने जीवन का लक्ष्य बनाया। एल्डस हक्सले और दूसरे चिन्तकों पर भी गांधी जी की विचार-धारा का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा।

गांधी और नेहरू: अन्तर्राष्ट्रीयता के दो बड़े स्तंभ

भारतीय राष्ट्रीयता के प्रति संसार का ध्यान आकर्षित करने का श्रेय गांधी जी के बाद जिस व्यक्ति को दिया जा सकता है वह है पं. जवाहरलाल नेहरू। गांधी और नेहरू दोनों ही पूर्व और पश्चिम की संस्कृतियों में जो सर्वश्रेष्ठ है उसके अद्भुत सम्मिश्रण हैं, परन्तु गांधी जहां उस विशाल वृक्ष के समान हैं जिसकी जड़ें पूर्व की संस्कृति में गहरी चली गई हैं और जो इसी संस्कृति से अपना प्राण-दान पाता है परन्तु आकाश में दूर तक फैली हुई जिसकी शाखाएं पश्चिम का संदेश भी ग्रहण कर पाती हैं, जवाहरलाल की शिक्षा-दीक्षा पश्चिमी सिद्धान्तों में हुई है। पश्चिमी संस्कृति से उन्होंने प्रेरणा ली है, परन्तु पूर्व की संस्कृति से भी वह किसी विचित्र सम्मोहक-शक्ति के द्वारा अपने को बंधा हुआ पाते हैं। गांधीजी ने अपने जीवन-दर्शन के प्रमुख तत्त्वों को कहीं से प्राप्त किया हो, उनके व्यक्तित्व और कार्य-प्रणाली में पूर्व और पश्चिम इतने घुल-मिल गए हैं कि वे एक दूसरे से अलहदा नहीं किए जा सकते। इसी कारण गांधीजी देश को

जब कोई नया कार्य-क्रम देते हैं तो अन्य देशों के ऐसे संवेदनशील व्यक्ति जो जीवन की गहराई तक पहुँचने की क्षमता रखते हैं उससे प्रभावित हुए बिना नही रह सकते । जवाहरलाल ने अपना जीवन पूर्व की सेवा में लगा दिया है पर उनका काम करने का ढंग और काम को देखने का दृष्टिकोण दोनों ऐसे हैं कि पश्चिम के लोग उन्हें आसानी से समझ सकते हैं । पिछले बीस वर्षों में जितने भी राष्ट्रीय आंदोलन हमारे देश में उठे हैं उनमें गांधी और जवाहरलाल जैसे दो अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त व्यक्तियों का नेतृत्व होने के कारण सभी देशों का ध्यान और सहानुभूति वे अपनी ओर आकर्षित कर पाए हैं ।

जवाहरलाल ने जबसे भारतीय राजनीति में प्रवेश किया है उनका स्पष्ट लक्ष्य यह रहा है कि वह हमारे राष्ट्रीय प्रश्नों को अन्तर्राष्ट्रीय धरातल पर रख कर सोचें । गांधी मानववादी है, जवाहरलाल वैज्ञानिक—दोनों का दृष्टि-कोण राष्ट्रीयता से ऊपर है । मानववादी होने के नाते गांधी जी अंग्रेज़ों और हिन्दुस्तानियों को दो अलग वर्गों में विभाजित नहीं करते । अंग्रेज़ों से लड़ने का उनका वही तरीक़ा रहा जिसका प्रयोग वह अपने किसी ऐसे सजातीय या मित्र के विरुद्ध करते जो अन्याय करने पर तुल पड़ा हो । जवाहरलाल की पैनी वैज्ञानिक दृष्टि उन्हें यह बताती रही है कि एक तेज़ी से सिकुड़ती हुई दुनिया में राष्ट्रीय समस्याओं का कोई समाधान तब तक चिरस्थाई नहीं माना जा सकता जब तक वह अन्तर्राष्ट्रीय विचार-धाराओं के निकट-संपर्क में न हो। जबसे जवाहरलाल भारतीय राजनीति में आए तभी से वह देख रहे हैं कि दुनिया दो गुटों में बँटती जा रही है — एक ओर तो रूस जैसे समाजवादी देश हैं जो मानव-सम्बन्धों को राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक, सर्वांगीण, समानता के आधार पर पुनः गठित देखना चाहते हैं और दूसरी ओर फ़ासिस्ट और अर्द्ध फ़ासिस्ट देश, जो समाज की पुरानी, सामन्तशाही और पूंजीवादी व्यवस्था को बनाए रखना चाहते हैं । जवाहरलाल की सहज संवेदन शील सहानुभूति जन-तंत्रीय देशों की ओर उन्मुख हुई और उनके नेतृत्व में कांग्रेस ने एक स्पष्ट विदेशी नीति का अवलंबन किया । जब कभी संसार के किसी भी कोने में जनतंत्रीय शक्तियों पर कोई बड़ा आघात होता दिखाई दिया, तो जवाहरलाल (और कांग्रेस) ने उसके विरुद्ध अपनी आवाज़ उठाई । सन् १९३१ में जापान की फ़ौजें जब चीन की ओर बढ़ीं, १९३५ में इटली ने जब अबीसीनिया पर आक्रमण किया, १९३६–३७ में जब स्पेन की फ़ासिस्ट शक्तियों ने वहां के जनतंत्रीय शासन को नष्ट कर दिया और उसके बाद हिटलर की सेनाएँ ज्यों ज्यों र्‌हाइनलैण्ड या आस्ट्रिया या जैकोस्लोवाकिया की ओर बढ़ीं, कांग्रेस ने ज़ोरदार शब्दों में इन फ़ासिस्ट ताक़तों का विरोध किया । अक्सर तो ऐसा

हुआ कि इंग्लैण्ड फ्रांस और अमरीका जैसे अपने को जनतन्त्र कहने वाले देशों की ओर से फ़ासिस्ट देशों का विरोध नहीं हुआ बल्कि रूस के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने की दृष्टि से उनकी गुप्त सहानुभूति फ़ासिस्ट देशों के साथ रही, पर हमारे राष्ट्रीय नेताओं ने उनके विरोध की आवाज़ उठाई। इंग्लैण्ड और फ्रांस के बड़े बड़े राजनीतिज्ञ जब यूरोप के छोटे छोटे देशों की बलि देकर हिटलर और मुसोलिनी की साम्राज्य-लिप्सा को संतुष्ट करने के मूर्खता-पूर्ण प्रयत्नों में लगे हुए थे, जवाहरलाल जर्मनी की नात्सी-सरकार के आग्रह पूर्ण निमंत्रण को ठुकरा कर जैकोस्लोवाकिया चले गए, और एक दूसरे अवसर पर, जब वह जहाज़ की इन्तज़ार में कुछ घंटे रोम में बिता रहे थे मुसोलिनी से मिलने के निमंत्रण को भी उन्होंने अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार, गांधी के विश्व-वंद्य व्यक्तित्व और जवाहरलाल के अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्कों के कारण और कुछ हमारे देश की अपनी भौगोलिक और ऐतिहासिक स्थिति के कारण हमारे राष्ट्रीय आंदोलनों में संसार के सभी प्रमुख देशों की दिलचस्पी रही है।

दूसरे महायुद्ध के प्रति कांग्रेस का दृष्टिकोण

सितम्बर १९३९ में छिड़ने वाले दूसरे महायुद्ध ने हमें एक विचित्र परिस्थिति में डाल दिया। फ़ासिज्म से हमारा सैद्धान्तिक मतभेद था। फ़ासिस्ट देशों को हम हर्गिज़ विजयी देखना नहीं चाहते थे। उनको हरा देने में अपनी सारी शक्ति लगा देने के लिए हम बेचैन थे, परंतु हम नहीं जानते थे कि गुलाम रहते हुए अंग्रेजी साम्राज्यवाद के झंडे के नीचे लड़ कर हम किस प्रकार जन-तंत्रीय शक्तियों को कोई सहारा दे सकेंगे। जैसा कि कांग्रेस ने अगस्त ९३९ में अपने एक प्रस्ताव में स्पष्ट किया, "इस विश्व-संकट में कार्य-समिति की संपूर्ण सहानुभूति उन देशों की जनता के साथ है जो प्रजा-तन्त्र और स्वाधीनता के लिए लड़ रहे हैं। कांग्रेस ने बार बार यूरोप, अफ्रीका और एशिया के सुदूरपूर्व में फासिज्म के बढ़ते हुए अतिक्रमण की निन्दा की है, और अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद के द्वारा जैको-स्लोवाकिया और स्पेन में प्रजा-तन्त्र के साथ जो विश्वास-घात हुआ है उसे भी बुरा बताया है।" परन्तु, कांग्रेस नहीं जानती थी कि युद्ध के छिड़ जाने पर कैसे वह इंग्लैण्ड जैसे देश का साथ दे जिसने अपने कार्यों से यह स्पष्ट बता दिया था कि वह न तो कभी स्वतन्त्रता और प्रजा-तन्त्र का हामी रहा है और न भविष्य में कभी उसके द्वारा इन सिद्धान्तों के समर्थन की आशा की जा सकती है। कांग्रेस की अपनी नीति बड़ी स्पष्ट थी—हिन्दुस्तान को

आज़ाद करो और हम अपनी समस्त शक्तियां प्रजा-तन्त्र के बचाव में लड़े जाने वाले युद्ध में झोंकने के लिए तैयार हैं। बाहर के देशों द्वारा कांग्रेस की इस स्थिति का ठीक से समझा जाना कठिन था। जनतंत्रीय देशों में जर्मनी और इटली को हरा देने की बेचैनी इतनी बढ़ती जा रही थी कि वे यह नहीं समझ सकते थे कि एक ऐसे अवसर पर जब जनतंत्र का अस्तित्व ही ख़तरे में हो कोई भी देश उसके समर्थन के लिए किसी प्रकार की शर्त्त लगाने की कल्पना भी कैसे कर सकता है। कांग्रेस की नीति विवेक द्वारा ही समझी जा सकती थी, परन्तु किसी बड़े युद्ध में जहाँ राष्ट्रों के जीवन और मरण का प्रश्न होता है विवेक प्रायः सोया रहता है और भावना ही राज्य करती है।

एक आदर्श-शून्य, हृदय हीन, यथार्थवादी अंग्रेजी सरकार ने जनतंत्रीय देशों की जनता की भावना को सन्तुष्ट कर पाने की हमारी असमर्थता का पूरा लाभ उठाया और उनमें यह प्रचार करना शुरू किया कि कांग्रेस फ़ासिस्ट देशों को सहायता पहुँचाना चाहती है। इस बीच कुछ ऐसी घटनाएं हुईं जिन पर अपने स्वाभिमान की रक्षा करते हुए हम नियंत्रण नहीं कर सकते थे। भारत-सरकार ने केन्द्रीय धारासभा या प्रान्तीय या किसी प्रमुख नेता से बातचीत किए बिना ही हिन्दुस्तान के युद्ध में शामिल होने की घोषणा कर दी, देश भर में आर्डिनेंस-राज्य चला दिया और प्रान्तों में जो थोड़ी बहुत स्वाधीनता थी उस पर भी तेजी के साथ आक्रमण करना शुरू कर दिया। ऐसी स्थिति में विभिन्न प्रान्तों के, कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों के सामने सिवाय इसके कोई रास्ता नहीं रह गया था कि वे पद-त्याग कर दें। कांग्रेस के इस निर्णय को लेकर भी बड़ी ग़लतफ़हमी फैलाने की कोशिश की गई, कुछ महीनों के बाद स्वेच्छाचारी वायसराय ने अगस्त-प्रस्ताव के रूप में ऐसी योजना देश के सामने रखी जो स्पष्टतः अपमान-जनक थी। कांग्रेस को उसे भी ठुकराना पड़ा, और जब उसके बार बार आग्रह और अनुरोध करने पर भी अंग्रेजी सरकार ने न तो युद्ध के अपने उद्देश्यों को ही स्पष्ट किया और न भारतीय सहयोग को प्राप्त करने के लिए अन्य कोई ठोस क़दम उठाया तब कांग्रेस ने गांधी जी के नेतृत्व में व्यक्तिगत सत्याग्रह का ऐसा मार्ग अपनाया जिसके द्वारा कांग्रेस का नैतिक प्रतिरोध तो स्पष्ट हो जाता पर युद्ध के प्रयत्नों में किसी प्रकार की बाधा पड़ने की सम्भावना नहीं थी, इस नैतिक स्पष्टीकरण के प्रश्न को लेकर भी हमारे देश के विरुद्ध बहुत कुछ प्रचार किया गया। १९४२ के आरम्भ में जापान की निर्बाध विजय-यात्रा ने इंग्लैण्ड के सामने एक बार फिर एक बहुत बड़ा संकट उपस्थित कर दिया, परन्तु उस संकट में भी चर्चिल की सरकार क्रिप्स-प्रस्तावों से अधिक बढ़ने के लिए तैयार न थी जो वास्तव में लिनलिथगो के अगस्त-

प्रस्तावों का एक मुलम्मा चढ़ा हुआ चमकीला रूप थे। कांग्रेस को क्रिप्स-प्रस्तावों को भी ठुकरा देने पर बाध्य होना पड़ा। एमरी के प्रचार विभाग को इस प्रकार एक के बाद एक अवसर मिलते गए जिससे वह संसार को यह जतला सके कि किस प्रकार हिन्दुस्तान के नेता अपनी सारी शक्तियाँ फ़ासिज्म के पक्ष में, और जनतन्त्र के विरुद्ध लगाने के लिए तैयार थे। इन्हीं दिनों एक और भी घटना हुई जिससे अंग्रेजी सरकार को कांग्रेस की स्थिति के सम्बन्ध में और भी दुर्भावना फ़ैलाने का अवसर मिला। यह थी कांग्रेस के एक भूतपूर्व सभापति सुभाषचन्द्र बोस का हिन्दुस्तान से छिप कर भाग जाना और फ़ासिस्ट देशों के साथ मिलकर बाहर रहने वाले हिन्दुस्तानियों के संगठित प्रयत्न द्वारा हिन्दुस्तान को आज़ाद करने की योजना बनाना।

जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट होगा, युद्ध के प्रति कांग्रेस का दृष्टिकोण ऐसा नाजुक था कि उसके सम्बन्ध में सहज ही ग़लत धारणाओं का प्रचार किया जा सकता था परन्तु यह विदेशों में गांधी, जवाहरलाल नेहरू और कांग्रेस की साख का परिणाम था कि किसी भी देश में, और मैं समझता हूँ कि ब्रिटेन की जनता में भी, हमारे प्रति किसी प्रकार का स्थायी मनोमालिन्य नहीं बनने पाया। इन्हीं दिनों युद्ध के प्रयत्नों में भारतीय जनता का समर्थन प्राप्त करने की दृष्टि से मार्शल और मेडम चांग काई शेक ने भारतवर्ष का दौरा किया। वे क्रिप्स-प्रस्तावों से देश में निराशा की जो भावना फैल गई थी उसे अंग्रेज़ी शासन के प्रति किसी बड़े संघर्ष के मार्ग से मोड़ देना चाहते थे। परन्तु, चीन के प्रति सम्पूर्ण सहानुभूति के होते हुए भी भारतीय राष्ट्रीयता ने अपने लिए जो सीधा और स्पष्ट मार्ग चुन लिया था उससे उसे लौटाया नहीं जा सकता था। ब्रिटेन की मौजूदा नीति को देखते हुए एक बड़ा संघर्ष अनिवार्य हो गया था। अप्रैल और अगस्त १९४२ के बीच गांधी जी इस संघर्ष की रूप-रेखा सोचने में व्यस्त थे, पर उनकी दृष्टि अन्तर्राष्ट्रीय लोकमत पर भी गड़ी हुई थी। जैसा कि अमरीकन पत्रकार लुई फ़िशर से एक भेंट में उन्होंने कहा, "मैं नहीं चाहता कि जापान युद्ध में जीते, न मैं धुरी राष्ट्रों की विजय ही चाहता हूँ, परन्तु मुझे विश्वास है कि अंग्रेज भी उस समय तक जीत नहीं सकते जब तक वे हिन्दुस्तान को आज़ाद न कर दें।" गांधी जी ने लुई फ़िशर से अमरीका के प्रेजीडेंट पर इस बात के लिए जोर डालने के लिए कहा कि वह उन्हें अंग्रेज़ साम्राज्य को एक नए संघर्ष की चुनौती देने के मार्ग से रोकें; यह स्पष्ट था कि यदि इस समय अमरीका इस प्रकार का कोई क़दम उठाता तो बाद में हिन्दुस्तान और ब्रिटेन में एक स्थायी समझौता कराने के लिए उसकी सक्रिय मध्यस्थता अनिवार्य हो जाती। जन-तन्त्रीय देशों की सहायता

की दृष्टि से गांधी जी इस बात पर राज़ी थे कि हिन्दुस्तान के आज़ाद हो जाने पर भी, धुरी-राष्ट्रों का मुक़ाबिला करने के लिए, मित्र-राष्ट्रों की सेनाएं हिन्दुस्तान में ही रह सकेंगी, गांधी जी ने इस सम्बन्ध में अपनी स्थिति १ जुलाई १९४२ को प्रेज़ीडेंट रूज़वेल्ट को लिखे गए एक व्यक्तिगत पत्र में स्पष्ट कर दी थी उन्होंने लिखा, "मैं आशा करता हूँ कि आप मेरे इस वचन पर विश्वास करेंगे कि मेरा वर्तमान प्रस्ताव कि अंग्रेज़ों को बिना किसी झिझक के और बिना भारतीय जनता की राय लिए हिन्दुस्तान में अपना शासन समाप्त कर देना चाहिए अधिक से अधिक मित्रता-पूर्ण भावना से प्रेरित है। मैं उस दुर्भावना को जो इसके विरोध में चाहे कुछ कहा जाए, आज हिन्दुस्तान में ब्रिटेन के प्रति विद्यमान है, सद्भावना में परिवर्तित करना चाहता हूँ जिससे हिन्दुस्तान के लाखों व्यक्ति वर्तमान युद्ध में उचित भाग ले सकें।······अपने प्रस्ताव को किसी भी प्रकार की आलोचना से मुक्त रखने के लिए मैंने यह सुझाव पेश किया है कि यदि मित्र-राष्ट्र आवश्यक समझें तो वे अपनी फ़ौजें, अपने खर्चे से, हिन्दुस्तान में रख सकते हैं—उनका उद्देश्य आन्तरिक शान्ति बनाए रखना नहीं परन्तु जापानी आक्रमण को रोकना और चीन का बचाव करना होगा।" गांधी जी ने गिरफ्तार होने से कुछ दिन पहिले 'प्रत्येक जापानी को' शीर्षक पत्र के द्वारा भी भारतीय मांगों के पक्ष में अन्तर्राष्ट्रीय लोकमत के निर्माण का प्रयत्न किया। "मैं आपको यह बता देना चाहता हूँ" उन्होंने अपने इस पत्र में जापानियों को संबोधित करते हुए कहा, "कि यद्यपि आपके विरुद्ध मेरे मन में कोई द्वेष नहीं है, पर चीन पर किए जाने वाले आप के आक्रमण को मैं बहुत बुरा समझता हूँ।······हमें आज ऐसे साम्राज्यवाद का विरोध करना पड़ रहा है जो उतना ही बुरा है जितना आपका और नात्सियों का। हमारे इस विरोध का यह अर्थ नहीं है कि हम अंग्रेज़ों को नुकसान पहुँचाना चाहते हैं। हम तो उनका हृदय परिवर्तित कर देना चाहते हैं। अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध हमारी बग़ावत अहिंसात्मक है । इसमें हमें किसी बाहरी शक्ति से कोई सहायता नहीं चाहिए।·····"

अगस्त आन्दोलन और बाहरी देशों पर उसकी प्रतिक्रिया

अगस्त १९४२ के आन्दोलन को सरकार ने अपनी सारी शक्ति से कुचलने का प्रयत्न किया। खबरों पर सख्त रोक लगा दी गई। विदेशों में और विशेषकर अमरीका में, अंग्रेजी साम्राज्य की प्रचार की समस्त शक्ति गांधी जी व कांग्रेस को बदनाम करने में लगा दी गई, परन्तु इन सब बातों के होते हुए भी

संसार के अधिकांश देशों की सहानुभूति हमारे साथ थी । चीन की सहानुभूति हमारे साथ होने के मूल में तो इस प्राचीन देश के साथ हमारे ऐतिहासिक और आध्यात्मिक सम्बन्ध थे । अगस्त आन्दोलन के शुरू होने के पहिले ही च्यांग काई शेक ने अमरीका के प्रेसीडेंट पर इस बात के लिए जोर डालना शुरू कर दिया था कि वह हिन्दुस्तान के मामले में हस्तक्षेप करें। अपने २५ जुलाई १९४२ के पत्र में उन्होंने प्रेसीडेंट रूजवेल्ट को लिखा, "हिन्दुस्तान की स्थिति एक बहुत ही गंभीर और खतरनाक दर्जे तक बिगड़ चुकी है । सच तो यह है कि मित्र-राष्ट्रों के युद्ध और विशेषकर पूर्व में युद्ध के परिणाम पर सबसे अधिक इस बात का प्रभाव पड़ेगा कि इस स्थिति का विकास किस ढंग से होता है ।" च्यांग काई शेक ने अमरीका पर इस बात के लिए बहुत जोर डाला कि ब्रिटेन को भारतीय समस्या को सुलझाने के लिए मजबूर करे, क्योंकि उन्हें भय था कि मित्र-राष्ट्रों ने यदि इस अवसर पर ब्रिटेन पर दबाव नहीं डाला तो वे सदा के लिए हिन्दुस्तान की सहानुभूति खो देंगे और इसका भावी परिणाम भयंकर होने की संभावना थी । चांग काई शेक ने यह भी लिखा कि यदि अंग्रेजी सरकार अपने पाशविक बल द्वारा कांग्रेस के अहिंसात्मक आंदोलन को कुचल देने में सफल भी हो जाए तो भी उसकी इस नीति का मित्रराष्ट्रों की नैतिक स्थिति पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ेगा। उन्होंने बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा—"ब्रिटेन के लिए सबसे अधिक बुद्धिमानी और उदारता की नीति यही होगी कि वह हिन्दुस्तान को पूर्ण रूप से स्वतंत्र घोषित कर दे······संयुक्त-राष्ट्रों के युद्ध के उद्देश्यों और हमारे साम्राज्य स्वार्थों को देखते हुए मेरे लिए अब चुप रहना असम्भव हो गया है ।, एक पुरानी चीनी कहावत के अनुसार अच्छी दवा कड़वी होते हुए भी बीमारी को दूर कर देती है, इसी प्रकार सच्ची सलाह बुरी लगते हुए भी ठीक रास्ते पर लाने में सहायता पहुँचाती है ।' मुझे पूरी आशा है कि ब्रिटेन उदारता और दृढ़ता के साथ मेरी इस निःस्वार्थ सलाह को मान लेगा, चाहे वह उसे कितनी ही बुरी मालूम हो ।" महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू और दूसरे नेताओं की गिरफ्तारी के दो दिन बाद च्यांग काई शेक ने एक बार फिर प्रेसीडेंट रूजवेल्ट से जोरदार शब्दों में इस बात की अपील की कि वे परिस्थिति को सुलझाने का प्रयत्न करें । च्यांग-काई शेक ने चर्चिल सरकार को भी पत्र लिखा । और केवल चीन में ही नहीं मिश्र और पश्चिमी एशिया के अन्य देशों में भी भारतीय स्वाधीनता के लिए कट्टर समर्थन की भावना बढ़ती जा रही थी । वेंडेल विल्की ने, जिन्होंने इन्हीं दिनों यूरोप व एशिया के अधिकांश देशों की यात्रा की थी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक—'एक दुनिया' में—लिखा—"अफ्रीका से अलास्का तक जिन बहुत से पुरुषों और

स्त्रियों से मैंने बातचीत की उन्होंने वह प्रश्न किया जो आज एशिया भर में एक प्रतीक वन गया है, हिन्दुस्तान का क्या होगा ?......क़ाहिरा के वाद से प्रत्येक स्थान पर मुझे इस प्रश्न से उलझना पड़ा। चीन के सबसे बुद्धिमान व्यक्ति ने मुझसे कहा "हिन्दुस्तान की आज़ादी की मांग को जब भविष्य के लिए उठा कर रख दिया गया तब सुदूर पूर्व में ब्रिटेन की साख को उतना धक्का नहीं पहुँचा जितना संयुक्त राज्य अमरीका को।"

यह स्पष्ट था कि अमरीका की सहानुभूति हमारी राष्ट्रीय आकांक्षाओं के साथ थी, पर वहां के अधिकारी युद्ध के दौरान में ब्रिटेन पर इस संवंध में दवाव डाल कर अपने आपसी संवंधों को विगाड़ना नहीं चाहते थे। च्यांग काई शेक के पत्र के उत्तर में प्रेसीडेंट रूजवेल्ट ने उनके विचारों के साथ अपनी पूरी सहानुभूति प्रगट की और अपना यह विश्वास भी व्यक्त किया कि सामान्य-विजय की दृष्टि से उनकी राय बहुत ही उपयोगी है। वह यह भी मानते थे कि भारतीय परिस्थिति को स्थिर बनाया जाना चाहिए और (युद्ध के) संयुक्त प्रयत्नों में भारतीय जनता का सहयोग प्राप्त किया जाना चाहिए," परंतु भारतीय राजनीति में,सक्रिय हस्तक्षेप वह उस समय तक करना नहीं चाहते थे जब तक वैसा करने के लिए ब्रिटेन और हिन्दुस्तान दोनों की ओर से उनसे प्रार्थना न की जाए, और यह निश्चित था कि ब्रिटेन इस प्रकार की किसी प्रार्थना के लिए तैयार नहीं था। च्यांग काई शेक के इस संवंध में ब्रिटेन की सरकार को लिखे गए पत्र के उत्तर में उन्हें चेतावनी दी गई थी कि यदि चीन ने हिन्दुस्तान के मामले में हस्तक्षेप करने का प्रयत्न किया तो चीन और ब्रिटेन की मैत्री पर उसका बुरा असर, पड़ेगा। रूज़वेल्ट ने भी जब कभी चर्चिल से हिन्दुस्तान के संवंध में बातचीत करने का प्रयत्न किया चर्चिल ने उस पर अपनी गहरी नाराजगी जाहिर की : इसमें सन्देह नहीं कि रूज़वेल्ट ने इस प्रकार का प्रयत्न अवश्य किया था। अमरीका के प्रसिद्ध राज़नीतिज्ञ समनर वेल्स ने ८ अगस्त १९४५ को 'न्यूयार्क हेरल्ड ट्रिव्यून' में लिखा, प्रेसीडेंट रूज़वेल्ट को विश्वास था कि सुदूर-पूर्व में एक योजना-पूर्ण प्रगति की दृष्टि से भारतीय स्वाधीनता बहुत अधिक उपयोगी हो सकती थी।.........
.........उनको विश्वास था कि इसी ढंग के समाधान के द्वारा और कुछ कठिनाइयां उठा कर भी, भारतीय जनता में अपने लिए प्रजातन्त्र के ऐसे रूप का विकास करने की क्षमता थी जो उसकी अपनी व्यक्तिगत आकांक्षाओं और भावनाओं के उपयुक्त हो।" इसी लेख में समनर वेल्स ने यह भी प्रगट किया कि "इस दिशा में प्रेसीडेंट रूजवेल्ट के मित्रता-पूर्ण सुझाव यद्यपि वे युद्ध की एक वड़ी गभीर स्थिति में किए गए थे न केवल निरर्थक सिद्ध हुए

परंतु ब्रिटिश प्रधान मंत्री के द्वारा उन पर कड़वाहट पूर्ण रोष भी प्रगट किया गया।" अमरीका के अतिरिक्त और ब्रिटेन की सरकार को छोड़ कर एशिया के बाहर के अन्य देशों की सहानुभूति भी हमारे साथ थी। सितंबर १९४२ में व्हाइट हाउस में होने वाली 'पैसिफ़िक काउन्सिल' की बैठक में फ़िलिपाइन के राष्ट्रपति मेन्युएल क्वैज़ों ने एक बार फिर हिन्दुस्तान का प्रश्न उठाया और अमरीका से हस्तक्षेप करने की प्रार्थना की। इसी बैठक में चीन के प्रतिनिधि डॉ० सूंग ने यह विचार प्रगट किया कि हिन्दुस्तान "ब्रिटेन और अमरीका की सचाई की कसौटी है"। ब्रिटेन के प्रतिनिधि हैलीफेक्स के विरोध के कारण क्वैज़ों का यह प्रस्ताव गिर गया। भारतीय समस्या के सम्बन्ध में रूस का क्या मत था, यह जानने का कोई निश्चित प्रमाण हमारे पास नहीं है, परन्तु इसमें संदेह नहीं कि रूस सदा से ही अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद का कट्टर विरोधी और हमारी राष्ट्रीय आकांक्षाओं का प्रथम समर्थक रहा है। *

अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति में परिवर्तन

हिन्दुस्तान में जब अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद अपनी समस्त निर्दयता के साथ भारतीय राष्ट्रीयता की एक सामूहिक अभिव्यक्ति को कुचलने में लगा हुआ था, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तेज़ी के साथ परिवर्तन हो रहा था। जापान की जो सेनाएँ बर्मा को जीत लेने के बाद आराकान के जंगलों और चटगांव की घाटियों को रोंदने में लग गई थीं वे सब धीरे धीरे पीछे हटती गई—बहुत जल्दी यह स्पष्ट हो गया कि हिन्दुस्तान पर आक्रमण करने का जापान का कोई विचार नहीं था, उधर १९४२ के शिशिर तक जर्मनी का रूस पर केन्द्रीभूत आक्रमण भी स्टालिनग्राड से टकरा कर बिखर चला था और धीरे धीरे रूस की लाल-सेनाओं के हाथ में पहिल आने लगी थी। १९४४ का अन्त होते होते रूस ने केवल आक्रमण की समस्त जर्मन आकांक्षाओं को सदा के लिए कुचल दिया था उसके अपने प्रत्याक्रमण में भी तेजी आने लगी थी। अक्टूबर १९४४ तक रूस ने एक ओर फिनलैण्ड और दूसरी ओर बुखारेस्ट, सोफिया और बेलग्रेड पर अधिकार कर लिया था। इसी समय यदि ब्रिटेन और अमरीका की फौजें पश्चिम से जर्मन पर आक्रमण कर देती तो यह निश्चित है कि धुरी-राष्ट्रों का पतन बहुत जल्दी हो गया होता, और यूरोप के पुनः गठन में रूस और पश्चिमी प्रजातंत्रों का बराबर का हाथ रहता। परंतु ब्रिटेन और अमरीका ने दूसरे मोर्चे की

* इस सम्बन्धमें बहुत सा प्रामाणिक पत्र-व्यवहार लुई फ़िशर की *The great challenge* नामक पुस्तक (१९४६) में पहिली बार प्रकाशित हुआ।

तैयारी में ही बहुत समय लगा दिया और उसका आरंभ दक्षिणी फ्रांस से किया जहां जर्मन की सशक्त सेनाओं ने उन्हें एक लंबे अर्से तक रोक रखा। पश्चिमी प्रजातंत्रों की इस देरी और अयोग्यता के कारण रूस का अविश्वास और आत्मविश्वास दोनों तेजी से बढ़ते जा रहे थे, और उतनी ही तेज़ी से उसकी सेनाएं दक्षिण पूर्वी व मध्य यूरोप के देशों को नात्सी आधिपत्य से मुक्त करने में लगी हुई थीं, इसका सीधा परिणाम यह हुआ कि ब्रिटेन और अमरीका को इन प्रदेशों के भाग्य-निर्णय में भविष्य में किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप के अधिकार से हाथ धोना पड़ा। पोलैण्ड और यूगोस्लोवाकिया की जिन स्थायी सरकारों का वे समर्थन कर रहे थे उनसे अपना सहयोग खींच लेने पर भी उन्हें विवश होना पड़ा। १९४५ का आरंभ होते होते रूसी फौजें जर्मनी में प्रवेश करने लगी थी। बुडापैस्ट पर उनका कब्जा फ़र्वरी में डैंजिग पर मार्च में और वियना व पौट्स्डम पर अप्रैल में हो गया। पौट्स्डम में पहली बार रूसी और अमरीकी सेनाओं का संपर्क हुआ।

भारतीय राजनीति पर उसका प्रभाव

सुदूर पूर्व में जापान की विजय यात्रा को रोक दिया गया। मध्य-यूरोप में इटली के फासिज्म को रौंदती हुई ब्रिटेन और अमरीका की सेनाएें जर्मनी की सीमाओं का स्पर्श कर रहीं थीं। दूसरी ओर से रूस की विजय सेनाएं कई स्थलों पर जर्मनी में प्रवेश कर चुकी थीं। जर्मनी का पतन और धुरी-राष्ट्रों का विध्वंस अब दूर के क्षितिज पर चमकने लगा था। इन परिस्थितियों में भारतीय राजनैतिक गुत्थी को सुलझा लेने का दायित्व एक बार फिर अंग्रेज़ी सरकार पर आगया था। भूलाभाई देसाई और लियाकतअलीखां की बातचीत को इस प्रयत्न का आधार बनाया जा सकता था। कांग्रेस सहयोग से इन्कार नहीं करेगी यह मार्च १९४५ में डॉ. खान साहेब द्वारा सीमा प्रान्त का शासन अपने हाथ में लेलेने से स्पष्ट होगया था। इस वातावरण को ध्यान में रखते हुए, १९४५ के ग्रीष्म में लार्ड वेवल ने इंग्लैण्ड जाकर वहां के मंत्री मंडल से भारतीय परिस्थिति के संबंध में विस्तृत बातचीत की, और जून में एक स्पष्ट योजना लेकर वहां से लौटे, जिसके आधार पर शिमला कान्फ्रेंस का आयोजन हुआ। यह योजना वैसे तो पुराने ढंग की थी, उसका लक्ष्य वायसराय की कार्यकारिणी का पुन: गठन मात्र था, पर पिछली सभी योजनाओं से वह कई दृष्टियों से आगे बढ़ी हुई भी थी। योजना के अनुसार वायसराय और सेनाध्यक्ष को छोड़ कर अन्य सभी मन्त्री हिन्दुस्तानी होते—अर्थ और गृह-विभाग तो पहिली बार

हिन्दुस्तानियों को सौंपे जाने का आयोजन था, विदेशी विभाग भी हिन्दुस्तानी मंत्री के हाथ में ही होता। इन मंत्रियों का चुनाव यद्यपि गवर्नर जनरल स्वयं करते पर उनका निर्णय राजनैतिक नेताओं की सलाह पर निर्भर होता। ब्रिटेन के व्यवसायिक और आर्थिक हितों की रक्षा के लिए, उपनिवेशों के समान, हिन्दुस्तान में भी एक हाई कमिश्नर नियुक्त किए जाने का भी प्रस्ताव था। साथ ही यह आश्वासन भी दिया गया था कि यद्यपि कार्यकारिणी वर्तमान विधान के अन्तर्गत काम करेगी और गवर्नर-जनरल की नियंत्रण की शक्ति में वैधानिक रूप में किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं किया जा सकेगा, पर अपनी इन शक्तियों का प्रयोग वे 'अविवेकतापूर्ण' ढंग से नहीं करेंगे। वायसराय ने ब्रिटेन के सभी राजनैतिक दलों की ओर से भारतीय आकांक्षाओं के प्रति सहानूभूति का विश्वास दिलाया, इस सबंध के अपने ब्रॉडकास्ट भाषण में वायसराय ने पहली बार अप्रत्यक्ष रूप से यह स्वीकार किया कि अपने बहुत से पिछले कार्यों के लिए अंग्रेजी सरकार शर्मिन्दा और क्षमाप्रार्थी है। इस घोषणा के साथ ही कॉंग्रेस के प्रमुख नेताओं को मुक्त कर दिया गया और उन्हें शिमला आने का निमंत्रण दिया गया। गांधीजी ने कान्फ्रेन्स में निमंत्रित सदस्यों को संतोष जनक बताया और मौ० आजाद ने अपना यह विचार प्रगट किया—"हम पूर्ण स्वधीनता के अपने लक्ष्य के बहुत निकट हैं, केवल एक या दो रुकावटें और हैं जिन्हें हम निश्चय, एकता और शक्ति से पार कर सकेंगे।" शिमला-कांफ्रेन्स भारतीय राजनैतिक गुत्थी को सुलझाने में सफल नहीं हो सकी, पर उसने देश की आत्मा पर पिछले तीन वर्षों में इकट्ठा होने वाले निराशा के बादलों को हटाने की दिशा में बड़ा काम किया। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि हमारे प्रमुख राष्ट्रीय नेता हमें फिर से प्राप्त हो गए थे, १९४२ की क्रांति को उन्होंने अपना संपूर्ण समर्थन दिया था और अब वे फिर राष्ट्रीय तत्त्वों को सुदृढ़ बनाने के काम में जुट पड़े थे। राष्ट्रीय भावनाओं का रुका हुआ प्रभाव बाँध तोड़ कर एकबार फिर तेजी के साथ आगे बढ़ चला था, और आगे आने वाले प्रतिरोधों को ललकार कर चुनौती देने लगा था।

लाल सेनाओं की विजय यात्रा और पश्चिमी प्रजातन्त्रों की आशंकाएँ

१७ मई १९४५ को जर्मनी का पतन हुआ। लाल सेनाओं की प्रगति और पश्चिमी प्रजातन्त्रों की धीमी चाल को देखते हुए यह निर्विवाद था कि विजय का श्रेय मुख्यतः रूस को मिलता। अगस्त १९४४ में यह मानते हुए भी कि

'जर्मन सेना को नेस्तनाबूद करने के काम में प्रमुख भाग' लाल सेनाओं का रहा है, चर्चिल और उनके साथी इस स्थिति से सन्तुष्ट नहीं थे। परंतु उनके सामने इसके अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं रह गया था कि वह यूरोप को अप्रत्यक्ष रूप से दो विभिन्न प्रभाव-क्षेत्रों में बांट लें। पश्चिमी प्रजातन्त्रों ने १९४५ के ग्रीष्म तक व्यावहारिक दृष्टि से यह स्वीकार कर लिया था कि ग्रीस के उत्तर और स्टेटिन-ट्रिएस्ट रेखा के पूर्व में, जिसमें पोलेण्ड, यूगोस्लोवाकिया आदि सम्मिलित थे, उनका कोई सीधा प्रभाव नहीं रहेगा। और इसी प्रकार रूस ने मान लिया था कि ग्रीस, इटली, मध्य सागर और जर्मनी और पश्चिमी यूरोप के अधिकांश भाग में ब्रिटेन और अमरीका के प्रभाव को वह चुनौती नहीं देगा। दूसरा मोर्चा जल्दी न खोल कर पश्चिमी प्रजातन्त्रों ने रूस के मन में जो अविश्वास उत्पन्न कर दिया था उसने उसे इस बात के लिए विवश किया कि वह अपने निकट के देशों में पश्चिमी देशों के प्रभाव को न जमने दे। इन देशों को वह सीधा अपने प्रभाव में लेना चाहता था। ज्यों ज्यों रूस ने ऐसा करने का प्रयत्न किया, यद्यपि वह केवल अपनी सुरक्षा की दृष्टि से अपने प्रभाव-क्षेत्र को बढ़ाने के इस काम में लगा था, पश्चिमी देशों को इसमें रूस की बढ़ती हुई साम्राज्यवादी आकांक्षाओं की गंध मिली और उन्होंने उसे रोकने का प्रयत्न किया। इस प्रकार दूसरे महायुद्ध के समाप्त होते न होते मित्र-राष्ट्रों के आपसी संबंधों पर एक तीसरे, और अधिक भयानक महायुद्ध की काली छाया पड़ने लगी।

जैसा कि गोएबिल्स ने १९४३ में ही कहा था, रूस की सेनाओं की विजय यात्रा को पश्चिमी प्रजा-तन्त्र 'एक आँख में हर्ष और दूसरी आँख में आँसू' की भावना से देख रहे थे। १९४५ के ग्रीष्म में जर्मनी की पराजय के बाद ब्रिटेन और अमरीका ने मास्को, तेहरान, माल्टा और पोट्सडम के उन समझोतों का, जो संघर्ष की संकटपूर्ण घड़ियों में किए गए थे, ऐसा अर्थ निकालना चाहा जिससे यूरोप में उनकी अपनी स्थिति दृढ़ बन सके और रूस के बढ़ते हुए प्रभाव को रोका जा सके। उनके इस प्रयत्न का रूस के द्वारा विरोध किया जाना भी उतना ही स्वाभाविक था। आस्ट्रिया, ईरान, पोलेण्ड, यूगोस्लोवाकिया आदि के प्रश्नों को लेकर यह संघर्ष तीव्र होता गया। आस्ट्रिया को "आज़ाद और खुदमुख्तार" रखने का मॉस्को में जो निश्चय हुआ था पश्चिमी प्रजातन्त्रों की दृष्टि में उसका अर्थ यह था कि उसकी राजनीति पश्चिम की ओर उन्मुख रहेगी। इसी प्रकार तेहरान में ईरान की "स्वतन्त्रता, सार्वभौमता और सीमाओं की अक्षुण्णता" संबंधी निर्णय का अर्थ भी वे लोग यही लगा रहे थे कि ईरान पश्चिमी देशों के प्रभाव में रहेगा। माल्टा में पोलेण्ड

की अस्थाई सरकार के सम्बन्ध में निश्चित हुआ कि वह "एक अधिक व्यापक जनतन्त्रीय आधार पर पुनः गठित की जायगी," यूगोस्लोवाकिया में टिटो–सुवासिश समझौते के आधार पर एक नई सरकार के बनाए जाने का निर्णय हुआ और शेष दोनों के सम्बन्ध में यह तय हुआ था कि तीनों बड़े राष्ट्र, ब्रिटेन, अमरीका और रूस" किसी भी ऐसे राज्य में जो पहले धुरी राष्ट्रों के आधिपत्य में रह चुका है और अब स्वतन्त्र कराया जा रहा है, मिलजुल कर वहाँ की जनता को "ऐसी सरकारें बनाने में सहायता देंगे जो जनता के सभी प्रजातन्त्रीय तत्त्वों का उचित प्रतिनिधित्व करती हों। और स्वतन्त्र चुनाव के आधार पर उत्तरदायी शासन स्थापित करने पर प्रतिज्ञाबद्ध हों" ब्रिटेन और अमरीका की दृष्टि में इन सब समझौतों का अर्थ यही था कि इन देशों में पश्चिमी प्रजातन्त्रों के ढंग की सरकारें बनाई जाएँगी और ये सब सरकारें ब्रिटेन और अमरीका के निकट संपर्क (या प्रभाव) में रहेंगी। इसके विपरीत रूस का यह विश्वास था कि इन समझौतों का उद्देश्य मध्य यूरोप में फ़ासिज़्म का अन्त कर देना और पूर्वी यूरोप और बल्कान देशों में, रूस की छत्र छाया में, ऐसे शासन-तन्त्रों की स्थापना करना था जिनका ढांचा न तो रूस के सोवियत ढंग का हो और न पश्चिमी देशों के पूंजीवादी प्रजातन्त्र से मिलता हो। पर इन दोनों का एक सम्मिश्रण हो। यह स्पष्ट था कि रूस यदि चाहता तो इन देशों में साम्यवाद की स्थापना कर सकता था। और पश्चिमी प्रजातन्त्र चाहने पर भी उनमें अपने ढंग का प्रजातन्त्र कायम नहीं कर सकते थे। पर रूस इस सम्बन्ध में समझौता करने के लिए तैयार था। यह और भी अधिक स्पष्ट था कि रूस फ़िनलैण्ड, पोलेण्ड, हंगरी, यूगोस्लोवाकिया, बलगरिया, रूमानिया आदि अपने निकटवर्त्ती देशों को उनका आन्तरिक शासन-तन्त्र चाहे कैसा ही हो, अपने प्रभाव-क्षेत्र के बाहर जाने देने के लिए तैयार नहीं था। इस स्थिति में, और ब्रिटेन और अमरीका के अपने प्रभाव क्षेत्रों को सभी संभव उपायों से बढ़ाते जाने के निश्चय के बीच कहीं समझौते की गुंजाइश नहीं रह गई थी।

यूरोप का पतन और राजनैतिक गुरुत्व केन्द्र का एशिया की ओर बढना

पश्चिमी प्रजातन्त्रों और रूस में अपने प्रभाव-क्षेत्रों को बढ़ाने के सम्बन्ध में जहाँ एक ओर एक गहरी प्रतिद्वन्दिता चल रही थी, दूसरी ओर यूरोप का महाद्वीप दूसरे महायुद्ध की आर्थिक प्रतिक्रियाओं के ज़ोरदार थपेड़ों में चकना-

चूर होता जा रहा था। वास्तव में देखा जाए तो 'यूरोप का पतन' पहिले महायुद्ध के बाद से ही शुरू हो गया था। विभिन्न देशों में क्रान्ति-आर्थिक संकट और तेजी से होने वाली राजनैतिक उथल-पुथल में उन्नीसवीं शताब्दी के जीवन के मूल्य टूट-फूट चले थे, प्रारम्भ में रूस के रक्त-प्रभात की ओर यूरोप के लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ, पर धीरे धीरे वे उससे विमुख होते गए और विशेषकर, मध्य-यूरोप के देशों में एक कहीं अधिक भयंकर तानाशाही फैली जिसका विस्फोट दूसरे महायुद्ध में हुआ। दो महायुद्धों के बीच की क्रमशः बिगड़ती जाने वाली आर्थिक स्थिति का ही यह परिणाम था कि यूरोप के साम्राज्यवादी देशों को अपने आधीन देशों के प्रति एक बड़ी सीमा तक समझौते की नीति पर चलना पड़ा। प्रजातन्त्र के नाम पर लड़े जाने वाले प्रथम महायुद्ध में एशियायी देशों में जितने भी स्वाधीनता के आन्दोलन उठे थे, विजय के पहिले गुब्बार में वे सब निर्दयतापूर्वक कुचल दिए गए थे, पर साम्राज्यवादी देशों को अपनी इस नीति को बहुत जल्दी ही छोड़ना पड़ा। हारे हुए देशों में हार के परिणामों से यदि कोई देश न केवल अपने को बचा सका अपितु अपने देश की सीमाओं का विस्तार बढ़ा भी सका तो वह एक एशियायी देश, तुर्की था। मिश्र में बढ़ती हुई राष्ट्रीय भावना के दबाव में ब्रिटेन को लगातार पीछे हटना पड़ा और अन्त में १९३६ में एक बीस साल के समझौते के द्वारा उसे मिश्र को अपने नियंत्रण में रखने की नीति को सदा के लिए छोड़ देने की घोषणा करने पर विवश होना पड़ा। अरब देशों, विशेषकर सीरिया, और फ़िलस्तीन, में भी राष्ट्रीय आन्दोलनों ने जोर पकड़ा सुदूरपूर्व तक में, जो राजनैतिक जागृति की दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ था, सोएकार्नो, जिप्तोहाता और सारोमन्त्री आदि तरुण नेताओं के आगे आने से इंडोनेशिया के स्वातंत्र्य आन्दोलन को एक नई स्फूर्त्ति मिली। हिन्दुस्तान और बर्मा में तो साम्राज्यवाद के बंधन निश्चित रूप से ढीले हो चले थे। चीन में एक राष्ट्रीय सरकार स्थापित हो गई थी और जापान 'एशिया एशिया वालों के लिए' का नारा लेकर पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपना साम्राज्य स्थापित करने में जुट पड़ा था। दूसरे महायुद्ध ने तो यूरोप के नक्शे को ही बिल्कुल बदल दिया। युद्ध के प्रारंभ में संसार की सात प्रथम श्रेणी की शक्तियों में अमरीका और जापान को छोड़ कर पांच का केन्द्र यूरोप में था। महायुद्ध के बाद इनमें से तीन जर्मनी, इटली और फ्रांस, तृतीय श्रेणी की शक्तियों में आ गए थे, ब्रिटेन की स्थिति डांवाडोल हो गई थी और केवल एक रूस ऐसा बचा था जो युद्ध की लपटों में से अधिक सशक्त होकर निकला था, और रूस के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उसकी गिनती एशियायी ताकतों में उतनी ही है जितनी

यूरोपीयों में। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि महायुद्ध का अन्त होते होते यूरोप की राजनीति विशृंखल और अर्थनीति चकनाचूर हो गई थी और उसकी वह सांस्कृतिक प्रभुता, जिसके निर्माण के पीछे तीन हजार वर्ष का लम्बा इतिहास था, खतरे में पड़ गई थी। राजनैतिक गुरुत्व का केन्द्र स्पष्ट रूप से यूरोप से हट कर एशिया में और अटलांटिक से हटकर प्रशान्त महासागर में आ गया था। यह कम महत्त्व की बात नहीं है कि महायुद्ध की समाप्ति के बाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जितनी प्रमुख घटनाएँ हुई हैं वे प्रायः सभी एशियायी देशों में हुई हैं।

एशियायी राजनीति का मध्य बिंदु हिंदुस्तान

एशिया के इन दिनों उठ खड़े होने वाले स्वातन्त्र्य आन्दोलनों में स्वभावतः ही हिन्दुस्तान का एक विशिष्ठ स्थान था। हिन्दुस्तान एशिया के गुलाम देशों में सबसे बड़ा था और साम्राज्यवादी देशों में से सबसे बड़ी शक्ति के आधीन था, इसलिए सहज ही एशिया की राजनीति का वह मध्य-बिन्दु बन गया था। उसके भविष्य के साथ समस्त एशिया का भविष्य सम्बद्ध था। हिन्दुस्तान इन दिनों संघर्ष के स्थान पर समझौते के मार्ग पर चल रहा था, पर दिसम्बर १९४५ में आजाद हिन्द फौज के नेताओं के मुकद्दमे के अवसर पर समस्त हिन्दुस्तानी फ़ौज और जहाजी बेड़े की राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ जिस गहरी सहानुभूति का प्रदर्शन हुआ उसने अंग्रेज शासकों को चौंका दिया। इसके बाद ही फ़र्वरी १९४६ में बम्बई, मद्रास और करांची के जहाजी बेड़ों के नाविकों की खुली बग़ावत ने जो व्यापक रूप ले लिया उसने भी अंग्रेजी सरकार को उसके इस विश्वास से कि जब तक कांग्रेस और मुस्लिम-लीग में मतभेद चला जाता है उसकी अपनी स्थिति सुरक्षित है, हिला दिया और अपनी भारतीय नीति में परिवर्त्तन करने पर मजबूर किया। इस बीच ब्रिटेन की राजनीति में एक क्रान्तिकारी परिवर्त्तन हो गया था। १९४५ के पार्लमेण्ट के चुनावों में, जो ब्रिटेन में दस साल के बाद हो रहे थे, अनुदार दल की करारी हार हुई और ब्रिटेन के इतिहास में पहिली बार मजदूर दल को बिना किसी अन्य दल के सहयोग के और संपूर्णतः अपनी ही जिम्मेदारी पर शासन-तंत्र को अपने ढंग से चलाने का अवसर मिला। हिन्दुस्तान में हम लोगों के हृदय में ब्रिटेन के सभी राजनैतिक दलों के प्रति इतना गहरा अविश्वास जम गया था—हम यह भूले नहीं थे कि दूसरा सविनय अवज्ञा आन्दोलन उस समय कुचला गया था और गांधी जी आदि नेता उस समय जेल में डाले गए थे जब रेम्जे मैक्डोनल्ड

के प्रधान-मंत्रित्व में एक मजदूर सरकार इंग्लैण्ड पर शासन कर रही थी—कि हमने ब्रिटेन से अब भी किसी प्रकार की उदारता की आशा नहीं की। मजदूर दल की एटली सरकार के सामने भी एक महायुद्ध से चकनाचूर हुए आर्थिक ढांचे के पुर्ननिर्माण का आन्तरिक काम इतना बड़ा था कि एक लम्बे अर्से तक उसने अपनी बाह्य-नीति के सम्बन्ध में मौन रहने का निश्चय-सा कर लिया था उन दिनों मजदूर दल के कुछ प्रमुख अधिकारियों ने यह प्रचार करने की पूरी कोशिश की कि मजदूर-दल ने चुनाव में विजय अनुदार-दल से गृह-नीति के सिद्धांतों में मतभेद होने के कारण प्राप्त की है, जब कि अनुदार दल की हार का मुख्य कारण यह था कि ब्रिटेन की जनता अनुदार दल की प्रारंभ में धुरी-राष्ट्रों के प्रति बर्त्ती जाने वाली तुष्टीकरण की नीति और बाद में रूस के साथ बढ़ते हुए वैमनस्य से तंग आ गई थी और उसे यह भी विश्वास हो गया था कि यदि चर्चिल-सरकार अधिक दिनों तक रही तो ब्रिटेन को अमरीका पर सर्वथा निर्भर हो कर रहना पड़ेगा। इस उद्देश्य ने चाहे एक स्पष्ट रूप न लिया हो पर घटनाओं के निकट अध्ययन के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि १९४५ के चुनाव में ब्रिटेन की जनता के द्वारा अनुदार दल के विरुद्ध मजदूर दल के समर्थन का मुख्य कारण यह था कि वह प्रजातन्त्र, स्वाधीनता और रूस से समझौते (शान्ति) के मार्ग पर चलना चाहती थी।

ब्रिटेन में मजदूर दल की विजय और दुविधाएं

बाह्य-नीति में कोई बड़ा परिवर्त्तन न चाहते हुए भी ब्रिटेन की मजदूर-सरकार के लिए यह संभव नहीं था कि वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तेजी से होने वाले परिवर्त्तनों से अपने को मुक्त रख पाती। यह स्पष्ट है कि प्रारंभ में यह अनुदार दल द्वारा निर्धारित नीति को ही हल्के-से परिवर्त्तन के साथ अपना लेना चाहती थी। अनुदार दल रूस से खिंचता जा रहा था और अमरीका की ओर उसकी स्पष्ट रुझान थी। ब्रिटेन के जन-साधारण में रूस की युद्धकालीन वीरता और विजय के प्रति प्रशंसा और आदर की भावना थी और अमरीका के बड़प्पन के से वर्त्ताव के प्रति कुछ उपेक्षा की भावना आती जा रही थी। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जहां ब्रिटेन की जनता में समाजवाद और रूस के साथ भाई चारे की भावना विकसित हो रही थी वहां की अनुदार सरकार जो पूंजीपतियों के इशारे पर चलती थी अपने को अमरीकी पूंजीपतियों से सम्बद्ध करने पर कटिबद्ध दिखाई दे रही थी— और इससे जहां ब्रिटेन की स्वाधीनता को खतरा बढ़ रहा था वहां एक गृह-युद्ध की

आशंका भी जोर पकड़ने लगी थी। ब्रिटेन की जनता का विश्वास था कि मजदूर-सरकार अमरीकी पूंजीपतियों के चंगुल से देश को बचा सकेगी और रूस से भी अपने सम्बन्ध अच्छे बनाने में सफल होगी। इस प्रकार मजदूर सरकार पर अमरीका व रूस के प्रति ब्रिटेन के दृष्टिकोणों में इस सूक्ष्म परिवर्तन को लाने का दायित्व तो आ ही गया था और इस दिशा में उसने कुछ सफल प्रयत्न भी किए, पर अपनी विदेशी नीति का आधार उसने पश्चिमी यूरोप के देशों का एक ऐसा गुट बनाने की, जो एक ओर अमरीका और दूसरी ओर रूस के बढ़ते हुए प्रभाव से अपने को बचा कर रख सके और जिसकी अपनी स्वतंत्र स्थिति हो, उस नीति को ही बनाया जो उसे चर्चिल की अनुदार-सरकार से विरासत में मिली थी।

पश्चिमी यूरोप के देशों का संगठन: साम्राज्य के देशों से निकटतम सम्बंध

यूरोप के देशों का एक संघ बनाने का विचार काफ़ी पुराना है। १९२२ में आस्ट्रिया के काउन्ट कूडेनहोव-केलर्गी ने इस प्रकार का प्रस्ताव रखा था, पर उस समय यूरोप के राजनीतिज्ञों ने उसे विशेष महत्त्व नहीं दिया। १९२९ में फ्रांस के मन्त्री एरिस्टाइड ब्रायंड ने राष्ट्र-संघ के सामने इस प्रकार का एक संघ बनाने की योजना रखी। इस संघ में यूरोप के सभी देशों के शामिल किए जाने का प्रस्ताव था, पर ब्रायड की अस्ली मन्शा रूस को उससे अलहदा रखते हुए फ्रांस के हाथों यूरोप का ऐसा राजनैतिक और आर्थिक नेतृत्व ले लेने की थी जो उसे अमरीका के राजनैतिक और आर्थिक प्रभाव से मुक्त रख सके। इस प्रस्ताव का मुख्य विरोध ब्रिटेन की तत्कालीन मजदूर-सरकार के द्वारा हुआ, यद्यपि जर्मनी और इटली भी उसके प्रति सशंकित दृष्टि से देख रहे थे। हिटलर के शक्ति में आने के बाद इस विचार को फिर से मूर्त्त-रूप मिला, पर अन्तर यह था कि इस बार यूरोप को, जर्मनी के नेतृत्व में संगठित करने का आयोजन था। हिटलर का यह प्रयत्न भी ब्रायंड के प्रयत्न के समान ही असफल रहा। युद्ध के उत्तरार्ध में उसे पुनर्जीवित करने का श्रेय दक्षिण अफ्रीका के जनरल स्मट्स को है। २५ नवम्बर १९४३ को लन्दन के हाउस ऑव कॉमन्स में बोलते हुए उन्होंने कहा कि युद्ध के बाद विश्व की राजनीति पर निश्चित-रूप से तीन बड़े राष्ट्रों का नियंत्रण रहेगा, पर इनमें ब्रिटेन 'गरीब' और 'यूरोप में पंगु' होने के कारण रूस का जो 'यूरोप का दैत्य' बन गया था और अमरीका का, जिसके पास 'धन साधनों और शक्ति की संभावनाएं असीम रूप में हैं' उस समय तक ठीक से मुकाबिला नहीं कर सकेगा जब तक कि उसकी

शक्ति भी उनके बराबर की न हो जाए। ब्रिटेन के लिए अपनी शक्ति को रूस और अमरीका की क़ीमत पर बढ़ाना संभव नहीं रह गया था। उसके लिए स्मट्स ने दो रास्ते सुझाए—एक तो साम्राज्य के देशों से अधिक निकट के सम्बन्ध स्थापित करना था और दूसरे पश्चिमी यूरोप के छोटे राष्ट्रों को लेकर 'एक बड़ा यूरोपीय राज्य' बनाना था। इस नीति को ब्रिटेन की अनुदार दल की सरकार का पूरा समर्थन मिला, यह विदेश-मन्त्री एन्थनी ईडन के उस वक्तव्य से स्पष्ट हो जाता है जो उन्होंने २८ सितम्बर १६४४ को हाउस ऑव कॉमन्स में दिया। उन्होंने कहा "यदि हम साम्राज्य के सब देशों और पश्चिमी यूरोप के अपने निकट पड़ोसियों की ओर से बोल सकें तो दूसरी बड़ी ताकतों के साथ हम ज्यादा अधिकार के साथ बात, कर सकते हैं। मैं समझता हूँ कि यह उस व्यवस्था के सम्बन्ध में उचित कल्पना है जिसका हम निर्माण करन चाहते हैं और सच तो यह है, इसी बड़े काम में हम इस समय लगे हुए हैं।" जैसा कि ब्रेल्सफ़ोर्ड ने इंडिया कौंसिल ऑव वर्ल्ड अफ़ेअर्स की बम्बई-शाखा के २२ जनवरी १६४६ के अपने एक भाषण में कहा, "यह कोई छिपी हुई बात नहीं है कि पुराने मिश्रित मन्त्रि मंडल के शासन-काल में ब्रिटेन की नीति यह रही कि वह अटलांटिक के किनारे के सभी पश्चिमी राज्यों—स्कैंडिनेविया, हॉलैण्ड और बेल्जियम मुख्यत: और सबसे पहिले फ्रांस, इटली और फ्रेंको के पदच्युत हो जाने पर, स्पेन—के साथ एक निकट का संघ बना लेने का प्रयत्न करे।"

यह निश्चित है कि इस आयोजन को मजदूर दल के प्रमुख नेताओं का समर्थन भी प्राप्त था। मजदूर-दल के अध्यक्ष, हैरल्ड लास्की ने अगस्त १६४५ में एक फ्रांसीसी साप्ताहिक को दिए हुए एक वक्तव्य में कहा, "ब्रिटेन, फ्रांस, बैल्जियम, हॉलैण्ड, नार्वे और डेन्मार्क में एक आर्थिक संघ की योजना की ओर हमारी पार्टी का दृष्टिकोण बिलकुल निश्चित है। हम सभी क्षेत्रों में निकटतम सहयोग का समर्थन करते हैं।" अन्य प्रमुख मजदूर नेताओं ने भी समय समय पर इसी प्रकार के विचारों को प्रकट किया। पश्चिमी यूरोप के देशों का एक गुट बनाने की कोई निश्चित योजना मजदूर सरकार ने नहीं रखी, पर उन दिनों जो बहुत सी योजनाएँ बन रहीं थी और प्रचलित थीं, उनमें इन देशों के सभी साम्राज्य-वादी साधनों को संगठित करने का निश्चित आयोजन था। उदाहरण के लिए हम ब्रिटेन के प्रभावशाली पत्र "इकॉनॉमिस्ट" में जून १६४५ में प्रकाशित योजना को (जो बाद में 'नेशनल पीस कौंसिल' द्वारा ज्यों की त्यों अपना ली गई) लें तो हम पाते हैं कि उसमें ब्रिटेन, फ्रांस, हॉलैण्ड और बेल्जियम, और संभवतः

स्कैंडिनेविया के भाग 'लड़ाई के बाद सुरक्षा की दृष्टि से बनने वाली योजनाओं में सामूहिक दृष्टि से सबसे अधिक 'महत्त्वपूर्ण' बताया है। इसमें यह भी कहा गया है कि "यदि पश्चिमी यूरोप के देश अपने आश्रित देशों के साथ सहयोग करें तो उनकी सीमाएँ पृथ्वी के चारों ओर फैली होंगी और प्रत्येक महाद्वीप और प्रत्येक समुद्र में उनके नियंत्रण में ऐसे हवाई और समुद्री अड्डे होंगे जहां से वे समस्त विश्व की शान्ति की रक्षा कर सकेंगे।" इस प्रकार, पश्चिमी यूरोप की गुटबन्दी में इन देशों के साम्राज्य भी आ जाते हैं। मजदूर दल के द्वारा शासन अपने हाथ में ले लेने के बाद इस प्रकार की किसी योजना का सरकारी तौर से कभी समर्थन नहीं किया गया, पर जिस तत्परता से मजदूर सरकार ने दक्षिण-पूर्वी एशिया में फ्रांस और हॉलैण्ड के लड़खड़ाते हुए साम्राज्यों की रक्षा के लिए अपनी सैनिक सहायता भेजी उससे यह स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विशेषकर रूस और अमरीका की प्रतिद्वन्द्विता में, अपनी शक्ति और प्रतिष्ठा बनाए रखने की दृष्टि से इन देशों का प्रारम्भ में नैतिक और बाद में आर्थिक और सैनिक, समर्थन प्राप्त करने के लिए उसे इन देशों के पुराने सड़े-गले साम्राज्यवादी ढांचे को भी सुरक्षित रखने में विशेष आपत्ति नहीं थी।

इस दृष्टि से, पश्चिमी यूरोप के देशों से निकट के संपर्क स्थापित कर लेनेके साथ साथ साम्राज्य की आन्तरिक कड़ियों को मजबूत बनाना भी आवश्यक था। हिन्दुस्तान की राजनैतिक गुत्थी को सुलझाने के प्रयत्नों को हमें इसी अन्तर्राष्ट्रीय पृष्ठ भूमि पर देखना होगा। १४ जुलाई १९४५ को शिमला-कांफ्रेंस की असफलता की घोषणा करते हुए लॉर्ड वेवल ने कहा, "आप में से कोई भी इस असफलता से निराश न हों। हम अन्त में अपनी बाधाओं पर अवश्य ही विजय प्राप्त कर लेंगे। हिन्दुस्तान की भावी महानता असंदिग्ध है।" २१ अगस्त को वायसराय ने आने वाले जाड़ों में केन्द्रीय व प्रान्तीय धारा-सभाओं के चुनावों की घोषणा की। अगस्त के अन्त में वह ब्रिटिश मन्त्रि-मंडल से फिर बातचीत करने के लिए इंग्लैण्ड गए। वहां से लौट कर १९ सितम्बर को अपने ब्रॉडकास्ट भाषण में उन्होंने घोषणा की कि चुनाव के फ़ौरन बाद ही वह नई प्रान्तीय धारासभाओं के सदस्यों से इस बात के सम्बन्ध में चर्चा करेंगे कि विधान-निर्मातृ सभा के संगठन का पहिले वाला आधार ठीक है अथवा किसी अन्य आधार को चुनना उचित होगा। देशी राज्यों के प्रतिनिधियों से वह इस सम्बन्ध में चर्चा करेंगे कि देश की भावी व्यवस्था में वह अपना भाग किस प्रकार अच्छे से अच्छे ढंग से अदा कर सकेंगे, और इसके साथ ही अंग्रेज़ी सरकार ब्रिटेन और भारत के बीच होने वाली एक स्थायी संधि के विषय के सम्बन्ध में भी विचार करेगी। इसके साथ ही, चुनाव के बाद, उन्होंने अपनी

कार्यकारिणी के पुनःगठन का एक और प्रयत्न करने का अपना निश्चय भी प्रगट किया। दिसम्बर के प्रारम्भ में प्रधान-मन्त्री एटली ने भारतीय परिस्थिति का निकट से अध्ययन करने के लिए विविध राजनैतिक दलों के सदस्यों का एक प्रतिनिधि शिष्ट मंडल हिन्दुस्तान भेजने की घोषणा की। यह शिष्ट मंडल लगभग तीन महीने हिन्दुस्तान में रहा और देश के विभिन्न राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं से व्यक्तिगत संपर्कों द्वारा उसने एक ओर तो भारतीय परिस्थिति का अध्ययन करने का प्रयत्न किया और दूसरी ओर इंग्लेण्ड के सभी राजनैतिक दलों की सद्भावना उन तक पहुँचाई। इन्हीं दिनों चुनाव के परिणाम भी सामने आये जिनसे यह स्पष्ट था कि यद्यपि साधारण सीटों पर कांग्रेस के सामने कोई दूसरा दल टिक नहीं सका था, पर मुस्लिम सीटों पर मुस्लिम लीग का उतना ही निर्विवाद एकाधिपत्य था। केन्द्रीय धारा सभा के चुनाव में साधारण सीटों के लिए डाली गई वोटों की ९१ प्रतिशत कांग्रेस के पक्ष में थीं और मुस्लिम सीटों की वोटों का ८६ प्रतिशत लीग के। प्रान्तीय चुनावों में कांग्रेस को कुल वोटों की ५५.५ प्रतिशत और लीग को मुस्लिम वोटों की ७४.३ प्रतिशत मिलीं। मुस्लिम-बहुसंख्यक प्रान्तों में, पंजाब और बंगाल में लीग को अभूतपूर्व सफलता मिली पर सीमा-प्रान्त में कांग्रेस जीती, यद्यपि लीग का समर्थन भी बहुत बढ़ गया था, और सिंध में भी मुस्लिम-लीग का बहुमत बहुत स्पष्ट नहीं था। पर पिछले दस वर्षों में लीग ने मुसलमानों के हृदयों पर कितना अधिकार जमा लिया था, यह इस चुनाव से स्पष्ट था।

मुस्लिम लीग अपने पाकिस्तान के लक्ष्य के सम्बन्ध में किसी प्रकार का समझौता करने के लिए तैयार नहीं थी, पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की आवश्यकताओं को देखते हुए हिन्दुस्तान की एकता का संरक्षण अनिवार्य हो गया था। जापान के साम्राज्य के नष्ट-भ्रष्ट हो जाने के बाद ब्रिटेन और अमरीका दोनों के लिए यह आवश्यक था कि वह एशिया के सभी देशों, विशेषकर मध्यपूर्व, हिन्दुस्तान और चीन को रूस के प्रभाव से मुक्त रखने का प्रयत्न करे। भौगोलिक दृष्टि से हिन्दुस्तान एशिया के बीचों बीच स्थित है। उसका प्रभाव सहज ही चारों ओर फैल सकता है। अपनी उत्तर-पश्चिमी सीमा से वह मध्य एशिया को नियन्त्रित कर सकता है। बर्मा से उसका प्रभाव दक्षिण चीन, स्याम और हिन्दचीन तक फैल सकता है। अदन से सिंगापुर तक सारा हिन्द महासागर सम्पूर्णतः उसके नियंत्रण में है। एशिया की सुरक्षा की दृष्टि से हिन्दुस्तान को सुदृढ़ बनाना आवश्यक था। हिन्दुस्तान में इन दिनों एकता की भावना जोर पकड़ भी रही थी। सितम्बर १९४५ में, मौ० आज़ाद के आग्रह पर, कांग्रेस ने सांप्रदायिक समस्या पर एक बार फिर अपने विचारों का स्पष्टीकरण किया। उसने एक

बार फिर यह स्वीकार करते हुए कि किसी भी प्रादेशिक इकाई की संगठित जनता को उसकी इच्छा के विरुद्ध भारतीय संघ में शामिल करने का प्रयत्न नहीं किया जाएगा, देश की एकता की रक्षा पर ज़ोर दिया। सरदार पटेल ने इस सम्बन्ध में कहा, "आत्म-निर्णय का अधिकार कांग्रेस द्वारा मान लिया गया है। ८ अगस्त १६४२ का प्रस्ताव हमारी अन्तिम सीमा है।......वह प्रान्तों व अल्प-संख्यकों की स्वाधीनता की पूरी रक्षा करता है। इस सम्बन्ध में हम लाहौर कांग्रेस द्वारा सिख सम्प्रदाय को दिए गए वायदों को भी नहीं भूल सकते।......हम धार्मिक आधार पर किसी ऐसे बंटवारे का समर्थन नहीं करेंगे जिसमें मुसलमानों को हिन्दुओं से अलहदा राष्ट्र माना गया हो।" आज़ाद हिन्द फौज के मुक़दमे ने भी हिन्दु मुस्लिम एकता की भावना को दृढ़ बनाया और उसे पूरी अभिव्यक्ति फर्वरी १६४६ के नाविकों के विद्रोह में मिली। इस विद्रोह के बीच १६ फ़र्वरी को ब्रिटिश केबिनेट के तीन प्रमुख मन्त्रियों के एक मिशन के हिन्दुस्तान भेजे जाने की घोषणा की गई, और २३ मार्च को यह मिशन हिन्दुस्तान पहुँचा। यह प्रमाणित करने के लिए कि अंग्रेज़ी सरकार सच्चे हृदय से भारतीयों के हाथों में शासन सत्ता सौंपने के लिए तैयार है, और अल्पसंख्यकों के प्रश्न को वह उसके मार्ग में हर्गिज़ बाधक नहीं होने देगी, १५ मार्च १६४६ को प्रधान मन्त्री एटली ने एक बड़ी महत्वपूर्ण घोषणा की। उन्होंने हा, "हिन्दुस्तान को स्वयं इस बात का फ़ैसला करना है कि उसका भावी शासन-विधान कैसा होगा और संसार में उसकी स्थिति क्या होगी। मैं आशा करता हूं कि हिन्दुस्तान अंग्रेज़ी कॉमनवेल्थ के अन्तर्गत रहना पसन्द करेगा......परन्तु यदि वह आज़ाद होना चाहे और हमारी राय में उसे ऐसा करने का पूरा अधिकार है, तो यह हमारा कर्त्तव्य होगा कि हम सत्ता के परिवर्तन की इस क्रिया को जितना सुगम और सरल बनाया जा सके बनाने में सहायता दें।" अल्प-संख्यकों के सम्बन्ध में उन्होंने कहा, "हम अल्प-संख्यक वर्ग के अधिकारों के प्रति सतर्क हैं और यह जानते हैं कि उन्हें भय से मुक्त जीवन बिताने का अधिकार होना चाहिए, परन्तु साथ ही हम किसी अल्प-संख्यक वर्ग को यह इजाज़त भी नहीं दे सकते कि वह बहुसंख्यक वर्ग की प्रगति को रोक सके।" एटली ने अपने भाषण में एशिया के राष्ट्रीय-आन्दोलनों के सम्बन्ध में अपनी गहरी दिलचस्पी प्रकट की "शान्ति-काल में जो लहर धीरे-धीरे चलती है" उन्होंने कहा, "युद्ध-काल में वह वेगवती हो जाती है, युद्ध के बाद तो वह लहर बांध तोड़ दिया करती है। मुझे इसमें रत्ती भर भी सन्देह नहीं कि इस समय न केवल भारत अपितु समूचे एशिया में राष्ट्रीयता की लहर बड़ी तेज़ी के साथ बह रही है।" उन्होंने यह आशा भी प्रकट की कि

परिवर्तन की इन घड़ियों में हिन्दुस्तान 'एशिया का प्रकाश स्तम्भ' सिद्ध होगा।

केबिनेट मिशन

योजना

पाकिस्तान के मद्धिम पड़ते हुए स्वर को तेज़ करने के लिए, और केबिनेट मिशन के सदस्यों को उसकी अनिवार्यता बताने के लिए अप्रैल १९४६ में, मि. जिन्ना के नेतृत्व में, दिल्ली में एक मुस्लिम कन्वेन्शन बुलाया गया। इस कन्वेन्शन में हिन्दुओं और उनके सामाजिक और धार्मिक जीवन की खुले आम भर्त्सना की गई, और मुसलमानों को पाकिस्तान के लिए अपना सब कुछ कुर्बान कर देने के लिए कहा गया। सुहरावर्दी ने कांग्रेस के नेताओं को "हत्यारों का गिरोह" कहा और पाकिस्तान के सम्बन्ध में कहा, "यह हमारी सबसे ताज़ी मांग है, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि यह हमारी अन्तिम मांग है।" फ़ीरोज़खां नून ने घोषणा की कि यदि अंग्रेज़ मुसलमानों को पाकिस्तान दिलाने में सहायता नहीं पहुँचाएँगे तो वह रूस की मदद मांगेंगे, और हिन्दुओं को चेतावनी दी कि चंगेज़ खां के लोमहर्षक अत्याचारों को वे न भूलें। कांग्रेस, मुस्लिम-लीग व अन्य दलों के प्रमुख नेताओं से विस्तृत बातचीत के बाद और उनके आपस में समझौता न कर सकने की स्थिति में, केबिनट मिशन ने १६ मई को, भारतीय राजनैतिक गुत्थी को स्थायी रूप से सुलझाने के लिए अपना ऐतिहासिक निर्णय दिया। मुस्लिम-कन्वेन्शन की धमकियों से विचलित न होते हुए, केबिनट मिशन ने पाकिस्तान की मांग को अव्यावहारिक बताया और स्पष्ट शब्दों में अस्वीकार कर दिया। मुस्लिम-लीग द्वारा पंजाब, बंगाल और आसाम की मांग स्वीकार करने का अर्थ होता, इन प्रान्तों के उन जिलों को पाकिस्तान में शामिल करना जिसमें ग़ैर-मुस्लिमों का बहुमत था, और यदि पंजाब से अम्बाला और जालंधर, आसाम से सिलहट को छोड़ कर सब ज़िले और बगाल से कलकत्ता सहित पश्चिमी बंगाल को निकाल दिया जाता तो इसका अर्थ होता एक ओर तो उन प्रांतों का विभाजन जिन्होंने एक सामान्य भाषा और संस्कृति का विकास कर लिया था, और दूसरी ओर सिख प्रदेशों का विभाजन, "इन दलीलों के जोरदार होने के अलावा, कई महत्त्वपूर्ण शासन-सम्बन्धी, आर्थिक और सैनिक समस्याएँ भी हैं जिन पर हमें ध्यान देना है। हिन्दुस्तान के यातायात के समस्त साधन और डाक और तार के विभागों की व्यवस्था देश की एकता के आधार पर हुई है। उनके विभाजन का देश के दोनों भागों पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। रक्षा-विभाग का अविभाजित रहना तो और भी आवश्यक है। हिन्दुस्तान की फ़ौजी शक्ति सारे देश के सामूहिक

बचाव की दृष्टि से संगठित की गई है। उसे दो हिस्सों में बाँट देने का अर्थ होगा भारतीय सेना की प्राचीन परम्पराओं और ऊँचे दर्जे की योग्यता पर एक घातक प्रहार करना और उसके परिणाम स्वरूप अधिक से अधिक गंभीर खतरे आ खड़े होंगे। भारतीय नौसेना और भारतीय हवाई शक्ति का प्रभाव बहुत कम हो जायगा। प्रस्तावित पाकिस्तान के दो भागों में हिन्दुस्तान के दो सबसे अधिक आक्रमण के लिए खुली हुई सीमाएँ होंगी और उनके उचित बचाव के लिए पाकिस्तान का क्षेत्र अपर्याप्त होगा। एक दूसरी महत्त्वपूर्ण और विचारणीय बात यह है कि इससे एक बँटे हुए ब्रिटिश भारत के साथ अपने सम्बन्ध स्थापित करने की देशी राज्यों की कठिनाइयां बढ़ जायँगी। अन्त में, यह एक भौगोलिक तथ्य है कि प्रस्तावित पाकिस्तान राज्य के दो भाग एक दूसरे से लगभग सात सौ मील की दूरी पर होंगे और युद्ध व शान्ति दोनों में उनके बाद का यातायात हिन्दुस्तान की सद्भावना पर निर्भर होगा।" पाकिस्तान की योजना का इससे अधिक आलोचनात्मक विश्लेषण नहीं हो सकता था जो केबिनट मिशन ने दिया।

मुसलमानों की संस्कृति व उनके राजनैतिक और सामाजिक जीवन को संयुक्त भारत में हिन्दुओं के प्रभाव से बचाने के लिए प्रांतीय शासन को विदेशी मामले, रक्षा और यातायात के उन थोड़े से अधिकारों को छोड़ कर जो केन्द्रीय सरकार को सौंपे जाने वाले थे, शेष सभी अधिकार दिये जाने की उसने घोषणा की। केबिनट मिशन योजना का आधार इस प्रकार था—

१ एक भारतीय संघ होगा जिसमें ब्रिटिश भारत और रियासतें दोनों शामिल होंगे, और उसके अन्तर्गत निम्न विषय होंगे : विदेशी मामले, रक्षा और यातायात; और उसे इन विषयों के सम्बन्धमें आर्थिक साधन जुटाने की आवश्यक शक्ति होगी।

२ संघ की अपनी कार्यकारिणी व धारा-सभा होगी जिसमें ब्रिटिश भारत व रियासतों के प्रतिनिधि होंगे। धारा सभा में किसी भी ऐसे प्रश्न पर जो किसी बड़ी साम्प्रदायिक समस्या से संबंध रखता होगा, तभी निर्णय हो सकेगा जब कि दोनों प्रमुख संप्रदायों के प्रतिनिधियों में से प्रत्येक के जो सदस्य मौजूद हैं और मत दे रहे हैं, उनका बहुमत और सभी सदस्यों का जो मौजूद हैं और मत दे रहे हैं, बहुमत—उसका समर्थन करे।

३ संघ के विषयों के अलावा सभी विषय और शेष समस्त बची हुई सत्ता प्रांतों के हाथ में रहेगी।

४ वे सब विषय और अधिकार रियासतों के हाथ में रहेंगे जिन्हें उन्होंने संघ को सौंप नहीं दिया है।

५ प्रान्तों को यह अधिकार होगा कि वह गुट बना लें जिनकी अपनी कार्यकारिणी और धारा सभाएं हों और प्रत्येक गुट को यह निर्णय करने का अधिकार होगा कि वह किन प्रांतीय विषयों पर मिल जुल कर निर्णय करे।

६ संघ और गुटों के विधानों में ऐसी व्यवस्था रखना आवश्यक होगा जिसके अनुसार कोई भी प्रांत अपनी धारा सभा के बहुमत से दस वर्ष के प्रारंभिक समय के बाद, और बाद में प्रत्येक दस वर्ष के बाद, विधान की धाराओं के सम्बन्ध में पुनर्विचार की मांग कर सके।

केन्द्रीय प्रांतों व गुटों के लिए एक स्थाई विधान बनाने के लिए एक विधान-निर्मातृ-सभा की व्यवस्था की गई जिसमें प्रत्येक प्रांत से उसकी आबादी के अनुपात में, दस लाख पीछे एक के हिसाब से, नई धारा-सभाओं द्वारा सदस्यों के चुने जाने का आयोजन था: प्रत्येक प्रान्त में आबादी के हिसाब से ही विभिन्न संप्रदायों में सीटों का विभाजन रखा गया था: इस सिद्धान्त से ब्रिटिश भारत से २९२ व रियासतों से ९३ सदस्य लिए जाने का अनुमान था। विधान-निर्मातृ सभा के आवश्यक अधिकारियों के चुनाव व नागरिकों, अल्पसंख्यकों आदि के अधिकारों का निर्णय करने के लिए कमेटी आदि बना देने के बाद तीन गुटों में बंट जाने का प्रस्ताव था, जहां वह प्रांतों के लिए विधान बनाते। रियासत के प्रतिनिधियों के चुनाव का ढंग रियासतों से बात चीत करने के बाद और उनकी स्वीकृति से ही निश्चित किया जा सकता था। सत्ता के अन्तिम रूप से भारतीयों के हाथ में सौंपे जाने के पहिले विधान-निर्मातृ सभा और अंग्रेजी सरकार में एक संधि पर दस्तखत किये जाने की शर्त भी थी। विधान-निर्माण के पहिले ही एक ऐसी अन्तरिम सरकार बना लेने पर भी ज़ोर दिया गया था, जिसे सब राजनैतिक दलों का सहयोग प्राप्त हो और जो देश की बड़ी बड़ी समस्याओं को प्रभाव पूर्ण ढंग से सुलझा सके और महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में देश के उचित प्रतिनिधित्व की व्यवस्था कर सके। योजना के अन्त में कहा गया था, "हम आशा करते हैं कि नया स्वतन्त्र भारत अंग्रेजी कॉमनवेल्थ का सदस्य बनना पसंद करेगा। हम कम से कम यह आशा तो करते ही हैं कि आप हमारी जनता से निकट और मित्रतापूर्ण संपर्क रखेंगे। परन्तु ये ऐसे प्रश्न हैं जिन पर आपको स्वयं स्वतन्त्रता के साथ अपना निर्णय बनाना है। आपका निर्णय जो भी हो, हम आपके साथ उस दिन की उत्सुकता-पूर्वक प्रतीक्षा कर रहे हैं जब आप संसार के महान् राष्ट्रों में अधिक से अधिक समृद्धि प्राप्त करें और आपका भविष्य भूत-काल से भी अधिक शानदार हो।"

केबिनट-मिशन-योजना में कुछ स्पष्ट बुराइयां थीं। उसमें देश के केन्द्रीय

शासन को काफी सशक्त नहीं बनाया गया था, और उसे आर्थिक पुनर्निर्माण आदि के सम्बन्ध में इतने अल्प-तम अधिकार भी नहीं दिए गए थे कि वह देश के आर्थिक साधनों का बचाव की दृष्टि से भी समुचित विकास कर सके। दिन प्रतिदिन के शासन के मार्ग से कुछ पुरानी गुत्थियों को हटा दिया गया था पर उनके स्थान पर कई नई उलझनें खड़ी हो जाने की सम्भावना थी, और प्रत्येक उलझन के अवसर पर विदेशी सत्ता का मुंह जोहना टाला नहीं जा सकता था। पूर्ण स्वाधीनता के प्रश्न को निकट वर्त्तमान में नहीं सुलझाया गया था, भविष्य के लिए स्थगित कर दिया गया था। विधान-निर्मातृ-सभा का चुनाव न तो एक व्यापक मताधिकार पर अवलम्बित था और न सीधा जनता के द्वारा, परन्तु अप्रत्यक्ष, एक सीमित मताधिकार और एक विभिन्न वातावरण में चुनी गई प्रान्तीय धारा-सभाओं, और साम्प्रदायिक आधार पर था। देशी राज्यों के सदस्यों की मौजूदगी से उसका जन-तन्त्रीय स्वरूप बिगाड़ दिया गया था। देशी राज्यों में जनतन्त्र की शक्तियों को सुदृढ़ बनाने की दिशा में कोई प्रयत्न नहीं किया गया था, इसके विपरीत अंग्रेजी सत्ता के भारत से हट जाने पर उन्हें स्वतन्त्र और सार्वभौम घोषित कर दिया गया था। इस प्रकार देश के चार भागों, ब्रिटिश भारत के तीन गुटों व देशी रियासतों, में बँट जाने का भय था और इस विभाजन के लिए जनता की इच्छा का जानना बिल्कुल भी आवश्यक नहीं समझा गया था। पर इन सब बातों के होते हुए भी केबिनट मिशन योजना हमारी आजादी के मार्ग पर निश्चित रूप से एक महत्त्व-पूर्ण कदम था, और उसने हमें अपने अन्तिम लक्ष्य के बहुत नजदीक ला दिया था। ब्रिटेन ने पहिली बार हमारे पूर्ण स्वाधीनता के अधिकारों को न केवल मान ही लिया था उसे अमली रूप देने का भी एक सच्चा प्रयत्न किया था। हमें यह अधिकार सौंप दिया गया था कि हम बिना किसी बाहरी सत्ता के हस्तक्षेप के अपना विधान अपने आप बना लें। आजादी और आत्म-निर्णय का हमारा यह अधिकार ब्रिटेन बिना किसी शर्त के मान रहा था। अल्प-संख्यकों के हाथ में हमारी प्रगति को रोके रखने का जो बड़ा अधिकार उसने अब तक दे रखा था वह भी अब हटा लिया गया था। केन्द्रीय शासन अशक्त होते हुए भी कूपलैण्ड योजना के 'एजेंसी सेन्टर' के समान अशक्त नहीं था। सभी अत्यन्त आवश्यक विभाग उसे सौंप दिए गए थे, और उनके सम्बन्ध में कर लगाने का उसे अधिकार दिया गया था। ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनवरत दबाव में उसका अधिक व्यापक और सशक्त होते जाना अनिवार्य था, और समस्त विदेशी मामले उसके हाथ में देकर हिन्दुस्तान की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को अक्षुण्ण रखा गया था। विधान-निर्मातृ-सभा सैद्धान्तिक दृष्टि से व्यापक मताधिकार पर अवलंबित

न होते हुए भी देश की प्रमुख विचार-धाराओं का उचित अनुपात में प्रतिनिधित्व करने की क्षमता रखती थी, इसमें सन्देह नहीं था। देशी नरेशों की सत्ता के सार्वभौम माने जाने की घोषणा थी, पर उनके राज्यों की भौगोलिक परिस्थिति उन्हें भारतीय संघ से किसी भी दशा में अलहदा रहने की इजाज़त नहीं दे सकती थी और भारतीय संघ से एक वार किसी न किसी प्रकार के सम्बन्ध वन जाने पर उनका तेज़ी से जन-तन्त्रात्मक वन जाना अनिवार्य था। यह निश्चित था कि शासन की दृष्टि से कई भागों में बट जाते हुए भी देश की एकता को सुदृढ़ रखा गया था। बँटवारे के आन्दोलन को अंग्रेज़ी सरकार की ओर से समय समय पर जो प्रोत्साहन दिया गया था, उसे देखते हुए सचमुच यह एक वड़ी महत्त्वपूर्ण बात थी। हम यह महसूस कर रहे थे कि अंग्रेज़ों ने बहुत सी ठोकरें खाने के बाद हमारे सामने मैत्री और सद्भावना का हाथ वढ़ाया है और वैसे ही खुले दिल से हमने अपनी सद्भावनाएं भी उन्हें पेश कीं। गांधी जी ने अपनी प्रार्थना-सभा में कहा कि केविनट मिशन योजना में हमारे देश को एक शोक और दुख: से मुक्त एक सोनहले भविष्य की ओर ले जाने वाले वीज मौजूद थे। कांग्रेस ने कई वातों के सम्वन्ध में स्पष्टीकरण चाहा और अन्त में योजना को अपनी स्वीकृति दे दी और २ सितम्बर १९४६ को पं. जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में एक राष्ट्रीय अन्तरिम सरकार की स्थापना हुई। राष्ट्र की पतवार अपने हाथ में लेते हुए जवाहरलाल नेहरू ने एक ब्रॉडकास्ट भाषण में कहा—"हिन्दुस्तान अपनी यात्रा पर चल पड़ा है और पुराना युग समाप्त हो रहा है। एक लंवे समय तक हम घटनाओं के निष्क्रिय दर्शक बने रहे, दूसरों के हाथ में खिलौने के समान। आज हमारी जनता के हाथ में सक्रिय शक्ति आई है और हम अपनी इच्छा से इतिहास का निर्माण करेंगे······आज हम सफलता, स्वाधीनता और चालीस करोड़ भारतीयों की स्वतंत्रता और समृद्धि की ओर आगे बढ़ रहे हैं।" अंग्रेज़ों और भारतीयों के लंवे और दु:ख-पूर्ण सम्पर्क का, ऐसा जान पड़ रहा था, एक मधुर और सुखद अन्त हो रहा है, पर साधारण दर्शक के लिए यह जानना कठिन था कि जव एक ओर सूत्रधार नाटक के अन्तिम पर्दे को वड़ी सावधानी से गिराने के मंसूवे वांध रहा था, दूसरी ओर नेपथ्य से आग की छोटी छोटी चिनगारियां फिक कर सारे नाटक-गृह को ही भस्म करने का आयोजन कर रहीं थीं।

: ५ :

ब्रिटेन का पतन : एशिया का नव निर्माण

भारतीय राजनीति की दृष्टि से बीसवीं शताब्दी की दो सबसे प्रमुख घटनाएं अंग्रेजी साम्राज्यवाद का पतन व एशियायी देशों का सांस्कृतिक, आर्थिक व राजनैतिक अभ्युदय है। इन दोनों घटनाओं का आपसी सम्बन्ध भी बहुत गहरा रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक एशिया के समुद्रों पर ब्रिटेन का प्रभुत्व था। इसका मुख्य कारण औद्योगिक क्रांति का नेतृत्व ब्रिटेन के हाथों में होना था। इसके अतिरिक्त लड़ाई का सामान तैयार करने के मुख्य साधन, लोहा व कोयला, भी ब्रिटेन में ही सबसे अधिक पाया जाता था। परन्तु, बीसवीं शताब्दी का आरंभ होते होते जर्मनी और अमरीका ब्रिटेन के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में सामने आ गए थे, और एशिया में जापान अपनी शक्ति के विस्तार में जुट पड़ा था। ब्रिटेन की अन्तर्राष्ट्रीय कठिनाइयों के बढ़ने का परिणाम यह हुआ कि एशिया पर से उसके साम्राज्यवाद का शिकंजा ढीला पड़ चला। फ्रांस और हॉलैण्ड जैसे छोटे छोटे योरोपीय देशों के साम्राज्य भी ब्रिटेन का सहारा लेकर ही टिके हुए थे। इनके अधीनस्थ उपनिवेशों में भी स्वाधीनता के आन्दोलन जोर पकड़ने लगे। दो महायुद्धों ने ब्रिटेन और पश्चिमी यूरोप के साम्राज्यवादी देशों की शक्ति को बिल्कुल ही खोखला बना दिया। ज्यों ज्यों इन देशों की शक्ति का ह्रास होने लगा एशिया के राजनैतिक आन्दोलन को कुचलना कठिन होता गया। उन्हें कुचलने के प्रत्येक प्रयत्न के बाद साम्राज्यवादी ताक़तों को समझौते के मार्ग पर चलने के लिए मजबूर होना पड़ा। आज एशिया का एक बड़ा भाग साम्राज्यवाद के चंगुल से मुक्त कर लिया गया है। हिन्दुस्तान, बर्मा, लंका में आज़ादी के झंडे लहरा रहे हैं, हिन्देशिया, हिन्द-चीन आदि में भी पूर्ण स्वाधीनता का प्रभात दूर नहीं है। आज समस्त एशिया नव-निर्माण की पुनीत लहरों में स्नान कर रहा है। पर विश्व की राजनीति में यह जो भारी उथल पुथल हो रही है, उसने एशिया, और विशेष कर हिन्दुस्तान, की जिम्मेदारी को भी बहुत अधिक बढ़ा दिया है।

ब्रिटेन की शक्ति का रहस्य

ब्रिटेन की अर्थनीति का विकास उन्नीसवीं शताब्दी में मुक्त व्यापार के सिद्धान्त के आधार पर हुआ था। उसका अपना प्राकृतिक उत्पादन बहुत कम है। ज़मीन अधिकतर पहाड़ी होने के कारण इंग्लैण्ड में इतनी खेती होना कभी सम्भव नहीं रहा कि वहाँ के लोगों की खाने पीने की आवश्यकताएँ पूरी हो सकें। अन्य कच्चे पदार्थ, तेल, कपास आदि भी इंग्लैण्ड में नहीं के बराबर होते हैं, पर संसार के कोने कोने में साम्राज्य फैला होने के कारण ब्रिटेन आसानी से अपनी खाने पीने, की चीजें बाहर से लाने की स्थिति में था और अधिकांश देशों में खुला व्यापार होने के कारण वह उस कच्चे माल को अपने बहुत आगे बढ़े हुए औद्योगिक साधनों के द्वारा तैयार माल में परिवर्त्तित करके दुनियां के कोने कोने में पहुँचा सकता था। इंग्लैण्ड की आर्थिक समृद्धि, व उस पर निर्भर उसकी अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति, का यही रहस्य था। दूसरे देशों, विशेषकर अधीनस्थ देशों, में उसकी अपार पूंजी लगी हुई थी। इन पर राजनैतिक प्रभुत्व होने के कारण यह पूंजी भी लगातार बढ़ती जा रही थी। इन देशों के सभी प्रमुख स्थानों पर नियुक्त अंग्रेज़ अधिकारियों की सेवा के फलस्वरूप भी ब्रिटेन को बहुत काफ़ी रुपया मिल रहा था। इस 'दृश्य' व 'अदृश्य' पूंजी के आधार पर उसके लिए बहुत बड़ी तादाद में कच्चा माल खरीद लेना आसान था चूंकि संसार के एक बड़े भाग पर उसका राजनैतिक प्रभुत्व था, अपने तैयार किए हुए माल को मुँह मांगे दामों पर बेचने की भी उसे पूरी सुविधा थी। खुले व्यापार का यह सिद्धान्त जब तक माना जाता रहा, और ब्रिटेन को किसी बड़े युद्ध में उलझना नहीं पड़ा, उसका आर्थिक वैभव दिनदूना और रात चौगुना बढ़ता रहा और अंग्रेज़ों के जीवन का स्तर, दिन पर दिन अधिक से अधिक ऊँचा उठता चला गया।

परिस्थितियों में परिवर्त्तन

प्रथम महायुद्ध ने ब्रिटेन की इस अर्थनीति को एक बड़ा धक्का पहुँचाया। आयात के अनुपात में उसका निर्यात तो १९१४ के पहिले से ही गिर चला था। अपनी इस कमी को वह विदेशों में लगी हुई पूंजी पर होने वाली आय से पूरी कर रहा था। दो महायुद्धों के बीच के वर्षों में ब्रिटेन को दो बड़े आर्थिक संकटों में से गुज़रना पड़ा और जब तक वह उनके प्रभावों से मुक्त हो पाता

दूसरी बड़ी लड़ाई उसके सिर पर आ पड़ी। ब्रिटेन ने उसे टालने का बहुत अधिक प्रयत्न किया। दबाव, धमकी, तुष्टीकरण सभी नीतियों पर वह चला, पर लड़ाई जितनी टली बाद में उसने उतना ही अधिक भीषण रूप ले लिया। सात वर्षों के थका देने वाले लंबे, अनवरत युद्ध के बाद ब्रिटेन विजयी तो हुआ, पर इस बीच में उसकी आर्थिक स्थिति बिल्कुल टूट फूट चुकी थी, दूसरे देशों में उसकी जो अपार पूंजी लगी हुई थी वह सब खत्म हो चुकी थी, बल्कि उसके स्थान पर उन देशों के क़र्ज़ों की बड़ी रक़में उसके सिर पर लद गई थीं। अमरीका के क़र्ज़ में तो वह गर्दन तक डूबा हुआ था, उसके अपने उपनिवेशों, कनाडा, हिन्दुस्तान आदि का क़र्ज़ भी उसे चुकाना था। इसी बीच, युद्ध के समाप्त होते न होते प्रायः सभी, और विशेषकर एशिया के ग़ुलाम देशों में, साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ एक बड़ा जिहाद शुरू हो गया था। फ्रांस, हॉलैण्ड आदि पश्चिमी यूरोप के साम्राज्यवादी देश अपने एशियायी उपनिवेशों से खदेड़े जाने लगे थे। हिन्दुस्तान में भी राष्ट्रीयता की उत्ताल तरंगें उठ रही थीं।

ब्रिटेन ने पश्चिमी यूरोप के साम्राज्यों को कुछ सहारा देना चाहा, पर साम्राज्यवाद के विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय लोकमत इतना प्रबल बन चुका था कि इससे केवल ब्रिटेन की लोकप्रियता को धक्का ही पहुँचा। हिन्दुस्तान की आन्तरिक समस्याओं की जटिलता को देखते हुए यह संभव हो सकता था कि ब्रिटेन यहाँ पर कुछ वर्ष और निकाल देता, पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का विकास कुछ इस ढंग से हो रहा था कि दुनियां तेजी से अमरीका और रूस के आधीन दो गुटों में बँटती जा रही थी और ब्रिटेन को यह डर पैदा हो गया था कि यदि उसने शीघ्र ही भारतीय राष्ट्रीयता के साथ समझौता नहीं किया तो इस देश का लोकमत तेज़ी से रूस की ओर झुक जाएगा, जो अगली लड़ाई में उसके लिए बहुत ही खतरनाक सिद्ध हो सकता था। इधर हिन्दुस्तान के बढ़ते हुए पूंजीवाद के सामने यह आशा भी क्षीण हो गई थी कि ब्रिटेन इस देश में अपनी पूंजी के लिए भविष्य में कोई स्थान पा सकेगा। इन परिस्थितियों में हिन्दुस्तान को छोड़ देना ही उसने ठीक समझा। ब्रिटेन के पूंजीपतियों ने इन्हीं दिनों हिन्दुस्तान के पूंजीपतियों के साथ कुछ व्यापारिक समझौते कर लिए थे, पर उनका प्रभाव किसी भी देश की अर्थ नीति पर बहुत अधिक पड़ने की कोई आशा नहीं थी। हिन्दुस्तान के बंटवारे से यह आशा की जा सकती थी कि पाकिस्तान में, जहां राष्ट्रीय चेतना का अधिक विकास नहीं हुआ है, और जो आर्थिक दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ है, ब्रिटेन आर्थिक लाभ का कोई रास्ता निकाल सकेगा। पर, समस्त मध्य-पूर्व में अमरीकन पूंजी का जो तेज़ी

से आक्रमण हो रहा था, पाकिस्तान को उसके घेरे में जाने से रोकने में ब्रिटेन बिल्कुल भी समर्थ नहीं था।

एक ही रास्ता, अधिक निर्यात

किसी भी देश की आर्थिक समृद्धि का आधार मुख्यतः तीन बातों पर निर्भर होता है—उसका पहिले से संचित किया हुआ धन, घनी आबादी और व्यक्तिगत उत्पादन-शक्ति। ब्रिटेन का संचित हुआ समस्त धन तो पिछले नौ वर्षों में बिल्कुल समाप्त हो चुका है और जहाँ तक उसकी आबादी का सम्बन्ध है, ब्रिटेन आज विकास की उस स्थिति में है जिसमें आयु का स्तर तो ऊँचा उठता जाता है पर जन-संख्या गिरने लगती है। व्यक्तिगत उत्पादन का सम्बन्ध कई बातों से है जिनमें औद्योगिक कुशलता प्रमुख है। इस दृष्टि से अमरीका की तुलना में, ब्रिटेन की स्थिति बहुत गिरी हुई है। उसका संगठन उतना अच्छा नहीं है, माल तैयार करने पर मज़दूरों द्वारा बहुत अधिक नियंत्रण लगा दिए गए हैं और पिछले तीस वर्षों से तो उद्योग, धंधों में लगाई जाने वाली पूंजी का परिणाम भी लगातार गिरता जा रहा है। बीस वर्षों के आर्थिक संकट और अपने असन्तोष को प्रगट करने के लिए काम धीमा करने की मज़दूरों की नीति ने भी व्यक्तिगत उत्पादन-शक्ति को क्षीण बनाया है। इन सब बातों का ब्रिटेन की अर्थ नीति पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है, जैसा कि स्पष्ट है, इन परिस्थितियों में अपने जीवन के स्तर को बहुत अधिक गिरने से रोकने के लिए ब्रिटेन के सामने एक ही रास्ता रह गया है—वह अपने निर्यात को १९४९ के अनुपात में कम से कम ५० प्रतिशत बढ़ा ले। निर्यात बढ़ाने के लिए ब्रिटेन के प्रत्येक पुरुष, स्त्री व बच्चे को काम में जुट पड़ने की आवश्यकता थी, कारखानों को अधिक से अधिक माल तैयार करना था और उसके विदेशी विभाग को यह प्रयत्न करना था कि उसे संसार के अधिक से अधिक क्षेत्र में खुले व्यापार की सुविधा मिल सके। खुले व्यापार की सुविधा प्राप्त करने के लिए जहां अधिक से अधिक समय तक अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति बनी रहने की आवश्यकता थी, वहां यह भी ज़रूरी था कि रूस के राजनैतिक प्रभुत्व को बढ़ने से रोका जाए, क्योंकि जो देश इस प्रभुत्व की सीमाओं में लिए जा रहे थे उससे बाहर के देशों का व्यापारिक संपर्क भी टूटता जा रहा था। संयुक्त राष्ट्र संघ की असेंबली, पेरिस के शान्ति-सम्मेलन अथवा जिस किसी अन्तर्राष्ट्रीय विचार विनिमय में ब्रिटेन के प्रतिनिधियों ने भाग लिया, उन्होंने इन्हीं सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। 'व्यापार के रास्तों को खुले रखो' यह

ब्रिटेन का मूल-मंत्र ही बन गया था। पेरिस सम्मेलन में ब्रिटेन और रूस के मतभेद का कारण भी यही था। परंतु जैसा कि विदेश-मन्त्री श्री बेविन ने 'हाउस ऑव कॉमन्स' के अपने एक भाषण में बताया, इस मत-भेद का संबंध तो शांति की समस्या की केवल परिधि से था। इस सम्मेलन में इटली व पूर्वी यूरोप के कुछ देशों के साथ की जाने वाली संधियों की चर्चा थी। समस्या का केन्द्र तो जर्मनी के भविष्य में है, जिस पर ब्रिटेन और रूस के दृष्टिकोणों में गहरा अन्तर है। ब्रिटेन चाहता है कि जर्मनी में लड़ाई के पहिले की सी स्थिति उत्पन्न कर दी जाए, जिससे उसके व उससे संबद्ध यूरोप के दूसरे बाजारों में उसके तैयार माल की अच्छी खपत हो सके। जर्मनी के भविष्य सम्बन्धी ऐसे किसी निपटारे में ब्रिटेन को सबसे अधिक विरोध रूस की ओर से ही मिलेगा।

उत्पादन का प्रश्न और कठिनाइयां

परन्तु निर्यात का प्रश्न तो उत्पादन से संबंध रखता है। ब्रिटेन को यदि अनुकूल अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण मिल भी सका तो क्या वह इस स्थिति में है कि निर्यात में इस आनुमानिक वृद्धि के अनुपात में अपने उत्पादन को भी बढ़ा सके? ब्रिटेन को अपने खाने पीने की चीजों का ५० प्रतिशत बाहर के देशों से मंगाना पड़ता है। इसके अतिरिक्त उत्पादन में वह जितनी अधिक वृद्धि करना चाहेगा उतना ही अधिक कच्चा माल भी उसे बाहर से मंगाना पड़ेगा। लड़ाई से उसके औद्योगिक जीवन की जड़ों पर जो आघात पहुँचा है उसे पूरा कर लेने का प्रश्न तो उसके सामने है ही। इन सब बातों के लिए बहुत अधिक रुपए की जरूरत है। रुपया भी ब्रिटेन को तभी मिल सकता है जब उसका निर्यात बहुत काफ़ी बढ़ जाए। आज तो व्यापार की अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियां बिलकुल ही उसके विपरीत चल रही हैं, परंतु इस स्थिति के बदल जाने पर भी, ब्रिटेन यदि अपने वर्त्तमान जीवन-स्तर को बनाए रखना चाहता है तो, उसे अपना उत्पादन और निर्यात दोनों ही बढ़ाने होंगे। अनुकूल से अनुकूल परिस्थितियाँ हों तब भी इसमें समय लगेगा। इस बीच के समय को पार कर लेने के लिए ब्रिटेन को अमरीका से ३ अरब ७५ करोड़ डॉलर कर्ज़ लेना पड़ा। अनुमान यह था कि क़र्ज़ के इस रुपए से वह अगले पांच वर्षों में खाने पीने की चीज़ों व कच्चे माल के आयात व अपने तैयार माल के निर्यात के अन्तर को पूरा कर सकेगा, और यह विश्वास तो था ही कि अगले तीन वर्षों में ब्रिटेन का निर्यात १९३८ के अनुपात में ७५ प्रतिशत बढ़ जायगा। परंतु, उसे

एक वर्ष के भीतर ही, १५ जुलाई १९४७ तक, इस कर्ज का दो-तिहाई से अधिक रुपया ख़र्च कर देना पड़ा। ब्रिटेन में डॉलर की कमी तेज़ी से बढ़ती गई है। इसका एक कारण तो यह है कि ब्रिटेन अमरीका से जितना सामान मंगाता है, उससे बहुत कम वह वहां भेज सकता है। और दूसरा कारण यह है कि अमरीकन चीज़ों के दाम तेज़ी से बढ़ते गए हैं, और इस कारण कम चीज़ें ख़रीदने में भी ब्रिटेन को ज्यादा डॉलर खर्च करने पड़े हैं। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ है कि एक ऐसे समय में जब ब्रिटेन का निर्यात तेज़ी के साथ बढ़ना चाहिए था, वह और भी घटता गया। १९४७ के अन्त तक निर्यात का अनुपात १४० तक पहुँचने की आशा थी, परंतु वर्ष के अन्त में यह अनुमान लगाया गया कि १९४८ के मध्य तक इस संख्या को प्राप्त करने की आशा नहीं है। जनवरी १९४८ में यह अनुपात १२८ था—लड़ाई शुरू होने के बाद से सबसे ऊँचा, पर आवश्यकता से बहुत कम।

ब्रिटेन अपने उत्पादन को बढ़ाता और बाहर के देशों को अधिक से अधिक तैयार माल भेजता रहता, पर प्रकृति ने पिछले वर्ष उसके रास्ते में बहुत बड़ी बड़ी कठिनाइयां खड़ी कर दीं, और इनमें सबसे बड़ी कठिनाई थी कोयले का संकट, ब्रिटेन का अपने उत्पादन को बनाए रखना, जिस पर उसके निर्यात का समस्त आधार था, तभी संभव हो सकता था जब उसे अपने औद्योगिक कार-खानों के लिए बिजली पैदा करने के लिए, काफ़ी कोयला मिलता रहता। कोयले की कमी ब्रिटेन में कई वर्षों से लगातार बढ़ती जा रही थी। आंकड़ों को देखने से पता लगता है कि जहां इंग्लैण्ड १९१३ में २८·७ करोड़ टन कोयला पैदा कर रहा था, जिसमें वह १९·३ करोड़ टन अपने काम में ले रहा था और ९.४ करोड़ टन बाहर भेज रहा था, १९४५ में उसने केवल १८.२ करोड़ टन कोयला पैदा किया, जिसमें १७.४ करोड़ टन अपने काम में लिया और केवल ८० लाख टन बाहर भेजा। १९१३ में कोयले की खानों में ११ लाख ७ हज़ार आदमी काम कर रहे थे, पर १९४५ में उनकी संख्या ७ लाख ९ हज़ार रह गई थी। १९४६ में कोयले की उत्पत्ति कुछ बढ़ी। ब्रिटेन ने इस साल १८.९ करोड़ टन कोयला पैदा किया, जिसमें १८ करोड़ टन अपने काम में लिया, पर इस वर्ष उसकी खानों में काम करने वाले मज़दूरों की संख्या में १२ हज़ार की कमी हो गई थी। ब्रिटेन के पास माल की ही कमी नहीं थी, काम करने के लिए उसे आदमी नहीं मिल रहे थे।

दिसम्बर १९४६ तक कोयले की इस कमी का प्रभाव उत्पादन पर बड़े स्पष्ट रूप में पड़ने लगा था। ऑस्टिन कम्पनी आदि कई कारखानों ने यह घोषणा की कि क्रिसमस के बाद उन्हें अपना काम बन्द कर देना पड़ेगा, और

कुछ में तो काम बन्द कर भी दिया। ३० दिसम्बर को सरकार ने कारखानों के लिए काम में लाए जाने वाले कोयले में ५ प्रतिशत कम कर देने की घोषणा की। १ जनवरी १९४७ से कोयले की खानों का राष्ट्रीयकरण हो गया, पर उससे संकट किसी प्रकार भी कम नहीं हुआ। ब्रिटेन का उत्पादन, जो उसके जीवन का आधार था, लगातार कम होता गया। सरकार ने कोयले के वितरण के संबंध में कई योजनाएं बनाईं, पर उनके कार्यान्वित होने के पहिले प्रकृति का कोप आँधी–बर्फ, कुहरा, बाढ़ और बाँधों के टूटने की शक्ल में प्रकट होने लगा था। कहा जाता है कि १९४६–४७ में ब्रिटेन में जैसा जाड़ा पड़ा वैसा पिछली आधी शताब्दी में कभी नहीं पड़ा था। रहे सहे कोयले की खपत, तेज़ी के साथ, घरेलू आवश्यकताओं में होने लगी। आंधी तूफ़ान के कारण देश के उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों से लन्दन तक कोयला लाने में भी कठिनाई हो रही थी। सरकार को कई ज़िलों में साधारण उद्योग-धन्धों के लिए भी बिजली का उपयोग रोक देना पड़ा। दिन में कई घंटों के लिए बिजली काम में न लाने का प्रतिबंध जन-साधारण पर भी लगा दिया गया। मौसम की बढ़ती हुई खराबी ने रही-सही आशा को भी खत्म कर दिया। कारखाने तेज़ी के साथ बन्द होने लगे। उत्पादन का काम रुक चला। फ़र्वरी के मध्य तक २० लाख आदमी बेकार हो गए थे। मार्च में ब्रिटेन के लोग जाड़े में सिकुड़ते और मोमबत्तियों के धीमे प्रकाश में अपना काम करते रहे। इसके साथ ही मार्च में जब बर्फ़ पिघलनी शुरू हुई ब्रिटेन की नदियों में बड़े ज़ोरों की बाढ़ आई, और स्थान स्थान पर समुद्र के बांध टूट चले। उसकी वजह से ब्रिटेन पर एक और ज़बर्दस्त आर्थिक आघात पहुँचा। इन बाढ़ों से ब्रिटेन की एक फसल तो नष्ट हो ही गई, अगली फ़सल के बोने में भी कई कठिनाइयाँ उपस्थित हो गईं और लगभग एक तिहाई भेड़ें भी नष्ट हो गईं। '१९४७ का आर्थिक विश्लेषण' शीर्षक घोषणा-पत्र, में मज़दूर-सरकार ने बताया—"हमारे पास वह सब करने के लिए जो हम करना चाहते हैं काफी साधन नहीं है। वह सब करने के लिए भी जो हमें करना चाहिए, कठिनाई से ही हमें काफ़ी साधन प्राप्त हो सकेंगे। इस प्रश्न को जन संख्या, कोयला, बिजली, फ़ौलाद का समग्र राष्ट्रीय उत्पादन, किसी भी दृष्टि से देखें एक ही अनिवार्य परिणाम निकलता है। अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए भी हमें अपना उत्पादन कम से कम २५ प्रतिशत बढ़ाना होगा। यह १९४७ में स्पष्टतः असम्भव है।" अन्य आवश्यक वस्तुओं के आयात में कमी की जा सकती थी—ब्रिटेन बिना नए रेडियो-सेट या फ़र्नीचर के रह सकता था—पर बिना बाहर से भोजन का सामान मंगवाए ब्रिटेन के लिए जीवित रहना कठिन था।

आर्थिक संकट की राज-नैतिक प्रतिक्रियाएं

इन संकटमय परिस्थितियों में ब्रिटेन के नेताओं का समस्त ध्यान, बाहर की समस्याओं से खिंच कर, आंतरिक पुनर्निमाण की ओर केन्द्रित हो जाना स्वाभाविक ही था। जनता के लिए भी यह बर्दाश्त करना कठिन था कि एक ऐसे समय जब ब्रिटेन में काम करने वालों की इतनी कमी थी कि उसके उत्पादन-सम्बन्धी आवश्यक कार्य में भी रुकावट पड़ रही थी, उसकी फ़ौजें, साम्राज्यवाद की झूठी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए, विदेशों में पड़ी रहें। इन्हीं परिस्थितियों ने ब्रिटेन को यूनान से अपनी फ़ौजें वापिस बुला लेने व वहां की राजनीति का समस्त भार अमरीका पर छोड़ देने को विवश किया। अन्य स्थानों से भी अपनी राजनैतिक सत्ता को समेट लेने के अतिरिक्त ब्रिटेन के सामने कोई मार्ग नहीं रह गया था। २७ मार्च १९४७ को लंदन 'टाइम्स' के लिए रंगून से भेजी गई एक खबर में कहा गया, "(यहाँ के) अँग्रेज़ अफ़सर एकमत से इस बात की घोषणा कर रहे हैं कि बर्मा-संबंधी (उसे छोड़ देने की) अंग्रेज़ी नीति एक मात्र ऐसी नीति है जिस पर अपने (आर्थिक) साधनों को देखते हुए हम चल सकते हैं।" न्यूयॉर्क स्थित अंग्रेज़ी कौन्सल-जनरल, सर फ्रैंसिस इवान्स ने, ३१ मार्च के अपने एक सार्वजनिक भाषण में कहा कि "ब्रिटेन की सबसे गंभीर समस्या, उसके साम्राज्य की टूटफूट नहीं, उसकी अपनी आर्थिक स्थिति थी।" साम्राज्य की टूटफूट तो उसका अनिवार्य परिणाम था। जून १९४७ में माउन्ट बैटन-योजना की घोषणा की गई, जिसके अनुसार हिन्दुस्तान को दो टुकड़ों में बांट कर उन्हें अपने भाग्य पर छोड़ देने का खतरनाक रास्ता अपनाया गया। अगस्त में हमने अपनी स्वाधीनता का उत्सव मनाया। ४ जनवरी १९४८ को हमारे पड़ौस में स्वाधीन बर्मा का जन्म हुआ। इसी बीच लंका की स्वाधीनता की घोषणा की जा चुकी थी। अंग्रेज़ी साम्राज्य की इस ऐतिहासिक अन्त्येष्टि-क्रिया का वास्तविक रूप हम उसके आर्थिक जीवन के चूर चूर हो जाने की पृष्ठभूमि पर ही देख सकते हैं।

यह बात नहीं कि ब्रिटेन की मज़दूर सरकार अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने में पूरी तरह से प्रयत्नशील नहीं है, अथवा अपनी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को बनाए रखने की जी तोड़ कोशिश नहीं कर रही है, पर दोनों ही क्षेत्रों में उसे दुर्दम्य कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। १९४७ के अन्त तक वह जितना माल बाहर भेजना चाहती थी उतना कोयले की कमी, मौसम की

खराबी और बाढ़ आदि के कारण नहीं भेज सकी, परंतु उसने प्रयत्नों में शिथिलता नहीं आने दी। पिछले वर्ष के मुक़ाबिले में ब्रिटेन का उत्पादन व निर्यात दोनों बढ़े भी हैं, परंतु यह वृद्धि बहुत ही धीमी गति से हुई है, और दूसरी ओर अमरीका से जो डॉलर उसने कर्ज़ में लिए थे वे तेजी के साथ खत्म होते जा रहे हैं। दिसम्बर १९४७ के अनुपात में जनवरी १९४८ के निर्यात में लगभग ६ प्रतिशत वृद्धि हुई, परंतु इसका एक कारण यह भी था कि दिसंबर में काम करने के दिनों की संख्या कुछ कम थी, और विशेष चिन्तनीय बात यह है कि इसके साथ ही आयात में वृद्धि होती जा रही है—और इस प्रकार आयात और निर्यात में जो लाभप्रद संतुलन ब्रिटेन प्राप्त करना चाहता है वह उसे नहीं मिल रहा है (जनवरी १९४८ में आयात निर्यात से ४ करोड़ २३ लाख पौंड अधिक था!)। यह भी निश्चित है कि अपने उत्पादन को तेजी से आगे बढ़ाने के लिए अब भी ब्रिटेन के पास काफ़ी कोयला नहीं है। कोयले के उत्पादन में भी इस वर्ष जो वृद्धि हुई है वह बहुत कम है। अमरीका और पोलैण्ड से उसे जो कोयला मंगाना पड़ा है उससे उसकी डॉलर की स्थिति और भी बिगड़ी है। ब्रिटेन के पास कोयले की ही कमी नहीं है, कोयले की खानों में काम करने वाले आदमियों की भी कमी है। मार्च १९४७ में श्रम-मंत्री ने घोषणा की थी कि जर्मनी और आस्ट्रिया से प्रति सप्ताह ४ हज़ार बेकार व्यक्ति लाए जा सकेंगे। कुछ पोत मज़दूरों को भी काम पर लगाया गया, परंतु कारखाने के मालिकों व मज़दूरों दोनों में ही इन विदेशी मज़दूरों के प्रति अविश्वास की भावना रही, और उनकी संख्या कम होती गई। कोयले की खानों में काम करने वाले मजदूरों की संख्या में पिछले वर्ष में लगभग १५ हजार की वृद्धि हुई, पर इसके साथ ही मई १९४७ से पाँच दिन का सप्ताह हो जाने से कुल मिला कर उत्पादन में कमी ही हुई। इसके अतिरिक्त कई ऐसी बातें हैं, जिनके कारणों का विश्लेषण तो यहाँ संभव नहीं, पर जिनसे हमें पता लगता है कि ब्रिटेन में प्रति व्यक्ति उत्पादन की शक्ति जहाँ १९३९ के मुक़ाबिले में गिरी है वह दूसरे कई देशों, विशेष कर हॉलैण्ड की, आज की प्रति व्यक्ति उत्पादन की शक्ति से भी कम है। यह निश्चित है कि ब्रिटेन में जहाँ काम करने वालों की संख्या में कमी होती जा रही है, वहाँ काम करने की क्षमता या उत्साह भी आज उतने नहीं दिखाई देते जितने होने चाहिए।

आर्थिक संकट के इस दानव से जूझते रहने के साथ ही साथ ब्रिटेन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भी बराबर इस बात के लिए प्रयत्नशील है कि वह अपने को प्रथम श्रेणी की ताक़त बनाए रखे। मज़दूर दल की विजय में वैदेशिक राजनीति का यदि कोई हाथ था तो यही कि इंग्लैण्ड की जनता को डर या

कि यदि अनुदार दल को फिर से सत्ता प्राप्त हुई तो वह इंग्लैण्ड को अमरीका के सर्वथा आधीन कर देगा। मजदूर दल से यह आशा थी कि वह अमरीका और रूस दोनों के समक्ष एक निर्भीक नीति पर चल सकेगा, पर किसी भी दल के लिए एक ऐसे देश की राजनैतिक सत्ता सशक्त और स्वतन्त्र बनाए रखना संभव नहीं होता जिसका आर्थिक ढांचा टूट फूट रहा हो। दूसरे महायुद्ध के बाद तो संसार की राजनीति में किसी भी छोटे राष्ट्र का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं रह गया है। लेखक श्री० एफ़ नौमान के शब्दों में, "राष्ट्रों के डील-डौल के संबंध में हमारी कल्पना अब बिल्कुल बदल गई है। केवल बड़े राष्ट्र ही अपनी शक्ति पर कायम रह सकते हैं। छोटे राष्ट्रों के लिए या तो बड़े राष्ट्रों के मतभेद का उपयोग करते रहना ज़रूरी होता है या यदि वे कोई बड़ा काम करना चाहें तो उसकी स्वीकृति के लिए उन्हें उन बड़े राष्ट्रों पर निर्भर रहना पड़ता है। सार्वभौम सत्ता, जिसका अर्थ व्यापक ऐतिहासिक महत्त्व के निर्णय बनाने की क्षमता होता है, संसार में कुछ थोड़े से स्थानों पर ही केन्द्रित हो गई है।" छोटे राष्ट्रों के लिए अपनी स्थिति को बनाए रखने का एक और भी उपाय है, और वह है किसी अन्तर्राष्ट्रीय संघ का नेतृत्व प्राप्त कर लेना। ब्रिटेन ने भी पश्चिमी यूरोप के प्रजातन्त्र देशों का एक गुट बनाने और उसका नेतृत्व अपने हाथों में लेने का प्रयत्न किया, पर इसमें उसे कई आन्तरिक विषमताओं का सामना करना पड़ा। पश्चिमी यूरोप में ही फ्रांस द्वारा ब्रिटेन का नेतृत्व मान लिए जाने की आशा कम ही थी। इसके अतिरिक्त पश्चिमी यूरोप के देश रूस के विरुद्ध किसी भी संघ में शामिल होने के लिए तब तक तैयार नहीं थे जब तक उन्हें अमरीका का क्रियात्मक समर्थन पा सकने का विश्वास न हो जाए—इन देशों में, विशेष कर फ्रांस व बेल्जियम में, साम्यवाद की विचार-धारा भी तेजी से फैल रही थी। दूसरी ओर अमरीका भी ब्रिटेन को पश्चिमी यूरोप के एक राॅष्ट्र-संघ के नेता के रूप में देखने के लिए विशेष उत्सुक नहीं था। रूस और अमरीका दोनों के विरोध में, और अपनी आर्थिक विवशताओं से घिरे रह कर ब्रिटेन के लिए इस प्रकार का कोई संघ बना पाना असम्भव था।[1]

---

1 आज जो हम ब्रिटेन की मजदूर सरकार को पश्चिमी यूरोप के देशों के संगठन की बात फिर से उठाते हुए पाते हैं, उसका कारण यह है कि ब्रिटेन की शक्ति अब बिल्कुल चकनाचूर हो चुकी है और अमरीका उस मार्शल-योजना में निहित पश्चिमी यूरोप पर अपने आर्थिक आधिपत्य की स्थापना में उसे कठपुतली बनाना चाहता है।

ब्रिटेन के पतन की अनिवार्यता

अपनी औपनिवेशिक पद्धति के पुर्ननिर्माण के आधार पर अपनी स्थिति को बनाए रखने की आशा अभी ब्रिटेन ने छोड़ी नहीं है। ब्रिटेन जानता है कि महाद्वीप से अलग-थलग एक स्वतन्त्र होने के कारण अब तक बचाव की दृष्टि से वह जिस सुदृढ़ स्थिति में था, अब उसका अन्त हो चुका है, और यदि अपनी जनशक्ति व आर्थिक साधनों का कॉमनवेल्थ के सभी प्रदेशों में वह समुचित बँटवारा नहीं कर देता तो आने वाले युद्ध में वह एक ही आक्रमण में नष्ट हो जायगा। ब्रिटेन की औद्योगिक व मानवी शक्ति को कॉमनवेल्थ भर में बांट देना और तब समस्त कॉमनवेल्थ के संयुक्त साधनों को एक व्यापक बचाव व कुछ विशेष स्थानों पर आक्रमण के लिए काम में लाना, यह विचार आज की अंग्रेज़ी सैनिक नीति में तेज़ी से फैलता जा रहा है।

भूमध्य सागर में प्रभुत्व खोकर ब्रिटेन की दृष्टि में कॉमनवेल्थ का गुरुत्व-केन्द्र दक्षिण की ओर चला गया है, इस दृष्टि से दक्षिण अफ्रीका, जो कनाड़ा ब्रिटेन व आस्ट्रेलिया से लगभग बराबर की दूरी पर है, कॉमनवेल्थ के बीचों बीच आ गया है—और मध्य-पूर्व का राजनैतिक महत्व भी ब्रिटेन के लिए बहुत बढ़ गया है। कॉमनवेल्थ के पुनःगठन की यह योजना देखने में तो आकर्षक प्रतीत होती है, पर प्रश्न यह है कि एक व्यवहारात्मक योजना भी है या नहीं। अपने औपनिवेशिक साम्राज्य और स्वतन्त्र उपनिवेशों के अपने संबंधों से पिछले युद्धों में ब्रिटेन को बहुत अधिक लाभ पहुँचा है, पिछले महायुद्ध में ही मध्य-पूर्व के युद्ध क्षेत्रों को यदि हिन्दुस्तान से फौजें और लड़ाई का सामान लगातार नहीं पहुँचाया गया होता तो जर्मनी की हार का आरंभ इतनी जल्दी नहीं हो सकता था और आस्ट्रेलिया से संबद्ध द्वीपों में यदि फौजी अड्डे न बनाए गए होते तो जापान आसानी से पीछे नहीं खदेड़ा जा सकता था। परंतु, इसके साथ ही जहाँ कामनवेल्थ पर एक बहुत ही व्यापक क्षेत्र के बचाव का दायित्व आ जाता है, हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि कॉमनवेल्थ के सभी सदस्य अपनी स्वतंत्र सत्ता रखते हैं। पिछले युद्धों में यदि उन्होंने ब्रिटेन का साथ दिया तो इस निर्णय पर पहुँचने या न पहुँचने का पूरा अधिकार भी उन्हें न था—और आयलैंण्ड ने अपनी तटस्थता की घोषणा करके उपनिवेशों के इस अधिकार को सिद्ध भी कर दिया। पिछली लड़ाई में भी यह सहयोग आसानी से, और बिना किसी शर्त्त के, नहीं मिल सका। दक्षिण अफ्रीका में बहुत थोड़े बहुमत से मित्र-राष्ट्रों का साथ देने का निश्चय किया गया था, और जो फौजें वहाँ की सरकार के द्वारा भेजी गई उन पर अफ्रीका-महाद्वीप के बाहर न जाने का प्रतिबंध था।

आस्ट्रेलिया ने भी सारे प्रश्न पर मुख्यतः अपने बचाव की दृष्टि से ही सोचा, और कनाडा की सरकार को भी फ़ौज में भर्ती होने का प्रश्न जनता की स्वेच्छा पर छोड़ना पड़ा। यह निश्चित है कि ब्रिटेन और उपनिवेशों के संबंध धीरे-धीरे शिथिल पड़ते जा रहे हैं ब्रिटेन के साथ रह कर उपनिवेशों को अब तक जो एक गौरव मिला हुआ था, उसके पतन के बाद अब वह भी शेष नहीं रह गया है। नए उपनिवेशों, हिन्द और पाकिस्तान, के साथ तो ब्रिटेन की कड़ियां और भी ढीली हैं। इसके अतिरिक्त सभी उपनिवेशों में पूंजी की बड़ी कमी है। ये लोग ब्रिटेन से आदमियों को लेने के लिए तैयार हैं, पर इसी शर्त पर कि ब्रिटेन उन्हें पूंजी भी दे, और यह स्पष्ट है कि ब्रिटेन के पास अपने उपयोग के लिए भी आज काफ़ी पूंजी नहीं है।

कॉमनवेल्थ के विचार के प्रति जब तक संबंधित देशों में थोड़ी-बहुत भावुकता है तब तक कामनवेल्थ तो रहेगा ही, पर धीरे धीरे प्रत्येक ऐसे देश के स्वार्थ सुरक्षा और आर्थिक पुनर्निर्माण दोनों ही दृष्टियों से ब्रिटेन के अतिरिक्त देशों पर निर्भर होते जायँगे और कामनवेल्थ की कड़ियाँ टूटती जाएँगीं। इन परिस्थितियों में ब्रिटेन के लिए न तो यह संभव है कि वह पश्चिमी यूरोप के जनतंत्रीय देशों का एक ऐसा संघ बना सके जो एक सामूहिक और समाजवादी समाज-व्यवस्था की नींव डालने में उसका नेतृत्व माने और न अपनी औपनिवेशिक व्यवस्था को ही सुदृढ़ बना लेने की वह स्थिति में है। रूस से उसके संबंध दिन ब दिन बिगड़ते ही जा रहे हैं — और उसका कारण स्पष्ट है। ब्रिटेन के जीवन का मुख्य आधार मुक्त व्यापार के सिद्धान्त पर है, जबकि जिन देशों में रूस का प्रभुत्व फैलता जा रहा है वहां की अर्थ-व्यवस्था फ़ौरन ही लोहे की दुर्भेद्य दीवारों में सीमित कर दी जाती है और बाहर के किसी भी देश के लिए उनसे व्यापार करने की सुविधा नहीं रह जाती है। ज्यों-ज्यों रूस का प्रभाव-क्षेत्र बढ़ता जायगा, ब्रिटेन के व्यापार का क्षेत्र संकुचित होता जायगा : ये सभी परिस्थितियाँ ब्रिटेन को अमरीका के अधिकाधिक संरक्षण में धकेल रही हैं — समाजवादी आकांक्षाओं और स्वप्नों को लेकर चलने वाला ब्रिटेन आज पूंजीवादी अमरीका के चरण-चिन्हों पर चलने पर मजबूर हो गया है। आर्थिक सहायता के लिए उसे संपूर्णतः अमरीका पर निर्भर रहना पड़ रहा है, और ज्यों-ज्यों उसकी अर्थ नीति अमरीका से संबद्ध होती जा रही है, उसकी वैदेशिक नीति भी अमरीका की वैदेशिक नीतिकी प्रतिच्छाया बनती जा रही है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सभी क्षेत्रों में हम आज ब्रिटेन को अमरीका के पीछे-पीछे चलता हुआ पाते हैं। मध्य-पूर्व और पाकिस्तान में भी अमरीका के आर्थिक साम्राज्यवाद की जड़ों को पानी देने का काम ब्रिटेन की मज़दूर सर-

कार को करना पड़ रहा है। जब तक ब्रिटेन अपनी अर्थ नीति में, और जीवन के मूल्यों में, कोई क्रांतिकारी परिवर्त्तन करने के लिए तैयार नहीं है, तब तक उसके सामने कोई दूसरा मार्ग भी नहीं है। और इस बात का कहीं कोई चिन्ह नहीं दिखाई दे रहा है कि ब्रिटेन अपने आर्थिक ढांचे को बदलना चाहता है, उसके आर्थिक जीवन में बड़े बड़े उद्योग-धंधों ने जो स्थान ले लिया है उसमें कोई परिवर्त्तन करना चाहता है अथवा अपनी अर्थनीति का विकेन्द्रीकरण करने, छोटे-छोटे उद्योग-धंधों को बढ़ावा देने और साथ ही अपनी खाने पीने की आवश्यकताओं का एक बड़ा अंश स्वयं ही उत्पन्न कर लेने की कोई निश्चित योजना उसके सामने है। ब्रिटेन अपने समस्त औद्योगीकरण को कायम रखते हुए अपने को एक प्रथम श्रेणी की शक्ति बनाए रखने का जी–तोड़ प्रयत्न कर रहा है, पर आज की परिस्थितियों में उसका पतन विश्व-इतिहास की एक अनिवार्य घटना बन गया है।

एशिया का जागरण

एशिया की जागृति के इतिहास को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं। इस जागृति के मूल में अपनी प्राचीन संस्कृति में आत्म विश्वास, विदेशी शासकों की आर्थिक शोषण की नीति के प्रति विक्षोभ, वर्णभेद की प्रतिक्रिया आदि कई भावनाएं काम कर रहीं थीं, पर उन्हें एक निश्चित अभिव्यक्ति बीसवीं सदी के प्रारंभ में एशिया भर में फैल जाने वाली राष्ट्रीय चेतना के रूप में मिली। इस राष्ट्रीय चेतना के पीछे एक बहुत बड़ा कारण था यूरोप के महान् दैत्य रूस की एशिया के छोटे से देश जापान के द्वारा पराजय। जापान की इस विजय ने एशिया के देशों के इस विश्वास को हटा दिया कि वे यदि अपनी शक्ति बढ़ा लें तो भी यूरोप के देशों को हरा नहीं सकते। इस घटना से उनका आत्म विश्वास बढ़ा। चीन में इन दिनों जागृति की जो लहर उठी उसने कुछ ही वर्षों में मांचू राज्यवंश के तख्ते को उलट दिया और प्रजातन्त्र की नींव डाली। हिन्दुस्तान में बंगाल के दो टुकड़े किए जाने की सरकारी नीति की प्रतिक्रिया के रूप में स्वदेशी और बहिष्कार के आन्दोलन चलाए गए और देश के विभिन्न भागों में क्रान्तिकारी दलों का संगठन होने लगा। अफ़गानिस्तान, ईरान और पश्चिमी एशिया के दूसरे देशों में भी राष्ट्रीयता का सूत्रपात इन्हीं दिनों हुआ। तुर्की में 'युवक तुर्क' नाम के राजनैतिक दल ने सुल्तान अब्दुल हमीद के प्रति विद्रोह के रूप में 'एकता और प्रगति समिति' नाम की संस्था का निर्माण किया। १९०८ में तुर्की की सेना में विद्रोह का प्रारंभ हुआ जिसके परिणाम-स्वरूप अब्दुल हमीद को सिंहासन छोड़ना पड़ा

और शासन की वागडोर 'एकता और प्रगति समिति' ने अपने हाथ में ले ली। सुदूर-पूर्व में जावा और सुमात्रा आदि स्थानों में भी डच साम्राज्यवाद के प्रति विद्रोह की भावना फैली और 'वुदि उत्तमा' (सुन्दर प्रयत्न) आदि कई अर्द्ध-धार्मिक अर्द्ध-राजनैतिक संस्थाएं वनीं, पर इन आन्दोलनों में इतना वल नहीं था कि वे साम्राज्यवाद के मज़वूत गढ़ को हिला पाते। स्थान स्थान पर होने वाले ये आन्दोलन आसानी से कुचल दिए जा सके।

जागृति का दूसरा युग

एशिया की राजनैतिक जागृति का दूसरा युग प्रथम महायुद्ध के साथ शुरू होता है। चीन ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में स्थान पाने के उद्देश्य से अमरीका के युद्ध में शामिल होते ही स्वयं भी मध्य यूरोपीय देशों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी, पर चूंकि जापान भी मित्र-राष्ट्रों के साथ था और वे उसे नाराज़ नहीं कर सकते थे, इसलिए सुदूरपूर्व में विजय का प्रमुख फल जापान के हिस्से आया। चीन टापता रह गया। मित्र-राष्ट्रों की नीति से वह इतना चिढ़ गया था कि शान्ति-सम्मेलनों की वैठकों में हिस्सा लेने से भी उसने इंकार कर दिया। चीन में पंजे गड़ा लेने के लिए जापान के साम्राज्यवाद को काफी मौक़ा दिया गया। हिन्दुस्तान में लड़ाई के दौरान में ही लोकमान्य तिलक और एनी-वीसेंट ने होम-रूल आन्दोलन का प्रचार किया था। लड़ाई के खत्म होते ही 'रौलट एक्ट' और जलियान वाला वाग की नृशंस हत्याओं के वाद हिन्दुस्तान को महात्मा गांधी जैसा महान् पथ-प्रदर्शक मिल गया था। गांधीजी के नेतृत्व में सत्याग्रह और असहयोग के देश-व्यापी आन्दोलनों का संगठन हुआ जिन्होंने एक ओर तो अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद की जड़ों को झकझोर डाला और दूसरी ओर देश भर में एक अभूतपूर्व राजनैतिक और सांस्कृतिक चेतना को जन्म दिया। परन्तु चौरी चौरा के हत्याकांड के वाद जव गांधी जी ने असहयोग आन्दोलन को वन्द कर दिया तव यह चेतना भी मुर्झा चली और थोड़े दिनों में देश सांप्रदायिक वैमनस्य और दंगों का अखाड़ा वन गया। अरव देशों को, लड़ाई के दौरान में उनकी सहानुभूति प्राप्त करने के लिए, तरह तरह के सब्ज़-वाग़ दिखाए गए थे। उन्हे आज़ादी और एकता प्रदान किये जाने के लिए कुछ लिखित आश्वासन भी दिए गए थे, पर लड़ाई के खत्म होने पर जव उन वायदों और आश्वासनों को पूरा करने का प्रश्न उठा तव पता लगा कि इस वीच इंग्लैण्ड, फ्रांस और इटली आदि देशों में ऐसी गुप्त संधियां हो चुकी हैं जिनके अनुसार इन्हीं प्रदेशों को आपस में वांट लेने का निश्चय किया जा चुका था—रूस और

अमरीका को भी हिस्सा मिलने वाला था, पर लड़ाई से हट जाने के कारण रूस मित्र-राष्ट्रों की सहानुभूति खो चुका था और अमरीका ने विजय की लूट में हिस्सा लेने से कतई इन्कार कर दिया। ये वायदे और आश्वासन उठा कर एक ओर रख दिए गए और अधिकांश अरब-देश शासनादेशों ('मैन्डेट्स') शक्ल में इंग्लैण्ड और फ्रांस में बाँट दिए गए। फ़िलस्तीन, इराक और ट्रांस-जॉर्डन इंग्लैण्ड के हिस्से में आए और सीरिया और लेबेनान पर फ्रांस का क़ब्ज़ा हो गया। प्रजातन्त्र के नाम पर लड़ाई जीतने वाले मित्र-राष्ट्रों ने एशिया में प्रजातंत्र की स्थापना के लिए जो भी आन्दोलन चलाए गए थे उन सबको बुरी तरह से कुचल डाला। समस्त एशिया में यूरोप के साम्राज्यवादी देशों के जो झंडे फहरा रहे थे वे वैसी ही शान से फहराते रहे। अरब देशों से टर्की का झंडा उखाड़ कर फेंक दिया गया था, पर उसकी जगह इंग्लैण्ड का यूनियन जैक और जन-तंत्रीय फ्रांस का तिरंगा झंडा फहराने लगा था। यह था एशियायी देशों के स्वातंत्र्य-आंदोलन के दूसरे उत्थान को कुचल डालने का एक सफल प्रयोग।

तीसरा और अंतिम युग

एशिया के इस नए इतिहास का तीसरा और अन्तिम युग १९३६–३७ के लगभग आरंभ होता है। १९३६ तक जापान मंचूरिया पर अपना अधिकार जमा लेने के बाद उत्तरी चीन के 'पांच प्रान्तों' को भी अपने क़ब्ज़े में ले चुका था। चीन बड़ी असहाय स्थिति में अपने पंखों के नोचे जाने की इस प्रक्रिया को देख रहा था। अब उसमें प्रतिक्रिया की भावना ज़ोर पकड़ने लगी थी। जापान का मुक़ाबिला करने की इस प्रवृति के निर्माण में चीन के विद्यार्थियों का बहुत बड़ा हाथ है। १९३६ में चीन में कई स्थानों, पीपिंग, टीन्टसीन, शांतुंग, नानकिंग, शंघाई आदि में विद्यार्थियों ने हड़तालें और प्रदर्शन किए, गांवों में जाकर भी उन्होंने जापान के ख़िलाफ़ प्रचार किया। एक हद तक उनके इस आन्दोलन का ही यह परिणाम था कि च्यांग काई शेक की सरकार ने जापानियों का डट कर मुक़ाबिला करने का निश्चय कर लिया। हिन्दुस्तान और बर्मा में भी साम्राज्यवाद के बन्धन कुछ ढीले हो चले थे। यों तो हिन्दुस्तान में १९३० और ३२ के दो बड़े सविनय अवज्ञा आंदोलन चलाए जा चुके थे, और बर्मा में १९३२ में सायासांग के नेतृत्व में एक बड़ा राजनैतिक आंदोलन उठ खड़ा हुआ था, और अंग्रेज़ी सरकार ने इन आंदोलनों को कुचल दिया था। पर ऐसा जान पड़ता है कि अपनी गिरती हुई अर्थ-व्यवस्था को देखते हुए

उसके लिए यह संभव नहीं रह गया था कि वह इन देशों में विद्रोह और विक्षोभ ज़्यादा दिनों चलने दे पाती। १९३५ में बर्मा को हिन्दुस्तान से अलहदा कर दिया गया। १९३६ में हिन्दुस्तान में चुनाव हुए, जिनमें सर्वत्र प्रतिगामी शक्तियों पर प्रगतिशील तत्त्वों की विजय हुई। कांग्रेस को आठ प्रांतों में अपनी सरकारें कायम करने का अवसर मिला। इनमें अनेक प्रकार के सुधारों के संबंध में योजनाएँ बनने और अमल मे आने लगी। यह पहिला मौक़ा था जब हिन्दुस्तान के लोगों को, एक निश्चित सीमा के भीतर ही सही पर, वास्तविक सत्ता हाथ में लेने का अवसर मिला था। बर्मा में भी इसी प्रकार का विधान अमल में आया और शासन और व्यवसाय का नेतृत्व बर्मी लोगों के हाथ में आया। उनमें आत्म-विश्वास जागा और उनकी राष्ट्रीय शक्ति बढ़ी। इसके अलावा एक ओर तो १९३६ में इंग्लैण्ड और मिश्र में होने वाली नई संधि के अनुसार मिश्र को बहुत से राजनैतिक अधिकार मिले और वह अरब देशों का नेतृत्व अपने हाथ में ले लेने की स्थिति में आ गया— इस दिशा में नहासपाशा का प्रयास सराहनीय था — और दूसरी ओर दूरपूर्व में हिन्देशिया में सोए-नामों और मोहम्मद थापरिन आदि पुराने नेताओं के राजनैतिक क्षेत्र से हट जाने के बाद नेतृत्व सोए-कार्णो, जिप्तोहाता और सोए-मंत्री आदि तरुण नेताओं के हाथ में आ गया। इससे सुदूर-पूर्व के स्वातन्त्र्य आंदोलन को एक नई स्फूर्त्ति मिली। इस प्रकार हम देखते हैं कि दूसरे महायुद्ध के प्रारंभ होने से पहिले ही एशिया के ग़ुलाम देशों ने करवट बदलना शुरू कर दिया था।

द्वितीय महायुद्ध की प्रतिक्रिया

दूसरे महायुद्ध के प्रारंभ होते ही सबसे पहिले तो अरब देशों का भाग्य जागा। मित्र-राष्ट्र और धुरी-राष्ट्र दोनों ही की दृष्टि में अरब देशों का भौगोलिक और आर्थिक महत्त्व बहुत अधिक था। दोनों ने उनका नैतिक समर्थन प्राप्त करने के लिए अपने प्रचार-विभाग की पूरी शक्ति को लगा दिया। इस प्रचार का अरब देशों की राजनीति पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। इराक में ज़रूर एक राज्य क्रांति हुई। राशिदअली ने उस पर कब्ज़ा जमा लिया। पर उसकी शक्ति टिक न सकी। आर्थिक दृष्टि से समस्त पश्चिमी एशिया मित्र-राष्ट्रों के लिए एक ऐसा आधार था जिसका वे लड़ाई में बड़ा उपयोग कर सकते थे। 'मध्य-पूर्व सप्लाई सेन्टर' की स्थापना द्वारा उन्होंने पश्चिमी एशिया को लड़ाई का एक बड़ा गोदामघर बना दिया। क़ाहिरा से बैरुत और बैरुत से हैफ़ा तक रेल निकाली। फ़ौजों के आने जाने के लिए सड़कों का ऐसा

विस्तृत जाल बिछाया जिसने समस्त अरब देशों को एक दूसरे के निकट-संपर्क में गूंथ दिया । इन सब बातों से अरब देशों में एकता की भावना को बड़ा बल मिला था। एशिया महा-युद्ध के सीधे थपेड़ों में तब आया जब ७ दिसम्बर १९४१ को जापान ने पर्ल हार्बर पर हमला किया और अमरीका और इंग्लैण्ड ने उसके विरुद्ध युद्ध की घोषणा की ।

यह हमला अचानक था और इसका मुकाबिला करने के लिए न तो अमरीका ही पूरी तरह से तैयार था और न पश्चिमी यूरोप के वे साम्राज्यवादी देश जो धुरी राष्ट्रों के साथ युद्ध में जूझ रहे थे । जापान के लिए यह अच्छा मौका था । हॉलेण्ड और फ्रांस जर्मनी की फौजों के द्वारा कुचले और रौंदे जा चुके थे । उनके हिन्देशिया और हिन्द चीन के साम्राज्य लावारिस की संपत्ति की तरह अरक्षित पड़े हुए थे । इंग्लैण्ड बड़ी बेचैनी से जर्मनी के आक्रमण और अपने विनाश की घड़ियां गिन रहा था। वह शायद बर्मा और हिन्दुस्तान को बचाने की स्थिति में भी नहीं था । जापान ने इस अवसर से लाभ उठा कर अपना तूफ़ानी हमला शुरू कर दिया और ६ महीने के भीतर उसने हॉलेण्ड और फ्रांस के एशियायी साम्राज्यों को खत्म कर डाला था, चीन और बर्मा से अंग्रेज़ों को बड़ी बेरहमी से निकाल बाहर किया था और हिन्दुस्तान के किनारों पर उसके बम गिरने लगे थे जापान का नारा था "एशिया एशिया वालों के लिए" । उसके प्रचार का आधार था साम्राज्यवाद के प्रति घृणा फैलाना । उसमें उन सब देशों को आज़ादी के सब्ज़बाग दिखलाए और इस भुलावे में रखा कि जापान का मुख्य उद्देश्य एशिया से यूरोप वालों को निकाल देना और उसे आज़ाद करना है । ये देश जापान के आश्वासनों की असलियत को समझते थे । जानते थे कि जापान के इस नारे का मतलब था "एशिया जापान के लिए" । जापान की साम्राज्यवादी नीति से वे संतुष्ट नहीं थे, पर अभी कुछ करने का मौक़ा उनके पास नहीं था । पर एक बहुत बड़ा अनुभव जो उन्होंने इन थोड़े से तूफ़ानी महीनों में प्राप्त कर लिया था वह यह था कि बड़े-बड़े साम्राज्य भी इनकी आंखों देखते मिट्टी में मिल सकते थे । यह उनके लिए एक बहुत बड़ा आश्वासन था । आजादी जो अब तक उनकी कल्पना में एक रंगीन स्वप्न के समान थी, अचानक वास्तविक जगत में एक बार उनके सामने आ खड़ी हुई थी । सपना सच्चा हो गया था । आज़ादी पाने के उनके प्रयत्नों में अब अधिक वास्तविकता आ जाना स्वाभाविक था ।

क्रांति की लपटें:

हिंदेशिया

एशियायी क्रांति के इस नवीन युग का आरंभ होता है हिन्देशिया से ।

हिन्देशिया, जिसमें जावा, सुमात्रा, वोर्नियो आदि द्वीप शामिल हैं, विदेशी साम्राज्य के अधीनस्थ देशों में हिन्दुस्तान को छोड़कर सबसे बड़ा है, और आश्चर्य की वात यह है कि वह पिछले तीन सौ वर्षों से यूरोप के एक वहुत छोटे से देश हॉलैण्ड के क़ब्ज़े में रहा है। हॉलैण्ड वालों ने हिन्देशिया के आर्थिक विकास के लिए वहुत कुछ किया। उनका शासन-प्रवन्ध भी अच्छा था। वहुत सी ऊसर ज़मीन को उन्होंने खेती के लायक वनाया, आर्थिक साधनों का विकास किया और देश भर में अच्छी सड़कों और वड़े-वड़े अस्पतालों का निर्माण किया। इसीका यह परिणाम था कि जावा की गिनती आज संसार के सवसे घने वसे हुए देशों में होती है। पर इन सव वातों का लाभ हिन्देशिया वालों को नहीं मिलता था। देश की शासन-व्यवस्था में तो स्थानीय लोगों के लिए कोई स्थान था ही नहीं, वहाँ की अर्थ-व्यवस्था भी संपूर्ण रूप से एक विदेशी सरकार के हाथ में थी। शासन के सभी वड़े और महत्त्वपूर्ण स्थान और व्यापार सम्वन्वी आमदनी के सभी स्रोत विदेशियों के अधिकार में थे। हिन्देशिया के रहने वालों के लिए मज़दूर और ग़ुलाम का ही जीवन था। जितने छोटे-मोटे उद्योग-धंधे या व्यापार थे वे सव चीनी या दूसरे विदेशी एशिया वालों के हाथ में थे। जनता का केवल ६.३ प्रतिशत भाग शिक्षित था। देश में पाठशालाओं की संख्या काफ़ी थी, पर उनमें से अधिकांश का संबंध प्राथमिक शिक्षा से था। लगभग सात करोड़ की आवादी वाले इस वड़े देश में कुल एक विश्व-विद्यालय था जिसके अंतर्गत पहिली वार १९२४ में दो कॉलेज खोले गए, जिनमें से निकलने वाले स्नातकों की संख्या प्रतिवर्ष २० से अधिक नहीं थी। सरकारी शासन में स्थानीय जनता का हाथ वहुत कम था। १९१९ में पहिली वार 'वोक्स राद' नाम की धारा-सभा खोली गई जिसके ६१ सदस्यों में से ३९ का चुनाव जनता द्वारा किए जाने की व्यवस्था थी, परंतु इस धारा सभा को वहुत कम अधिकार प्राप्त थे और उसके निश्चय गवर्नर-जनरल के द्वारा आसानी से वदले जा सकते थे। स्वाधीनता का नाम लेना वहुत वड़ा अपराध माना जाता था और 'इंडोनेशिया राया' नाम के राष्ट्र-गीत पर सख्त प्रतिवंध थे। सोए-कार्णो और जिप्तोहाता आदि राजनैतिक नेताओं का अधिकांश जीवन जेल में ही वीता था।

राष्ट्रीयता का विकास और जापान का आक्रमण

यह एक ग़लत धारणा है कि हिन्देशिया के राष्ट्रीय आन्दोलन को जापानियों से प्रेरणा मिली है। उसका सम्वन्ध तो एशिया में राष्ट्रीयता की उस

पहिली लहर से हैं जो रूस व जापान के युद्ध के बाद उठी थी। यह सच है कि हिन्देशिया में राष्ट्रीयता की भावना का विस्तार प्रारंभिक वर्षों में बहुत तेज़ी से नहीं हो सका, क्योंकि सारा देश सहस्रों द्वीपों में बटा हुआ है, एक स्थान से दूसरे स्थान का अन्तर बहुत अधिक है और उनमें यातायात के साधन भी अधिक विकसित नहीं हैं। इन सब कारणों से राष्ट्रीय आन्दोलन के फैलने में कठिनाइयां उपस्थित हुईं। पहिली राष्ट्रीय संस्था 'बुदि उत्तमा' (सुन्दर प्रयत्न) की स्थापना १६०६ में हुई। उसमें केवल कुछ सरकारी अधिकारी और उच्च श्रेणी के व्यक्ति शामिल थे, और उसका उद्देश्य शिक्षा का विस्तार और आर्थिक उन्नति का प्रयत्न करना था। १६१३ में एक अधिक व्यापक राजनैतिक संस्था 'सरेकत इस्लाम' की स्थापना हुई, जिसने १६१७ में पूर्ण स्वाधीनता की मांग उपस्थित की। इसके अतिरिक्त 'इन्सुलिन्दे' (भारतीय दल) की स्थापना १६१२ में हो चुकी थी और इस संस्था में उग्रदल के व्यक्ति शामिल थे। १६१६ में कुछ वैधानिक सुधारों की घोषणा की गई, जिसके अनुसार एक केन्द्रीय धारा-सभा व कुछ स्थानीय धारासभाओं की स्थापना हुई, पर इन धारासभाओं का उपयोग हिन्देशिया के राष्ट्र-वादियों ने डच सरकार की आलोचना के काम में ही अधिक किया। १६२३ में 'पाहिम पोतान इंडोनेशिया' नाम के एक नए राजनैतिक दल की स्थापना हुई जिसका उद्देश्य सरकार से असहयोग था और जिसका दृष्टिकोण साम्यवादी था। इसके अतिरिक्त सोय-कार्णो ने 'इंडोनेशिया राष्ट्रीय दल' के नाम से एक नई पार्टी का संगठन किया।

इस बढ़ते हुए राष्ट्रीय आन्दोलन को १६४१-४२ के जापानी आक्रमण के द्वारा एक नई दिशा मिली। डच और हिन्देशिया वालों ने कंधे से कंधा भिड़ा कर जापान के आक्रमण का मुक़ाबिला करने का प्रयत्न किया, परन्तु मार्च १६४२ तक समस्त देश जापान के आधिपत्य में जा चुका था। जापानियों ने हिन्देशिया में भी अपने पुराने नारे 'एशिया एशिया वालों के लिए' का उपयोग करके हिन्देशिया वालों की सहानुभूति अपने साथ लेनी चाही। उन्होंने जापानी भाषा का प्रचार करना भी चाहा, पर इसमें से किसी बात में भी उन्हें सफलता नहीं मिली। जहाज़ों की कमी के कारण हिन्देशिया का कच्चा माल भी जापान अपने उपयोग में नहीं ला सका। हिन्देशिया की जनता की सहानुभूति प्राप्त करने के अन्य उपायों में जब उसे सफलता नहीं मिली, तब जापान ने उसके सामने स्वतंत्रता का आदर्श रखा। अगस्त १६४३ में उसने स्वायत्त-शासन की स्थापना का एक कार्यक्रम प्रकाशित किया, पर उससे भी हिन्देशिया वालों को सन्तोष नहीं हुआ। जापान का काम करने का ढंग भी इतना वह-शियाना था और जनता के रीति-रिवाज़ों के सम्बन्ध में उसकी जानकारी इतनी

कम थी कि दिनोंदिन हिन्देशिया की जनता उसके विरुद्ध होती चली गई। फिर भी यह मानना ठीक नहीं होगा कि जनता के इस विरोध ने कोई क्रियात्मक रूप लिया, और यह भी सच है कि यूरोप और चीन के लोगों के प्रति घृणा की भावना फैलाकर जापान ने हिन्देशिया के भावनाशील नवयुवकों के एक बड़े दल में उग्र राष्ट्रीयता की भावना विकसित कर दी थी, और इस दल की सहानुभूति स्पष्टतः जापान के साथ थी। जापानियों ने जब अपना अन्त समीप देखा तब, विदा होने से कुछ दिन पहिले, ११ अगस्त १६४५ को, हिन्देशिया के लिए पूर्ण स्वाधीनता की घोषणा कर दी और १६ अगस्त को हिन्देशिया में एक स्वतंत्र लोकतंत्र की स्थापना हो गई।

हिन्देशिया पर जापान के आक्रमण, विजय और क़ब्जे का स्थायी प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। जो हिन्देशिया वाले संसार से अलग अपनी एक मध्ययुगीन दुनियां में रह रहे थे, जापान के आक्रमण ने उन्हें बीसवीं शताब्दी की स्वतंत्रता और जनतंत्र की दुनियां में ला खड़ा किया। जापान ने हिन्देशिया की बेपढ़ी लिखी जनता में साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक भीषण विद्रोह के भावों को भी जागृत किया था। जिन यूरोपीय लोगों का पिछले तीन सौ वर्षों से सभी सरकारी नौकरियों और व्यापार-सम्बन्धी संस्थाओं पर एकाधिपत्य था, वे सब जापानियों द्वारा हटा दिए गए थे, और उनके स्थान पर हिन्देशिया के आदिम-निवासियों को रखा गया था। इसके अतिरिक्त जापानियों ने हज़ारों हिन्देशिया-वासियों को फ़ौज में भर्ती किया था और उन्हें फ़ौजी तालीम दी थी। जापान का उद्देश्य इस सेना को अपने काम में लाना था, पर इस प्रकार का अवसर मिलने के पहिले ही जापानियों को मित्र राष्ट्रों के सामने घुटने टेक देने पड़े थे और यह सारी फ़ौज हिन्देशिया की नई जनतंत्रीय सरकार के हाथों में आ गई। सौभाग्य से, हिन्देशिया के जापानियों द्वारा खाली किए जाने और अंग्रेज़ी फ़ौजों के जिन्हें हिन्देशिया में फिर से व्यवस्था कायम रखने का काम सौंपा गया था, वहाँ पहुँचने के पहिले ही वहाँ की लोकतंत्रीय सरकार को अपना शासन-तन्त्र जमाने और अपनी फ़ौज को व्यवस्थित कर लेने का समय मिल गया। इस बीच हॉलैण्ड वाले आस्ट्रेलिया रेडियो पर हिन्देशिया की नई लोकतंत्रीय सरकार को जापान की कठपुतली सरकार कह कर उसे मानने से इंकार कर रहे थे। अंग्रेज़ फ़ौजों ने जब हिन्देशिया में प्रवेश किया तब उन्होंने इस बात की घोषणा की थी कि उनका उद्देश्य केवल जापानियों से हथियार लेना और मित्र-राष्ट्रों के क़ैदियों को छुड़ाना है। लोकतंत्रीय नेताओं ने इस शर्त्त पर उन्हें इस काम में पूरी मदद दी कि वे हॉलैण्ड वालों को वापिस आने में सहायता नहीं देंगे। अंग्रेज़ों ने बहुत जल्दी अपने इस वचन को

तोड़ दिया, और जब जनता ने उनके इस काम का विरोध किया, तब उन्होंने बड़े नृशंस उपायों से उसके विरोध को कुचलना चाहा, यहां तक कि इस काम में उन्होंने जापानियों की सहायता भी ली। उधर भागते हुए जापानी सिपाहियों ने अपने हथियार हिन्देशिया के राष्ट्रवादियों को देकर उनकी स्थिति को और मजबूत बना दिया। धीरे धीरे बहुत काफ़ी डच सेनाएं हिन्देशिया में आ गईं, पर अंग्रेज़ और डच सेनाएं मिलकर भी देश के एक बहुत छोटे भाग पर ही अपना अधिकार स्थापित कर सकीं। जावा के प्रमुख द्वीप और बाहर के द्वीपों के अधिकांश भाग पर हिन्देशिया की लोकतंत्रीय सरकार का पूर्ण आधिपत्य रहा, और क्योंकि उसके पास एक बड़ी सुसंगठित और देशभक्त सेना थी, और जनता अपने पूरे उत्साह के साथ उसका साथ दे रही थी, उसे हटाना असंभव हो गया।

अंग्रेज उपनिवेशः मलाया और बर्मा

मलाया एशिया के अंग्रेजी साम्राज्य का सबसे कम व्यवस्थित, सबसे पिछड़ा हुआ और सबसे ताज़ा उपनिवेश है, और जहाँ पर अंग्रेज़ों ने, हिन्दुस्तान, बर्मा और लंका की अपनी नीति के विपरीत और पड़ोस के देश हिन्देशिया, में डच शासकों द्वारा बरती जाने वाली नीति पर चलते हुए वहां की संस्कृति और संस्थाओं को सुरक्षित रखने का पूरा प्रयत्न किया है। मलाया के 'स्टेट्स सेटलमेंट्स' कहलाने वाले भाग पर अंग्रेजों का आधिपत्य उन्नीसवीं शताब्दी के बाद के भाग में हुआ, जब समुद्री डाकों व आन्तरिक अव्यवस्था से घबराकर वहां के शासकों ने अंग्रेजों से संधियां कर लीं। १८६७ में पहिले अंग्रेज गवर्नर की नियुक्ति हुई, उसे एक कार्यकारिणी और अफ़सरों से लदी हुई धारासभा की सहायता से इन प्रदेशों का शासन चलाना था। धारासभा के गैरसरकारी नामज़द सदस्यों में ५ योरोपीयन, ३ चीनी, १ भारतीय, १ यूरेशियन और १ मलाया के लिए स्थान था। उसके निश्चयों को बदल देने का गवर्नर को पूरा अधिकार था। गैर सरकारी सदस्यों के बहुमत की स्थापना के लिए १६२० में एक हल्का सा आंदोलन उठा था—पर वह दबा दिया गया। १६३१ की धारासभा में ६० प्रतिशत की आबादी वाले चीनियो में से कुल ३ और २५ प्रतिशत से अधिक की आबादी वाले मलायों में से कुल १ सदस्य थे, जबकि अल्पसंख्यक यूरोपियनों के लिए स्थान सुरक्षित थे, शासन के सब ऊँचे स्थान यूरोपीय लोगों के लिए सुरक्षित थे! 'स्टेट्स सेटलमेंट्स' के अलावा उत्तरी मलाया की वे रियासतें हैं जो, सं

शामिल नहीं हैं। १९३१ की जन-संख्या के अनुसार इनकी कुल आवादी १५ लाख से कुछ अधिक थी, जिनमें ६९.६ प्रतिशत मलायावासी व २८.६ प्रतिशत चीनी व हिन्दुस्तानी थे। इनका अधिकांश भाग स्याम से मिला हुआ है। इनमें भी धर्म और रीतिरिवाज के प्रश्नों को छोड़कर, शासन और अर्थनीति का समस्त नियंत्रण अंग्रेज़ 'सलाहकारों' के हाथ में था—यद्यपि मलाया को राजभाषा का पद मिला हुआ था और शासन में मलाया लोगों के लिए अधिक गुंजाइश थी। इनमें से किसी भी रियासत में जनतन्त्र के आधार पर कभी कोई सुधार नहीं किया गया। तीसरी श्रेणी में वे रियासतें हैं जो १८१५ के वाद से एक संघ में शामिल हैं, परन्तु इस संघ में भी अन्तिम सत्ता अंग्रेज़ 'रेज़ीडेंट-जनरल' के हाथ में ही थी, और धारासभाएँ उसकी आज्ञा से ही क़ानून बना सकती थीं और बजट आदि के सम्बन्ध में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार उन्हें नहीं था। रेज़ीडेंट-जनरल, जो वाद में चीफ़ सेक्रेटरी कहलाने लगा, कुआला-लुम्पूर स्थित अंग्रेज़ गवर्नर के प्रति उत्तरदायी था।

१९४२ के जापानी आक्रमण तक मलाया के 'स्टेट्स सेटलमेंट्स' में किसी प्रकार के वैधानिक सुधार नहीं किए गए थे और न मलाया-संघ से बाहर रहने वाली रियासतों में ही जनतंत्र की दिशा में कोई हल्का-सा क़दम भी उठाया गया था। १९३२ में, संघबद्ध रियासतों में, नरेशों के आन्दोलन के फलस्वरूप-उन्हें, सलाहकार-समितियों के सहयोग से शासन के कुछ अधिकार सौंपे जाने की एक योजना बनाई गई। १९३७ तक द्वैध-शासन की इस योजना को मूर्त-रूप मिला। इसके परिणाम-स्वरूप संघ की सदस्य-रियासतों का संघ के बाहर की रियासतों से अधिक निकट संपर्क स्थापित हो सका—और दूसरी श्रेणी की रियासतों में भी स्थानीय व्यक्तियों को शासन में अधिक अधिकार मिले। पर स्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा। १९३८ की धारासभा में, जिसके सदस्यों की संख्या अब बढ़ा दी गई थी १६ सरकारी सदस्य (सब अंग्रेज) व १२ ग़ैर-सरकारी सदस्य थे, जिनकी नियुक्ति हाई कमिश्नर द्वारा की जाती थी और जिनमें ५ यूरोपीय, ४ मलाया, २ चीनी और १ भारतीय थे। पिछली आधी शताब्दी में देश की आर्थिक स्थिति काफ़ी सुधर गई थी, एक ऐसा देश, जो जंगलों से लदा हुआ था और जिसमें न सड़कें थीं और न स्वास्थ्य रक्षा का कोई प्रवन्ध, इन सभी दृष्टियों से आधुनिक बना दिया गया था। रबड़ की पैदावार तेजी के साथ बढ़ती जा रही थी, पर अंगेज़ों द्वारा देश में जान और माल की रक्षा की जो व्यवस्था की गई थी उसका लाभ या तो यूरोपियन लोगों को मिलता था या उन चीनियों को, जो बड़ी संख्या में दक्षिण-पूर्वी चीन से, भोजन और व्यापार की तलाश में मलाया में प्रवेश करते जा रहे थे। कुछ

थोड़े से हिन्दुस्तानी भी पहुँच गए थे। चीनी तो इतनी बड़ी संख्या में मलाया में घुसते जा रहे हैं कि आज उनकी संख्या मलाया के आदिम-निवासियों से भी बढ़ गई है। पर, मलाया वाले उन्हें रोकने की स्थिति में नहीं थे और अंग्रेज़ अधिकारी चीनी और मलायी लोगों के मौलिक मतभेदों से लाभ उठा कर अपने स्वार्थों को चिरस्थायी बनाने के प्रयत्न में लगे हुए थे। मलाया वाले इतने पिछड़े हुए थे कि उनके अपने न तो कोई स्वतंत्र अख़बार थे और न राजनैतिक दल।

१६४२ के जापानी आक्रमण ने एशिया के इस सबसे पिछड़े हुए प्रदेश में भी परिवर्त्तन और क्रांति के बीज छिटका दिए। तीन वर्ष तक इस प्रदेश पर जापान का आधिपत्य था। कुछ थोड़े से लोगों को छोड़ कर मलाया की जनता ने चीनी व मलाया दोनों में से किसी ने भी, जापान का साथ नहीं दिया, जनता का प्रतिरोध जापान की सैनिक कार्यवाही में भी रुकावट डालता रहा। १९४४ के बाद इन लोगों के पास ब्रिटेन और अमरीका की हवाई छतरियों के द्वारा हथियार भी पहुँचने लगे। १९४५ में मित्र-राष्ट्रों की विजयी सेनाएँ मलाया में दाखिल हुई। शासन का पुराना तंत्र ज्यों का त्यों फिर से क़ायम कर देना असंभव हो गया था, यद्यपि मलाया में राजनैतिक चेतना भी हिन्दु-स्तान अथवा बर्मा जैसी विकसित भी नहीं थी कि अंग्रेज़ों को उसे छोड़ देने पर ही विवश हो जाना पड़ता। जनवरी १९४६ में मलाया के भावी शासन-विधान के संबंध में ब्रिटेन की नीति का एलान किया गया। इसके अनुसार, सिंगापुर को छोड़कर, शेष सभी प्रदेशों को, केन्द्रीकरण के आधार पर, एक शासन के अन्तर्गत जाने की व्यवस्था की लाने वाली थी। और देशी नरेशों के साथ की जाने वाली संधियों में भी इस प्रकार के परिवर्त्तन कर देने की बात थी कि केन्द्रीय सरकार को उनके आन्तरिक शासन में अधिक हस्तक्षेप करने का अधिकार मिल जाता। इस नीति का समस्त मलाया में, जनता की सभी जातियों और वर्गों के द्वारा तीव्र विरोध हुआ—और विक्षोभ की जो लहर इस बार मलाया में फैली उसने पहिली बार एक सशक्त राजनैतिक संस्था के रूप में अपना संगठन किया। इसका परिणाम यह हुआ कि वर्ष के अन्त में मलाया के सुल्तानों व राजनैतिक नेताओं से विचार-विनिमय के बाद, विधान का एक नया मसविदा तैयार किया गया, जिसके अनुसार केन्द्रीय सरकार को मज़बूत तो रखा गया था पर जिसका आधार संघ-शासन के सिद्धान्तों पर था और जिसमें रियासतों व अन्य इकाइयों की स्वतन्त्र स्थिति को बनाए रखने की व्यवस्था भी थी। मलाया में एक ओर तो चीनियों और मलायों के बीच एक तीव्र जातीय-संघर्ष चल रहा है, जिसकी तुलना हमारे देश की

हिन्दू-मुस्लिम समस्या अथवा फ़िलस्तीन की अरब-यहूदी समस्या से की जा सकती है, और दूसरी ओर वहाँ के सुल्तानों और जनता में जनतंत्रीय अधिकारों को लिए खींचातानी हो रही है। नए विधान में सुल्तानों की शक्ति को बढ़ा दिया गया है। जनता इसे आसानी से बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं है। दूसरी ओर, जहाँ चीनियों पर यह प्रतिबंध लगा दिया गया कि वे यदि मलाया की नागरिकता के अधिकारों का उपयोग करना चाहते हैं तो उन्हें चीन की नागरिकता छोड़नी पड़ेगी। (चीनी कानून के अनुसार दूसरे देश का नागरिक बन जाने के बाद भी चीनियों को चीन का नागरिक बने रहने की सुविधा प्राप्त है) मलाया के उनके आर्थिक आधिपत्य में किसी प्रकार की कमी नहीं की गई। मलाया की राष्ट्रीयता अभी अपने पड़ोसी देशों के समान सशक्त नहीं बनी है, इस कारण इन कठिनाइयों के सामने उसे प्रायः झुक जाना पड़ता है, पर चारों ओर स्वाधीनता और जनतंत्र के जिस वातावरण का विकास हो रहा है, मलाया पर भी उसका अधिक से अधिक प्रभाव पड़ना अनिवार्य है।

बर्मा की ताज़ी घटनाओं को भी हमें दक्षिण पूर्वी एशिया की राजनैतिक क्रांति से संबद्ध करके ही देखना होगा। १९३७ के पहिले तक बर्मा में राजनैतिक जागृति अधिक नहीं थी (यद्यपि एक 'बौद्ध युवक संघ', जिसका उद्देश्य 'समाज सेवा और बौद्ध-मत का समर्थन' करना था, १९०८ में स्थापित किया जा चुका था, १९१९ में वह दो दलों में बँट गया था जिसमें से एक सरकार के साथ सहयोग करने के लिए तैयार था और दूसरा, 'जनरल कौंसिल ऑव बर्मीज़ एसोसिएशन', उग्र राजनीति का समर्थक था, और १९२३ में इस 'एसोसिएशन' के भी दो भाग हो गए थे, जिनमें से प्रमुख भाग 'जनता पार्टी' के नाम से नए सुधारों में सहयोग देने लगा था)। प्राकृतिक साधनों में संपन्न होते हुए भी बर्मी लोग दुनियां के सबसे ग़रीब लोगों में थे। बर्मा में कई क़िस्म के जवाहरात, चांदी, जस्त, पेट्रोल, देवदार और चावल बहुत अधिक उत्पन्न होता है। पर इन सब चीज़ों का व्यापार विदेशियों के हाथ में था। ऊँचे ओहदे सब अंग्रेज़ों के पास थे। छोटी नौकरियों में हिन्दुस्तानियों से मुकाबिला था। बर्मी लोगों का काम सिर्फ चावल पैदा करना था और इसमें भी उन्हें कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। बैंक रुपया देने के लिए तैयार नहीं थे। सरकार से किसी प्रकार की सहायता नहीं मिलती थी। शासन में उनका कोई दखल नहीं था। १९१९ के शासन-'सुधारों' तक तो बर्मा का भाग्य हिन्दुस्तान के साथ गुंथा हुआ था। परंतु उसके बाद से ही मुख्यतः, वहां के आर्थिक जीवन पर हिन्दुस्तानियों के आधिपत्य के कारण, बर्मा के हिन्दुस्तान से अलहदा किए जाने की माँग उठने लगी थी। १९२९-३० के आर्थिक संकट ने

स्थिति को और भी विषम बना दिया । १९३० के बाद तो बर्मी और हिन्दुस्तानियों में जातीय दंगे भी होने लगे । सायमन कमीशन ने बर्मा को भारत से अलग किए जाने की सिफ़ारिश की । १९३५ का बर्मा का शासन-विधान अलग बना, यद्यपि मूल-सिद्धान्तों में वह हिन्दुस्तान के शासन-विधान से ही मिलता जुलता था । शासन के कुछ वास्तविक अधिकार, हिन्दुस्तानियों के समान ही, बर्मियों को पहिली बार उपयोग में लाने का अवसर मिला था ।

१९३७ के नए शासन-विधान के अमल में आने के बाद से बर्मा का राजनैतिक आत्म-विश्वास बढ़ा । बर्मा का नया विधान, हिन्दुस्तान के विधान की तरह ही, संरक्षणों और नियंत्रणों से जकड़ा हुआ था, फिर भी जनता के चुने हुए व्यक्तियों को पहिली बार शासन के कुछ अधिकार मिले और उन्होंने उनका उपयोग किया । किसानों की दशा सुधारने के लिए कुछ अच्छे क़ानून बनाए गए । हिन्दुस्तान की सरकार के साथ एक व्यापारिक समझौते पर दस्त खत किए गए । बर्मी लोगों को अब ऊँची सरकारी नौकरियाँ मिलने लगीं । सब देशों में बर्मियों की माँग होने लगी । पर, इन सुधारों से बर्मा के सभी राजनैतिक दलों को संतोष नहीं हो सका था । १९३७ से १९४१ के बीच तीन मंत्रिमंडल बदले गए, जिनका नेतृत्व क्रमशः 'सिन्येथा' (ग़रीब) दल के नेता डॉ० बा मा, जनता दल के ऊ पू व 'म्योचित' (देशभक्त) दल के ऊ सा के हाथ में रहा । १९३९ में बर्मा को युद्ध में शामिल होना पड़ा और १९४२ के आरंभ में तीन महीने के आक्रमण के बाद वह जापान के क़ब्ज़े में चला गया । जापान के विरोधी प्रचार का मुक़ाबिला करने की दृष्टि से भी अंग्रेजी सरकार ने बर्मियों को युद्ध के बाद किसी राजनैतिक प्रगति का आश्वासन नहीं दिया । दूसरी ओर, अगस्त १९४३ में, जापानियों के द्वारा, बर्मा की पूर्ण स्वाधीनता की घोषणा कर दी गई । परंतु इसके बावजूद भी, औंग सान के नेतृत्व में, बर्मा के उग्र राजनैतिक विचारों के लोग, 'एण्टी-फ़ासिस्ट प्योपिल्स फ्रीडम लीग' की ओर से, प्रतिरोध का एक आन्दोलन चलाते रहे । मित्र-राष्ट्रों की विजय का, अन्य एशियायी लोगों के समान, बर्मियों ने भी स्वागत किया, पर बर्मा का भाग्य अपने पुराने अंग्रेज मालिकों के हाथ फिर से सौंप देने के लिए अब वे तैयार नहीं थे; स्वाधीनता का स्वाद वे चख चुके थे । अंग्रेजों ने इस बदले हुए दृष्टिकोण को समझने में देर की । १९४४ के अन्त में ब्रिटेन की सरकार ने पार्लमेण्ट के सामने एक रिपोर्ट रखी जिसमें लड़ाई खत्म होने के पांच साल के बाद बर्मा को 'औपनिवेशिक स्वराज्य' देने की बात थी— इस रिपोर्ट की अनुदार पत्रों तक ने कड़ी आलोचना की । मई १९४५ में बर्मा के 'मुक्त' होने के बाद 'व्हाइट पेपर' निकला—जिसमें शब्द-जाल के अतिरिक्त

कुछ नहीं था। बर्मी लेखक सौंतुन के शब्दों में "वर्मा में फिर से प्रवेश करने पर अँग्रेज़ अपने साथ शांति और समझौते के स्थान पर लाए मशीनगनें, बम और मौत।" बर्मा में प्रायः फ़ौजी शासन स्थापित हो गया। इसके परिणाम-स्वरूप बर्मा में आज़ादी की लड़ाई ने बड़ा उग्र रूप ले लिया। औंग-सान और थाकिन थान तुन आदि नेताओं ने 'बर्मा छोड़ो' का आन्दोलन प्रारंभ किया। सरकार ने दमन की नीति का सहारा लिया। जगह जगह गुरैला-दलों का संगठन होने लगा। सितम्बर १९४६ में डाक, यातायात, सिविल सर्विस और यहाँ तक कि पुलिस के महकमे में भी हड़तालों का एक तांता-सा लग गया, जिसके सामने झुक जाने और औंग-सान के नेतृत्व में "एक नई सरकार" बना लेने के आधार पर समझौता कर लेने के अलावा अंग्रेज़ों के सामने कोई मार्ग नहीं रह गया था, और औंग-सान और उनकी ए० एफ० पी० एफ० एल० से समझौता करने का अर्थ था बहुत ही निकट भविष्य में बर्मा की पूर्ण, अबाध और अनियंत्रित स्वाधीनता को मान लेना।

हिन्द-चीन का विद्रोह

हिन्देशिया से उत्तर-पश्चिम की ओर बढ़ने पर हम फ्रांस के हिन्द-चीनी साम्राज्य की ओर आते हैं। हिन्द-चीन की ८० प्रतिशत जनता अनामी है। इनमें राजनैतिक जागृति उतनी अधिक नहीं फैली, पर १९४० के पहिले से राष्ट्रीय भावना का विकास होने लगा था। राजनैतिक दलों में तीन प्रमुख थे—'कम्यूनिस्ट', 'रॉयलिस्ट' और 'कौडाइस्ट' — 'कौडाइज़्म' एक मिले-जुले धार्मिक और राजनैतिक आन्दोलन का नाम था। कभी कभी कुछ झगड़े खड़े हो जाते थे जिन्हें 'कम्यूनिस्ट' कह कर दवा दिया जाता था। दूसरे महा-युद्ध में हिन्द-चीन पर भी जापान का कब्ज़ा हो गया और जापान ने 'एशिया एशिया वालों के लिए' के मंत्र की दीक्षा उसे भी दी। जापान के आधिपत्य में पुराने राजनैतिक दलों को बल मिला और कुछ नए राजनैतिक दलों का निर्माण हुआ। इनमें से एक दल जापान का समर्थक था, दूसरा, 'युवक दल', चीन का। बाद में कई दलों ने मिलकर 'वियट मिन्ह' नाम के एक मिले-जुले राजनैतिक दल का संगठन किया। ९ मार्च १९४५ को अनामी सम्राट बाओडाई के आधीन जापान ने एक कठपुतली सरकार का निर्माण किया। अब तक अनामी लोग कई विभिन्न शासन-प्रणालियों में बँटे हुए थे। यह पहिला मौक़ा था जब उत्तर में टोंग-किन और दक्षिण में कोचीन-चीन को अनाम में शामिल किया गया था। कम्बोडिया और लाओस में भी स्वतन्त्र

राज्य क़ायम कर दिए गए थे। युद्ध के बाद हिन्द-चीन में बड़ी गड़बड़ फैली। फ्रांसीसी जेलों में थे। जापानी इस खिलौना सरकार की सहायता करने की स्थिति में नहीं रह गए थे। देश में एक सर्वमान्य नेतृत्व का अभाव था विभिन्न राजनैतिक दलों में संघर्ष और प्रतिद्वन्दिता थी। इस अराजकता में से विएट-मिन्ह ने एक संगठित शासन का निर्माण किया —विएटमिन्ह में कोडाइस्ट, युवक-दल और कम्यूनिस्ट शामिल थे। उसने विएटनम प्रजातंत्र की नींव डाली। अनामी अब अपने आपको विएटनमी कहने लगे। पचास वर्ष की अवस्था के होची मिन्ह को, जिन्होंने अपने जीवन में कई क्रांतिकारी आंदोलनों में भाग लिया था, अपना सभापति बनाया।

युद्ध के बाद जापानियों के निःशस्त्रीकरण का काम उत्तर में चीनियों और दक्षिण में अंग्रेजों को सौंपा गया। अंग्रेजों के साथ साथ फ्रांसीसी भी हिन्द-चीन में दाखिल हो गए, और उन्होंने अनामियों से सैगोन और दक्षिण के दूसरे कई शहर छीन लिए। जापान की इस क्रिया का कुछ विरोध हुआ, पर उसका विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। उत्तर में, चीनियों ने देश के आन्तरिक मामलों में बिल्कुल ही हस्तक्षेप न करने की नीति का अवलंबन किया। इससे हनोई और उत्तर के दूसरे शहरों में फ्रांसीसियों की स्थिति और भी ख़तरे में पड़ गई। अनामियों के पास काफ़ी हथियार थे—कुछ मित्र-राष्ट्रों के दिए हुए और कुछ जापानियों के। फ्रांस के खिलाफ़ उन्होंने उसका अच्छा उपयोग किया अनामी औरतों ने भी फ्रांसीसी लोगों की हत्या में भाग लिया. ज्यों ज्यों दक्षिण में फ्रांसीसी आगे बढ़ते जाते थे, उत्तर में उनकी स्थिति भयावह होती जाती थी। अन्त में ६ मार्च १९४६ को फ्रांस ने हनोई में विएटनम के साथ एक समझौते पर दस्तख़त किए जिसमें उन्हें फ्रांसीसी साम्राज्य के अन्तर्गत औपनिवेशिक स्वराज्य देने का आश्वासन दिया गया। अनामियों ने इस समझौते को इस शर्त के साथ माना कि पांच वर्ष में फ्रांसीसी सेना पूरी तौर से हटा ली जाएगी, विएटनम की अपनी सेना बन जाएगी और विएटनम को संपूर्णतः आजाद कर दिया जाएगा। इसके बाद कई महीने तक दलात और पैरिस में राजनैतिक वार्त्तालाप होते रहे जिनमें विएटनम की ओर से होचीमिन्ह ने हिस्सा लिया। १५ सितम्बर को एक और समझौते पर दस्तख़त हुए जो डॉ० हो की दृष्टि में 'असन्तोषजनक पर कुछ न होने से अच्छा' था। डॉ० हो के दल का विश्वास एक संघ-शासन में है, जिसमें देश के सब भागों को आजाद रहते हुए भी एक साथ विकसित होने का अवसर मिले। फ्रांस का कहना है कि उसके सीधे नियंत्रण में होने के कारण कोचीन चीन की स्थिति हिन्द-चीन के उन अन्य प्रदेशों से भिन्न है, जिन पर फ्रांस का सीधा शासन नहीं था। होची मिन्ह

और हिन्द-चीन के, दूसरे नेता कोचीन चीन को छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं।

इस समझौते के बाद भी हिन्द-चीन में शान्ति स्थापित नहीं हो सकी। राजनैतिक दृष्टि से योरोपीय लोगों के खिलाफ़ घृणा के भाव इतने तीव्र हो उठे थे कि वे नियंत्रण में नहीं लाए जा सके। योरोपीय लोगों की हत्याएँ होती रहीं। उधर चीनियों के द्वारा भी विएटनम का विरोध होने लगा। कोचीन चीन की तिन्ह सरकार के विरुद्ध भी प्रदर्शन होते रहते थे। आर्थिक दृष्टि से, अकाल और बीमारियाँ फैली। पिछले वर्ष उत्तरी अनाम और टौंगकिन में अकाल, मोतीझरा और पेचिश से २० लाख आदमियों की मृत्यु हुई। खाने और कपड़े का सर्वथा अभाव था। दवाओं का मिलना असम्भव था। इस पृष्ठ-भूमि में हमें उस विस्फोट को समझने का प्रयत्न करना चाहिए जो दिसम्बर १९४६ में एक खुली बग़ावत की शक्ल में भड़क उठा और जिसकी लपटें अभी भी बुझी नहीं हैं। फ्रांस ने अपने जहाज़ी बेड़े और अपनी हवाई ताक़त को, बड़े से बड़े सेनानायकों के नेतृत्व में, हिन्दचीन भेज दिया है। वह अपनी सारी शक्ति के साथ हिन्द-चीन के विद्रोह को कुचल डालना चाहता है। हिन्द चीनी भी वीरता से मुकाबिला कर रहे हैं। हिन्द चीन की ज़मीन खून से रंगी जा रही है। कहा जाता है कि जब डॉ० हो ची मिन्ह फ्रांस में राजनैतिक चर्चाओं में व्यस्त थे तब हिन्द चीन में वास्तविक राजनैतिक सत्ता कुछ तरुण नेताओं के हाथ में चली गई, और लौटने पर हो ची मिन्ह को उनके हाथों की कठपुतली बन जाना पड़ा, वास्तविक स्थिति क्या है, यह जानना कठिन है, पर यह निश्चित है कि जब तक फ्रांस अपनी साम्राज्यवादी नीति में आमूल परिवर्त्तन नहीं कर देता, हिन्द चीन में शान्ति स्थापित होना असम्भव है।

एशिया का राजनैतिक भविष्य

आने वाले वर्षों में एशिया की इन मुख्य प्रवृत्तियों पर ग़ैर-एशियायी देशों की राजनीति का भी बड़ा गहरा प्रभाव पड़ेगा। इनमें सबसे अधिक प्रभाव रूस का होगा। रूस की शक्ति दिन पर दिन बढ़ रही है। दक्षिण में ईरान और पूर्व में चीन पर—किसी भी उद्देश्य से सही—उसका पंजा पूरा गड़ा हुआ है। उसे हटाना आसान नहीं होगा। इसके अतिरिक्त रूस के तरीके भी सीधे नहीं होते। हर देश में एक बड़ा कम्यूनिस्ट वर्ग ऐसा है जो रूस के इशारे पर चलने को तैयार रहता है। वह देश, ईरान हो या हिन्दुस्तान, या चीन, या मलाया अथवा बर्मा, रूस को इस वर्ग से सहायता मिलने की सदा आशा रहेगी। यह अलग बात है कि इन देशों में धीरे धीरे ऐसी प्रवृत्तियाँ ज़ोर पकड़ें

जो इस वर्ग की ताक़त को जमने न दें। रूस के अलावा, इंग्लैण्ड, और यूरोप के साम्राज्यवादी देश, फ्रांस और हॉलैण्ड भी, अभी कुछ दिनों तक एशिया के कुछ हिस्सों पर हावी रहेंगे। पर, जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है, इनके पंजे से निकलने की पूरी कोशिश भी एशिया के सभी देशों में अपने पूरे ज़ोर पर है। हिन्दुस्तान ने एकता की क़ीमत पर ही सही, स्वाधीनता प्राप्त कर ली है। मध्यपूर्व के महत्तर-सीरिया नाम के भाग में एकता के तत्त्व काफ़ी मज़बूत हो गए हैं। स्वयं लन्दन 'टाइम्स' ने अपने एक लेख में स्वीकार किया था कि इंग्लैण्ड और फ्रांस के लिए इनकी संगठित मांग को पूरा न करना असम्भव हो जाएगा। वह संगठित मांग अब दिन पर दिन प्रबल होती जा रही है। अरब की राष्ट्रीयता अब प्रतीक्षा करने की स्थिति में नहीं है। इंग्लैण्ड, फ्रांस और हॉलैण्ड के स्वार्थ पूर्वी द्वीप समूहों में भी बुरी तरह से उलझे हैं, पर उनके सुलझाने और सुखाड़ने में इन देशों के वीर योद्धा भरसक सहायता पहुँचा रहे हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि पश्चिमी यूरोप के इन साम्राज्यवादी देशों का एशिया में टिक रहना, रूस की तुलना में, कहीं अधिक कठिन है—ब्रिटेन के तेज़ी से टूटने वाले आर्थिक ढांचे को देखते हुए वह असंभव हो गया है। पर, रूस के अलावा एक दूसरा बड़ा देश है जो एशिया की राजनैतिक प्रवृत्तियों को उतने ही ग़ौर से देख रहा है। अमरीका के अपने स्वार्थ भी समस्त एशिया में फैले हुए हैं। मध्यपूर्व के तेल के कारखाने उसके क़ब्ज़े में हैं—इसलिए वहाँ की राजनीति में उसकी दिलचस्पी स्वाभाविक है। उधर, दक्षिण-पूर्वी एशिया से वह इसलिए तटस्थ नहीं रह सकता कि समस्त प्रशान्त महासागर पर हावी रहना उसके अपने बड़े उद्देश्यों में है। पर अमरीका का सबसे बड़ा स्वार्थ चीन है। चीन के बाज़ारों पर वह अपना कब्ज़ा चाहता है। इसलिए उसने यूरोप की दूसरी क़ौमों को चीन के हिस्से-बखरे करने से रोका और खुले व्यापार की नीति का प्रारंभ किया। इसीलिए वह चीन में आन्तरिक-सुव्यवस्था की पुनः स्थापना देखने के लिए उत्सुक है।

परिस्थितियों का स्पष्ट संकेत इस दिशा में है कि इंग्लैण्ड, फ्रांस और हॉलैण्ड एशिया से अपने साम्राज्यों को हटा लेने पर विवश होंगे, पर एशिया में रूस और अमरीका का प्रभाव और हस्तक्षेप बढ़ता जाएगा। एशिया में रूस और अमरीका के लिए अपने प्रभाव के क्षेत्रों को अलग-अलग कर लेना संभव नहीं होगा, क्योंकि ईरान हो या चीन, या प्रशान्त महासागर पर प्रभुत्व जमाने का प्रश्न, सभी स्थलों पर दोनों के स्वार्थ एक दूसरे से गुंथे-मिले हैं। यह भी संभव है कि संसार का भावी संघर्ष रूस और अमरीका के बीच,

एशिया की भूमि और एशिया के समुद्रों में लड़ा जाए। जब तक एशिया के दो बड़े देश, चीन और हिन्दुस्तान अपने पैरों पर खड़े नहीं हो जाते तब तक इन दो विरोधी दृष्टिकोणों और शक्ति-पुंजों के इस भयानक संघर्ष की लपटों से एशिया को दूर रख पाना संभव नहीं होगा। सच तो यह है कि एशिया का राजनैतिक भविष्य इस बात पर निर्भर होगा कि एशियायी ताक़तें किस रफ्तार से आगे बढ़ पातीं हैं। जिस तेजी से चीन और हिन्दुस्तान न केवल विदेशी राजनैतिक प्रभाव से अपने आपको मुक्त कर लेंगे, पर देश व्यापी आर्थिक पुनर्निर्माण की बड़ी बड़ी योजनाओं को देश के राशि–राशि आर्थिक साधनों के समुचित विकास की दिशा में कार्यान्वित कर सकेंगे, उसी तेज़ी से रूस और अमरीका के हस्तक्षेप का भय कम होता जाएगा। इन देशों की अपनी भीषण आन्तरिक समस्याएँ भी हैं—चीन में समाजवाद अपने पूरे ज़ोर पर है और हिन्दुस्तान में सांप्रदायिकता का आधार अभी टूटा नहीं है। बाहरी तत्त्व हमारे इन आन्तरिक संघर्षों को क़ायम रखने का प्रयत्न करेंगे। सच तो यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय सतह पर रूस और अमरीका के प्रत्येक संघर्ष की प्रतिक्रिया हमारे आन्तरिक मतभेदों को बढ़ाने की दिशा में होगी। परिस्थितियों का ऐसा विचित्र संयोग है कि अन्तराष्ट्रीय राजनीति में जिस तेज़ी से एशियायी देशों का महत्त्व बढ़ा है, उसी तेज़ी से उसके आन्तरिक और बाहरी संबंधों को पेचीदगियाँ भी बढ़ गईं हैं। एशिया का राजनैतिक भविष्य इस पर निर्भर रहेगा कि हम विनाश के थपेड़ों से अपने को चकनाचूर हो जाने देते हैं या पुनर्निर्माण की लहर पर चढ़ कर, नवयुग की सुनहली किरणों का स्वागत कर पाते है। रूज़वेल्ट के शब्दों में हम कह सकते हैं–"हमें मिला बहुत है, पर आशा उससे भी अधिक की की गई है।"

: ६ :

हिन्दू राज्य की कल्पना : ऐतिहासिक विकास

हमारे देश में यह विश्वास सामान्य रूप से प्रचलित रहा है कि मानव-इतिहास के आदिम काल में, जब संसार के अन्य सभी देशों में बर्बरता का आधिपत्य था, भारत वर्ष में हिन्दू धर्म, सभ्यता और जीवन-दर्शन ने विकास की चरम-शिखा का स्पर्श कर लिया था। हमारे समाज का साधारण सा व्यक्ति भी बड़े गौरव के साथ इस बात की घोषणा करता है कि यूरोप के लोग जब नंगे फिरते थे और जानवरों का शिकार करके अपना पेट पालते थे तब हमारे ऋषियों और चिन्तकों ने जीवन के चिरंतर सत्यों को खोज निकाला था, हमारे साहित्यकारों ने रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्यों की सृष्टि कर डाली थी, हमारे व्यापारियों के सुदृढ़ जहाज महासागर की गर्वीली लहरों का दर्प चूर्ण करते हुए दूर दूर के देशों की यात्रा करते थे, और हमारे सम्राटों का चक्रवर्ती साम्राज्य शासन-व्यवस्था व शक्ति का एक अनुपम उदाहरण बना हुआ था। प्राचीन के संबंध में इस प्रकार का आकर्षण प्रायः प्रत्येक ऐसे समाज में पाया जाता है जो अपने वर्तमान से असंतुष्ट, और एक सोनहले भविष्य का निर्माण करने में प्रयत्नशील हो। यूरोप ने जब अपनी मध्ययुग की जंजीरों को तोड़ना चाहा तो उसकी दृष्टि अचानक यूनान की पुरानी सभ्यता पर गई और उससे प्रेरणा लेकर उसने अपनी आधुनिक सभ्यता का पुनर्निर्माण किया। परंतु यूरोप जहां प्राचीन से प्रेरणा लेकर मध्य-युग की सड़ी गली संस्थाओं को तेजी से तोड़ता हुआ अपने नए चुने हुए रास्ते पर आगे बढ़ता गया, हमारा गुलाम, अपाहिज समाज एक स्वर्णिम प्राचीन की रंगीन कल्पनाओं को लेकर उनसे स्वप्नों का ताना-बाना बुनने में व्यस्त रहा। हमें प्राचीन की प्रत्येक वस्तु एक विशेष गौरव से आच्छादित दिखी और प्रत्येक व्यक्ति देवता का प्रतिरूप। आधुनिकतम खोज और आविष्कारों को हमने प्राचीनतम धर्म-ग्रंथों में ढूंढ निकाला।

हिन्दू धर्म और संस्कृति में इस गहरे आत्म-विश्वास के साथ ही हमारे देश में यह विचार भी प्रबल होता गया है कि पाश्चात्य सभ्यता का आधार भौतिकवाद पर होने के कारण वह हमारे लिए गर्हित और त्याज्य है। हमें पश्चिम से कुछ लेना नहीं है, देना है। यह भावना हमें स्वामी विवेकानन्द के अमरीका से लौट कर आने के बाद के भाषणों में स्पष्ट दिखाई देती है। एक स्थान पर उन्होंने कहा, "भारत को अवश्य ही संसार पर विजय प्राप्त करनी होगी। इससे नीचे के आदर्श से मैं कभी संतुष्ट नहीं हो सकता। आदर्श भले ही अच्छा हो सकता है, आप लोगों को उसे सुन कर आश्चर्य भी हो सकता है तो भी इसे ही हम लोगों को अपना आदर्श बनाना होगा। या तो हम लोगों को संपूर्ण जगत को जीतना पड़ेगा अथवा मर जाना पड़ेगा। इसे छोड़कर दूसरा रास्ता नहीं है। विस्तार ही जीवन का चिन्ह है। हम लोगों को क्षुद्रता, संकुचितता को छोड़ना पड़ेगा, हृदय का विस्तार करना पड़ेगा, हम लोगों में जो जीवन है उसे प्रगट करना पड़ेगा, नहीं तो हम लोग हीनावस्था में पड़ कर नष्ट हो जायेंगे। दूसरा कुछ उपाय ही नहीं है, दो में से एक को चुन लो—या तो करो अथवा मरो"। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भारतवर्ष के लिए एक स्थान पर लिखा कि उसने "शांति के साथ जीने और गहराई के साथ सोचने का प्रयत्न किया है; उसकी एक मात्र आकांक्षा यह रही है कि वह इस विश्व को आत्मा के समान जाने, और अपने जीवन का प्रत्येक क्षण समर्पण की विनम्र भावना में बिता सके, उसके साथ एक अनन्त व्यक्तिगत संबंध की हर्ष पूर्ण चेतना की अनुभूति में"। वही रवि ठाकुर पश्चिम की संस्कृति के संबंध में लिखते हैं— "हमने सभ्यता की इस महान् धारा को इसमें सम्मिलित होने वाले असंख्य नदी-नालों के द्वारा लाए जाने वाले मलबे में दम तोड़ते देखा है। हमने देखा है कि मानवता के अपने समस्त दिखावटी प्रेम के बावजूद भी यह मनुष्य के लिए सबसे बड़ा खतरा बन गई है, उन घुमक्कड़ वहशियों के अचानक हमलों से भी कहीं अधिक खतरनाक जिनका दुःख इतिहास के प्रारंभिक युगों में मनुष्य को उठाना पड़ा है। हमने यह भी देखा है कि स्वतन्त्रता के प्रेम की घोषणा करते हुए भी इसने पुराने समाजों में प्रचलित गुलामी से भी बदतर गुलामी को जन्म दिया है— ऐसी गुलामी जिसकी ज़ंजीरे तोड़ी नहीं जा सकतीं, या तो इसलिए कि वे दिखाई नहीं देतीं या इसलिए कि वे स्वतंत्रता का नाम व रूप धारण किए हुए हैं। हमने इसके राक्षसी अर्थवाद के मोह में जीवन के सभी वीरता-पूर्ण आदर्शों में, जिन्होंने मनुष्य को महान् बनाया, उसका विश्वास उठ जाते हुए देखा है।"

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि प्राचीन भारत में आध्यात्मिक सत्यों का

अन्वेषण बड़ी गहराई के साथ किया गया था, पर यह एक विवादास्पद बात हो सकती है कि इसके आधार पर हम यह दावा करें कि हमारी सभ्यता संसार की सभी प्राचीन सभ्यताओं में सर्वश्रेष्ठ है अथवा हमारा समाज विशेष रूप से आध्यात्मिक है और पश्चिम के लोग अर्थवाद और भोग विलास में डूबे हुए हैं। और वह कौन सी सभ्यता है जिसके लिए हम सर्वश्रेष्ठत्व के इस दावे को पेश करना चाहते हैं ? प्राय: हम आर्य संस्कृति और हिन्दू संस्कृति को पर्यायवाची मान कर चलते हैं। आर्य-संस्कृति की अपनी कुछ विशेषताएँ थीं पर उसके भारत में प्रवेश करने के पहिले जो आदिम सभ्यताएँ इस देश में थीं, और जिनमें द्राविड़ सभ्यता को प्रमुख माना जा सकता है, उनकी भी अपनी विशेषताएँ थीं, हरप्पा और मोहेंजोदड़ो में के खडहरों में लुप्त जिस सभ्यता के अवशेष-चिन्ह प्राप्त हुए हैं वह भी विकास के एक ऊँचे शिखर तक पहुँच चुकी थी और उसका संबंध सीरिया, मेसोपोटेमिया, मिश्र और संभवत: चीन की प्राचीन सभ्यताओं से भी था और इन सब सभ्यताओं की भी अपनी विशेषताएँ थीं। हिन्दुस्तान के बाहर यूनान और उसके बाद रोम, में जिन सभ्यताओं का विकास हुआ उनमें स्वभावत: ही आर्य-सभ्यता के गुण तो मौजूद नहीं थे पर कुछ दूसरे ऐसे गुण थे जिनका आर्य-सभ्यता में अभाव था और जिनके आधार पर आज की पश्चिमी सभ्यता का समस्त ढाँचा खड़ा हुआ है। सच तो यह है कि प्रत्येक देश और समाज में भौगोलिक और आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार विशेषताओं का विकास होता रहता है और दो सभ्यताएँ जब एक दूसरे के संपर्क में आती हैं तब इन विशेषताओं की एक दूसरे पर छाप पड़ती है और इस संपर्क के परिणाम-स्वरूप कभी एक सभ्यता अपना पुराना स्वरूप खो बैठती है और दूसरी में विलुप्त हो जाती है और कभी दोनों सभ्यताओं के समत्व संतुलन से एक नई सभ्यता जन्म लेती है। जिस सभ्यता को हम इतिहास में हिन्दू सभ्यता के नाम से जानते हैं उसका जन्म ईसा से कई शताब्दी बाद, गुप्त-काल में, आर्य, द्रविड़, ईरानी, यूनानी आदि कई सभ्यताओं के संपर्क-सम्मिश्रण, क्रिया-प्रतिक्रिया, संघर्ष-समावर्त्तन आदि के परिणाम-स्वरूप हुआ। उसे हम वैदिक-काल की आर्य-संस्कृति से संबद्ध नहीं कर सकते। यह हिन्दू संस्कृति भी भारतीय संस्कृति के उस अविच्छिन्न धारा-प्रवाह का एक अस्थाई विराम-स्थल है जो कई शताब्दियों तक इस्लामी सभ्यता के प्रभाव में अपनी यात्रा पर चलता रहा और आज पश्चिम की विज्ञान-वादी सभ्यता से टकरा कर पीछे हटता है और उसके गशि-राशि प्रभावों को अपने में आत्मसात् करके आगे बढ़ने के प्रयत्नों में फिर जुट पड़ता है। पटना की गंगा में हरिद्वार की गंगा का जल ढूंढने के प्रयत्नों में गंभीरता-पूर्वक लगे हुए पवि–

त्रता वादियों के साहस की प्रशंसा की जा सकती है पर उनकी वुद्धि के लिए क्या कहा जाए ? जिस प्रकार नदी की धारा का तेज इसी में है कि वह सभी प्रभावों को अपने में मिलाती हुई निरंतर और अवाध गति से आगे बढ़ती जाए इसी प्रकार वही संस्कृति भी अपने को जीवित रख पाती है जो अन्य संस्कृतियों से आदान-प्रदान का सौदा करती हुई आगे बढ़ती है। अपने तक ही सीमित संस्कृति, बँधे हुए पानी के समान सड़ने लगती है। भारतीय संस्कृति संसार की अन्य संस्कृतियों की तुलना में श्रेष्ठ है अथवा निकृष्ठ, इस प्रश्न का उत्तर देना तो कठिन है —प्रत्येक संस्कृति अपनी सर्वश्रेष्ठता का दावा रखती है — पर भारतीय संस्कृति की अव तक की जो सवसे बड़ी विशेपता रही है वह यही कि उसने अपनी खिड़कियों को वाहर की ताज़ी हवा के लिए कभी वन्द नहीं किया। जहाँ तक इस धारणा का प्रश्न है कि हम अध्यात्मवादी हैं और पश्चिम अर्थवाद और भोगविलास में डूबा है, यह निश्चय ही एक आधारहीन आत्म-विश्वास है। किसी भी देश अथवा समाज को सामूहिक दृष्टि से अध्यात्मवादी अथवा भौतिकतावादी क़रार नहीं दिया जा सकता। अध्यात्मवादिता तो जीवन का एक दृष्टिकोण है जो प्रत्येक देश और समाज के व्यक्तियों में पाया जाता है। क्या हम अपनी सभ्यता को इसी आधार पर आध्यात्म-वादी कह सकते हैं कि हमारे प्राचीन ऋषियों ने जीव, व्रह्म और आत्मा के संवंध में गहराई से सोचा और महान् धर्म-ग्रंथों का निर्माण किया ? क्या हमारा यह दावा सच माना जा सकता है कि हमारे देश के साधारण व्यक्ति ने किसी भी युग में अपने दिन प्रतिदिन के जीवन को इन ऊँचे आदर्शों के साँचे में ढालने के प्रयत्नों में सफलता प्राप्त की ? क्या उसका जीवन भी उपनिषदों और धर्म-ग्रंथों के सिद्धान्तों से उतना ही अछूता नहीं रहा जितना पश्चिम के जन-साधारण का ईसा की शिक्षाओं से ? क्या हमारे महन्त, मठाधीश, और जगदगुरुओं का जीवन भी उतना ही भ्रष्ट नहीं रहा जितना यूरोप के पोप और पादरियों का ? क्या हमारे मन्दिर पापाचार के अड्डे नहीं रहे और क्या हमने सभी धार्मिक सिद्धान्तों को भुला कर मनुष्य और मनुष्य के वीच में असमानता और अस्पृश्यता की दीवारे खड़ी नहीं कीं ? जहाँ तक ऊँचे आदर्शों का संवंध है पश्चिम में भी उनकी कमी नहीं रही और उन पर चलने वाले संतों की परंपराएँ भी वहाँ आज तक जारी हैं।

सच तो यह है कि पूर्व और पश्चिम की सभ्यताओं का भेद एक अर्थहीन वाद विवाद है जिसका प्रारंभ पश्चिमी लोगों की इस धारणा में हुआ कि उन की सभ्यता पूर्व कि सभ्यता से श्रेष्ठ है। जिस आसानी से यूरोप के देशों की छोटी छोटी संगठित सेनाएँ, लड़ाई की नई पद्धतियों और नए हथियारों के

सहारे, पूर्व के बड़े बड़े राज्यों को नष्ट भ्रष्ट कर सकीं उसने उनके इस विश्वास को और भी दृढ़ बना दिया। थोड़े से समय में पुरानी सभ्यताओं को जन्म देने वाले वड़े वड़े देशों को उनके साम्राज्यवादी झंडों के सामने घुटने टेकने पर विवश होना पड़ा। व्यापार को फैलाने लिए जब तक उन्होंने राजनैतिक प्रभुत्व तक ही अपने प्रयत्नों को सीमित रखा तब तक पूर्व के ये पराजित और हृतप्रभ देश चुप रहे पर जब राजनीति के मूल-स्रोतों पर कब्ज़ा करने की दृष्टि से पश्चिम के देशों ने अपनी संस्कृति में भी उन्हें दीक्षित करना चाहा तभी से उनके प्रति विद्रोह की भावना उभरने लगी और इसका परिणाम यह हुआ कि पूर्व के देशों में, जहां एक लंबे अर्से तक भौतिक शक्ति के विकास की आशा नहीं की जा सकती थी, यह धारणा फैल चली कि उनकी अपनी सभ्यता का आधार अध्यात्मवाद पर स्थापित है, जो पश्चिम के भौतिकवाद से कहीं अधिक महान् वस्तु है, और यद्यपि पश्चिम ने अपने भौतिकवाद की शक्ति से उन्हें थोड़े दिनों के लिए परास्त कर लिया है पर वह समय दूर नहीं है जब पश्चिम अपनी सभ्यता की इस एकांगिता को समझेगा और एक जिज्ञासु के समान बल्कि यह कहना चाहिए कि उस पापी के समान जो सांसारिकता में डूबा हुआ था और अब पश्चात्ताप की आग में झुलस रहा है, चिथड़ों में लिपटा और राख में सना, उसके ैरों में अपना सिर रख देगा और कहेगा, "प्रभो, क्षमा करो। मैं ग़लत मार्ग पर जा रहा था। सही रास्ता मैं नहीं जानता। तुम मेरा मार्ग प्रदर्शन करो।" और तब पूर्व एक सर्वज्ञ गुरु के समान संसार का नेतृत्व अपने हाथ में लेगा। शक्ति के मद में डूबे हुए पश्चिम के निरंतर बढ़ते हुए जातीय अभिमान, उसकी अवहेलना और उसके अपमान जनक व्यवहार के प्रति एक अपमानित, लांछित, पराजित और पदत्रस्त समाज का, जिसके बढ़ते हुएआत्म-विश्वास का एकमात्र आधार प्राचीनता का गौरव ही हो सकता था, यह एक स्वाभाविक रक्षा-कवच था। अपने देशों को पश्चिम के साम्राज्यवादों से मुक्त करने के प्रयत्नों में लगे हुए थोड़े से देशभक्तों के लिए बारबार की पराजय के झोंकों में भी अपने आत्म-विश्वास के दीपक को प्रज्वलित रखने के लिए इससे अधिक स्वाभाविक कोई मार्ग हो ही नहीं सकता था कि वे इस संघर्ष की बात संस्कृति के स्तर पर रख कर सोचें, एक ऐसे स्तर पर जिसमें अपनी महानता का उनका विश्वास डिगाया नहीं जा सकता था। पूर्व और पश्चिम के बीच संस्कृति का कोई मौलिक अन्तर है, यह कल्पना आज तो इतिहास के तेजी से पीछे हटने वाले पृष्ठों में खोती सी जा रही है।